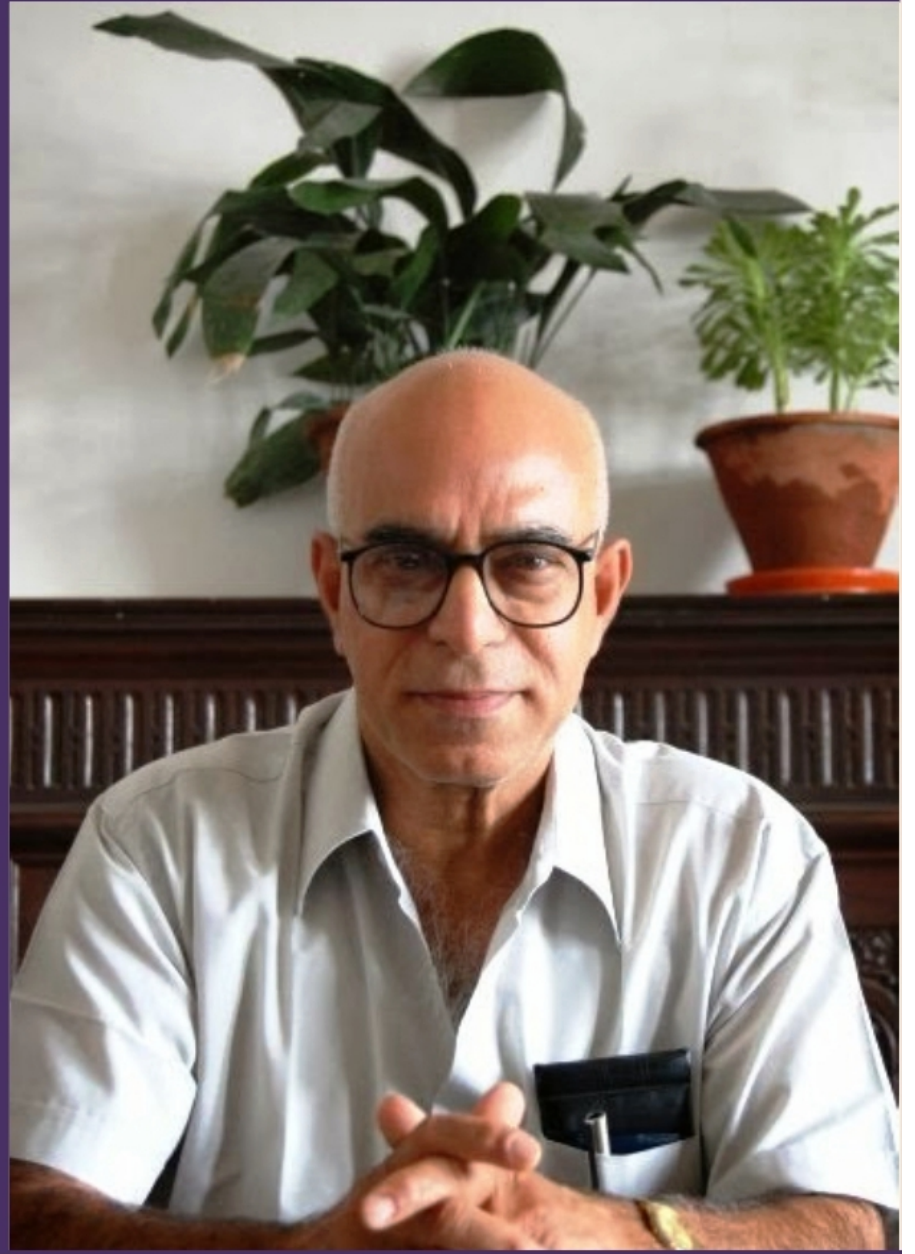


ISSN 2348-8425

સાત્રાચી

વર્ષ 4, અંક 15
અપ્રેલ-જૂન, 2017

વીર ભારત તલવાર વિશેષાંક



અતિથિ સંપાદક : કમલેશ વર્મા • સુચિતા વર્મા

An International Registered Research Journal of Social Sciences & Humanities
SATRAACHEE

“रामविलास जी ने जर्मन दर्शनशास्त्र में हेगेल के महत्त्व को नकारने के लिए कांट को पेश किया। कांट ने दर्शनशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया था और सौरमंडल की उत्पत्ति के सिद्धांत की खोज कर प्रकृति-विज्ञान में एक ऐसा युगांतकारी विचार पेश कर दिया था जिसमें आनेवाली प्रगति के बीज छुपे हुए थे। इन सबके लिए मार्क्स और एंगेल्स ने उनकी बहुत प्रशंसा की है। फिर भी कांट कांट थे और हेगेल हेगेल। विचारधारा और दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र में जिस सिद्धांत को हेगेल ने पेश किया, उसे कांट न पेश कर सके। मार्क्सवाद का जो संबंध हेगेलीय दर्शन से था, वह कांट के दर्शन से न था। लेकिन रामविलास जी ने हेगेल के बजाय कांट को मार्क्स-एंगेल्स के अधिक निकट दिखाने के लिए कांट के दार्शनिक पक्ष के बजाय उनके राजनीतिक पक्ष को उछाला। ”

– वीर भारत तलवार (पृ. 47, ‘सामना’, प्रथम संस्करण, 2005)



“चूँकि कांट की दार्शनिक उपलब्धियों को हेगेल की उपलब्धियों के सामने नहीं रखा जा सकता, इसलिए, रामविलास जी कांट के राजनीतिक लेखन का पल्लू पकड़ते हैं। इस पल्लू से वे मार्क्सवाद और हेगेलीय द्वंद्ववाद के रिश्ते को ढँक देना चाहते हैं। इसके लिए कांट के राजनीतिक विचारों की थोड़ी-सी झलक दिखाकर क्रांतिकारियों की एक कतार खड़ी की जाती है। इस कतार में कांट के अलावा बाइरन, शेली और अर्नेस्ट जोन्स को खड़ा दिखाया जाता है और हेगेल को इसके बाहर। इस तरह दार्शनिक और सैद्धांतिक महत्त्व के प्रश्न को राजनीतिक चर्चा चलाकर विस्थापित कर दिया जाता है। यह न सिर्फ सैद्धांतिक प्रश्नों के महत्त्व के प्रति तिरस्कार प्रकट करना है बल्कि वामपंथी अवसरवाद का भी नमूना है। एक ओर साम्राज्यवादी युद्धों के प्रति चिंता संबंधी लफ्फाजी, दूसरी ओर द्वंद्वात्मक दर्शन के क्रांतिकारी पक्ष की उपेक्षा।”

– वीर भारत तलवार (पृ. 49, ‘सामना’, प्रथम संस्करण, 2005)

संज्ञाची

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान की त्रैमासिक शोध पत्रिका

अंक 15, अप्रैल-जून, 2017

‘वीर भारत तलवार विशेषांक’

अतिथि संपादक

कमलेश वर्मा

सुचिता वर्मा

प्रधान संपादक

रूपम

संपादक

आनन्द बिहारी

ISSN 2348-8425

संज्ञा

अंक 15, (वीर भारत तलवार विशेषांक)
अप्रैल-जून, 2017

मानविकी एवं समाज-विज्ञान की त्रैमासिक शोध पत्रिका

संरक्षक :

- डॉ. चंद्रावती सिंह

संपादक मंडल :

अध्यक्ष :

- प्रो. (डॉ.) शशि शर्मा

प्रधान संपादक :

- डॉ. रूपम

संपादक :

- आनन्द बिहारी

सहायक संपादक :

- अंकिता कुमारी

संपादकीय सलाहकार :

प्रो. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी, प्रो. सुधा देवी ओझा, डॉ. कमलेश वर्मा, डॉ. राजू रंजन प्रसाद, डॉ. आशुतोष पार्थेश्वर, डॉ. दिलीप राम, डॉ. पुष्पलता कुमारी, डॉ. अरविन्द कुमार, डॉ. तेलानी मीना होरो, डॉ. नीरा चौधरी, डॉ. सुशील कुमार।

आवरण फोटो :

- अरविंद दास



स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक :

■ डॉ. रूपम

■ आनन्द बिहारी

सलिमपुर अहरा, कदमकुआँ, पटना ३

संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

मुद्रण :

पाकिज ऑफसेट, ग्रहगंज, दरगाह रोड, पटना 6.

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। यहाँ प्रकाशित रचनाओं का सर्वाधिकार रचनाकारों के पास है। रचनाओं के अकादमिक एवं अव्यावसायिक उपयोग के लिए संपादक और लेखक की अनुमति आवश्यक नहीं है, परंतु प्रकाशक अथवा रचनाकारों को इसकी सूचना अवश्य दें।

मूल्य : एक प्रति 200 रुपए

सदस्यता शुल्क :

पंचवार्षिक : 3000 रुपए

: 4000 रुपए (विशेषांक सहित)

: 8000 रुपए (संस्थागत)

आजीवन : 5000 रुपए

: 7000 रुपए (विशेषांक सहित)

: 14000 रुपए (संस्थागत)

संपादकीय पत्र-व्यवहार :

डॉ. आनन्द बिहारी

C/o - श्री केशव गुप्ता,

केशव कुंज, बोलिया चॉक, सालिमपुर अहरा,

कदमकुआँ, पटना-800003,

website: www.sataraachee.weebly.com

E-mail : sataraachee@gmail.com

Mob No. : 09470738162, 09661792414



अनुक्रम

यह अंक...

रूपम

संपादकीय

07 :: दुर्लभ परंपरा के आलोचक

कमलेश वर्मा

10 :: '...कि पत्थर नहीं हूँ मैं'

सुचिता वर्मा

नवजागरण की 'रस्साकशी' : 'ईमाँ मुझे रोके है तो खैंचे है मुझे कुफ़्र...'

11 :: वीर भारत तलवार और उनका नवजागरण-विमर्श

प्रेम कुमार मणि

16 :: हिंदी नवजागरण

रामविनय शर्मा

27 :: जाति के प्रश्न और हिंदी नवजागरण

बजरंग बिहारी तिवारी

31 :: 'सत्यार्थ प्रकाश' एवं आर्य समाज

राजीव रंजन गिरि

36 :: The Reformist Ulama and Public Debates in Colonial India

Dr. Shahid Perwez

39 :: रस्साकशी : हिंदी नवजागरण का पुनर्पाठ

अलका तिवारी

57 :: भारतेन्दु की स्त्री-शिक्षा और 'रस्साकशी'

जगमोहन सिंह

हिन्दी-उर्दू : 'केवल अपनाव से, प्राणों से एक थे...'

63 :: साझी विरासत, साझी अदावत !

निरंजन सहाय

किसान : 'जिसको फलक ने लूट कर वीरान कर दिया...'

71 :: किसान की कहानी के मायने : प्रेमाश्रम और वीर भारत तलवार के संदर्भ में

अनिरुद्ध कुमार

83 :: अवध का किसान आंदोलन और 'प्रेमाश्रम'

एस. एन. वर्मा

झारखंड : 'खाक हो जाएँगे हम तुमको खबर होने तक...'

88 :: झारखंड आंदोलन में डॉ. वीर भारत तलवार की भूमिका

सूर्य सिंह बेसरा

91 :: झारखंड : संस्कृति, समाज और विकास की बलिवेदी

रणेन्द्र

95 :: बतियाती हुई जन इतिहास की एक किताब

वंदना टेटे

97 :: आदिवासी अस्मिता के पक्ष में

तेलानी मीना होरो

100 :: मुंडा लोकगीत : मुंडा समाज के मानस का प्रतिबिंब

अरविन्द कुमार, अंकिता कुमारी

नक्सलबाड़ी : 'उठो मेरी दुनिया के गरीबों को जगा दो...'

103 :: निरपेक्ष और क्रांतिकारी पत्रकारिता का ऐतिहासिक दस्तावेज

पीयूष राज

106 :: नक्सलबाड़ी के दौर में

आशुतोष

110 :: राजनीतिक कार्यकर्ता का जीवन ज्यादा पसंद

सुभाष चंद्र मोर्य

'सामना' : 'देखना है ज़ोर कितना बाज़ू-ए...'

113 :: सामना : कूपमंडूक आत्ममुग्धता से जिरह

कवितेन्द्र इंदु

124 :: साधु न चलै जमाति !

सूरज बहादुर थापा

नजरिया : 'बात वो कह ऐ इश्क, कि सुनकर सब कायल हों कोई न माने'

131 :: आलोचना दृष्टि

पल्लवी प्रकाश

136 :: सूखा पत्ता हमारे जीवन में

प्रस्तुति : सुभाष चंद्र मोर्य

यादगार अध्यापन : 'लोचन अनैत उधारिया' बनाम 'शायर तो वो अच्छा है पर...'

138 :: एक अपराजेय योद्धा

अंजय कुमार

145 :: जे.एन.यू. में

अरविंद दास

147 :: डॉ. तलवार : मेरी निगाह में

धर्मनारायण यादव (डी.एन.यादव)

153 :: प्रगतिशील और तार्किक दृष्टि

नीलांबुज सिंह

156 :: संक्षिप्त मुलाकातों के कुछ एहसास

संजीव चंदन

158 :: दिल ही तो है, न संग-ओ-खिश्त, दर्द से भर न आए क्यों

सुचिता वर्मा

व्यक्तित्व : 'अभय बैठ ज्वालामुखियों पर अपना मंत्र जगाते हैं...'

160 :: आत्मविस्तार यह बेकार नहीं जाएगा

अभिषेक कुमार यादव

164 :: हिंदी के एक्टिविस्ट आलोचक

अमिष वर्मा

169 :: हाहाकार कहाँ से पड़ब्या

बृजेश यादव

'छोटे-से जीवन की कैसे बड़ी कथाएँ आज कहूँ...'

174 :: वीर भारत तलवार : एक परिचय

सुचिता वर्मा

177 :: रचनाओं की सूची और प्रकाशन वर्ष

राजीव रंजन गिरि

179 :: भगवान बिरसा मुंडा पुरस्कार (1987-88) : एक दस्तावेज

'चंद तस्वीर-ए-बुताँ'

181 :: चित्रशाला

'मुकाबिल हो तोप तो अखबार निकालो'

197 :: 'फिलहाल', 'झारखंड वार्ता' और 'शालपत्र' के मुखपृष्ठ

तलवार जी : बकलमखुद

अप्रकाशित भाषण : 'बोल कि लब आज़ाद हैं तेरे...'

203 :: वर्तमान असहिष्णुता का माहौल और सम्मान वापसी

19 फरवरी, 2016, पंजाबी लेखक सम्मेलन, चंडीगढ़

इब्तिदा-ए-इश्क : लेखन के शुरुआती वर्ष

लेख

212 :: नैतिकता के दायरे और मेरे कॉलेज के लड़के-लड़कियाँ

जनवरी, 1967

217 :: प्रतिष्ठान का रक्षक मसीहा

जनवरी, 1969

प्रारंभिक अप्रकाशित कहानियाँ

221 :: नोक पर टंगी आस

सितम्बर, 1968

225 :: पीला शरीर

दिसम्बर, 1968

228 :: बड़े घराने के दो खत

1969

232 :: अंग्रेजी स्कूल में

नवम्बर, 1976

प्रारंभिक प्रकाशित कहानी

239 :: विक्षिप्त

‘नई कहानियाँ’ मई, 1967

साहित्यिक डायरी

247 :: कहानी में कंट्रास्ट, परिवेश और एक्शन

सितम्बर, 1969

आलोचनात्मक लेखन

252 :: ‘मालविका याद आती है’

1968

258 :: फिल्म तीसरी कसम

1966

264 :: दस्तकों पर जरा और ध्यान दीजिए!

1966 (या 1967 ?)

267 :: कहानी में परिवेश और वातावरण

अप्रैल, 1968

रिपोर्ताज

271 :: ए.एन.एस. इंस्टीट्यूट के कर्मचारियों की कहानी

दिसम्बर, 1970

संस्मरण

279 :: साहित्यिकों की नगरी में

1966

कविताएँ

289 :: गंगा-I

दिसम्बर, 1968

289 :: गंगा-II

दिसम्बर, 1968

290 :: छब्बीस जनवरी

जनवरी, 1969

और अंत में,

291 :: डॉ. तलवार को पढ़ने का अर्थ

आनन्द बिहारी

293 :: लेखक परिचय



यह अंक...

वीर भारत तलवार के लेखन पर आधारित इस अंक की योजना पिछले वर्ष मार्च में ही बन गयी थी। योजना डॉ. कमलेश वर्मा और डॉ. सुचिता वर्मा की थी। आप दोनों डॉ. तलवार के सुयोग्य छात्र रह चुके हैं; उनके लेखन, अध्यापन और व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं से भलीभाँति परिचित भी हैं। अतः इस कार्य को पूरा करने की जिम्मेदारी आप दोनों को सौंपी गई। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस अंक के लिए आप दोनों ने कितनी मेहनत की है। जिस धीरज और विनम्रता के साथ निरंतर लेखकों से संपर्क करते हुए डॉ. कमलेश वर्मा ने आलेख, संस्मरण आदि की व्यवस्था की उससे उनके व्यक्तित्व की ऐसी छवि उभरती है जिससे किसी को भी श्रद्धा हो जाए। पिछले सवा वर्ष से प्रतिदिन डॉ. वर्मा इस अंक से संबंधित अपनी प्रत्येक गतिविधि की सूचना देते रहे हैं। इस क्रम में डॉ. तलवार के विषय में वे डॉ. आनन्द से बात करते और उनसे जुड़ी तमाम बातें साझा करते। डॉ. आनन्द से छनकर अनेक बातें मुझ तक भी पहुँची। इस तरह डॉ. तलवार के बारे में थोड़ी बहुत जानकारी मुझे भी हुई। जहाँ तक मैं समझती हूँ, डॉ. तलवार वर्तमान दौर के सबसे जरूरी लेखक हैं। उनका केवल लेखक और अध्यापक होना ही अपने आप में कम मायने नहीं रखता; लेकिन डॉ. तलवार इससे बहुत आगे जाकर एक दृष्टिसंपन्न क्रांतिकारी समाज सेवक के रूप में सामने आते हैं। यही वह बिंदु है, जहाँ से उनका कद अन्य बड़े लेखकों से भी बड़ा हो जाता है। ऐसे महान व्यक्ति को पढ़ना, उनपर बात करना स्वयं को पवित्र करने जैसा है। मुझे इस बात से बेहद प्रसन्नता है कि डॉ. तलवार जैसे जनवादी लेखक और एक्टिविस्ट पर 'सत्राची' को विशेषांक निकालने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस अंक की सफलता का पूरा श्रेय डॉ. कमलेश वर्मा, डॉ. सुचिता वर्मा और डॉ. आनन्द बिहारी को है। आप तीनों के प्रयास को मैं सलाम करती हूँ। साथ ही इस अंक के लेखकों, जिन्होंने अपनी प्रतिभा और स्मृतियों का उपहार देकर 'सत्राची' का मानवर्द्धन किया है, को विशेष धन्यवाद देती हूँ; आपके परिश्रम और प्रतिभा की बदौलत ही हम डॉ. तलवार को विभिन्न दृष्टिकोणों से देख व समझ सकने की सामग्री प्रस्तुत कर पा रहे हैं।

इस अंक के प्रकाशन में हमें स्नेह, आशीर्वाद, प्रोत्साहन और सहयोग की असीम पूँजी प्राप्त हुई है। बगैर विज्ञापन के पत्रिका का प्रकाशन अगर संभव हो पाया है तो उसकी वजह 'सत्राची' पर लोगों का विश्वास और प्रेम है। इस संदर्भ में डॉ. चंद्रावती सिंह, प्रो. (डॉ.) शशि शर्मा, डॉ. तेलानी मीना होरो, डॉ. दिलीप राम, डॉ. कुमारी अरुणा, डॉ. आशुतोष पार्थेश्वर, डॉ. अरविन्द कुमार, डॉ. नीरा चौधरी, डॉ. अमिष वर्मा, डॉ. पीयूष राज, सुश्री अंकिता कुमारी एवं डॉ. विभा मिश्रा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह अंक आप सबके स्नेह, सहयोग और विश्वास की परिणति है; अतः आपको ही समर्पित है!

28 अगस्त, 2017

पटना

- रूपम

(प्रधान संपादक, सत्राची)



दुर्लभ परंपरा के आलोचक

वीर भारत तलवार पर किसी पत्रिका का यह पहला विशेषांक है। 'सत्राची' के इस विशेषांक को सार्थक बनाने की पूरी कोशिश की गयी है। उद्देश्य रखा गया है कि तलवार जी के साहित्यिक योगदान पर विचार और पुनर्विचार हो। उल्लेख्य है कि वे साहित्य की समझ का मूल आधार समाज में अपनी सोद्देश्य सक्रियता को बनाते हैं। अकादमिक सेमिनार और गली-चौराहों पर चलती साहित्यिक बहसों के वे मुरीद नहीं हैं, बल्कि आदिवासी, जनजातीय समाज और खदानों में काम करनेवाले मजदूरों के बीच रहकर और आवाजाही बनाकर बात कहने-लिखने की उनकी अपनी कसौटी है। वे हिन्दी की एक दुर्लभ परंपरा के आलोचक हैं। तलवार जी के पुरखे आलोचकों में किन्हें गिना जा सकता है ? वासुदेवशरण अग्रवाल के 'पद्मावत', माता प्रसाद गुप्त के 'तुलसीदास', विजयदेव नारायण साही के 'जायसी' में मौका-माहौल को देखने-समझने की जो ललक और अनुसन्धान-वृत्ति मौजूद है, संभवतः उनमें इस दुर्लभ परंपरा की सुगंध महसूस की जा सकती है। हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना का आग्रह तो है कि सर्वहारा को नजदीक से समझा जाए और पूँजीवादी जंजाल का पर्दाफाश किया जाए, किन्तु ऐसे आलोचकों का अभाव ही रहा जो व्यावहारिक रूप से सक्रिय रहकर सार्थक आलोचना लिख रहे हों। हिन्दी के शीर्षस्थ प्रगतिशील आलोचकों में भी व्यावहारिक स्तर पर अत्यंत सीमित सक्रियता देखी गयी है। रामविलास शर्मा, नामवर सिंह और मैनेजर पाण्डेय के आलोचनात्मक अवदान को शिरसा स्वीकार करते हुए भी यह बात बेझिझक कही जा सकती है कि वीर भारत तलवार ने वंचितों के बीच रहकर अपने लेखन से जो समझ हिन्दी आलोचना को दी है वह अन्यत्र अनुपस्थित है। इन तीनों प्रगतिशील आलोचकों ने मजदूरों की बात की है, पाण्डेय जी ने आदिवासियों के बारे में भी लिखा है, नामवर जी ने एक दौर में दलितों को आलोचना का सन्दर्भ बनाया है; मगर इनकी यह शैली कभी नहीं रही कि उन समाजों के बीच में रहकर आलोचना-कर्म की दशा-दिशा निर्धारित की जाए। यह सब कहने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि आलोचना के उस रूप को महत्वपूर्ण नहीं माना जा रहा है। प्रासंगिक रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी के सबसे बड़े आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल, स्वतंत्रता आन्दोलन के दौर में मौजूद होने के बावजूद, किसी भी आन्दोलन में सक्रिय रूप से भागीदार नहीं हुए थे, फिर भी उन्होंने हिन्दी साहित्य की परंपरा को सर्वाधिक उचित तरीके से समझा था। वामपंथ के विभिन्न धड़ों के माध्यम से सक्रिय रहने वाले बुद्धिजीवियों ने निश्चित रूप से आंदोलनों और सामाजिक गतिविधियों के माध्यम से अपनी समझ का विस्तार किया, किन्तु अपनी समझ के आधार पर हिन्दी आलोचना को व्यवस्थित तरीके से समृद्ध करने का काम करनेवालों के उदाहरण दुर्लभ ही रह गये। वीर भारत तलवार इसी दुर्लभता के अन्यतम उदाहरण हैं।

'सत्राची' का यह अंक इसी 'दुर्लभता' की अनुगूँज अपने भीतर समेटे हुए है। गौर करने पर इसके अधिकतर आलेख में इस अनुगूँज को सुना जा सकता है। नवजागरण पर रामविलास शर्मा की स्थापित मान्यताओं को 'रस्साकशी' में प्रमाण-सहित चुनौती देने की कोशिश का बड़े पैमाने पर हिन्दी संसार ने स्वागत किया था। यहाँ सात आलेख इस विषय पर मौजूद हैं। ऐसा भी नहीं है कि प्रत्येक लेखक ने तलवार जी से सहमति ही जताई है। तलवार जी की मान्यताओं के प्रति व्यक्त की गयी असहमतियों को बिना किसी संशोधन के अविकल रूप से इसमें शामिल किया गया है। बजरंग बिहारी

तिवारी का आलेख एक ऐसा ही उदाहरण है।

हिन्दी के बड़े आलोचकों में तलवार जी एकमात्र आलोचक हैं, जिन्होंने झारखण्ड के आदिवासी समाज और पूर्वोत्तर राज्यों के जनजातीय समाजों के बारे में इतने विस्तार से लिखा है। उनकी विशेषता है कि वे अपने विषय पर पहले से हुई लिखत-पढ़त की जानकारी रखते हैं और उन जगहों पर स्वयं उपस्थित होकर आँखों देखी जानकारी से तुलना करने के बाद अपनी बात कहते हैं। तलवार जी झारखण्ड राज्य के मूल प्रस्तावकों में गिने जाते हैं, यह हिन्दी के लिए अत्यंत गौरव की बात है। उनके योगदान पर श्री सूर्य सिंह बेसरा (पूर्व विधायक, झारखण्ड) का आलेख देखने योग्य है। ‘भगवान बिरसा मुंडा पुरस्कार’ का प्रशस्ति-पत्र इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। नक्सलवाड़ी, अवध का किसान आन्दोलन आदि प्रकरण तलवार जी के लिए महज बौद्धिक प्रश्न नहीं रहे हैं; इन प्रश्नों पर भी उन्होंने अपनी शैली में काम किया है।

वीर भारत तलवार के लेखन के मूल्यांकन की एक कोशिश है यह अंक। ‘सामना’ पर कवितेंद्र इंदु का आलेख न केवल सुन्दर बन पड़ा है, बल्कि तलवार जी की आलोचना-पद्धति को समझने के कुछ सूत्र भी उसमें तलाशे जा सकते हैं। अभिषेक कुमार यादव ने धारदार शैली में इस ‘दुर्लभ’ आलोचक के ओरिएंटेशन को तलाशने की कोशिश की है। अमिष वर्मा ने उनके आलोचक के मूल दर्शन को ‘एक्टिविज्म’ में देखा-दिखाया है और बृजेश यादव ने लोक गीतों की प्राणधारा में बसी सिसकी की समझ को तलवार जी की समझ का आधार बताया है। ये चारों तलवार जी के विद्यार्थी रहे हैं और आप महसूस कर सकते हैं कि ये अभय-भाव से अपनी बात कहने का सलीका जानते हैं। उनके विद्यार्थियों ने उनके अध्यापन को यादगार माना है, जिसमें विषय की समझ के साथ यह भी सीख मौजूद रहती थी कि वंचितों के पक्ष में रहना सीखो! ‘एक अपराजेय योद्धा’ के रूप में उनके विद्यार्थियों ने उन्हें जाना-समझा है। शिकायतें भी हैं कि तलवार जी कठोर हैं, ज्यादा ‘लिफ्ट’ नहीं देते हैं। मगर, कुछ देर बाद ही सही, ज्यादातर लोगों ने एक ही निष्कर्ष निकाला कि उनका व्यक्तित्व बहुत कुछ सीखने की प्रेरणा देता है! तलवार जी के विद्यार्थियों के संस्मरण उनके बारे में उन पक्षों का उद्घाटन करते हैं, जिन्हें उनकी पुस्तकों के माध्यम से नहीं जाना जा सकता है।

वंदना टेटे, आशुतोष, रणेन्द्र और सुभाष चन्द्र मौर्य की रचनाओं का यहाँ पुनर्प्रकाशन किया गया है, जिसका सन्दर्भ सहित उल्लेख कर दिया गया है। इन लेखकों के प्रति हम सादर आभार प्रकट करते हैं।

‘सत्राची’ : वीर भारत तलवार विशेषांक की एक उपलब्धि यह है कि इसमें तलवार जी की कुछ अप्रकाशित रचनाएँ शामिल हैं। लगभग 20 साल की उम्र से कुछ आगे-पीछे की अवधि में रचित कहानी, लेख, आलोचना, साहित्यिक डायरी, रिपोर्टाज, संस्मरण, कविता को पहली बार पढ़ने का अवसर यहाँ उपलब्ध हुआ है। इन रचनाओं को पढ़कर कहा जा सकता है कि सभी विधाओं में तो नहीं, किन्तु ज्यादातर में तलवार जी के पैसेपन की झलक मौजूद है। यह सामग्री तलवार जी ने अत्यंत व्यवस्थित तरीके उपलब्ध कराकर हमारी बड़ी मदद की है। शुरुआती दौर की एक प्रकाशित कहानी ‘विक्षिप्त’ नमूने के तौर पर प्रकाशित की गई है ताकि समझा जा सके कि ‘नई कहानियाँ’ जैसी पत्रिका में छपने वाली यह कहानी अपने दौर के कहानीपन को कितना समेटे हुए है। तलवार जी ने आगे चलकर कहानियाँ नहीं लिखीं; मगर कविता-सहित इन छूटी हुई विधाओं में भी वह तासीर मौजूद है, जिसके लिए तलवार जी बाद में जाने-माने गए। 19 फरवरी, 2016 को पंजाबी लेखक सम्मलेन, चंडीगढ़ में तलवार जी का भाषण असहिष्णुता के माहौल पर हुआ था। इस भाषण को पंजाबी में अनूदित करके पंजाबी की कई पत्र-पत्रिकाओं ने छापा था, किन्तु यह भाषण हिन्दी में अभी तक अप्रकाशित था। यहाँ पहली बार इसका प्रकाशन किया जा रहा है। 1966 में लिखित संस्मरण

‘साहित्यिकों की नगरी में’ से लेकर पचास साल बाद 2016 में दिये गये इस भाषण को पढ़कर तलवार जी की समझ की निरंतरता को महसूस किया जा सकता है। कमल जोशी के कहानी-संग्रह ‘बादलों के बीच धूप’ की समीक्षा है – ‘मालविका याद आती है’। कवितेंद्र इंदु ने अपने आलेख में जिक्र किया है कि तलवार जी ने ‘सामना’ पुस्तक में इस समीक्षा का जिक्र तो किया है, मगर उस पुस्तक में शामिल नहीं किया है। तलवार जी ने यह भी लिखा है कि कमल जोशी की कहानियों की समीक्षा लिख कर उन्होंने आलोचना लिखने की शुरुआत की थी। ‘मालविका याद आती है’ का प्रकाशन यहाँ किया जा रहा है।

तलवार जी ने तीन पत्रिकाओं का संपादन और प्रकाशन किया था- ‘फिलहाल’, ‘झारखण्ड वार्ता’ और ‘शालपत्र’। इन तीनों पत्रिकाओं के महत्त्व पर कोई लेख इस अंक में शामिल नहीं हो पाया है, इसे हम अपनी कमी मानते हैं। यह अच्छी बात है कि ‘झारखण्ड आन्दोलन के दस्तावेज’ का पहला खंड अभी-अभी प्रकाशित हो गया है, जिसकी सामग्री का मूल स्रोत इन्हीं पत्रिकाओं को बनाया गया है। इसके अन्य खण्डों के प्रकाशन के बाद इन तीनों पत्रिकाओं की उल्लेखनीय सामग्री के व्यवस्थित रूप से सामने आने के बाद इनके मूल्यांकन में सामग्री का अभाव महसूस नहीं होगा। धरोहर के रूप में इन तीनों पत्रिकाओं के कुछ मुखपृष्ठ और टाइटल पेज को प्रकाशित किया जा रहा है। ‘चित्रशाला’ में तलवार जी के जीवन से जुड़ी कुछ महत्वपूर्ण तस्वीरों को रखा गया है। तलवार जी से सामग्री और तस्वीरें लेकर ‘सत्राची’ तक पहुँचाने में कवितानंदन सूर्य और पीयूष राज से तकनीकी मदद मिली। हम उनके प्रति आभार प्रकट करते हैं। विवेक कुमार ने टाइपिंग में मदद करके हमारे काम को आसान बनाया।

उम्मीद की जा सकती है कि यह अंक वीर भारत तलवार के अवदान की एक झलक प्रस्तुत करने में सक्षम होगा। सभी लेखकों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने हमारे अनुरोध को स्वीकारा और अपने आलेख प्रेषित किए। ‘सत्राची’ पत्रिका के संपादक डॉ. आनन्द बिहारी के प्रति विशेष आभार जिन्होंने अतिथि संपादन का अवसर मुझे तथा सुचिता वर्मा को प्रदान किया। एक बात का उल्लेख अवश्य करना चाहूँगा कि इस विशेषांक के लिए डॉ. वीर भारत तलवार से सहमति-अनुमति माँगते समय मैं इत्मीनान नहीं था कि वे तैयार होंगे; मगर उन्होंने ‘सत्राची’ को यह अवसर प्रदान कर हमारा उत्साह बढ़ाया है। मैं अपना दुर्भाग्य मानता हूँ कि उनसे क्लास में पढ़ने का सीधा मौका कभी नहीं मिला, मगर उनकी पुस्तकों और उनसे हुई अनेक मुलाकातों ने बहुत कुछ सिखाया। इस अंक को तैयार करने में लगभग सवा साल का समय लगा। कुछ आलेख समय से प्राप्त हुए और ज्यादातर देर से, मगर हमें खुशी है कि इसमें तलवार जी के अधिकांश पक्षों पर विचार करते हुए आलेख और संस्मरण प्राप्त हुए हैं।

अंत में यह कहना जरूरी है कि इस अंक की खूबियाँ तलवार जी की हैं और खामियाँ केवल और केवल मेरी...

‘दिल वो मुजरिम है जो खुद अपनी सजा माँगे है’

26 अगस्त, 2017

- कमलेश वर्मा
वाराणसी
मो.- 09415256226



‘...कि पत्थर नहीं हूँ मैं’

प्रो. वीर भारत तलवार पर केन्द्रित ‘सत्राची’ का यह अंक निश्चय ही आह्लादकारी है। पहला कारण तो यही कि तलवार जी ने इसके लिए खुशी-खुशी अपनी अनुमति दे दी और दूसरा कि जिन लेखकों-विद्वानों से आलेख के लिए निवेदन किया गया, सभी ने इस काम के लिए साधुवाद देते हुए समय के भीतर आलेख भी दे दिए।

पत्रिका के कई संस्मरण बेहतरीन और रोचक बन पड़े हैं। कई आलेखों में तलवार जी के प्रति एक ही तरह के अनुभवों को अपनी-अपनी शैली में प्रस्तुत किया गया है। सबको यहाँ अविकल प्रकाशित करने की कोशिश की गयी है। इससे तलवार जी के व्यक्तित्व और रचनाशीलता की ‘ऑब्जेक्टिविटी’ भी छन कर सामने आ गयी है। अध्ययन-अध्यापन, ज्ञान, संवेदना, कला, भावुकता और यथार्थ के प्रति तलवार जी की निष्ठा-प्रतिबद्धता को प्रमाणित करता यह अंक मूल्यांकन के लिए आपके समक्ष है।

सादर-सप्रेम

27 अगस्त, 2017

- सुचिता वर्मा
वाराणसी

नवजागरण की '२२शाकशी' : 'इमाँ मुझे शेके है तो खैचे है मुझे कुफ्र...'

वीर भारत तलवार और उनका नवजागरण विमर्श

■ प्रेम कुमार मणि

1970 का दशक भारत और पूरी दुनिया के लिए एक जागरूक दशक था। यूरोप और अमेरिका दूसरे विश्वयुद्ध के अवसाद से बाहर आ चुके थे और एशियायी- अफ्रीकी देश विकास और आजादी के सवाल से जूझ रहे थे। साम्यवादी देशों के आर्थिक और राजनीतिक संकट गहराने लगे थे, जिनकी परछाइयाँ स्पष्ट होने लगी थीं। शीतयुद्ध नरम पड़ गया था और इन सबसे निरपेक्ष होकर कुछ राजनैतिक-सांस्कृतिक विचार मुखर हो रहे थे। सबसे बढ़कर यह कि दुनिया भर के नौजवानों में एक अभूतपूर्व जोश था। यह जोश शांति, समानता और न्याय के लिए था। वियतनाम के सवाल हों, या कि नक्सलबाड़ी के - नौजवानों के दिलों को मथ रहे थे। कुछ ही वर्ष पूर्व फ्रांस के लेखक त्र्यां-पॉल-सार्त्र ने नौजवानों के संघर्ष को अपना समर्थन दिया था। 1973 में गुजरात के संघर्षरत नौजवानों को पुराने समाजवादी जयप्रकाश नारायण ने एक पत्र लिखा- यूथ फॉर डेमोक्रेसी। 1974 में बिहार के आंदोलनकारी छात्रों को समर्थन देकर और फिर उसका नेतृत्व स्वीकार कर उन्होंने स्थिर नागरिक जीवन में एक हलचल पैदा कर दी। कहने का तात्पर्य यह कि गांव से लेकर शहर तक एक व्यापक असंतोष नई-नई शक्तों में उभर रहा था। समाज, राजनीति, साहित्य सभी क्षेत्रों में नयी प्रवृत्तियाँ उभर रही थीं। नौजवानों का बड़ा समूह उत्सुक और सक्रिय था।

इन्हीं दिनों पटना में मित्रों के बीच 'फिलहाल' और उसके संपादक वीरभारत तलवार की चर्चा सुनी। 'फिलहाल' नक्सलबाड़ी संघर्ष को समर्थन देने वाली पत्रिका समझी जाती थी। उन दिनों ऐसे पत्रिकाएँ लुक-छिप कर और हिफाजत से पढ़ी जाती थीं। तब आज का झारखंड बिहार का ही हिस्सा था। जमशेदपुर में पले-बढ़े तलवार वहाँ ही अधिक सक्रिय थे। वहाँ से वह 'शालपत्र' पत्रिका निकालते थे। इन पत्रिकाओं के कारण वह एक किंवदंती बन गये थे, जिसे अंग्रेजी में 'लिजेन्ड' कहा जाता है। उनकी सक्रियता और प्रतिबद्धता के किस्से प्रचलित थे। इस बीच न मेरा उनसे कभी मिलना हुआ, और न ही उनका लिखा कुछ खास पढ़ा। लेकिन न मिलने और उनका कुछ नहीं पढ़ने के पूर्व भी उन्हें जानता था, यह कह सकता हूँ।

मैंने उन्हें 1980 के दशक में कुछ जाना। खयाल आता है कि उन दिनों डॉ. रामविलास शर्मा की किताब आई थी- 'पिछड़े हुए समाज और मार्क्सवाद'। यह किताब मैंने पढ़ी थी। कुछ ही समय बाद, जैसा कि मुझे स्मरण है, 'आलोचना' में इसकी समीक्षा प्रकाशित हुई। समीक्षा लेखक थे-वीरभारत तलवार। समीक्षा लेख का शीर्षक (यदि भूल नहीं रहा हूँ तो) था- 'पिछड़े हुए समाज और पिछड़ा हुआ मार्क्सवाद'। उस विस्तृत लेख के माध्यम से मैं पहली बार तलवार की धार से परिचित हुआ। कोई पाठ जब लेखक के मंतव्य से एकमेक हो जाता है। तो लेखक और पाठक के बीच एक अपनापन विकसित होने लगता है। मेरी स्थिति ऐसी ही थी। मुझे यह महसूस हुआ कि यह आदमी कुछ भिन्न ढंग से सोचता है।

वैचारिक स्तर पर हिन्दी-भाषी समाज बहुत पिछड़ा हुआ है, इसका आभास मुझे था। जिस समाज के बीच कभी बुद्ध और कबीर जैसे दिग्गज विचारक हुए, जहाँ कभी नालंदा और विक्रमशिला जैसे विश्व विश्रुत ज्ञान केन्द्र हुए, वहाँ लंबे समय से वैचारिक पस्ती थी, तो इसके कारण थे। इतिहास में हुई क्रांति और प्रतिक्रांति को ठीक से समझा नहीं गया था। इसी वैचारिक पस्ती पर एक समय गांधी ने इशारा किया था। एक समय (मुझे ठीक से वर्ष याद नहीं आ रहा, अनुमान से 1935-36 होना चाहिए) गांधी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष थे। अपने

अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने हिन्दी लेखकों से प्रश्न किया था- आपके बीच कोई रवीन्द्रनाथ टैगोर, जगदीशचन्द्र वसु और प्रफुल्लचन्द्र राय है? अपने एक संस्मरण-लेख में हिन्दी कवि सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने बतलाया है कि इस प्रश्न से किस तरह की प्रतिक्रिया उनके मन में हुई थी। मानो गांधी से लड़ने के लिए ही वह उनके पास परिश्रमपूर्वक पहुँचे थे। लेकिन अफसोस कि उनके (गांधी के) सवाल पर आत्म मंथन का समय वह कभी नहीं निकाल सके। अधिकतर लेखकों का यही हाल था। देश को जब औपनिवेशिक गुलामी से आजादी मिली, तब हिन्दी भारत की राजभाषा हो गयी। जब राजभाषा हो गयी, तब हिन्दी भाषियों ने इसे राष्ट्रभाषा भी घोषित कर दिया। फिर राष्ट्रवाद की एक विचित्र लहर इस क्षेत्र में उठी। राष्ट्रपिता को छोड़ दिया जाय तो शेष सब कुछ इसी क्षेत्र का था- राष्ट्रीय नदी, राष्ट्रीय पशु-पक्षी, राष्ट्रकवि सब। इन राष्ट्रवादियों से इतर जो चिन्तनशील समाज था, जो वाम-जनवादी चिन्तन धारा थी, उसका दायित्व था कि राष्ट्रवादियों की इस प्रतिगामी चिन्तन धारा का मुकाबला करे। हिन्दी क्षेत्र में ही 1936 में प्रेमचंद की सदारत में प्रगतिशील लेखक संघ का सम्मेलन हो चुका था। प्रगतिशील लेखक संघ के गठन में उर्दू लेखकों की अग्रणी भूमिका थी, लेकिन आजादी के बाद यह संगठन हिन्दी लेखकों के कब्जे में आ गया। इसकी भूमिका का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि एक ठौर पर आकर कम्युनिस्ट नेतृत्व को हस्तक्षेप करना पड़ा कि इस संगठन से आंदोलन को नुकसान अधिक हुआ। हमने अबतक इस नुकसान का आकलन अध्ययन भी नहीं किया है।

कई कारणों से हिन्दी का प्रभावक्षेत्र बढ़ा। किसी भाषा का प्रभाव क्षेत्र बढ़ता है, तब उसके साथ एक विचार का भी प्रभाव क्षेत्र बढ़ता है। अंग्रेजी का जहाँ-जहाँ प्रभाव हुआ वहाँ-वहाँ उस भाषा के लेखकों-विचारकों का भी विस्तार हुआ इसीलिए कभी नेहरू ने कहा था- 'हमारे यहाँ दो तरह के अंगरेज आये' वह क्लाइव और कर्जन के रूप में आये और शेक्सपीयर और मिल के रूप में भी। हिन्दी के विस्तार के साथ विचार का भी विस्तार होगा, इस पर कम लोगों की नजर थी। हिन्दी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने इसे एक चुनौती के रूप में लिया। डॉ. शर्मा यूरोप के रेनेसाँ से परिचित थे और भारतीय रेनेसाँ से भी जो बंगाल और महाराष्ट्र में हुआ था। उन्होंने इस रेनेसाँ का एक हिन्दी नाम दिया-नवजागरण। उन्होंने हिन्दी क्षेत्र में रेनेसाँ की एक पड़ताल की और हिन्दी नवजागरण का एक पुख्ता प्रारूप परिश्रमपूर्वक तैयार किया।

रामविलासजी का हिन्दी नवजागरण अपने-आप में एक विचार भी है और स्वाभाविक था कि वह शीघ्र ही विमर्श का केन्द्रीय पाठ बन गया। रामविलासजी का कहना था कि बंगला नवजागरण और महाराष्ट्रीय नवजागरण तो अपनी जगह थे, लेकिन 1857 की 'क्रांति' हिन्दी प्रदेश में ही क्यों हुई? उसकी स्थापना है कि इस क्षेत्र में राजनीतिक चेतना इसलिए प्रस्फुटित हुई कि यहाँ पर्याप्त सामाजिक चेतना थी इसी चेतना के कारण इस क्षेत्र में उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन भी घनीभूत हुआ और अंततः मुल्क आजाद हुआ।

रामविलासजी की स्थापना और प्रारूप में अनेक अंतर्विरोध थे। भारतीय नवजागरण पर काफी अध्ययन हुए हैं। कुल मिलाकर जो निष्कर्ष है वह यह कि यह 1830 के दशक से शुरू हुआ और कमोवेश 1890 तक चला। यानी इसकी कुल अवधि लगभग साठ वर्ष की थी। सर्वप्रथम यह बंगाल में उभरता है। विवियन डेरोजिया के उत्साह में इसकी एक झलक मिलती है और फिर राजा राममोहन राय के प्रयासों में इसका एक व्यवस्थित रूप। राय द्वारा स्थापित ब्रह्मो समाज ने बंगाल के भ्रदलोक में एक वैचारिक तूफान ला दिया। फिर ब्रह्मो समाज के विकास के भी कई चरण हैं। बंगला नवजागरण में दूसरा बड़ा व्यक्तित्व ईश्वरचंद्र विद्यासागर का है। अन्य अनेक प्रमुख लोगों ने इसे परिष्कृत किया। महाराष्ट्र में आगरकर, रानाडे और फुले जैसे लोगों ने इसे खड़ा किया।

नवजागरण की कुछ विशेषताएँ होती हैं। इसकी पृष्ठभूमि यूरोपीय रेनेसाँ में ही मिलती है। पहली बात तो यह कि यह समाज और धर्म की आलोचना करता है और भविष्य की ओर इशारा करता है। बंगाल और महाराष्ट्र के नवजागरण में प्रयाप्त आलोचकीय तत्व हैं, किन्तु हिन्दी नवजागरण में ऐसा नहीं मिलता। काल के गणित से भी हिन्दी नवजागरण पिछड़ा है। यहाँ जो भी सक्रियता दिखती है वह 1860 के बाद; यानी 1857 के विद्रोह का नवजागरण से क्या सम्बन्ध बनता है। नवजागरण से उद्भूत यह नहीं दिखता। तो क्या 1857 से उद्भूत

है हिन्दी नवजागरण? राम विलास जी यही सिद्ध करते हैं। हिन्दी नवजागरण की पृष्ठभूमि 1857 की क्रांति से जन्मी है। इस क्रम में सवाल यह भी तो होना चाहिए कि यदि बिना नवजागरण के 1857 संभव है, तब फिर नवजागरण की जरूरत ही क्या है!

रामविलास जी की स्थापनाओं पर न कोई व्यवस्थित प्रश्न उठाये गये और न ही उसकी सम्यक व्याख्या की गयी। तथाकथित हिन्दी जाति ने उसे चुपचाप स्वीकार लिया। रामविलास जी परिश्रमी थे, अध्यवसायी और मेधा संपन्न। उनकी बातों को नकारने और नवजागरण की लुंज-पुंज स्थापनाओं को व्यवस्थित करने के लिए भी मेधा की जरूरत थी, परिश्रम की भी। यह आसान नहीं था।

वीरभारत तलवार ने इसे संभव किया। 2001 में उनकी किताब आयी 'रस्साकशी' जो उन्नीसवीं सदी के पश्चिमोत्तर प्रोत के नवजागरण पर केन्द्रित है। हिन्दी में व्यवस्थित चिंतन की कोई परंपरा नहीं बन पायी है। लंबे अंतराल पर कोई एक लेखक-चिन्तक उभरता है और फिर एक लंबी अवधि के लिए सन्नाटा छा जाता है। 1982 में नामवर सिंह की किताब 'दूसरी परंपरा की खोज' के बाद 'रस्साकशी' ने ही मुझे प्रभावित किया। श्री तलवार अत्यंत विशद रूप से भारतीय नवजागरण को हमारे सामने लाते हैं। मेरे मन में भी नवजागरण को लेकर कुछ सवाल थे, उनके जवाब इस किताब में मिल जाते हैं। श्री तलवार बताते हैं कि उन्नीसवीं सदी में दयानंद सरस्वती के नेतृत्व में जो आर्य समाज का आंदोलन चला वह पश्चिमोत्तर इलाके में तो प्रभावशाली रहा और इसने सामाजिक सुधार के, मसलन, स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में कुछ कार्य भी किये, लेकिन यह आंदोलन पूरब में सहारनपुर से आगे नहीं बढ़ पाया। पश्चिमोत्तर प्रांत में ब्राह्मण प्रभावशाली संख्या में नहीं थे। वहाँ जाट, बनियों और कायस्थों ने आर्य समाज को अपनाया और सामाजिक सुधार के भी कुछ कार्य किये। अवधी का इलाका उस साझी संस्कृति का था, जिससे आज भी अनेक सेकुलर लोग प्रभावित हैं। लेकिन यह था क्या? अवधी इलाके में हिन्दुओं का एक छोटा हिस्सा, जिसमें कायस्थ और कश्मीरी ब्राह्मण प्रमुख थे, अशराफ मुसलमानों की भाषा उर्दू, उनके खानपान पहनावे, उठने-बैठने के तरीके, शोरो-शायरी और नाच-गान को अपना चुके हिन्दुओं के इस छोटे अभिजात हिस्से ने ही यह साझी संस्कृति स्वीकार की थी। मुसलमानों के बीच कास्तकार तबका नगण्य था। वहाँ जमींदार-नवाब थे या फिर दस्तकार-कामगार। जमींदार-नवाब शहरों में रहते थे। दस्तकार-कामगार मुसलमान जो जुलाहे, रंगरेज, कुम्हार, लुहार, दर्जी आदि का काम करते थे, गाँव-कस्बों में रहते थे। इनकी बोली-बानी उर्दू नहीं थी। अवध क्षेत्र के पूरब बनारस-इलाहाबाद के इलाके ब्राह्मण प्रभाव के थे, हिन्दी इसी इलाके में फली-फूली। हिन्दी का खास क्षेत्र तब बनारस था, जहाँ के दो सेठ परिवारों से आये दो प्रमुख लेखकों ने हिन्दी को आधुनिक स्वरूप दिया। ये दो लोग थे शिवप्रसाद सितारेहिन्द और भारतेन्दु हरिश्चंद्र। रामविलास जी अपने नवजागरण विमर्श में भारतेन्दु हरिश्चंद्र को केन्द्र में रखते हैं। जबकि तलवार पर्याप्त सबूतों के साथ इसका खण्डन करते हैं कि भारतेन्दु के नेतृत्व में कोई हिन्दी नवजागरण नहीं चला, जो चला, अधिक से अधिक उसे हिन्दी आंदोलन कहा जा सकता है। यह हिन्दी आंदोलन सांस्कृतिक रूप से इतना खतरनाक सिद्ध हुआ कि इससे निकली प्रवृत्तियाँ बीसवीं सदी में द्विराष्ट्रवाद का आधार बन गयीं। इतना ही नहीं, भारतेन्दु मंडल के लेखकों ने आर्य समाज और ब्रह्म समाज के आंदोलन को हिन्दी इलाके में नहीं घुसने दिया। तलवार पर्याप्त उद्धरणों के साथ विस्तारपूर्वक शिवप्रसाद सितारेहिन्द और भारतेन्दु के मतभेदों और विभेदों को बतलाते हैं। शिवप्रसाद सितारे हिन्द नागरी लिपि के समर्थक थे, लेकिन उर्दू भाषा के विरोधी नहीं थे। वह केवल फारसी लिपि की जगह नागरी लिपि के प्रस्तावक थे। अंग्रेजी सरकार के पास उन्होंने ही पहली दफा इस विषयक मेमोरेन्डम 1868 में दिया था। उनका मिजाज बहुत कुछ हिन्दुस्तानी जुबान की तरह था जिस पर बीसवीं सदी में गांधी और नेहरू ने जोर दिया। शिवप्रसाद की मानसिकता कोई मुसलमानों के पक्ष में नहीं थी। अपनी किताब 'इतिहास तिमिरनाशक' में उन्होंने अपना मुस्लिम-विरोधी-रूझान स्पष्ट भी कर दिया है, लेकिन भाषा, संस्कृति और समाज के सवाल को वह बेहतर समझते थे। अरबी, फारसी के प्रचलित शब्दों को हटाना मुश्किल तो होगा ही, यह मूर्खतापूर्ण भी होगा, ऐसी उनकी मान्यता थी। इसके उलट भारतेन्दु मंडल के हिन्दी लेखक फारसी अरबी के शब्दों को हटाकर एक पूर्ण शुद्ध अर्थात् संस्कृत निष्ठ हिन्दी के हिमायती थे।

भारतेन्दु मंडल के लेखकों ने हिन्दू हिन्दी के नाम पर वह विष वृक्ष बोया जो आगे चलकर 1947 में राष्ट्र के पतन (बँटवारे) का कारण बना।

श्री तलवार विस्तारपूर्वक बतलाते हैं कि भारतेन्दु का पूरा व्यक्तित्व ही खलनायक का था। विलासी, अदूरदर्शी और सामाजिक रूप से प्रतिगामी। भारतीय नवजागरण के किसी नेता के साथ न उनकी तुलना की जा सकती है, न उन्हें खड़ा किया जा सकता है। राजाराममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, महादेव रानाडे, जोतिबा फुले, रमाबाई आदि ने अपने सामाजिक कार्यों के कारण अनेक तरह के विरोध सहे, यातनायें झेलीं, लेकिन भारतेन्दु जिन्दगी भर सम्मानित होते रहे। एक अय्याश सामंत की तरह उन्होंने जीवन-यापन किया और कई तरह की प्रचलित सामाजिक बुराइयों को बल देते रहे। गौरक्षा आंदोलन और इसी तरह की दूसरी सनातनी कार्यवाइयों की बुनियाद रख उन्होंने उस वैचारिकी की भी शुरूआत कर दी, जिसपर बीसवीं सदी में सावरकर ने हिन्दुत्व की इमारत खड़ी कर दी।

‘रस्साकशी’ नवजागरण विषयक विमर्श को एक नया आयाम देता है। इसके बिना अब भारतीय नवजागरण पर विमर्श को आगे बढ़ाना संभव नहीं प्रतीत होता। नवजागरण के अनसुलझे अन्य प्रश्नों पर भी उनकी नजर गयी है। कुछ वर्ष पूर्व महाराष्ट्रीय नवजागरण पर भी उनका एक विद्वतापूर्ण लेख प्रकाशित हुआ ‘महाराष्ट्रीय नवजागरण की निरंतरता’। इस लेख से गुजरते हुए यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस विमर्श को वह सही ट्रैक पर ला रहे हैं। बंगला नवजागरण में एक वैचारिक उत्स है, लेकिन जैसा कि तलवार की मान्यता है वह लोक जीवन से कटा हुआ है। बंगला नवजागरण वस्तुतः नगरीय आभिजात्य चिन्तन है, जो सांस्कृतिक रूप से जड़विहीन है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इस स्थिति को भाँप लिया था, वह अपने निष्कर्ष को उपन्यास ‘गोरा’ में कुछ अंशों में प्रकट भी करते हैं। श्री तलवार बंगला नवजागरण को मुकाबले महाराष्ट्रीय नवजागरण को महत्वपूर्ण मानते हैं। उसमें एक निरंतरता है। उसकी जड़ें भक्ति काव्य आंदोलन में हैं। महाराष्ट्रीय भक्ति आंदोलन पर भागवत प्रभाव था। भागवत धारा वर्णवाद को चुपके-से नकारती है, बिना कोई विरोध प्रदर्शित किये हुए। हालाँकि इसका स्वरूप द्विज कवियों ने ही निर्धारित किया था, लेकिन थोड़ी-सी छूट मिलते ही प्रचुर संख्या में उपेक्षित तबकों से इसमें लोग आ गये और इसके चरित्र को बदल दिया। उन्नीसवीं सदी आते-आते यहाँ महाराष्ट्र धर्म विकसित होता है जहाँ से एक राष्ट्रीयता विकसित करने की कोशिश होती है। लेकिन अपने तीसरे पड़ाव पर महाराष्ट्रीय नवजागरण गैर ब्राह्मणवादी बहुजन आंदोलन में तब्दील हो जाता है जिसके नायक-प्रतिपादक जोतिबा गोविन्द राव फुले होते हैं। किसी हिन्दी लेखक ने फुले के महत्व को नवजागरण प्रसंग में पहली बार रेखांकित किया है। अखिल भारतीय स्तर पर नवजागरण का अध्ययन होना अभी शेष है। लेकिन यह जब भी होगा, तब फुले के महत्व को अधिक रेखांकित किया जायेगा। फुले ने चुनौती भरे वातावरण में अपना कार्य शुरू किया था। नवजागरण के दूसरे नेता द्विज तबकों से आये थे। वे यूरोपीय रनेसाँ और कुछ नहीं तो यूरोपीय चाल-ढाल-विचार से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित थे। शिक्षा के प्रसार और स्त्रियों की मुक्ति या यूँ कहें केवल स्त्रियों की मुक्ति ही उनकी कार्य सूची में थी। राजाराममोहन राय, विद्यासागर, दयानंद सरस्वती आदि की चिन्ता यही थी। लेकिन इनकी खासियत थी कि अपने लिए तर्क उन्हीं हिन्दू शास्त्रों में से ढूँढ़ते थे, जिन शास्त्रों ने उनके लिए गुलामी के छंद रचे थे। ऐसा इसलिए था कि उन्हें अपने उसी समाज को समझाना था, जो शास्त्रों की रूढ़ियों से आबद्ध थे। यह द्विज समाज का अंदरूनी संघर्ष था। सती और विधवा विवाह की समस्याएँ भी द्विज तबकों की ही थी। किसान, अछूत या अन्य धर्म के लोगों में ये कुप्रथाएँ थी ही नहीं। इसलिए नवजागरण की इस धारा में पुनरूत्थानवादी रूझान आ ही जाते हैं। जोतिबा फुले नवजागरण के पहले नायक थे, जिन्होंने वेद-पुराणादि हिन्दू धर्मशास्त्रों को सिरे से नकार दिया। ब्राह्मणों के वर्चस्व को चुनौती दी, लेकिन जाति के आधार पर तनिक भी विरोध नहीं पाला। अन्य लोगों की तरह फुले की भी कोई जाति-विरादरी थी, लेकिन अपने आंदोलन को उससे बांधा नहीं। वह पहले नायक थे जिन्होंने 1848, यानी अपनी उम्र के इक्कीसवें वर्ष में ही, नवजागरण की चेतना से दलितों और मुसलमानों को भी जोड़ा। उन्होंने भारतीय नवजागरण को भारतीय बहुजन का नवजागरण बना दिया। उम्मीद करता हूँ फुले विषयक विमर्श को श्री तलवार और आगे बढ़ायेंगे और

उपर्युक्त विचार बिन्दुओं पर भी प्रकाश डालेंगे।

आदिवासी-विमर्श श्री तलवार का प्रिय विषय रहा है। वह झारखंड आंदोलन के प्रवर्तक रहे हैं। 'शाल पत्र' और 'झारखंड वार्ता' जैसी पत्रिकाएँ कभी उन्होंने धनबाद और रांची से निकाली थीं। उन्होंने आदिवासियों के लिए बिहार से एक अलग राज्य की कल्पना की थी। उनका सपना साकार होकर झारखंड राज्य के रूप में कार्यरत है। लेकिन वहाँ के आदिवासियों को आजादी हासिल नहीं हुई है, उनके जंगल सँदे जा रहे हैं, उनकी सांस्कृतिक अस्मिता खत्म की जा रही है और अपने ही घर में वे हाशिये पर धकेल दिये गये हैं। आदिवासियों के लिए वह टमततपमत मसअपद की तरह जुनून पालते हैं। वह इसलिए कि कई स्तरों पर वे आदिवासी बिलकुल अलग-थलग हैं। श्री तलवार ऐसे भारत के हिमायती हैं जहाँ आदिवासी, दलित, स्त्री, किसान, मजदूर, दस्तकार सब के लिए सम्मानपूर्वक जगह हो, सब के लिए आजादी हो। वह किसी का भी वर्चस्व नहीं चाहते। वह व्यापक लोकतंत्र के पक्ष में हैं।

कुछ यही कारण है कि हिन्दी लेखकों में वह अलग-थलग दिखते हैं। नामवर सिंह अपनी पुस्तक 'दूसरी परंपरा की खोज में' जिस दूसरी परंपरा की बात करते हैं, वह पहली परंपरा का ही दूसरा छोर है। जैसा कि उस पुस्तक के आरंभ में ही रवि बाबू के साथ द्विवेदीजी की एक वार्ता का जिक्र है कि रवि बाबू ने पूछा-विधवा नांदी श्राद्ध करा सकती है या नहीं। द्विवेदीजी ने ग्रन्थों में डुबकी लगायी और तदुपरांत रविबाबू को बतलाया-पूर्व पक्ष के ऋषि इसकी स्वीकृति नहीं देते, लेकिन उत्तर पक्ष के देते हैं। रवि बाबू ने कहा उत्तर पक्ष के ऋषि कुछ कम महत्वपूर्ण हैं क्या? यहीं से द्विवेदीजी मन में आया कि परंपरा एक नहीं है। लेकिन कुल मिलाकर द्विवेदीजी की दूसरी परंपरा, जिसे नामवर सिंह रेखांकित करते हैं, पूर्व का उत्तर पक्ष ही है। वीरभारत तलवार जिस निरंतरता को रेखांकित करते हैं, चिन्हित करते हैं, उसमें कोई गिनती नहीं है, वहाँ सातत्य है- परपेचुअलिटी है। परंपराएँ ब्राह्मणवादी विमर्श के तहत होती हैं, श्रमणवादी विमर्श में प्रवाहमयता निरंतरता होती है।

हमारे मित्र-साथी वीरभारत तलवार उम्र के सत्तरवें पड़ाव पर हैं। मेरी कामना है वे शतायु हों, सक्रिय रहें और विचार-विमर्श के नये गवाक्ष उद्घाटित करते रहें।



नवजागरण की '२२शाकशी' : 'इमाँ मुझे शेके है तो खैचे है मुझे कुफ्र...'

हिंदी नवजागरण

■ रामविनय शर्मा

सुपरिचित आलोचक एवं शोधकर्ता डॉ. वीर भारत तलवार के लेखन का बड़ा हिस्सा नवजागरण पर केन्द्रित है। डॉ. रामविलास शर्मा के बाद वे ऐसे दूसरे व्यक्ति हैं जिन्होंने नवजागरण पर इतने विस्तार से लिखा है। उन्होंने डॉ. रामविलास शर्मा की मान्यताओं का खण्डन करते हुए कुछ नयी स्थापनाएँ दी हैं। 'राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य', हिन्दू नवजागरण की विचारधारा, 'राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' और 'रस्साकशी' उनकी नवजागरण सम्बन्धी प्रमुख पुस्तकें हैं। हिन्दी के लेखकों और पाठकों के मानस में आस्था की भाँति पैठ बना चुकी डॉ. रामविलास शर्मा की नवजागरण सम्बन्धी मान्यताओं से टकराना आसान काम नहीं है। इसके लिए विशद अध्ययन एवं कठिन परिश्रम की आवश्यकता है। डॉ. वीर भारत तलवार ने इसे चुनौती के रूप में स्वीकार करते हुए नवजागरण सम्बन्धी जो विचार प्रस्तुत किए हैं, वे गौरतलब हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ऐसे पहले विद्वान हैं जिन्होंने हिन्दी में नवजागरण शब्द का न सिर्फ पहली बार प्रयोग किया, बल्कि उसे स्थापित करने के लिए विधिवत सैद्धान्तिकी भी गढ़ी। उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल को अपने अध्ययन का आधार बनाते हुए नवजागरण का एक प्रारूप निर्मित किया। यूरोप में नवजागरण ने समाज को मध्ययुगीन विचारों से मुक्त कराते हुए उसमें वैज्ञानिक चेतना तथा धर्मनिरपेक्ष-लोकतान्त्रिक विचारों का विकास किया था।

भारत में उन्नीसवीं सदी के दौरान अँगरेजी राज के प्रमुख केन्द्र बंगाल से नवजागरण की शुरुआत मानी जाती है। राजा राममोहन राय ने स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को लेकर जो सवाल खड़े किये थे, वे आगे चलकर व्यापक सामाजिक आन्दोलन का आधार बने। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और दयानन्द सरस्वती ने समाज सुधार के आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया था। उन्होंने अपने तर्कों का चुनाव शास्त्रों से किया था। इसके बरअक्स महाराष्ट्र के किसानों एवं दस्तकारों के बीच में चले ज्योतिबा फूले के नेतृत्व वाले सत्यशोधक समाज का आन्दोलन शास्त्रों की बजाय वैज्ञानिक चिन्तन पर जोर देता था। दूसरे शब्दों में, महाराष्ट्र का आन्दोलन शास्त्रों को अस्वीकार करते हुए विकसित हुआ था। नवजागरण वस्तुतः समानता, भ्रातृत्व और स्वतन्त्रता के भावों की अभिव्यक्ति है। डॉ. रामविलास शर्मा ने हिन्दी नवजागरण की जो रूपरेखा प्रस्तुत की है, उसमें समाज सुधार का पक्ष उपेक्षित है। उन्होंने सन् 1857 के साम्राज्यवाद विरोधी विद्रोह, जिसे कुछ लोग प्रथम स्वाधीनता संग्राम भी कहते हैं, को अपने नवजागरण सम्बन्धी अध्ययन का आधार बनाया, जो मूलतः एक राजनीतिक गतिविधि थी। इसमें साम्राज्यवाद विरोधी चेतना थी, लेकिन समाज सुधार की चेतना नहीं दिखायी देती। नवजागरण राजनीतिक चेतना की अभिव्यक्ति नहीं है। यह मूलतः धार्मिक एवं सामाजिक सुधार के आन्दोलन के रूप में व्यक्त होता है। डॉ. वीर भारत तलवार ने अपने नवजागरण सम्बन्धी लेखन में इसी आधार पर डॉ. रामविलास शर्मा की मान्यताओं का खण्डन किया है। उनके अनुसार 'रामविलास शर्मा ने अपनी किताबों में गदर के बारे में काफी कुछ लिखा है और हिन्दी नवजागरण को सन् 57 के गदर से शुरू हुआ बताया है। गदर से शुरू करके उन्होंने इस नवजागरण की एक परम्परा बनायी जो बढ़ते हुए क्रान्तिकारी निराला तक पहुँचकर रुक जाती है। इस परम्परा में भारतेन्दु के बाद सरस्वती पत्रिका के सम्पादक महावीर प्रसाद द्विवेदी की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण बतायी गयी है।' डॉ. तलवार का कहना है कि डॉ. रामविलास शर्मा ने गदर के इतिहास को 'एक खास राजनीतिक चौखटे' में कस दिया है जो 'गदर सम्बन्धी शोध और दूसरे इतिहासकारों की किताबों को देखते हुए' विवादास्पद है। वे

यह सवाल भी उठाते हैं कि 'गदर से हिन्दी नवजागरण की परम्परा का वास्तव में कोई सम्बन्ध बैठता है या नहीं?' इसकी जाँच-पड़ताल के लिए डॉ. तलवार ने उपर्युक्त दोनों के वर्ग आधारों, संघर्ष की पद्धतियों और दोनों के सामने उपस्थित प्रश्नों को आधार बनाया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने हिन्दी प्रदेश के मुसलमानों, उनके बीच हुए जागरण के आन्दोलन और उर्दू भाषा के साहित्य से हिन्दी नवजागरण के सम्बन्ध को लेकर भी सवाल खड़ा किया है कि क्या रामविलास शर्मा की 'हिन्दी जाति' की अवधारणा सिर्फ हिन्दुओं तक सीमित है? इन्हीं सवालों को लेकर डॉ. वीर भारत तलवार ने अपने नवजागरण सम्बन्धी अध्ययन को आगे बढ़ाया है।

डॉ. वीर भारत तलवार महावीर प्रसाद द्विवेदी को नवीन सामाजिक चेतना फैलाने वाला सबसे उपयुक्त व्यक्ति नहीं मानते, क्योंकि 'एक सम्पादक और साहित्यिक नेता के रूप में द्विवेदीजी ने हिन्दी के जिन लेखक-कवियों को आगे बढ़ाया-मसलन मैथिलीशरण गुप्त-वे नवीन कला और नवीन सामाजिक चेतना-दोनों ही दृष्टियों से सबसे महत्वपूर्ण नहीं थे। इसके उल्टे कुछ दूसरे लोग जो हिन्दी साहित्य में नयी धारा के प्रवर्तक थे, जैसे श्रीधर पाठक या निराला, द्विवेदीजी को पसन्द नहीं आये।' ऐसा क्यों था? क्या इसके पीछे कोई पूर्वग्रह अथवा वैचारिक आग्रह था जिसके कारण द्विवेदीजी ने नयी साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रवर्तकों को जान-बूझकर ओझल कर दिया। डॉ. तलवार इस प्रकार के व्यवहार को अनुचित मानते हैं। उनका आरोप है कि डॉ. रामविलास शर्मा के बाद हिन्दी नवजागरण पर लिखने वालों ने उनके विचारों की जाँच-पड़ताल नहीं की और अपनी ओर से वैसी ही बातें जोड़ दीं। यह तो एक प्रकार से डॉ. रामविलास शर्मा के विचारों का अन्धानुकरण हुआ। डॉ. तलवार तथ्य और तर्क से परे ऐसी श्रद्धा-भक्ति पर सवाल उठाते हैं। तथ्यपरकता और तार्किकता उनकी विचार-प्रक्रिया का आधार है। वे चीजों को समग्रता में समझने पर जोर देते हैं। स्थिति की भिन्नता के कारण उन्हें हिन्दी नवजागरण को बंगाल और महाराष्ट्र के नवजागरण की तुलना में रखकर देखना भी उचित नहीं लगता। डॉ. तलवार को एक बड़ी शिकायत यह है कि डॉ. रामविलास शर्मा तथ्यों को समग्रता में नहीं, बल्कि सन्दर्भ से काटकर एकांगी दृष्टि से देखते और उनकी मनमाने ढंग से व्याख्या करते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने राजा राममोहन राय और सर सैयद अहमद खाँ के आन्दोलनों को हिन्दुओं तथा मुसलमानों तक सीमित करते हुए स्वामी दयानन्द के आन्दोलन को अखिल भारतीय स्वरूप वाला बताया है। इसका प्रतिवाद करते हुए डॉ. तलवार ने लिखा है कि 'दयानन्द द्वारा सभी धर्मों की आलोचना को कबीर की परम्परा के अनुरूप बतलाना भी क्या खूब है! दयानन्द ने सभी धर्मों की आलोचना की थी वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा करने के लिए। क्या कबीर की भी यही परम्परा थी?...जो व्यक्ति कबीर और दयानन्द को एक ही परम्परा का मानता है, फिर वह कितना भी बड़ा आलोचक क्यों न हो, उसने न तो कबीर को ठीक से समझा है, न दयानन्द को।' कबीर का उद्देश्य किसी धर्म की स्थापना नहीं था, जबकि दयानन्द ने विधिवत एक धर्म विशेष का प्रवर्तन किया। ऐसे में दोनों की तुलना का कोई औचित्य समझ में नहीं आता। डॉ. तलवार ने डॉ. रामविलास शर्मा की 'हिन्दी जाति' की अवधारणा को उलझी हुई कहा है। उनका मानना है कि डॉ. रामविलास शर्मा मार्क्सवादी आलोचक होते हुए भी अपने विवेचन-विश्लेषण में द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को नहीं अपनाते, बल्कि वे उसे सपाट बना देते हैं। 'वे मार्क्स के इस विचार से सहमत नहीं लगते कि भारत में ब्रिटिश शासन भले ही अपने निकृष्ट स्वार्थों से प्रेरित था, लेकिन भारत में एक सामाजिक क्रान्ति लाने का वह एक माध्यम बन गया।...उनकी ज्यादा दिलचस्पी यह बताने में है कि हिन्दी नवजागरण में रहस्यवादी या औद्योगीकरण विरोधी जो प्रवृत्तियाँ दिखायी देती हैं, ये बुराइयाँ बंगाल और गुजरात से आयी हुई हैं।' इस आरोप से यह साबित नहीं हो जाता कि हिन्दी प्रदेश की अपनी बुराइयाँ नहीं थीं और उसमें नवजागरण का नेतृत्व करने की सारी सम्भावनाएँ मौजूद थीं। डॉ. तलवार को इस बात से भी आपत्ति है कि डॉ. रामविलास शर्मा और उनके अनुयायियों ने 'मार्क्सवाद की विश्लेषण पद्धति को ताक पर रखकर' मनमानी व्याख्याएँ की हैं। हिन्दी भाषा के प्रति हिन्दी प्रदेश के शिक्षित मध्यवर्ग के रवैये पर डॉ. तलवार का कहना है कि गैर हिन्दी क्षेत्रों में अपनी मातृभाषा के प्रति जैसा स्वाभिमान का बोध मिलता है उसका 'हिन्दी प्रदेश में अभाव दिखता है।...हिन्दी नवजागरण के दौरान हिन्दी भाषा की प्रतिष्ठा हुई, राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का आन्दोलन चला और आज स्वतन्त्र भारत में यह

कानूनी तौर पर भारत सरकार की राजभाषा भी है। इन सबके बावजूद हिन्दी भाषी शिक्षित मध्यवर्ग में अपनी भाषा के प्रति इतना हीनभाव क्यों है?’ यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। ऐसे प्रश्नों से टकराये बिना हिन्दी नवजागरण के बारे में ठोस निष्कर्ष तक नहीं पहुँचा जा सकता। हिन्दी समाज की चिन्तन-प्रणाली को प्रश्नांकित करते हुए डॉ. तलवार का मानना है कि हमारे यहाँ समस्या यह है कि पहले एक अवधारणा बना ली जाती है और फिर उसके लिए साक्ष्य एवं तर्क ढूँढ़कर उसे प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। अध्ययन की यह प्रणाली वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकती। अध्ययन के क्रम में अधिकाधिक तथ्यों का पूर्वग्रह रहित विश्लेषण करके जब कोई अवधारणा प्रस्तुत की जाती है, वही सार्थक और बहुमान्य हो सकती है। हिन्दी प्रदेश वैसे भी जातिवाद और सम्प्रदायवाद का गढ़ रहा है। इसका राष्ट्रीय आन्दोलन पर पड़ने वाला कुप्रभाव सर्वविदित है।

डॉ. वीर भारत तलवार ने ‘हिन्दी नवजागरण’ की अवधारणा पर ही सवाल उठा दिया है। डॉ. रामविलास शर्मा ने हिन्दी नवजागरण का जो भव्य चित्र खींचा है, वह उन्हें उतना भव्य नहीं लगता, क्योंकि हिन्दी प्रदेश में सदियों से जो भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय और जाति के लोग रहते आए हैं, नवजागरण उन सभी की इच्छा-आकांक्षाओं, सपनों और सरोकारों की सामूहिक अभिव्यक्ति नहीं करता। डॉ. तलवार हिन्दी नवजागरण को जातिप्रथा और साम्प्रदायिकता-विरोधी नहीं मानते। इसलिए उन्होंने अपने विमर्श में हिन्दी नवजागरण के स्थान पर हिन्दू नवजागरण का प्रस्ताव रखा है। उनकी यह अवधारणा तार्किक है।

डॉ. वीर भारत तलवार का मानना है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द के समय में हिन्दी प्रदेश में हिन्दी-नागरी और उर्दू भाषा-लिपि विवाद, धर्म के साथ भाषा-लिपि और देशभक्ति के सम्बन्ध, गो-हत्या समस्या, नौकरियों में हिन्दू-मुसलमानों के अनुपात, अँगरेजी राज में हिन्दू-मुसलमानों के बदल रहे शक्ति-सन्तुलन तथा मुगलकालीन इतिहास की स्मृतियों एवं उसके मूल्यांकन जैसे जिन मुद्दों पर बहस होती थी, उस पर भारतेन्दु, उनकी मण्डली के सदस्यों और द्विवेदी युग के लेखकों के दृष्टिकोण में स्पष्टता नहीं मिलती। उन्हें लगता है कि ‘हिन्दी नवजागरण ने वर्ण-व्यवस्था और जातिप्रथा को कोई गम्भीर चुनौती नहीं दी।...जिस हिन्दी प्रदेश के भक्ति आन्दोलन में इतने सारे निर्गुण सन्त निचली जातियों से आए, वहाँ नवजागरण में इसकी परम्परा क्यों नहीं मिलती?’ जातिप्रथा और साम्प्रदायिकता से टकराये बिना नवजागरण का समावेशी चरित्र विकसित नहीं हो सकता था, हुआ भी नहीं। डॉ. तलवार ने वर्गीय दृष्टि से भी हिन्दी नवजागरण के प्रश्न पर विचार किया है। वे पूछते हैं कि ‘हिन्दी नवजागरण लाने वालों का उत्पादन के साथ क्या सम्बन्ध था? उसकी नवीन चेतना का सामाजिक-आर्थिक सन्दर्भ क्या था?’ डॉ. तलवार को हिन्दी नवजागरण में ऐसे प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता। उन्होंने कुछ और सवाल उठाये हैं, मसलन राष्ट्रीय नवजागरण की तुलना में हिन्दी नवजागरण की स्थिति, हिन्दी नवजागरण की अभिव्यक्ति के क्षेत्र, सामाजिक एवं धार्मिक-सांस्कृतिक सुधार से प्रभावित वर्णों-वर्गों की पहचान, अँगरेजों के साथ नवजागरण के नेताओं के सम्बन्ध और किसानों, मजदूरों, अछूतों, स्त्रियों के प्रति उनका दृष्टिकोण, हिन्दी नवजागरण की धाराएँ, हिन्दी नवजागरण का समाज के साथ सम्बन्ध तथा शिक्षित मध्यवर्ग से भिन्न निम्न वर्गों में प्रचलित नवजागरण की परम्परा की खोज जैसे प्रश्नों को वे हिन्दी नवजागरण के सम्यक मूल्यांकन के लिए आवश्यक मानते हैं। उनका जोर इस बात पर है कि हिन्दी नवजागरण की अवधारणा में उन लोगों को भागीदारी नहीं मिली, जिन्हें समाज का निम्न एवं उपेक्षित वर्ग कहा जाता है। इसका एक प्रमुख कारण हिन्दी नवजागरण के अग्रदूतों में उदारता की कमी होना माना जा सकता है। उन्नीसवीं सदी के नवजागरण को केन्द्र में रखकर डॉ. तलवार ने ‘रस्साकशी’ शीर्षक जो पुस्तक लिखी है उसमें उन्होंने विस्तार से डॉ. रामविलास शर्मा की स्थापनाओं का तर्कसम्मत खण्डन किया है। डॉ. रामविलास शर्मा पहले आलोचक हैं जिन्होंने उन्नीसवीं सदी की ऐतिहासिक परिघटनाओं से नवजागरण के सूत्रों की खोज करते हुए अपने मनोगत सत्य के अनुरूप उसकी सैद्धांतिकी प्रस्तुत की है। उन्होंने जिस घटना को नवजागरण का प्रस्थान बिन्दु माना है, वह है सन् 1857 का अँगरेजी राज के विरुद्ध देसी रियासतों द्वारा किया जाने वाला सशस्त्र संघर्ष, जिसे कुछ लोग भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम कहते हैं। इस घटना को राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति बताया गया। यही राष्ट्रवाद पश्चिमोत्तर प्रान्त के हिन्दी नवजागरण का केन्द्रीय सारतत्त्व है, जबकि बाँग्ला

नवजागरण का सारतत्त्व बुद्धिवाद, मराठी नवजागरण का दलित चेतना एवं सुधारवाद तथा तमिल नवजागरण का द्रविड़ चेतना एवं ब्राह्मणवाद विरोध रहा है। इस प्रकार हिन्दी नवजागरण के अलावा भारत में नवजागरण के दूसरे जो भी आन्दोलन हुए, उनमें वर्ण-व्यवस्था का विरोध, सुधारवाद और निचली जातियों में जागरूकता का आविर्भाव उल्लेखनीय है। ऐसे में यदि डॉ. तलवार ने सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार को नवजागरण की कसौटी माना है, तो इस पर विचार क्यों नहीं किया जाना चाहिए? वे सुधारवादी प्रयासों को नवजागरण की मूल चेतना में संगति में देखते हैं। प्रश्न है कि ऐसे राष्ट्रवाद का वंचित-उपेक्षित जातियों के लिए क्या महत्त्व हो सकता है, जिसमें उनकी इच्छा-आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति न हो? स्वाधीनता-प्राप्ति के इतने वर्षों बाद भी ऊँची जातियाँ निचली जातियों के मानवीय अधिकारों को खुले मन से स्वीकार नहीं करतीं। इसके विपरीत श्रेष्ठता के दर्प से परिपूर्ण ये जातियाँ राष्ट्र के संसाधनों एवं संस्थाओं पर अपना एकाधिकार समझती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उन्नीसवीं सदी के सामन्ती समाज में स्थितियाँ अपेक्षाकृत अधिक जटिल रही होंगी। ऐसे में हिन्दी नवजागरण के सन्दर्भ में डॉ. वीर भारत तलवार ने जो प्रश्न खड़े किये हैं, उन्हें आसानी से टाला नहीं जा सकता।

नवजागरण का मतलब सिर्फ राष्ट्रवाद का उभार और साम्राज्यवाद का विरोध ही नहीं होता। साथ ही इसे धार्मिक सुधारों तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। जब तक नवजागरण को सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार का आन्दोलन नहीं बनाया जाता, तब तक समूचे समाज को इसका यथोचित लाभ नहीं मिलता। सामाजिक-सांस्कृतिक सुधारों के सन्दर्भ में यदि हिन्दी नवजागरण की भूमिका पर विचार करें, तो कह सकते हैं कि इसके अप्रदूतों ने इस पक्ष पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया। बालकृष्ण भट्ट का कहना था कि 'अनेक महाशय विधवा विवाह की शिक्षा देकर समाज का हित करना विचारते हैं, हमारी सती, पतिव्रता परायण, भर्ता को देवतुल्य मानने वाली, धर्म की एकमात्र आधार, गृह की एकमात्र शोभा, साध्वी स्त्रियों को ग्यारह खसम कराना चाहते हैं और कहते हैं कि हम आपके हितैषी हैं। तुम्हारी इस हितैषिता से बाज आये। हम जैसे हैं, अच्छे हैं।' भारतेन्दु युग के दूसरे यशस्वी लेखक प्रताप नारायण मिश्र की टिप्पणी है कि 'ठाकुरजी के मन्दिर में ब्राह्मण तक नहाये बिना नहीं जा सकते और मूर्ति को उच्च जाति का हिन्दू भी नहीं छू सकता, ऐसी हालत में हम देवमूर्तियों को उन कपड़ों से क्यों सजाते हैं जो विलायत के कोरियों का बुना हुआ है और खलीफाजी के द्वारा सूई में थूक लगा-लगा के सिया जाता है, क्या देश के कपड़ा बुनने वाले और हिन्दू दरजी मर गये हैं?' इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस नवजागरण की मुख्य प्रवृत्ति शास्त्रों का अनुमोदन और परम्परा का संरक्षण करना रही हो, उसमें समाज सुधार के लिए कितना स्थान बचा रह सकता है? डॉ. तलवार ने ऐसे जितने भी प्रश्न उठाये हैं, उनसे डॉ. रामविलास शर्मा को टकराने की जरूरत महसूस नहीं हुई। चुनौतियों से मुँह मोड़ना सच्चे मार्क्सवादियों की पहचान नहीं है, किन्तु डॉ. रामविलास शर्मा ने नवजागरण सम्बन्धी जो स्थापनाएँ की हैं, उनमें डॉ. तलवार को असंगतियाँ एवं अन्तर्विरोध दिखायी देते हैं। वर्ण-व्यवस्था, जातिप्रथा और उत्पीड़ित जातियों के सवाल पर हिन्दी नवजागरण में चुप्पी क्यों दिखती है? हिन्दी नवजागरण पर विचार करते समय जातिप्रथा को केन्द्र में रखना आवश्यक है। महाराष्ट्र में नवजागरण का पर्याय बन चुके ज्योतिबा फुले ने कहा था कि 'हिन्दू धर्म में व्यक्ति के रूप में प्रवेश न पाने का कारण जाति है।...इसी जाति-व्यवस्था की वजह से समाज के आर्थिक विकास की असाधारण रूप से मन्थर गति रही।' जिस जातिप्रथा ने व्यक्तिमात्र के अस्तित्व को अस्वीकार किया, सामाजिक आर्थिक विकास की गति को अवरुद्ध किया; उसका हिन्दी नवजागरण के अग्रदूतों द्वारा महिमामण्डन चकित करता है। इससे भी अधिक आश्चर्य में डालने वाली बात है मार्क्सवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा और उनके अनुकर्ताओं की व्याख्याएँ। जातिप्रथा के सवाल पर सभी वामपन्थी लेखकों में अद्भुत एकजुटता दिखती है। साम्प्रदायिकता और रूढ़िवाद को तो वे समाज के लिए समस्या मानते हैं, किन्तु भेदभाव आधारित जातिप्रथा की दमनकारी एवं शोषणमूलक व्यवस्था उनके लेखे कोई समस्या नहीं लगती। एक निश्चित खाँचे में बँधी हुई दृष्टि से भारतीय समाज का सम्यक् विश्लेषण नहीं किया जा सकता। डॉ. वीर भारत तलवार ने भारत के अन्य प्रदेशों में हुए नवजागरण की प्रवृत्तियों और मार्क्सवादियों द्वारा जान-बूझकर ओझल कर दिये गये बिन्दुओं को चिह्नित करके अपने नवजागरण सम्बन्धी निष्कर्षों को प्रस्तुत किया है। उल्लेखनीय

है कि नवजागरण को वैदिक-पौराणिक परम्पराओं तथा हिन्दू धर्म-दर्शन के खाँचे में सीमित कर देने से उसका उद्देश्य पूरा नहीं होता।

‘रस्साकशी’ के प्रकाशन के साथ जैसे ही वीर भारत तलवार की हिन्दी नवजागरण सम्बन्धी स्थापना कि ‘हिन्दी नवजागरण का सही नाम हिन्दी आन्दोलन होना चाहिए’ सामने आयी, बहुतेरे विद्वानों की भौंहें टेढ़ी हो गयीं और भुजाएँ मानो फड़कने लगीं। डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने अत्यन्त व्यथित होकर कहा कि ‘बंगाल के किसी लेखक, किसी विचारक ने यह नहीं कहा कि वहाँ नवजागरण जैसी कोई चीज थी ही नहीं। हिन्दी के कुछ लोग जरूर हैं जिनको लगने लगा है कि हिन्दी नवजागरण जैसी कोई चीज, कोई परिघटना, कोई प्रक्रिया थी ही नहीं।’ ऐसा कहते हुए वे यह भूल जाते हैं कि बंगाल में राजा राममोहन राय और ईश्वरचन्द विद्यासागर जैसे समाज-सुधारक पैदा हुए थे जिन्होंने तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य को बदलने अथवा उसमें सुधार लाने के लिए आन्दोलन किए। हिन्दी क्षेत्र अर्थात् गोबरपट्टी में कौन-सा आन्दोलन हुआ? जो हुआ, वह धर्म और जाति विशेष के हितों से जुड़ा था। वीर भारत तलवार का कहना है कि बंगाल का नवजागरण अपनी प्रखर बौद्धिकता के लिए जाना जाता है जिसका हिन्दी नवजागरण में लगभग अभाव दिखता है। बंगाल नवजागरण के अग्रदूत आधुनिक शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान से प्रभावित थे। वे परम्परा के स्थान पर विवेक को महत्त्व देते थे, जबकि हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत किसी नियम को शास्त्र अथवा परम्परा में ढूँढ़ते थे। इस सन्दर्भ में डॉ. तलवार ने बालकृष्ण भट्ट के ‘जातीयता के गुण’ शीर्षक लेख का एक अंश उद्धृत किया है: ‘हिन्दुस्तान में जातीयता इसलिए नहीं होती, क्योंकि यहाँ कई सारे धर्म और भाषाएँ हैं। प्राचीन भारत में एक संस्कृत भाषा का चलन था, इसी से उस वक्त यहाँ जातीयता का पूर्ण प्रादुर्भाव था।...जब तक देश भर में एक ही वैदिक धर्म था, जुदे-जुदे धर्म और सम्प्रदाय नहीं फैले थे, जातिप्रथा भी सर्वांग सुन्दर हो प्रकाशमान थी। जब से अनेक धर्म और सम्प्रदाय चले, तब से जातीयता के सैकड़ों टुकड़े हो गये।’ क्या ऐसे अतीतोन्मुख विचारों को नवजागरण का आधार माना जा सकता है? जातिप्रथा को ‘सर्वांग सुन्दर’ बताने वाली विचारधारा को भारतीय अथवा यूरोपीय नवजागरण के समतुल्य कैसे रखा जा सकता है? नवजागरण के मार्क्सवादी व्याख्याकार ऐसी टिप्पणियों पर चुप रहते हैं। यह सुविधा की राजनीति है। वीर भारत तलवार ने लिखा है कि ‘उन्नीसवीं सदी के उल्लाराद्ध में बनारस- इलाहाबाद को केन्द्र बनाकर जो तीन बड़े आन्दोलन चले, वे नागरी लिपि, हिन्दी भाषा और गोरक्षा के सवाल पर थे।...जिसे हिन्दी नवजागरण कहा जाता है, उसका सही नाम हिन्दी आन्दोलन होना चाहिए, क्योंकि हिन्दी भाषा और लिपि का सवाल ही उसका सबसे केन्द्रीय मुद्दा था, धार्मिक या सामाजिक सुधार नहीं।’ उपर्युक्त मुद्दे बंगाल और महाराष्ट्र के नवजागरण में शामिल नहीं थे। फिर हिन्दी नवजागरण में ही इन्हें केन्द्रीयता देने की आवश्यकता क्यों पड़ी? वीर भारत तलवार ने हिन्दी नवजागरण में उठाये गये मुद्दों पर सवाल खड़ा किया है। उनकी दृष्टि में जो मुद्दे किसी धार्मिक समुदाय अथवा जाति-समूह के विरुद्ध घृणा की अभिव्यक्ति करते हों, उन्हें नवजागरण का आधार बनाया ही नहीं जा सकता। नवजागरण का उद्देश्य होता है जनता को जागृत करना, उसमें आधुनिक ज्ञान-विज्ञान एवं विवेकसम्मत विचारों का प्रसार करना। यदि पौराणिक मान्यताओं का प्रसार ही नवजागरण है, तो इक्कीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों में ज्योतिष और कर्मकाण्ड को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने के राजनीतिक प्रयास को भी नवजागरण कहा जाना चाहिए। डॉ. तलवार के अनुसार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर डॉ. रामविलास शर्मा और दूसरे लेखकों-विचारकों की सामाजिक सुधार के सवाल पर चुप्पी आश्चर्य में डालती है। उन्हें इसका एक प्रमुख कारण उन संस्कारों में दिखायी देता है जिन्हें लेकर उक्त लेखक पैदा हुए थे। प्रेमचन्द, राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव और मुक्तिबोध ने आत्म-संघर्ष के माध्यम से जिस तार्किक विवेकसम्मत दृष्टि को अर्जित किया था, हिन्दी के अधिकांश लेखकों में उसकी कमी दिखती है। प्रगतिशील-जनवादी विचारधारा ओढ़ लेने भर से बद्धमूल संस्कार नष्ट नहीं हो जाते, अन्यथा जिस देश की ज्यादातर आबादी निचली जातियों और हाशिये के लोगों की हो, वहाँ मार्क्सवाद को कोने-अँतरे में सिमटकर क्यों रहना पड़ता? इसका मतलब हुआ कि भारत के मार्क्सवादियों ने अपने समाज की संरचना के अनुरूप उक्त विचारधारा को लागू करने का प्रयास नहीं किया, क्योंकि इससे उनके हितों पर चोट लगने

की सम्भावना बढ़ जाती। इसलिए उन्होंने अपनी राजनीति के लिए ऐसे मुद्दों को चुना, जो जातिप्रथा की सच्चाई से टकराते ही नहीं थे। डॉ. रामविलास शर्मा ने हिन्दी नवजागरण की जो सैद्धान्तिकी गढ़ी है, उसमें भी इस चतुराई को देखा जा सकता है। अपने वर्गीय हितों को सुरक्षित रखते हुए प्रगतिशीलता का डंका पीटना एक बात है, राष्ट्र के संसाधनों में समूचे नागरिकों की स्वाभाविक भागीदारी को स्वीकार करना बिल्कुल दूसरी बात। सर्वविदित है कि सनातनी तर्क एवं विवेकशीलता को नहीं मानते। उनके यहाँ प्रश्नाकुलता और बुद्धि-विवेकशीलता के लिए अवकाश नहीं होता। वे परिवर्तन की चेतना से वंचित होते हैं। इसलिए उनके मुद्दे नवजागरण का आधार नहीं बन सकते।

डॉ. वीर भारत तलवार ने 'रस्साकशी' में अतीतीकरण की मनोवृत्ति को तर्कपूर्ण ढंग से अस्वीकार किया है। उनके ऊपर राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' को ऊपर उठाने और भारतेन्दु हरिश्चन्द को नीचे गिराने का आरोप लगाया गया, जो पूरी तरह निराधार है। उनके विचार में 'उन्नीसवीं' सदी के ज्यादातर हिन्दी लेखक कुछ एक सामाजिक सुधारों के समर्थक थे, पर वे धर्म में किसी भी तरह का बुनियादी सुधार लाने के खिलाफ थे। शिवप्रसाद का रुख भी ऐसा ही था...हिन्दी के ज्यादातर लेखक वैष्णव, शैव, सनातनी थे और ब्रह्म तथा आर्य समाज के बुनियादी तौर पर विरोधी थे। बाद में जाकर उन्होंने आर्य समाज के कुछ सामाजिक सुधारों की सराहना की, लेकिन उसके धार्मिक सुधारों का समर्थन कभी नहीं किया। यही स्थिति राजा शिवप्रसाद की भी थी।' इससे किसी को उठाने या गिराने की बात कहाँ से सिद्ध होती है? डॉ. तलवार ने हिन्दी नवजागरण की जो व्याख्या प्रस्तुत की है, उससे असहमत हुआ जा सकता है। परन्तु उन्होंने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, उनसे भागकर सिर्फ आरोप लगा देना तर्कहीनता का प्रमाण है। डॉ. तलवार ने कहीं नहीं कहा कि राजा शिवप्रसाद भारतेन्दु हरिश्चन्द से अधिक राष्ट्रवादी थे अथवा भारतेन्दु शिवप्रसाद के मुकाबले ज्यादा अँगरेजपरस्त। डॉ. वीर भारत तलवार ने अपने नवजागरण सम्बन्धी लेखन में राजा शिवप्रसाद, भारतेन्दु हरिश्चन्द या सैयद अहमद खान में किसी को धर्मनिरपेक्ष अथवा जनवादी नहीं सिद्ध किया है, बल्कि इनकी गतिविधियों, रचनाओं और वक्तव्यों को पाठक के सामने रखते हुए उसी से निष्कर्ष की अपेक्षा की है। डॉ. तलवार के लेखन की यह उल्लेखनीय विशेषता है। वे कोई मूल्य-निर्णय नहीं देते। उनका उद्देश्य उन्नीसवीं सदी में चलने वाले हिन्दी आन्दोलन के अन्तर्विरोधों को उजागर करना है। वे परिप्रेक्ष्य को समग्रता में देखने-दिखाने का प्रयास करते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने जिस साम्राज्यवाद विरोध को हिन्दी नवजागरण का आधार बनाया है, डॉ. तलवार की दृष्टि में उस अँगरेजी राज के प्रति भारतेन्दु का रवैया दुविधा से भरा हुआ था। अपने लेखन में भारतेन्दु ने कहीं उसकी स्तुति की है, कहीं निन्दा। उनकी वैचारिक स्थिति में निरन्तरता एवं संगति नहीं दिखती, जबकि रामविलास शर्मा को भारतेन्दु हरिश्चन्द में प्रखर साम्राज्यवाद विरोधी चेतना दिखायी देती है। दरअसल रामविलास शर्मा लेखन की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उन्होंने अपने मनोगत सत्य को प्रतिष्ठित करने के चक्कर में विरोधी विचारों के प्रति घोर असहनशीलता का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव, यशपाल और मुक्तिबोध जैसे समर्थ लेखकों के बरअक्स उन्होंने केदारनाथ अग्रवाल एवं अमृतलाल नागर को कालजयी रचनाकार सिद्ध किया है। लगता है राजा शिवप्रसाद को भी इसी प्रवृत्ति का शिकार होना पड़ा। क्या हिन्दी लेखकों का हृदय उतना ही विशाल था अथवा है, जितना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा में आभासित होता है? क्या हिन्दी लेखकों की चिन्ताएँ अखिल भारतीय थीं? हिन्दी लेखकों की कल्पना में भारत का जो चित्र तैर रहा था, उसका वस्तुगत स्वरूप क्या था? स्वाधीन भारत में वे किस तरह का समाज देखना चाहते थे? उनकी नवजागरण सम्बन्धी मान्यताएँ क्या उपनिवेशवादी शासन के अन्त की कामना तक सीमित थीं अथवा वे भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ में भी परिवर्तन देखना चाहते थे? डॉ. तलवार को वर्ण-व्यवस्था, स्त्री शिक्षा, धर्म, रूढ़िवाद और भाषा के बारे में उन्नीसवीं सदी के लेखकों के विचार उदार, तर्कसंगत और लोकतान्त्रिक नहीं लगते। उनमें विचलन, प्रतिगामिता एवं अपने वर्गीय हितों के प्रति गम्भीर चिन्ता दिखायी देती है। उनका कहना है कि '19वीं सदी के भद्रवर्गीय नवजागरण ने भारतीय समाज में किसी बुनियादी परिवर्तन का आन्दोलन नहीं खड़ा किया था। लेकिन बीसवीं सदी में जातिप्रथा को जड़ से उखाड़ने के लिए दलित आन्दोलन खड़ा करने वाले डॉ. अम्बेडकर ने ऐसे बुनियादी परिवर्तन की लड़ाई जरूर छेड़ी थी। इस लिहाज से उन्हें भारतीय नवजागरण की दूसरी

धारा का नेता मानना चाहिए।' वे यह भी कहते हैं कि 'नवजागरण की मुख्य प्रवृत्ति शास्त्रों को फूँकने की नहीं, उनसे प्रमाण जुटाने की थी।' जिन शास्त्रों की मान्यताएँ भारतीय समाज के एक बड़े हिस्से के प्रतिकूल हों, उन पर परम्परा के नाम पर मुग्ध होने और दूसरों से भी उनके प्रति पूज्य-भाव रखने का आग्रह नवजागरण की कसौटी कैसे बन सकती है? पिछले तीन दशक से हिन्दी साहित्य में अपनी स्वतन्त्र पहचान बनाने के लिए जद्दोजहद करने वाला दलित साहित्य तो वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्विरोधों को सारतत्त्व के रूप में प्रस्तुत कर रहा है। यदि वेद-शास्त्र और परम्परा में नवजागरण के सूत्रों की खोज की जाएगी, तो उसका परिणाम होगा बाबरी मस्जिद का विध्वंस, गुजरात नरसंहार, इतिहास का भगवाकरण तथा ज्ञान-विज्ञान के नाम पर ज्योतिष एवं कर्मकाण्ड को पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाना।

डॉ. वीर भारत तलवार ने विधवा स्त्री के बलपूर्वक केश काटने की प्रथा का विरोध करने पर हिन्दी नवजागरण के एक प्रमुख लेखक प्रताप नारायण मिश्र द्वारा की प्रतिक्रिया को उद्धृत किया है जिसमें कहा गया है कि 'वाह री नयी सभ्यता, भारतीय विधवा न ठहरी, वीरांगना ठहरी। इसमें उसे कष्ट क्या होता है? हानि क्या होती है? सड़ी-गली बातों के लिए कानून बनवाने से देश का क्या हित होगा?' प्रताप नारायण मिश्र की इस प्रतिक्रिया में विधवा स्त्रियों के प्रति उपेक्षा और हास्य-व्यंग्य का भाव स्पष्ट दिखता है। उन्होंने यह भी कहा कि 'यह देश जब सुधरेगा तब इसी के सुधारे सुधरेगा। उन्मत्ताभिलाषियों के पक्ष में अन्याय उपायों की अपेक्षा यह उपाय अधिकतर शीघ्र एवं पुष्ट फलदायक है कि ब्राह्मण कुल का साहस बढ़ाया जाय।' एक जाति विशेष के नेतृत्व को सुनिश्चित करना नवजागरण के अग्रदूतों की चिन्ता में शामिल था। हिन्दी नवजागरण की इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है? दयानन्द सरस्वती हिन्दू समाज के पतन के लिए ब्राह्मणों को उत्तरदायी मानते थे, स्वामी विवेकानन्द ब्राह्मणों की चित्तवृत्ति में किसी परिवर्तन की आशा नहीं करते थे और डॉ. अम्बेडकर इस बात को लेकर पूर्ण आश्वस्त थे कि बुनियादी सामाजिक बदलाव के लिए ब्राह्मण कभी नहीं तैयार होंगे। ऐसे में हिन्दी नवजागरण के अग्रदूतों में सामाजिक सुधारों के प्रति उदासीनता और हिन्दी नवजागरण के सिद्धान्तकार रामविलास शर्मा में इन सुधारों की उपेक्षा करके साम्राज्यवाद के विरोध को सारतत्त्व के रूप में प्रस्तुत करने की एकांगी दृष्टि को डॉ. तलवार ने अस्वीकार कर दिया है। इक्कीसवीं सदी में भी समाज के उपेक्षित वर्गों के बारे में ऊँची जातियों के विचारों में आमूल-चूल परिवर्तन देखने को नहीं मिलता। उनका राजनीतिक-सामाजिक व्यवहार और निहित स्वार्थों के लिए सत्य को असत्य सिद्ध करने की उनकी पुरानी रणनीति भी नहीं बदली है। कुछ विद्वानों का मानना है कि यदि हिन्दी नवजागरण की ऐसी-वैसी व्याख्या की गयी अथवा उसे नकारने का प्रयास किया गया, तो यह अनमोल विरासत संघ परिवार के हाथों में चली जाएगी। ऐसी सतही बातों से भयभीत होकर यदि नवजागरण को पवित्र-पूज्य भाव से देखा जाता रहेगा, तो न सच्चाई तक पहुँचा जा सकता और न ही अन्तर्विरोधों की पहचान की जा सकेगी? नवजागरण कोई शास्त्र या पुराण तो है नहीं कि उस पर अँगुली नहीं उठायी जा सकती? वह हमारे इतिहास का हिस्सा है। उस पर सवाल उठेंगे और उसकी मीमांसा भी की जाएगी। किसी भी अवधारणा के तार्किक विकास के लिए ऐसा करना आवश्यक है। 'रस्साकशी' में वीर भारत तलवार ने यह तो नहीं कहा है कि भारतेन्दु में साम्राज्यवाद विरोधी चेतना थी ही नहीं। उनका तो इतना भर कहना है कि भारतेन्दु अपनी सुविधा और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के कारण कहीं साम्राज्यवाद का विरोध करते हैं, कहीं गुणगान। उनके विचारों में विचलन दिखता है। भारतेन्दु या उनके मण्डल के अन्य लेखकों में साम्राज्यवाद विरोध की चेतना कम रही हो अथवा अधिक, मूल बात यह है कि वर्ण, जाति, धर्म, संस्कृति, शिक्षा, स्त्री और उससे जुड़े मुद्दों पर इन लेखकों के विचारों में अतार्किकता, पिछड़ापन एवं अनुदारता दिखायी देती है। भारत की स्वतन्त्रता के बाद समाज के विभिन्न वर्गों और उनसे सम्बद्ध मुद्दों पर इन लेखकों का रवैया कैसा होता, इसका अनुमान तो नहीं लगाया जा सकता; किन्तु पराधीन भारत की परिस्थितियों में व्यक्त किये गये इनके उद्गारों को पढ़कर सन्देह अवश्य पैदा होता है, विशेष रूप से स्त्रियों और हाशिये के लोगों के सन्दर्भ में। स्वाधीनता का अपना महत्त्व होता है, लेकिन उसे पाने का सपना देखना और उसे साकार करने की चेष्टा करना उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है जिसमें समाज का उपेक्षित समूह

सम्मानजनक उपस्थिति का अनुभव कर सके। वीर भारत तलवार ने लक्ष्य किया है कि जो लोग पराधीन भारत में हिन्दी की लड़ाई लड़ रहे थे, वे स्वाधीनता के बाद अँगरेजी के पठन-पाठन में अपना भविष्य सुरक्षित होता देखने लगे। इसे हिन्दी आन्दोलन का दोहरापन कहा जाएगा। राष्ट्रवादी होने का दम्भ भरने, यूरोप-अमेरिका के सुख का एक टुकड़ा पाने की लालसा में जीने वाला और साम्प्रदायिक राजनीति को सींचने वाला यही वर्ग है। डॉ. तलवार ने इस वर्ग की सर्वग्रासी मनोवृत्ति को उजागर करने का भरपूर प्रयास किया है। उन्नीसवीं सदी के पश्चिमोत्तर प्रान्त में नवजागरण की बागडोर इसी वर्ग के हाथ में थी। मुद्दे भी इसी वर्ग के हितों के अनुरूप थे। वीर भारत तलवार को साफ दिखता है कि हिन्दी नवजागरण के मुद्दे भारतीय नवजागरण के मुद्दों से मेल नहीं खाते। भारतीय नवजागरण के मुद्दों का सारतत्त्व सामाजिक-धार्मिक सुधार की चेतना से सम्बद्ध था, जबकि हिन्दी नवजागरण के अधिकांश नेता इन सुधारों का विरोध करते थे। ऐसे विरोधों का ही परिणाम है कि आज हिन्दी प्रदेश न सिर्फ आर्थिक दृष्टि से, बल्कि बौद्धिक-सांस्कृतिक रूप से भी पिछड़ा हुआ है। इस क्षेत्र में सामान्यतया दार्शनिक, वैज्ञानिक, चिन्तक और समाज-सुधारक पैदा नहीं होते। बुद्धि-विवेकशीलता के अभाव में भारत का यह भूभाग 'अहो रूपं अहो ध्वनिः' की मानसिकता से ग्रस्त है। ऐसे में डॉ. तलवार के प्रश्न और आपत्तियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण लगती हैं।

वीर भारत तलवार ने डॉ. रामविलास शर्मा की हिन्दी जाति की अवधारणा से भी असहमति व्यक्त की है। उनका मानना है कि हिन्दी क्षेत्र में बहुत-सी लोकभाषाओं का व्यवहार होता है। हिन्दी और उर्दू को लेकर हिन्दू-मुसलमानों के बीच तनातनी जगजाहिर है। ऐसे में समूचे हिन्दी प्रदेश में एक ही भाषा को लाद देना व्यावहारिक नहीं हो सकता। डॉ. तलवार के अनुसार रामविलास शर्मा ने जातीयता की अवधारणा को यूरोपीय नवजागरण के सन्दर्भ में विकसित किया, किन्तु यूरोप में भाषा के स्तर पर इतनी विविधता नहीं है। इसलिए वहाँ एक राष्ट्र-एक भाषा की अवधारणा को स्वीकार करने में कठिनाई नहीं हुई। भारत के गैर हिन्दी क्षेत्रों में भी जातीय भाषा का स्वरूप बिना किसी बाधा के स्थिर हो सका, लेकिन हिन्दी भाषी क्षेत्र की जटिल समस्या का समाधान नहीं हो सका। एक बड़ा सवाल हिन्दी-उर्दू का है, जो अब राजनीतिक विवाद का रूप ले चुका है। इसकी शुरुआत उन्नीसवीं सदी के नवजागरण में ही हो गयी थी। जनपदीय भाषाओं की अस्मिता का प्रश्न भी महत्वपूर्ण है। इनका अपने क्षेत्र विशेष में रहने वालों के साथ कैसा सम्बन्ध है, इसे बताने की आवश्यकता नहीं है। भाषा के साथ उसका व्यवहार करने वालों की भावनाएँ, संस्कार, रीति-रिवाज, खान-पान और रहन-सहन जुड़ा होता है। जिसे हम हिन्दी भाषा के रूप में जानते हैं, उसका उसी रूप में जनपदीय स्तर पर बोल-चाल में व्यवहार नहीं होता। यह भी सच है कि हिन्दी भाषा की सम्पृक्ति में जनपदीय भाषाओं का अमूल्य योगदान रहा है। ये जनपदीय भाषाएँ हिन्दी भाषा की प्राणशक्ति हैं। इन्हीं के माध्यम से जनसाधारण अपनी पहचान ढूँढ़ता है। डॉ. रामविलास शर्मा जब हिन्दी की बात करते हैं तो वे जनपदीय भाषाओं के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते दिखायी नहीं देते। वीर भारत तलवार की आपत्ति इस बात को लेकर भी है कि रामविलास शर्मा की हिन्दी जाति की अवधारणा में उर्दू के लिए कोई स्थान नहीं है, जबकि उर्दू भी इसी हिन्दी प्रदेश की भाषा है। हिन्दी क्षेत्र की भौगोलिक विशालता, बोलियों की विविधता और धर्म से भाषा की सम्पृक्ति के कारण हिन्दी जाति की अवधारणा उन्हें अवास्तविक लगती है। ऐसे समय में, जब विभिन्न अस्मिताएँ सिर उठा रही हों, उन्हें दबाकर हिन्दी जाति की अवधारणा को स्थापित करना अव्यावहारिक एवं अलोकतान्त्रिक भी कहा जा सकता है। हिन्दी जाति के गठन में आने वाले प्रमुख अवरोध की ओर संकेत करते हुए डॉ. तलवार का कहना है कि 'युक्त प्रान्त में एक जातीयता के विकास में हिन्दू-मुस्लिम अलगाव की भावना सबसे बड़ी रुकावट थी जो आज भी किसी न किसी रूप में कायम है। इसके अलावा आधुनिक हिन्दी और उर्दू, दोनों सिर्फ शहरों में प्रचलित भाषाएँ रही हैं जो अपने शुद्ध रूप में सिर्फ शिक्षित मध्यवर्ग में बोली जाती हैं। ब्रजी, अवधी वगैरह बोलने वाली व्यापक देहाती जनता का इन भाषाओं से हार्दिक लगाव कभी नहीं रहा। फारसी लिपि और कठिन अरबी-फारसी शब्दावली के सहारे बनावटी ढंग से उर्दू को एक अलग भाषा के रूप कायम रखने की सारी कोशिशों के बावजूद उर्दू आज अपनी मौत मर रही है।' भाषा को धर्म से जोड़ने पर ऐसे ही घातक परिणाम सामने आते हैं। हिन्दी भाषा के सन्दर्भ में देखें तो हिन्दी नवजागरण के नेता जिस संस्कृतनिष्ठ

हिन्दी की वकालत कर रहे थे, उसका हमारे सामाजिक जीवन में बहुत कम उपयोग होता है। फिल्म, जनसंचार माध्यमों और यहाँ तक कि हिन्दी कथा साहित्य में भी उसी हिन्दी का प्रयोग होता है जो जनसामान्य के बोध के निकट होती है। भाषा में जनतान्त्रिक प्रवृत्ति का होना उसके व्यापक प्रसार के लिए आवश्यक शर्त है। डॉ. तलवार के विचार से हिन्दी का वर्तमान और भविष्य उसकी जनतान्त्रिक चेतना के विस्तार से ही सुरक्षित रह सकेगा, जिसकी वकालत राजा शिवप्रसाद ने की थी और जिसको प्रेमचन्द एवं राहुल सांकृत्यायन जैसे रचनाकारों ने व्यापक आधार प्रदान किया था।

हिन्दी नवजागरण के दौरान हिन्दी भाषा को साम्प्रदायिक रूप देने के जो प्रयास हुए थे उसे वीर भारत तलवार ने अपने अध्ययन का हिस्सा बनाया है। कुछ लोगों का यह विचार भी सामने आया है कि लेखों या बयानों की बजाय हिन्दी नवजागरण के लेखकों की रचनाओं का विश्लेषण किया जाना चाहिए, तभी पूरी सच्चाई सामने आ सकेगी। यह तर्क प्रथमदृष्टया ठीक लगता है, लेकिन गहराई से विचार करें तो यह नवजागरण के अग्रदूतों के अन्तर्विरोधों, पूर्वग्रहों और वर्गीय हितों पर परदा डालने के लिए दिया गया लगता है। लेख सुविचारित चिन्तन-दृष्टि को व्यक्त करते हैं, जबकि बयान तात्कालिक प्रतिक्रिया होते हैं। इनमें भी व्यक्ति की सोच निहित होती है। बयान स्वतःस्फूर्त एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति होते हैं जिनमें छिपाने के लिए अवकाश अपेक्षाकृत कम होता है। रचना सोची-समझी अभिव्यक्ति होती है। उसमें लेखक अपनी पक्षधरता, संवेदना, भावधारा और मनोवृत्ति को छिपाने की चालाकी कर सकता है। लेखक अपनी रचना में जिस तरह उपस्थित होता है, जरूरी नहीं कि वह अपने वास्तविक जीवन में भी वैसा ही हो। हिन्दी नवजागरण में भारतीय नवजागरण की प्रवृत्तियों को ढूँढ़ने का उद्देश्य हिन्दी नवजागरण में निहित दलित-विरोधी, स्त्री-विरोधी एवं पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों पर परदा डालने तथा द्विज जातियों की भूमिका की पहचान करना है। गौरतलब है कि इस प्रयास में उन्हीं लेखकों को शामिल किया गया है जो वर्ण-व्यवस्था के पक्षधर रहे। हिन्दुत्व, वर्ण-व्यवस्था और रूढ़िवाद के विरोधी लेखकों को नवजागरण के विमर्श से बाहर रखा गया। डॉ. तलवार ने अपने विवेचन में इनका सन्दर्भ ग्रहण किया है। उन्नीसवीं सदी में भारतीय जनता के सामने सिर्फ साम्राज्यवाद ही चुनौती नहीं था। बहुत बड़े हिस्से के लिए तो पहली चुनौती सामन्तवाद था। भारत में साम्राज्यवाद का चरित्र दूसरे उपनिवेशों से इस मायने में भिन्न रहा कि यहाँ साम्राज्यवाद ने सामन्तवाद को अपदस्थ करके नहीं, बल्कि उसके साथ ताल-मेल बनाकर मित्रभाव से स्वयं को स्थापित किया था। अँगरेजों ने भी भारत की धर्मसत्ता और समाजसत्ता के अन्यायपूर्ण, शोषणपरक एवं भेदभावमूलक चरित्र को बदलने का प्रयास नहीं किया। दूसरे शब्दों में, उन्होंने धर्म और समाज के बारे में हस्तक्षेप न करने की नीति का अनुसरण किया। इस प्रकार धर्म और समाज को नियन्त्रित करने वाला वर्ग अँगरेजी राज में भी पूरी दृढ़ता के साथ अविचलित बना रहा। तब भी जनसामान्य की मुक्ति के लिए साम्राज्यवाद से संघर्ष करने की अपेक्षा धर्म और समाज के अन्तर्विरोधों से लड़ना नवजागरण की प्राथमिकता नहीं बना। हिन्दुत्ववादी-ब्राह्मणवादी शक्तियों के प्रमुख केन्द्र पश्चिमोत्तर प्रान्त में नवजागरण के अग्रदूत अपनी कमियों को दूर करने की बजाय उसे परम्परा और संस्कृति के तर्क में लपेटकर गौरवान्वित करने के अभियान में जुटे थे। डॉ. तलवार के विचार में इसे बहुधार्मिक एवं बहुजातीय भारतीय समाज को संगठित करने के प्रयास के रूप में नहीं देखा जा सकता।

हिन्दी प्रदेश में नवजागरण की खोज करने और उसकी सैद्धान्तिकी तैयार करने वाले डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी पूर्वनिर्मित धारणाओं के चलते भारतीय समाज की आधारभूत समस्या वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद को अपने विमर्श से दूर रखा है। उन्होंने वर्णाश्रम धर्म के सोपानीकरण को नकारते हुए मार्क्सवादी वर्गदृष्टि का आरोपण किया है। यहाँ तक कि रामविलास शर्मा ने सामन्तवाद की आलोचना करते हुए ब्राह्मणवाद की चर्चा तक नहीं की है। सामन्तवाद का ब्राह्मणवाद के साथ कैसा सम्बन्ध था, इसे प्रेमचन्द के कथा साहित्य से अधिक दूसरा कौन बता सकता है? जिस प्रेमचन्द ने वर्ण-व्यवस्था, ऊँच-नीच के भेदभाव और धार्मिक पाषण्ड की जड़ खोदने को राष्ट्रीयता की पहली शर्त बताया है, उन्हीं के प्रशंसक रामविलास शर्मा यहाँ उनके सरोकार एवं आशय से दूर जाते दिखायी देते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने जिस राष्ट्रीयता की भावना को हिन्दी नवजागरण का सारतत्त्व बताया है, उसके

स्वरूप का निर्धारण वर्ण-व्यवस्था के प्रति आलोचनात्मक हुए बिना कैसे सम्भव है? नेपाली साहित्यकार, आन्दोलनकारी एवं विचारक आहुति ने भारतीय उपमहाद्वीप की सामाजिक संरचना के बारे में एक साक्षात्कार में कहा है कि 'इस उपमहाद्वीप में इतिहास से चलता आया वर्ग-संघर्ष यथार्थ में वर्ण-संघर्ष ही था। आज भी यहाँ वर्ग-संघर्ष मुख्यतः वर्ण-संघर्ष के रूप में ही चल रहा है। इसलिए यहाँ क्रान्ति का मतलब है वर्ण-व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था द्वारा स्थापित किये गये सामन्ती-पूँजीवादी सामाजिक संरचना को बदलना।' इसमें दो राय नहीं कि साम्प्रदायिकता और धार्मिक कट्टरता भारतीय समाज की बड़ी समस्याएँ हैं, लेकिन इनके मूल में वे ही शक्तियाँ सक्रिय हैं, जो अतीत में राजनीतिक-सामाजिक रूप से प्रभुत्वशाली थीं और आज अपने वर्चस्व को टूटता हुआ देखकर राष्ट्रवाद एवं सामाजिक समरसता का जोर-शोर से नारा लगा रही हैं। डॉ. वीर भारत तलवार ने 'रस्साकशी' में उन्नीसवीं सदी के नवजागरण का मूल्यांकन करते हुए इन शक्तियों की भूमिका की शिनाख्त की है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नवजागरण समाज को रूढ़िवाद एवं संकीर्णता से मुक्त कराता है, उसके जीवन को नवीन चेतना से प्रदीप्त करता है, उसे एक नये युग में ले जाता है। यह सब सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन के बिना नहीं होता। राजनीतिक आन्दोलन इस दिशा में सार्थक भूमिका नहीं निभाते, क्योंकि वे अपनी प्रकृति एवं प्रयोजन में सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलनों से भिन्न होते हैं। हिन्दी प्रदेश में राजनीतिक आन्दोलनों के बरअक्स सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार के आन्दोलनों की उपस्थिति नगण्य रही है। हिन्दी क्षेत्र की दुर्दशा को देखकर स्वीकारना पड़ेगा कि हिन्दी नवजागरण का चरित्र मूलतः राजनीतिक था, जिससे यह समूचा क्षेत्र आज भी जातिवाद और साम्प्रदायिकता की समस्या से पीड़ित है। मध्यकाल में कबीर और रैदास जैसे निर्गुनियों ने सामन्तवाद, जातिप्रथा और ब्राह्मणवाद को भले ही धिक्कारा था, किन्तु आधुनिक भारत के इतिहास में ऐसे सन्तों की अनुपस्थिति तथा परिवर्तनकारी आन्दोलनों के अभाव के कारण हिन्दी प्रदेश सोच के धरातल पर आज भी पिछड़ा और प्रतिक्रियावादी बना हुआ है। यह हिन्दी आन्दोलन की पराजय है।

डॉ. वीर भारत तलवार के हिन्दी नवजागरण के विमर्श का उल्लेखनीय पक्ष यह है कि उन्होंने छूट गये व्यक्तियों, संगठनों और कार्यक्रमों को बहस के केन्द्र में रखा है-चाहे वे राजा शिवप्रसाद हों, सैयद अहमद खान हों अथवा आर्य समाज एवं उसके सुधार कार्यक्रम हों। डॉ. तलवार ने हिन्दी नवजागरण के अग्रदूतों के लेखन में दो महत्वपूर्ण बिन्दुओं-मुस्लिम विरोधी चेतना और अँगरेजी राज के प्रति कृतज्ञता के भाव-को रेखांकित किया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि 'पश्चिमोत्तर प्रान्त के शिक्षित भद्रवर्ग के ज्यादातर बुद्धिजीवियों में समाज सुधार को लेकर ऐसा कोई आवेग नहीं था जो उनके निजी जीवन में भी हिलोरें पैदा कर दे। वे बुराइयों के लिए समाज को कोसते थे, लेकिन खुद उनसे लड़ने के लिए सक्रिय कम ही होते थे।' इससे यही मतलब निकलता है कि सामाजिक विकृतियों को समाप्त करने में इनकी रुचि नहीं थी। हिन्दी नवजागरण के विमर्श में जिस प्रकार सनातनी वैष्णवों की अग्रणी भूमिका को प्रमुखता से रेखांकित किया गया है, उस पर आपत्ति करते हुए डॉ. तलवार ने दयानन्द के आर्य समाज के आन्दोलन की भूमिका पर भी विचार करने का आग्रह किया है। उनके विचार से हिन्दू धर्म-समाज के पतनशील पक्षों एवं रूढ़ियों का 'जैसा प्रखर विरोध सत्यार्थ प्रकाश में है, वैसा और कहीं नहीं मिलता।...दयानन्द ने वेदों को एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ मानने का हठ नहीं छोड़ा।' इसलिए उनकी तर्कशीलता और बुद्धि-विवेकशीलता में डॉ. तलवार को खास किस्म की जटिलता भी दिखायी देती है। इसी प्रकार उन्होंने सैयद अहमद के सुधार आन्दोलन को भी महत्व के साथ रेखांकित किया है। 'दयानन्द के समकालीन सैयद अहमद खाँ इस्लाम को ज्यादा तर्कपूर्ण और विवेकसम्मत बनाने का आन्दोलन चला रहे थे। कुरआन की तार्किक व्याख्या करते हुए उन्होंने अपने समाज की बदली हुई परिस्थितियों और जरूरतों को देखते हुए कुरआन की कई बातों को छोड़ देने के लिए कहा।' एक समाज सुधारक से यही आशा की जाती है कि वह धर्म के अनुपयोगी पक्षों के बारे में जनता को शिक्षित करे और नयी परिस्थितियों के अनुरूप उसकी चेतना को जागरूक बनाये। भाषा के प्रश्न पर डॉ. तलवार का मानना है कि 'शिवप्रसाद की भाषा नीति अपने समय की वास्तविकता के ज्यादा करीब थी।...उन्होंने भद्रवर्गीय रुचियों का अतिक्रमण करके उसे व्यापक बनाया।' उनके भाषा सम्बन्धी प्रयत्नों में गम्भीरता, प्रयोगशीलता

और साहसिकता मिलती है, लेकिन 'हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में उनकी भाषा-नीति पर उर्दूपरस्ती का ठप्पा लगाकर उनके साथ बेइंसाफी की गयी।' डॉ. तलवार को लगता है कि राजा शिवप्रसाद ने जिस भाषा का समर्थन किया था वह पश्चिमोत्तर प्रान्त अर्थात् आज के उत्तर प्रदेश की हिन्दू-मुस्लिम जनता दोनों के लिए स्वीकार्य हो सकती थी। इससे हिन्दी-उर्दू विवाद से भी बचा जा सकता था। दुर्भाग्य से हिन्दी के बुद्धिजीवियों ने अपने जातिवादी-साम्प्रदायिक आग्रहों और राजनीतिक हितों से प्रेरित होकर शिवप्रसाद के प्रयासों को मिट्टी में मिला दिया। डॉ. तलवार ने इस पर गहरा अफसोस जाहिर किया है।

डॉ. वीर भारत तलवार ने अपने विवेचन में नवजागरण को समग्रता में देखने का प्रयास किया है। यह उनके लेखन की उल्लेखनीय विशेषता है। वे तथ्यों के सन्दर्भ में ही कोई निष्कर्ष निकालते हैं, पूर्व निर्धारित धारणा के आधार पर तथ्यों का चयन और उनकी मनमानी व्याख्या नहीं करते। यहाँ इस विडम्बना को रेखांकित करना आवश्यक है कि जिस हिन्दी पट्टी ने उन्नीसवीं सदी के साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष में अग्रणी भूमिका निभायी थी, उसमें सामाजिक रूपान्तरण की प्रक्रिया अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा धीमी ही नहीं, पिछड़ी अवस्था में है। ऐसे हिन्दी नवजागरण की भूमिका पर सवाल तो उठेंगे ही। हिन्दी के बुद्धिजीवियों और लेखकों की सबसे बड़ी समस्या यह है कि वे अपने समाज के आधारभूत सवालों से टकराने का साहस नहीं करते, खासतौर से ऐसे सवाल, जो स्वयं उनके लिए असुविधाजनक होते हैं। यहाँ प्रेमकुमार मणि की यह टिप्पणी गौरतलब है कि “हिन्दी लेखकों के पास न दूरदृष्टि होती है और न सामाजिक सच्चाइयों को समझने का विवेक। वे आमतौर पर आत्ममुग्ध, अतीतजीवी और असंवेदनशील होते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने 1857 पर जो इतनी ऊर्जा खर्च की, अपने हिन्दी साहित्य और समाज की कमजोरियों पर हिन्दी समाज का ध्यान दिलाया होता, तो कहीं महत्वपूर्ण बात होती। नवजागरण में अतीत का गौरवगान नहीं होता, वर्तमान की आलोचना होती है।”(आजकल, मई 2017, पृ.17) प्रखर मार्क्सवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने तुलसीदास के काव्य में समाजवाद का सपना देखा है, प्रेमचन्द को उनका उत्तराधिकारी बताया है और ब्राह्मणवाद के स्थान पर पुरोहितवाद पद को प्रस्तावित किया है। क्या इससे साहित्य और समाज की सच्चाई बदल जाएगी? क्या इसमें कोई अन्तर्विरोध नहीं दिखायी देता? नवजागरण सम्बन्धी विवेचन में व्यक्त वीर भारत तलवार के विचारों से कोई सहमत हो या न हो, किन्तु निम्नवर्गीय दृष्टि से उन्होंने इसकी जो व्याख्या प्रस्तुत की है उससे हिन्दी नवजागरण के नए आयाम अवश्य ही उद्घाटित होते हैं। डॉ. तलवार के विवेचन में हमें यह भी देखने को मिलता है कि किस प्रकार हिन्दी नवजागरण की मूलधारा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एवं हिन्दुत्व की राजनीति में विसर्जित हो गयी थी? उन्होंने हिन्दी नवजागरण के सन्दर्भ जो सवाल खड़े किये हैं, उनका जवाब ढूँढ़े बिना नवजागरण का विमर्श अधूरा और एकांगी होकर रह जाएगा। हिन्दी नवजागरण को सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार और परिवर्तन की चेतना से काटकर उसे सिर्फ राष्ट्रवाद एवं साम्राज्यवाद विरोध तक सीमित कर देना विसंगतिपूर्ण और संकीर्णता का द्योतक है। कहना न होगा कि नवजागरण की प्रक्रिया में प्रश्नाकुलता और अन्तर्द्वन्द्व होता है, पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति का समावेश नहीं। इसी धरातल पर यह सुधार की प्रक्रिया से जुड़ता है। हिन्दी पट्टी में व्याप्त जड़ता, रूढ़िवादिता, जातिवाद, सम्प्रदायवाद और सामन्तवाद की चेतना ऐसे किसी नवजागरण का साक्ष्य नहीं देते जिसने आधुनिककालीन भारत में किसी व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक सुधारवादी आन्दोलन की अलख जगायी हो। डॉ. वीर भारत तलवार ने हिन्दी नवजागरण को हिन्दी आन्दोलन कहने का जो साहस दिखाया है, उस पर प्रतिक्रियावादी दृष्टि से नहीं, सकारात्मक ढंग से विचार करने की आवश्यकता है।



जाति के प्रश्न और हिंदी नवजागरण

■ बजरंग बिहारी तिवारी

हिंदी नवजागरण की चर्चा में जाति का सवाल बड़े महत्व का है। प्रो. वीर भारत तलवार ने अपनी किताब 'रस्साकशी' के तीसरे अध्याय 'धर्म और समाज सुधार' के अंतिम उप अध्याय 'जाति बिरादरी और जाति सभा : सैद्धांतिक बहस' में हिंदी नवजागरण के लेखकों की इस दृष्टि से परख की है। तलवार जी ने जो भी स्थापनाएँ दी हैं उसके प्रमाण भी साथ ही मुहैया कराए हैं। जाति उन्मूलन का कोई भी प्रयास नवजागरण के संदर्भों से गुजरे बिना कठिन है। आज जबकि जाति-विमर्श अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा प्रतीत हो रहा है ऐसे में औपनिवेशिक आधुनिकता के उस निर्णायक दौर की छानबीन अनिवार्य कही जाएगी। तलवार जी ने नवजागरण काल के प्रथम खंड अर्थात् हिंदी साहित्य के भारतेंदु युग को ही केंद्र में रखा है। इस उप अध्याय में उन्होंने मुख्यतः प्रताप नारायण मिश्र, भारतेंदु हरिश्चंद्र और बाल कृष्ण भट्ट के समाज सुधार तथा जाति संबंधी विचारों की निर्मम समीक्षा की है। यह समीक्षा तुलनात्मक ढर्रे की है। तुलना के लिए तलवार जी ने मराठी और बांग्ला नवजागरण के उदाहरण चुने हैं। हिंदी क्षेत्र को उन्होंने पश्चिमोत्तर प्रांत कहा है। उन्नीसवीं सदी में पश्चिमोत्तर प्रांत के भीतर आगरा, मेरठ, रूहेलखंड, कानपुर, इलाहाबाद, बनारस, बलिया और गोरखपुर के इलाके आते थे।

समाज सुधार के लिए वैयक्तिक प्रयास नाकाफी होते हैं यद्यपि उनकी जरूरत और भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता। अगर प्रणाली में परिवर्तन लाना है तो उसके खातिर संगठन बनाना पड़ता है। भारतीय समाज में कोई भी समाज सुधार जाति के प्रश्नों से जूझे बिना नहीं हो सकता। धर्म का सवाल भी ऐसा ही है। तलवार जी ने महाराष्ट्र के सुधारकों के नेतृत्व में बनी नेशनल सोशल कांफरेंस (1887) का हवाला दिया है। यह संस्था सेकुलर आधार लिए हुए थी अर्थात् इसकी सदस्यता हासिल करने में जाति या धर्म की कोई शर्त नहीं थी। यद्यपि इस संस्था के सम्मेलनों में जाति संगठनों के प्रतिनिधि भी हिस्सा लेते थे लेकिन ऐसे संगठनों को कांफरेंस का शिखर नेतृत्व-भंडारकर, रानाडे प्रोत्साहित नहीं करता था। इसके विपरीत पश्चिमोत्तर प्रांत में ऐसा कोई संगठन नहीं बना जो धर्म या जाति से असम्बद्ध हो। इस प्रांत में वास्तविक सुधार भावना से कार्य करने वाली संस्थाओं में आर्य समाज और ब्राह्मो समाज की गिनती की जा सकती है लेकिन इनका निर्माण प्रांत के बाहर हुआ था और यहाँ मात्र इनकी शाखा रोपी गई थी।

हिंदी के लेखकों ने इस मुद्दे पर कौन-सी भूमिका अख्तियार की? तलवार जी का निष्कर्ष है- “हिंदी नवजागरण से जुड़े लेखक इस प्रश्न पर जाति-सभाओं के समर्थकों से भी ज्यादा पिछड़े हुए थे। वे और भी पीछे जाकर सीधे-सीधे जाति-बिरादरी की पंचायत जैसे संगठनों की हिमायत करते थे जो 19वीं सदी की जाति-सभाओं से बुनियादी रूप से अलग और पिछड़ी हुई चीज थी।” नए दौर में स्थापित जाति सभाओं की आधुनिकता का लक्षण यह था कि इनकी सदस्यता इच्छानुसार ली या छोड़ी जा सकती थी। क्योंकि हिंदी लेखकों के सामने ऐसी सभाएँ थीं ही नहीं इसलिए वे इनकी कार्यशैली, जरूरत और महत्व से परिचित ही न थे। तलवार जी का मानना है कि इस अपरिचय के चलते वे जाति सभाओं के साथ “जाति-निरपेक्ष सुधार संगठनों की समस्याओं को बिल्कुल नहीं समझते थे।” यही नहीं, ये लेखक ऐसे संगठनों में सक्रिय लोगों के प्रति उपहासपूर्ण रवैया भी रखते थे। यह रवैया अज्ञानताजनित होने से ज्यादा जड़ताजनित था। बालकृष्ण भट्ट ने इसी मानसिकता की वजह से भंडारकर

और रानाडे जैसे सुधारकों को 'होटलिये' कहा था।

तलवार जी ने प्रताप नारायण मिश्र की जातिवादी मनोग्रंथि को उद्धाटित करते हुए बताया है कि उन्होंने सोशल कांफरेंस की सुधार पद्धति का विरोध किया था और जोर देकर कहा था, "ऊँची शिक्षा प्राप्त लोगों के नेतृत्व में सुधार करने के बजाए पहले अपने-अपने समुदायों के पारंपरिक नेताओं- पंडितों और उलेमाओं से मंजूरी लेनी चाहिए। ये नेता आगे बिरादरी के चौधरियों को प्रेरित करेंगे।" ऐसी शर्त को तलवार जी सुधार विरोधी या सुधारों को असंभव बना देने वाली शर्त मानते हैं। वे मिश्र जी के ब्राह्मणवाद को विशेष रूप से रेखांकित करते हैं। मिश्र जी एक तो ब्राह्मणों का नेतृत्व कायम करना चाहते थे दूसरे शादी-ब्याह में अपव्यय की पुरानी परंपरा को भी बनाए रखना चाहते थे। ब्राह्मणों के नेतृत्व को हटाने की बात स्वामी दयानंद सरस्वती कर रहे थे, विवेकानंद कर रहे थे और डॉ. आंबेडकर भी कर रहे थे। इन सब विचारकों का हवाला देते हुए तलवार जी ने प्रताप नारायण मिश्र का यह कथन उद्धृत किया है- "उन्नत्यभिलाषियों के पक्ष में अन्यान्य उपायों की अपेक्षा यह उपाय अधिकतर शीघ्र एवं पुष्ट फलदायक है कि ब्राह्मण कुल का साहस बढ़ाया जाए" ब्राह्मणों के जगने और प्रसन्न होने का परिणाम यह निकलेगा कि शेष समाज को जगाने का जिम्मा वे ही उठा लेंगे- "जहाँ यह प्रसन्न होके कुछ सजग हुए, वहाँ क्षत्रिय, वैश्यादि को जगाए बिना इनका जी न मानेगा और यही देश के सुधार की पहली सीढ़ी है।" उस समय आर्यसमाजी शादी-ब्याह में फिजूलखर्ची न करने का अभियान चलाए हुए थे। तलवार जी के अनुसार यह अभियान मिश्र जी को पसंद नहीं आता था। "अपने एक लेख में उन्होंने कई तरह से यह बतलाने की कोशिश की है कि यद्यपि आजकल शादी-ब्याह में ज्यादा रुपया खर्चना लोग बुरा समझने लगे हैं पर वास्तव में यह इतना बुरा है नहीं।" प्रताप नारायण के विचारों को प्रस्तुत कर तलवार जी तल्खी और विस्मय भरी टिप्पणी करते हैं- "इस नग्न ब्राह्मणवाद की रौ में बहते हुए मिश्र जी के दिमाग में सुधारों के न जाने कौन-से गुप्त मुद्दे छुपे हुए थे।"

क्या भारतेंदु की समझ प्रताप नारायण से भिन्न थी? तलवार जी कहते हैं कि सामाजिक सुधार के संबंध में दोनों लेखकों के विचार एक-जैसे ही थे यही नहीं, भारतेंदु बिरादरीवाद में एक कदम आगे थे- "उन्होंने ब्राह्मणों के अलावा स्पष्ट रूप से बिरादरी की पंचायतों और मुखियाओं की भूमिका पर जोर दिया।" विवाह में फिजूलखर्ची रोकने में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी उल्टे उन्होंने छद्मनाम से तवायफों की तरफ से रोजगार का सवाल उठाते हुए पत्र लिखा और 'कविवचनसुधा' में छपा। पत्र भारतेंदु ने ही लिखा होगा, तलवार जी ने इस अनुमान के तीन कारण दिए हैं- क) वे अपनी पत्रिका में छद्मनाम से लिखा करते थे, ख) पत्र की भाषा भारतेंदु की लगती है। ग) नाच-गान के प्रति भारतेंदु का लगाव था। शादी-ब्याह में होने वाला धूमधाम भारतेंदु को पसंद था और अपनी पसंद को उन्होंने अंगरेजी में पूरा संपादकीय लिखकर सार्वजनिक कर दिया था। अगर शादी में खर्च घटाने का मुद्दा आ ही जाए तो यह जिम्मा नए सुधारवादियों को न दिया जाकर पारंपरिक मुखिया लोगों को दिया जाना चाहिए- "ब्याह में खर्च घटाने के सुधार को लागू करने के लिए बिरादरी के मुखिया जिम्मेदारी लेंगे और वे ही खर्च की सीमा तय करेंगे जिसे न मानने वालों को बिरादरी सजा देगी।" भारतेंदु के इस सुझाव को तलवार जी 'सही' मानते हैं। उनका कहना है कि उस समय भारतीय समाज यूरोप के समाजों की तरह नागरिक समाज नहीं था। यूरोप का तत्कालीन समाज नगरपालिका के नियमों से शासित होता था, भारत में ऐसी 'सिविल सोसायटी' नहीं थी। भारतेंदु के सुझाव को सही मानने के बाद तलवार जी बताते हैं कि जाति संगठनों से जुड़े और उन संगठनों के भीतर तनाव और विरोध होते हैं "उन्हें भारतेंदु शायद ही समझते हों" मगर, भारतेंदु की सीमा इससे विकट थी। वे जाति-बिरादरी के नियमों के कायल थे और चौधरियों की भूमिका को मान्य करते थे साथ ही यह चाहते थे कि भारत 'एक राष्ट्र के रूप में भी संगठित' हो। अगर व्यक्ति और बिरादरी के विवेक में टकराव हो तो किसे सही माना जाए? "भारतेंदु ने इस सवाल को नहीं उठाया।" तलवार जी उनके जीवन प्रसंग के हवाले से बताते हैं कि ऐसा एक बार घटित हुआ था। भारतेंदु को जाति नियमों के उल्लंघन के कारण जाति पंचायत ने केश मुंडन की सजा सुनाई थी। भारतेंदु ने फिर चौधरी की गद्दी स्वीकार नहीं की लेकिन उन्होंने "बिरादरी के फैसले के आगे झुकते हुए सजा मंजूर की" जाति-बिरादरी के प्रति भारतेंदु के मोह को रेखांकित करते हुए तलवार जी कहते हैं कि उन्होंने 1874 में

‘वैश्य हितकारिणी सभा’ कायम की। सभा का उद्देश्य ‘कायस्थ महासभा’ जैसा था लेकिन इसकी सक्रियता और उपलब्धियों के सम्मुख भारतेंदु द्वारा स्थापित सभा “बिलकुल बेजान और असफल रही” यही नहीं, “इसके मुकाबले 1891 में इलाहाबाद के जज लाला बैजनाथ ने नेतृत्व में कायम हुई ‘वैश्य महासभा’ ज्यादा कारगर रही” जाति पंचायतों के प्रति भारतेंदु के लगाव को दर्शाने के बाद तलवार जी की निष्कर्षात्मक टिप्पणी है- “जाति-बिरादरियों के इस्तेमाल से जातिप्रथा को जो मजबूती मिलती थी, वह भारतेंदु की चिंता का विषय कभी नहीं बना।”

जातिप्रथा को लेकर बालकृष्ण भट्ट में तलवार जी ने दुविधा देखी है। यह दुविधा इसलिए कि वे अपने समय के ‘दूसरे हिंदी लेखकों के बनिस्बत कुछ आगे समझे’ जाते हैं। उनका ‘आगे’ होना खासा संदिग्ध है। तलवार जी बताते हैं कि बालकृष्ण भट्ट एक जगह जातिप्रथा की आलोचना करते हैं तो अन्यत्र समर्थन। उनका समर्थन वाला पक्ष ही भारी है क्योंकि उनकी आलोचना ‘स्पष्ट रूप’ से नहीं उभरती। अगर जाति विवेक अनिष्टकारी है तो कुलीनता का उनका आग्रह क्या है? जाति के नियमों में परिवर्तन की आवश्यकता महसूस करने वाले यह नहीं “साफ करते कि कौन-से नियम बदले जाने चाहिए और वे कैसे बदले जाएंगे।” फिर, भट्ट जी की नीयत तब जाहिर हो जाती है जब “वे खेद प्रकट करते हैं कि आजकल सभी वर्ण और जातियाँ अशुद्ध हो चुकी हैं।” इस विचित्रता की ओर तलवार जी ने ध्यान खींचा है कि भट्ट जी मिथ्या कुलाभिमान को भी अच्छा मानते हैं क्योंकि “इसी के कारण कुलीन व्यक्ति बुरे कर्मों से बचता है।” भट्ट जी का कुलीनता पर जोर सर सैयद अहमद जैसा है। भट्ट जी का विश्वास है, “कुलीन से संसार के उपकार की जितनी संभावना रहती है, उतनी ही नीच कुल वाले से हानि की।” तलवार जी ने नवजागरण की इस जातिवादी विरासत का असर मंडल कमीशन की सिफारिशों के विरोध में उभरे हिंसक और उग्र आंदोलन तक देखा है- “बालकृष्ण भट्ट इसी तर्क को दोहरा रहे थे और आज भी मंडल विरोधी द्विज जातियों के नेता इन्हीं तर्कों को दोहराते हैं।”

चर्चा के अंतिम हिस्से में तलवार जी पुनः भारतेंदु की तरफ लौटते हैं। वे यह तो मानते हैं कि समाज सुधार की दिशा में भारतेंदु ने ‘एक कदम आगे बढ़ाया’ लेकिन इसका श्रेय वे उन्हें नहीं देते। उनके अनुसार यह ‘एक कदम’ ब्राह्मोसमाज और आर्यसमाज के जातिप्रथा विरोधी आंदोलनों के असर में उठाया गया था। मगर, ‘एक कदम’ तो बस एक कदम ही होता है! इससे भारतेंदु की “बुनियादी धारणा में कोई महत्वपूर्ण फर्क नहीं आया।” यह ‘बुनियादी धारणा’ थी जाति आधारित भेदभाव। जब मुखिया लेखक दकियानूस है तो उसके मंडल के लेखकों को वैसा ही होना है। सभी लेखकों को एक लपेटे में लेते हुए तलवार जी ने विमर्शात्मक स्थापना दी है, “हिंदी नवजागरण’ के लेखकों ने ऐसे हर आंदोलन का विरोध किया जो जातिप्रथा को गंभीर चुनौती देता हो” गनीमत थी कि राजा शिवप्रसाद ‘सितारेहिंद’ ‘हिंदी नवजागरण’ के लेखक नहीं थे। दूसरे अध्याय में उन्होंने उनकी विस्तृत चर्चा की है और उनके ग्रंथ ‘इतिहासतिमिरनाशक’ (तीन खंडों में, 1864 से 1873 के बीच प्रकाशित) को केंद्र में रखकर उसकी कई विशेषताओं का निरूपण किया है। पहली चीज यह कि “हिंदी में आधुनिक इतिहासलेखन की शुरुआत इसी से हुई।” दूसरी यह कि किताब में इतिहास लेखन हेतु प्रामाणिक तथ्यों और स्रोतों के उपयोग पर जोर है। तीसरी, अंगरेजी शासन को मुक्तिदाता कहा गया है जिसने मुस्लिम युग के अंधकार और अत्याचार से छुटकारा दिलाया। तलवार जी विस्तार से बताते हैं कि मुस्लिम शासन के बारे में ऐसी धारणा भारतेंदु की भी थी और साथ ही उस समय के तथा बाद के तमाम राष्ट्रवादी इतिहासकारों की थी। यह कि इस धारणा का जन्म साम्राज्यवादी ब्रिटिश इतिहासकारों के लेखन से हुआ था। तमाम लोगों की तरह शिवप्रसाद भी उसे मान रहे थे। शिव प्रसाद ने तो इसमें अंगरेजी शासन की आलोचना की, भारतेंदु ने तो ‘समझदारी दिखाते’ हुए “अंगरेजी शासन पर अलग से कुछ भी नहीं लिखा।” ‘इतिहासतिमिरनाशक’ की सबसे खास बात यह कि इसमें ‘प्रगतिशील सामाजिक दृष्टिकोण’ मौजूद है। तलवार जी की मान्यता है कि इसीलिए “भारतेंदु मंडली से जुड़े लेखक-पत्रकार ‘इतिहासतिमिरनाशक’ का लंबे समय तक विरोध करते रहे।” शिवप्रसाद ने जातिप्रथा पर चोट की थी और शूद्रों के उभार का समर्थन किया था। तलवार जी के अनुसार वे “हिंदी नवजागरण के लेखकों में शिवप्रसाद अकेले थे जिन्होंने भारतीय समाज के पतन को ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों से जोड़कर देखा” दूसरी तरफ भारतेंदु की

‘जातिवादी जड़ता’ है जो टस से मस होने को तैयार नहीं हो रही है। तलवार जी ने तदीय समाज, बलिया भाषण, ज्ञाति विवेकिनी सभा आदि के संदर्भों से यह अंतिम रूप से साबित कर दिया है, “सच तो यह है कि भारतेंदु जातियों की ऊँची और नीची हैसियत में कोई फेरबदल करने के हिमायती भी न थे।” पुनः, उन्होंने भारतेंदु की ‘सबै जाति गोपाल की’ (1873) और ‘खत्रियों की उत्पत्ति’ (1878) जैसी रचनाओं की विवेचना करते हुए अपना निष्कर्ष पुष्ट किया कि “उन्होंने जातियों की स्थिति में किसी भी तरह के रद्दोबदल का हमेशा विरोध किया”

‘रस्साकशी’ किताब का उक्त हिस्सा पढ़ते हुए बार-बार लगा कि किताब प्रतिक्रिया में लिखी गई है। ऐसी किताबों की मुश्किल यह होती है कि इसमें असुविधाजनक या प्रतिकूल साक्ष्यों को या तो नजरंदाज कर दिया जाता है या इस तरह पेश किया जाता है कि वे महत्वहीन लगने लगते हैं। प्रताप नारायण मिश्र को शादी-ब्याह में फिजूलखर्ची का समर्थक साबित करने के लिए कई उद्धरण या उदाहरण दिए गए हैं लेकिन उनकी मशहूर व्यंग्यात्मक कविता ‘जन्म सुफल कब होय’ का यह प्रासंगिक अंश भुला दिया गया है— “लोटा थारी काल्हि ही लहनदार लें ढोय। होय तारीफ बारात की जन्म सुफल तब होय।” शादियों में घर फूंक तमाशा देखने वाली जनता का यहाँ समर्थन नहीं किया गया है बल्कि उसे चेताया गया है। इसी तरह भारतेंदु के ऐसे तमाम उद्धरण दिए जा सकते हैं जहाँ वे अंगरेजी शासन की स्पष्ट आलोचना करते हैं। ‘भारत-दुर्दशा’ नाटक तो इसके लिए ख्यात ही है। यहाँ, ‘कविवचनसुधा’ (18 मई, 1874) में भारतेंदु के लेख से यह अंश देखा जा सकता है— “अब तो प्रतिवर्ष कहीं न कहीं दुष्काल पड़ा ही रहता है। मुख्य करके अंगरेजी राज में इसका घर है और बहुधा ऐसा सुनने में आया है कि विसूचिका का रोग जो अब सम्पूर्ण भारत खंड में छा रहा है, अंग्रेजों के राज के आरंभ से इसका प्रारंभ हुआ है।” तलवार जी की मुख्य आलोचना भारतेंदु की जातिभेद संबंधी जड़ मानसिकता को लेकर है। यह मानने में तनिक भी संकोच नहीं करना चाहिए कि भारतेंदु के जाति-संस्कार बड़े गहरे हैं, उनकी मंडली के लेखकों की भी कमोबेश यही स्थिति है लेकिन इस तथ्य को भी उपेक्षित नहीं करना चाहिए कि वे आत्मसंघर्ष के दौर से गुजर रहे हैं और जड़ीभूत जातिप्रथा की आलोचना भी कर रहे हैं। भारतेंदु की पंक्ति है— ‘अपरस सोल्हा छूत रचि, भोजन प्रीति छुड़ाया किये तीन तेरह सबै, चौका चौका लाय ॥’ तलवार जी की स्थापना है कि नवजागरणकालीन लेखकों में “शिवप्रसाद अकेले थे जिन्होंने भारतीय समाज के पतन को ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों से जोड़कर देखा” जाने क्यों उन्हें भारतेंदु की वे बातें याद नहीं आईं जहाँ उन्होंने भारत के पतन की व्याख्या की थी। 1877 में ‘हिंदीवर्धिनी सभा’ में व्याख्यान देते हुए भारतेंदु ने भारतीय समाज की अवनति को ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों से जोड़कर देखा था। यह व्याख्यान उन्होंने काव्य विधा में दिया था। संदर्भित अंश देखिए—

“सौंय्यो ब्राह्मन को धरम, तेई जानत वेद ।

तासों निज मत को लह्यो, कोऊ कबहुं न भेद ॥

तिन जो भाष्यो सोइ कियो, अनुचित जदपि लखात ।

सपनेहुँ नहिं जानी कछू, अपने मत की बात ॥”



‘सत्यार्थ प्रकाश’ एवं आर्य समाज

■ राजीव रंजन गिरि

वर्तमान को जानने-समझने और बेहतर भविष्य का निर्माण करने के लिए अतीत की वस्तुनिष्ठ जानकारी निहायत जरूरी होती है। वर्तमान भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक-धार्मिक समस्याओं के उद्भव को जानने और उसके चरित्र को पहचानकर मौजूदा चुनौतियों का सामना करने के लिए वैचारिक औजार गढ़ने हेतु उन्नीसवीं सदी के भारत में हुए धार्मिक-सामाजिक-सांस्कृतिक हलचलों की पड़ताल जरूरी है। उन्नीसवीं सदी का दौर ‘नवजागरण’ का दौर था। इस दौर में प्रत्येक सचेत सुधारक अपने-अपने दृष्टिकोण से अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह कर रहा था। तत्कालीन भारत की परिस्थितियों पर गौर करें तो दिखेगा कि देश अँगरेजी साम्राज्यवाद की जंजीर में जकड़ा था और साधारण लोग धर्म के नाम पर ठगी, वाह्याडम्बर, अन्धविश्वास और छुआछूत में जकड़े हुए थे। हिन्दू समाज में कारोबारी लोगों और शिक्षित शहरी मध्यवर्ग का उदय हो चुका था, जिन्हें आधुनिकता की मलय-बयार अच्छी लग रही थी। अपने धर्म में आस्था रखनेवाले तत्कालीन हिन्दू-नेताओं को जरूरत महसूस हुई कि आधुनिकता ने जिन सवालों को धर्म के समक्ष खड़ा किया है, हिन्दू धर्म की जिन गड़बड़ियों को उजागर किया है, उसके मद्देनजर हिन्दू धर्म के संरचनागत बदलाव लाकर इसे एक नया रूप दिया जाए। इसी क्रम में ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज जैसे कई नए पन्थों की स्थापना हुई।

उन्नीसवीं सदी के भारतीय नवजागरण में हिन्दू नवजागरण और हिन्दू नवजागरण में स्वामी दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश तथा आर्य समाज का खास महत्त्व है। डॉ. वीर भारत तलवार की किताब ‘हिन्दू नवजागरण की विचारधारा : सत्यार्थ प्रकाश – समालोचना का एक प्रयास’ के बहाने दयानन्द और आर्यसमाज की वैचारिक सरणियों की ऐतिहासिक पड़ताल करती है। वामपन्थी लेखकों में दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज को लेकर आमतौर पर दो दृष्टियाँ दिखती हैं। डॉ. तलवार के मुताबिक ‘कई वामपन्थी विचारक दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज का नाम आने पर ऐसे नाक-भौं सिकोड़ते हैं मानो इनके महत्त्व पर विचार करना पिछड़ेपन की निशानी हो, मानो इनकी सराहना करना साम्प्रदायिक होने का सबूत हो।’ इसके ठीक उल्टा डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने लेख ‘नवजागरण की परम्पराएँ और क्रान्तिकारी आन्दोलन : संन्यासियों का योगदान’ में दयानन्द के द्वारा सभी धर्मों की समान रूप से की गयी कड़ी आलोचना को कबीर की ‘ना हिन्दू ना मुसलमान’ वाली परम्परा से जोड़ा। डॉ. शर्मा ने दयानन्द के विचारों की सीमाओं को नजरअन्दाज करते हुए उन्हें हर तरह से क्रान्तिकारी विचारक के रूप में पहचाना। डॉ. वीरभारत तलवार का मानना है कि “ये दोनों दृष्टिकोण गलत और बेबुनियाद हैं। ये दृष्टिकोण या तो अज्ञान पर आधारित हैं या ज्ञान को तोड़-मरोड़कर अपने इच्छानुसार पेश करने के दुराग्रह से उपजे हैं।” (पृ० 7)

लेखक ने अपनी किताब में दयानन्द की विचारधारा को ‘बुद्धि-विवेकशीलता, वर्ण-व्यवस्था, विधवा-विवाह, फंडामेंटलिज्म, राजनीति और निष्कर्ष’ शीर्षक अध्यायों में बाँटकर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उसको समझने का आलोचनात्मक प्रयास किया है। डॉ. तलवार का कहना है कि उन्नीसवीं सदी के भारतीय नवजागरण में राजाराममोहन राय, रानाडे जैसे सुधारकों ने बुद्धि-विवेकशीलता की धारणा पश्चिमी सम्पर्क से हासिल की थी लेकिन दयानन्द ने पश्चिमी शिक्षा के बिना ही, प्राचीन देशी परम्परा के अन्दर से इसे विकसित किया था। लेखक

ने कुछ सवाल उठाते हुए उनका जवाब खोजने की कोशिश की है, “देशी परम्परा और प्रत्यक्ष अनुभवों के स्रोत पर आधारित बुद्धि-विवेकशीलता ने हमारे नवजागरण में कैसी भूमिका अदा की? इसकी सीमाएँ और चारित्रिक विशेषताएँ क्या थीं? हमारी जरूरतों के लिहाज से यह किस हद तक कारगर रही? उससे प्रेरित चिन्तन और व्यवहार किस दिशा में आगे बढ़ा?” (पृ० 14) यह सच है कि दयानन्द पश्चिमी शिक्षा से वंचित थे लेकिन पश्चिमी शिक्षा प्राप्त लोगों के विचारों से परिचित एवं प्रभावित थे। दयानन्द के ‘सत्यार्थ प्रकाश’ की प्रेरणा एवं मॉडल पश्चिमी शिक्षा प्राप्त महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर की किताब ‘ब्रह्मोधर्म’ थी। जिस प्रकार देवेन्द्र ठाकुर ने ब्रह्ममत के आधार पर अपने सदस्यों के पारिवारिक सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन की व्यवस्था देने की कोशिश की है, उसी प्रकार दयानन्द ने ‘सत्यार्थ प्रकाश’ में वेदों के आधार पर ‘एक नया मनुष्य’, नयी जीवन-प्रणाली और नया समाज’ बनाने का प्रयास किया है। सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा है- ‘मेरा इस ग्रन्थ को बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य-सत्य अर्थ का प्रकाश करना है अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है, उसको मिथ्या ही प्रतिपादित करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा गया है’ लेकिन सत्य क्या है और मिथ्या क्या है? इसका ‘मन्त्र’ दयानन्द को अपने गुरु विरजानन्द से मिल चुका था। एक मात्र सत्य वेद ही है जो ईश्वरकृत है। बाकी सब मिथ्या। यही गुरुमन्त्र दयानन्द की सीमा थी। सवाल उठता है कि दयानन्द क्या सिर्फ गुरुमन्त्र की वजह से ऐसा कर रहे थे अथवा ऐतिहासिक परिस्थितियों का भी प्रभाव था? मध्यकाल में पहली बार बहुदेववादी हिन्दू धर्म का सामना एकेश्वरवादी इस्लाम धर्म से हुआ। मध्यकालीन सन्त कवियों ने भी एकेश्वरवादी धारणा का प्रचार-प्रसार किया था। कालान्तर में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ ईसाई मिशनरियाँ आईं। ईसाई धर्म भी एकेश्वरवादी है। बहुदेववादी हिन्दू धर्म अपनी आन्तरिक गड़बड़ियों से (न कि बहुदेववादी होने से) इनके समक्ष कमजोर पड़ रहा था। इस्लाम और ईसाई दोनों धर्म केन्द्रीकृत रहे हैं। हिन्दू धर्म का स्वरूप केन्द्रीकृत नहीं रहा है। हिन्दू धर्म के किसी भी ग्रन्थ को ‘अहले किताब’ जैसी मान्यता नहीं मिली है। वेद, पुराण, स्मृति, उपनिषद् सबका समान महत्त्व है। यह व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह किस पुस्तक को ज्यादा महत्त्व देता है। इसके लिए ‘हिन्दू धर्म’ में कोई खास विधान नहीं है। जबकि इस्लाम धर्म और ईसाई धर्म में क्रमशः ‘पवित्र कुरान’ एवं ‘पवित्र बाइबिल’ की अवधारणा रही है। इन धर्मों में मान्यता है कि ये किताबें स्वयं ईश्वर के द्वारा लिखी गयी हैं। हिन्दू धर्म और सेमेटिक धर्म (इस्लाम व ईसाई आदि) में यह बुनियादी फर्क है। दयानन्द के समक्ष धर्मान्तरण कर रहे हिन्दुओं के रूप में एक चुनौती थी। पश्चिमी राष्ट्र-राज्य की अवधारणा ने इसे हवा दी, जिसके तहत एक धर्म, एक भाषा, एक संस्कृति से एक राष्ट्र बनता है। पश्चिमी ‘राष्ट्र-राज्य’ के साथ जुड़े उपर्युक्त मूल्य भारतीयता के प्रतिकूल है। (इसका सुन्दर एवं तार्किक विश्लेषण समाजवादी विचारक सच्चिदानन्द सिन्हा ने ‘हम नेशन नहीं राष्ट्र हैं’ शीर्षक आलेख में, जो उनकी किताब ‘भारतीय राष्ट्रीयता एवं साम्प्रदायिकता’, मराल प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, 1990 में संकलित है - किया है।) स्वामी दयानन्द हिन्दू धर्म और सेमेटिक धर्म के साथ भारतीय राष्ट्र और यूरोपीय नेशन के बुनियादी फर्क को नजरअन्दाज कर रहे थे। आखिर दयानन्द ऐसा क्यों कर रहे थे? तत्कालीन भारत ब्रिटिश उपनिवेश था। ब्रिटिश सत्ता के साथ धर्मान्तरण कराने वाली मिशनरियाँ भी आयी थीं। इस्लाम धर्म के फैलाव में भी उसकी राजसत्ता सहायक रही थी। जाहिर है कि ऐसी परिस्थितियों में एक तरफ अपनी धार्मिक कुरीतियों का बोध होगा जिन्हें सुधारने की कोशिश सुधारक कर रहे थे। दूसरी तरफ अपने शासक वर्गों का धर्म एक आदर्श-नमूने के रूप में दिखा। यही वजह है कि दयानन्द ने सेमेटिक धर्म (इस्लाम और ईसाई) के अनुरूप हिन्दू धर्म को गढ़ने की कोशिश की। इन्हीं कारणों से दयानन्द में उपर्युक्त दोनों प्रवृत्तियाँ अपने धर्म की कुरीतियों का विरोध एवं ‘वेद’ के आधार पर एक ‘नये धर्म’ को गढ़ने की कोशिश मिलती है। साथ ही यूरोपीय ‘नेशन-स्टेट’ के अनुरूप भारतीय ‘राष्ट्र’ को बदलने की कोशिश कर रहे थे।

बहरहाल, दयानन्द की वैचारिक सरणी में ‘नवजागरण’ का जो प्रस्थान दिखता है वह पूर्णतः “अँग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी मूल्यों से प्रेरित न होकर हिन्दू धर्म के पतन के खिलाफ एक हिन्दू की प्रतिक्रिया के रूप में उभरा था।” (पृ० 13) डॉ. तलवार ने ठीक नोट किया है कि “हिन्दू धर्म और समाज की बुराइयों के खिलाफ

उन्होंने विद्रोह किया। इस विद्रोह की जड़ें लोकतन्त्र और बुद्धि-विवेकशीलता (रेशनलिटी) की आधुनिक यूरोपीय धारणाओं में न होकर भारत की देशी परम्परा में थी।” (पृ० 13) उल्लेखनीय है कि नवजागरण के दो बड़े शख्स, दयानन्द और रामकृष्ण परमहंस – दोनों को अँग्रेजी शिक्षा नहीं मिली थी। बावजूद इसके इन दोनों संन्यासियों ने अपने समय के अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवकों को अपनी ओर आकर्षित किया। लेखक ने इसके कारणों का बिल्कुल ठीक विश्लेषण किया है कि दोनों संन्यासियों ने धर्म का जो रूप गढ़ना चाहा, पारम्परिक समाज के शिक्षित वर्ग ने उसमें एक नया गौरव पाया – प्राचीन हिन्दू परम्परा में बने रहते हुए भी आधुनिक होने का गौरव।

नवजागरण की अपनी खूबी क्या है? इसका जवाब देते हुए वीर भारत तलवार लिखते हैं- “अपनी परम्परा, धर्म, रीति-रिवाजों और सामाजिक संस्थाओं को आलोचनात्मक दृष्टि से देखना, उन्हें बुद्धि-विवेक की कसौटी पर जाँचकर ठुकराना या अपने समय के मुताबिक सुधारना हर नवजागरण की चाहे वह यूरोपीय हो या भारतीय – सबसे केन्द्रीय विशेषता रही है।” (पृ० 13) लेखक ने इस किताब में दयानन्द के विचार में मौजूद ‘बुद्धि-विवेकशीलता’ की पड़ताल की है। डॉ. तलवार की यह खूबी है कि वे चीजों की बारीकियों को देखते हैं। अपने निष्कर्ष के लिए किसी पक्ष को नजरअन्दाज नहीं करते हैं। दयानन्द के विचार में मौजूद छोटे-छोटे तत्वों का भी ऐतिहासिक विकासक्रम में जाँचकर विश्लेषण करते हैं, उस दौर की अन्य समानधर्मा घटनाओं से तुलना करते हैं। इस प्रकार, वे प्रत्येक घटना एवं निर्णय को एक व्यापक दायरे में ले आते हैं। नतीजतन वे तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों में दयानन्द के महत्त्व को स्वीकारते हुए उनके अन्तर्विरोधों का खुलासा करते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती का हिन्दू धर्म में वही स्थान है जो ईसाई धर्म में मार्टिन लूथर का। दयानन्द ‘धर्म’ और ‘धार्मिकता’ के विरोधी नहीं थे। बल्कि ‘तर्क’ और ‘नैतिकता’ के आधार पर नये धर्म की स्थापना कर रहे थे। यही वजह है कि उन्होंने हिन्दू धर्म की तथाकथित पवित्र प्रथाओं को तर्क की कसौटी पर कसकर देखा और गलत होने पर उसके खिलाफ प्रचार किया। उन्होंने मूर्तिपूजा, भगवान के अवतार, पुरोहित, जातिप्रथा, छुआछूत, तीर्थ व्रत, गंगास्नान वगैरह को धार्मिक पाखंड बताया। दान-दक्षिणा वगैरह को लालची ब्राह्मणों की करतूत बताया। उन्होंने कहा कि मूर्तियों में ईश्वर को मानना, पूजा करना, भोग लगाना धर्म नहीं है। इसे दयानन्द ने ‘अज्ञानमूलक कर्म’ बताया। उन्होंने बताया कि जड़ की पूजा करने से आत्मा भी जड़ हो जाती है। वे मूर्तिपूजा को हिन्दू धर्म पर जैनियों का दुष्प्रभाव बताते थे। दयानन्द के अनुसार वेदों में मूर्तिपूजा कहीं नहीं मिलती है, क्योंकि यह आर्यों की संस्कृति का अंग नहीं थी। उल्लेखनीय है कि दयानन्द सिर्फ उन्हीं हिन्दू ग्रन्थों को मान्यता देते हैं जो वेदों के मत को पुष्ट करता हो अथवा दयानन्द को खुद पसन्द हो। वे वेद को छोड़कर सभी ग्रन्थों को तर्क के दायरे में लाते हैं। इस प्रकार एक ओर जहाँ दयानन्द सेमेटिक धर्म के रूप में हिन्दू धर्म को नया चोला पहनाकर इसे मजबूत बनाना चाहते हैं, वहीं दूसरी ओर आम हिन्दुओं को यह विश्वास दिलाते हैं कि वे नया कुछ भी नहीं कर रहे हैं, बल्कि मूल एवं प्रामाणिक हिन्दू धर्म की स्थापना कर रहे हैं।

भारतीय आम जनता का मनोविज्ञान इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल से ही कोई विद्वान, अपनी बात को अपने द्वारा कही नयी बात न बताकर, उसे पुराने ग्रन्थों से पुष्ट करता है। यह बताता है कि उक्त बातें फलान् ग्रन्थ में पहले से कही गयी हैं। मैं तो सिर्फ उनको ‘फिर से’ कह रहा हूँ। वेद के प्रति भी आम भारतीयों का श्रद्धा-भाव कितना था, इसे समझने के लिए हमें याद करना होगा कि आखिर क्या वजह थी कि ‘नाट्यशास्त्र’ जैसे साहित्यिक शास्त्र को ‘पंचम वेद’ का दर्जा दिया गया। कहना होगा, ‘पंचम वेद’ का दर्जा पाकर ही ‘नाट्यशास्त्र’ स्वीकृत हो सकता था। जाहिर है कि दयानन्द जहाँ कुरीतियों से ऊब चुके शिक्षित मध्यवर्ग को धार्मिक खुराक दे रहे थे, वह भी इस विश्वास के साथ कि यही वास्तविक हिन्दू धर्म है। साथ ही इस्लाम और ईसाई जैसे सेमेटिक धर्मों के बरअक्स एवं उसके समान हिन्दू धर्म को बदल रहे थे। दयानन्द अपने द्वारा स्थापित नए धर्म को हिन्दू धर्म के बदले आर्य धर्म कहते थे। हिन्दी भाषा जिसमें वे प्रचार-प्रसार कर रहे थे, उसे ‘आर्य भाषा’ कहते थे एवं इस देश को भारत या हिन्दुस्तान कहने की बजाय ‘आर्यावर्त’ कहते थे। वे दरअसल पश्चिमी राष्ट्र-राज्य की धारणा के मुताबिक ऐसा गढ़ रहे थे।

दयानन्द के विचारों और तर्कों में बुनियादी अन्तर्विरोध दिखता है। वे एक तरफ तो 'कुरान' और 'बाइबिल' को ईश्वरीय रचना कहे जाने की खिल्ली उड़ाते हैं, जबकि स्वयं वेदों को ईश्वर की रचना मानते हैं। डॉ. तलवार ने लिखा है कि "बुद्धि-विवेकशीलता के मामले में दयानन्द का सबसे चर्चित और विवादास्पद पक्ष उनकी वेद सम्बन्धी मान्यताएँ हैं। उन्होंने वेद को सिर्फ एक मुकम्मल धार्मिक ग्रन्थ ही नहीं माना, बल्कि उसे सभी विधाओं – इतिहास, भूगोल, राजनीति, दर्शन, कानून और विज्ञान – और समस्त मानव-ज्ञान का एकमात्र सही ग्रन्थ माना।" (पृ० 27) दयानन्द उन्नीसवीं सदी के हिन्दू सुधारकों में एकमात्र ऐसे नेता थे जो कुछ मुस्लिम पुनरुत्थानवादियों की तरह गुजरे हुए सुनहले वक्त को लौटने की अपील कर रहे थे। दयानन्द के समकालीन सैयद अहमद खाँ ने कुरान की तार्किक व्याख्या करते हुए मुस्लिम समाज की बदली हुई परिस्थितियों और जरूरतों के हिसाब से, कुरान की कई बातों को छोड़ने का आह्वान किया था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कर्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था को मानते हुए भी ब्राह्मण कर्म को श्रेष्ठ एवं शूद्र कर्म को सबसे नीचा बतलाया। वर्ण-व्यवस्था को कर्म के आधार पर लागू करने का जो उपाय दयानन्द बताते हैं, वह व्यावहारिकता से कोसों दूर दिखता है। डॉ. तलवार ने दिखाया है कि "वर्ण-व्यवस्था के सिलसिले में दयानन्द का मत एक कदम क्रान्तिकारी था। उन्होंने शूद्रों को शिक्षा और वेद आदि शास्त्र पढ़ने का अधिकारी माना। यह पुरानी वर्ण-व्यवस्था पर हमला था और समाज-सुधार की दिशा में आगे बढ़ा हुआ कदम था।" (पृ० 37) दयानन्द ने अपने प्रिय ग्रन्थ 'मनुस्मृति' के उन सभी अंशों को अप्रामाणिक बताया जिनमें शूद्र पर तरह-तरह की पाबन्दियाँ लगायी गयी थीं। बहरहाल दयानन्द के समय और शूद्रों के वेद-पाठ पर रोक के समय के बीच जो फर्क है, उसे नजरअन्दाज करना उचित नहीं है। डॉ. तलवार ने शूद्रों को लेकर 'सत्यार्थ प्रकाश' के अन्तर्विरोध एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रति दयानन्द की 'दुविधा' का विश्लेषण करते हुए चार वर्णों से बाहर रखे गये दलितों के सवाल पर दयानन्द की चुप्पी को उजागर किया है।

स्त्रियों का सवाल, उन्नीसवीं सदी के, नवजागरण के केन्द्र में था। स्त्रियों से सम्बन्धित चार मुद्दे- सतीप्रथा, बाल-विवाह, स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाह मुख्य थे। चूँकि दयानन्द से पूर्व सतीप्रथा के खिलाफ कानून बन चुका था, इसलिए इस सवाल पर सत्यार्थ प्रकाश में कुछ नहीं मिलता। दयानन्द ने बाल-विवाह का पुरजोर विरोध किया एवं स्त्री-शिक्षा पर बल दिया। शादी में स्त्री-पुरुष के हर तरह के मेल पर जोर देते हुए दयानन्द ने लड़कियों के विवाह की न्यूनतम उम्र सोलह वर्ष एवं पुरुषों के लिए पच्चीस वर्ष उचित बताया। बावजूद इसके आदर्श विवाह के लिए स्त्री-पुरुष की उम्र क्रमशः चौबीस एवं अड़तालिस साल निश्चित करते हुए उन्हें अटपटा नहीं लगा। ऐसे में उनके आदर्श विवाह के लिए निर्धारित उम्र उनकी पूर्व मान्यताओं को तोड़ती है। दयानन्द ने गृहस्थी में दोनों की बराबर की हैसियत पर जोर दिया। दोनों (स्त्री व पुरुष) को एक-दूसरे के अधीन रहने को कहा, साथ ही यह भी कहा कि 'स्त्री घर के काम पुरुष के आज्ञानुसार करे।' सवाल उठता है कि जब बराबरी का सम्बन्ध है तो पुरुष के आज्ञानुसार स्त्री घर का कार्य करे, ऐसा क्यों? वीर भारत तलवार ने ठीक कहा है कि द्विज जातियों के शिक्षित भद्रवर्गीय परिवारों के सारे मूल्य और मर्यादाएँ अपनी असंगतियों सहित सत्यार्थ प्रकाश में मिल जाती हैं। स्त्रियों से सम्बन्धित तीसरे मुद्दे, विधवा-विवाह के बारे में दयानन्द द्विज एवं शूद्र स्त्रियों के लिए अलग-अलग विधान प्रस्तावित करते हैं। जबकि वे एक 'आर्यधर्म' के लिए 'एक विधान' पर खुद जोर देते हैं। ऐसा कर दयानन्द 'वास्तव में अपने ही एक बड़े उद्देश्य को पराजित करते हैं। पूरे भारत में एक संस्कृति कायम करने की इच्छा के बावजूद ऐसी व्यवस्थाओं से वे व्यवहार में दो तरह की संस्कृतियों का, जो पहले से मौजूद थीं, समर्थन करते हैं- एक द्विज संस्कृति दूसरी शूद्र संस्कृति।' (पृ० 42)

स्वामी दयानन्द सरस्वती पुनर्जन्म पर विश्वास कर शोषणमूलक सामाजिक व्यवस्था को वैध ठहराते हैं। शोषण की चक्की में पिस रहे लोगों को उसके पिछले कर्म का फल बताकर व्यवस्था के शोषणमूलक चरित्र को छिपाते हैं। साथ ही जनता का उस व्यवस्था के प्रति विश्वास भी जगाते हैं।

क्या सत्यार्थ प्रकाश फंडामेंटलिस्ट ग्रन्थ है? वीरभारत तलवार ने फंडामेंटलिज्म की चारित्रिक विशेषताओं जैसे- शुद्धतावादी और पुनरुत्थानवादी दृष्टि, काल्पनिक अतीत की रचना और राजनीतिक शक्ति की महत्वाकांक्षा,

अलगाववाद, अपने-आप को पूर्णतः सही एवं दूसरे को गलत मानने की प्रवृत्ति आदि के आधार पर सत्यार्थ प्रकाश की जाँच-पड़ताल की है। लेखक ने दयानन्द के समकालीन समाज-सुधारकों से उनकी तुलना की है तथा उनके प्रति दयानन्द के रवैये को भी परखा है। अपने गम्भीर विश्लेषण के बाद डॉ. तलवार इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि “आर्य समाज और सत्यार्थ प्रकाश एक ज्यादा जटिल चीज है जो पूरी तरह से फंडामेंटलिस्ट नहीं है; हालाँकि, उसमें फंडामेंटलिज्म की कुछ बुनियादी विशेषताएँ प्रबल रूप से मौजूद हैं। उसमें सुधार भी है और फंडामेंटलिज्म भी। रूढ़िवाद भी है और आधुनिकता भी। अच्छे तत्त्व भी हैं और बुरे भी। तर्कशीलता भी है और तर्कहीनता भी। कट्टरता है और उदारता भी। इस जटिलता के कारण सत्यार्थ प्रकाश और उस पर खड़े आर्य समाज का फंडामेंटलिज्म अपने ढंग का है जिसमें प्रगतिशील सुधारों के साथ-साथ शुद्धतावादी, पुनरुत्थानवादी और साम्प्रदायिक प्रवृत्तियाँ भी दिखाई देती हैं।” (पृ० 59) लेखक का उपर्युक्त कथन सत्यार्थ प्रकाश एवं आर्य समाज आन्दोलन के प्रत्येक पक्ष का गहराई से विश्लेषण करने का परिणाम है।

‘आलोचना’ के सहस्राब्दी अंक-नौ में सदानन्द शाही ने सवाल उठाया है कि “दयानन्द की विचारधारा के अच्छे तत्त्वों का विकास क्यों नहीं हुआ। वे कौन-से सामाजिक अवरोध थे जिन्होंने इन अच्छे तत्त्वों को भोथरा और विकृत किया?” (पृ० 168) डॉ. वीरभारत तलवार ने अपनी किताब में दयानन्द की विचारधारा एवं आर्य समाज की विकृतियों के साथ उन वजहों एवं स्थितियों का भी खुलासा किया है, जो दयानन्द की विचारधारा में निहित अच्छे तत्त्वों के लिए रुकावट बने। डॉ० तलवार ने बताया है कि दयानन्द खुद जिन लक्ष्यों को लेकर चले थे, ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण उनसे मुकाबला न कर समझौता करने लगे। साथ ही अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में कई ऐसे मुद्दों से अपने को जोड़ने लगे, जिनका उनके प्रारम्भिक लक्ष्य से दूर-दूर का वास्ता नहीं था। वे जिस हिन्दू धर्म के खिलाफ आन्दोलन कर रहे थे, उसी की नीतियों के अनुसार अपने आन्दोलन को बदलने लगे। बहरहाल दयानन्द के विचारों के इन अन्तर्विरोधों को देखे बिना, उन पर कोई एक ठप्पा लगा देना, अपनी परम्परा व इतिहास के प्रति अन्याय होगा।



नवजागरण की '२२शाकशी' : 'इमाँ मुझे रोके है तो खैचे है मुझे कुफ्र...'

The Reformist Ulama and Public Debates in Colonial India

■ Shahid Perwez

The termination of Mughal sovereignty and the consequences of the rebellion of 1857 has had an adverse impact on the Muslims of India in general and ulama in particular. In the period of darken and agony which engulfed the middle class Muslim intelligentsia, the ulama belonging to the traditions of their ultimate mentor, Shah Waliullah¹, thought to reform the Muslim society through religious education. Through such education they expected to sharpen the minds of Muslim community which could serve their purpose and vouched to prepare the minds of the young students in such a way that while their loyalty to their faith should remain unalloyed and their attitude to the British govt. should be negative.

The middle of the 19th century marks a great change towards the religious policy by the British in India. The British officials in their individual capacity largely promoted the activities of Christian missionaries from England and other countries of Europe and USA. These missionaries had established their churches at different places in Indian sub-continent with the connivance of British officials. Here it may be pointed out that the activities of Christian missionaries are seen active during the reign of Akbar who in order to know the truth and the real religion started Ibadatkhana for religious discourse but the discourse at Ibadatkhana ultimately turned into munazra with great amount of hostility to other religions including Christianity. Nevertheless, throughout the Mughal rule the Christian missionaries were active in their attempts to convert Hindus and Muslims to Christianity to which they did not succeed much

In the beginning of 19th century, the British East India Company withdrew the so-called restrictions on Christian missionaries for preaching the Gospel. The withdrawal of these restrictions opened the flood gate of Christian fanatics, who in order to get more honours in the eyes of God, began to come to India for preaching of their religion. One of such preacher was Pfander, a German clergy man. Pfander had acquired great knowledge in most of the European sciences and languages including the classic Asiatic languages like Arabic and Persian. He had written a number of books on Christianity and Islam. He had toured many European and Asian countries including Iran where he did not forget his mission to invite the muslims to accept Christianity.

The continuous disappointment led him to the conclusion that Muslims believe in the truthfulness of Quran and therefore, any discourse to prove the superiority of Bible and Christianity would be futile.² However, in order to preach his ideas he wrote a book in German language in 1831 and got it translated into Persian under the title, Mizan-ul-

Haque.³ Publications of Mizan opened the door of debates once again in India to prove the truthfulness of Islam and Christianity. Pfander in Mizan asserted that, 'God could be obtained only through revelation and set five criteria for the quest of truth'. The first criterion, 'A true divine revelation must above all fulfil and satisfy the great and incredible need for men for external and never ending well being'.⁴ The second criterion, 'A true revelation must be in accordance with the dictates of the conscience which God has established in mans heart'.⁵ He did not elaborate the rest. Apparently his views were accepted but his own zealotry made him a staunch Christian preacher causing alarm to Hindus and Muslims about their religion. Pfander began to portray Christianity as a superior religion maligning Islam as is evident from Mizan.⁶ Pfander rejected Islam as a gross fiction, a system of falsehood and Islamic theology as mere error and superstition.⁷ On arrival in India . he came into conflict on many religious issues with the Indian ulama and modified his views on some issues.⁸ However, in the pre-rebellion era, the activities of Pfander by selecting prominent Muslims for Christian propaganda is noteworthy. He began to send propaganda literature to Syed Ahmad Khan (later Sir Syed), Kazim Ali, sajjadah nashin of dargah saleem chishti and Syed Nurul Hasan, a prominent person of Delhi Arabic College. Pfander believed that his propaganda literature was so powerful that none of the Muslim scholar would be in a position to defend the truthfulness of his religion convincingly. He sent Persian and Arabic translations of Bible to a number of prominent Muslims seeking their opinion and proposing an open debate on Christianity and Islam. The first response to Pfander missionary propaganda came from Syed Nurul Hasan followed by a number of Muslims from Agra and a book, Saulat-i- Zaigham by Hafiz M.Jafar. The other aspect of religious fanaticism was that some of the Christian employees of the company had established a academy in London where priest were trained languages like Arabic ,Persian and Urdu so as to enable them to be ready for religious debates with Muslims in India. They held the view that muslims were still harbouring anti- british feelings as they had been deprived of higher positions in Govt.after British supremacy which they were enjoying during the hey-day of the Mughal Empire.

The British educational policy too contributed greatly to the annoyance and resentment of the Indian Muslims especially the Ulama. They presumed that any moderate measure taken by the govt.was to spread the Christianity in india and that will ultimately lead to conversion from their faith. This tendency led to sharp reaction by the ulama who took active part in defending their religion through religious debates with Christianity which was purposely encouraged by the govt. Such debates were generally attended by Christian priest,the ulama representing muslims and members of Arya Samaj representing Hindus. One of these debates known as Mela-i- Khudashanasi or Festival of God took place in the ground of Mission school⁹, chandpur, shahjahanpur in two successive years in 1875 and 1876 respectively.The debates dealt with the topics like.....

- (a) Nature of creation
- (b) The oneness of God
- (c) The contradiction between God's justice and mercy

- (d) The proof of divinity of Vedas, Quran and Bible
- (e) The nature and means of salvation

In the field of social and cultural development, the ulama played an important role within the constrain of their outlook. It may be admitted that the pace of modernism did not affect them and they remained medieval in their outlook and ideology. Yet a silver lining in the reform of muslim society through encouragement of widow re-marriages, preaching for giving the share of the widow- daughter in the patrimony and clear concept of nationalism are some remarkable acts which flowed from the reformist ulama. In religious affairs the ulama took stand against the anti- Islam propaganda by the Christian missionaries, Dayanand Saraswati and his coteries. They stand firm in repudiating their allegations against Islam by holding debates with forces inimical to their faith.

Interestingly, these debates proliferated in the post rebellion period were encouraged and supported by the British bureaucracy. It is to be noted that while the religious leaders of the two community debated, the Christian missionaries who were initially part of these debates gradually disappeared from the scene. Such confrontation served the purpose of British interest whose stay in India became possible for a longer period due to growing communal divide.

References:

1. Shah Waliullah, a leading alim of Delhi whose scholarship had been unabated came under criticism by official ulama of his time on the question of language for translating the Quran into Persian. Now a distinct critic Prof. Veer Bharat Talwar in his monumental book, *Rassakashi*, says that Persian had been the language of upper class educated elite only, which does not seem to be correct. For details see, *Rassakashi*, 2nd revised edition, New Delhi 2006, pp- 252-254 while it is a established fact that Persian had enjoyed the status of being the cultural and political lingua franca of the day. See, Barbara D. Metcalf, *Islamic Revival in British India*, oup, New Delhi, p- 38. For different view see, Annamarie Schimmel, *Classic Urdu literature from the beginning to Iqbal*, wisebaden, 1975, p- 205 argues that the Quranic translation into Urdu may have been inspired not only by Shah Waliullah but also by that of the missionaries, Benjamin Schultze (1741) and Henry Martin (1814) who transiated the Bible into Urdu. Cited in Metcalf, p- 48.
2. A.A.Powell, *Muslim and Missionaries in pre- Mutiny India*, Richmand(Uk), 1993,pp- 138-139 (hereafter cited as Powell)
3. According to powell, two editions of *Mizan-ul-Haque* were published in India. In 1839 it was published from Calcutta and in 1849 it was published from Agra. Its Urdu editions were published from Mirzapur and Agra in 1843 and 1850 .pp- 138-40.
4. Powell, p- 140
5. Ibid.
6. Powell, p-145
7. Ibid.
8. Powell, p- 149.
9. Metcalf, p- 222, see also, *Mubahsa-i- Shahjahanpur*, Deoband (n.d.) p- 4, Manazir Ahsan Gilani, *Swaneh-i- Qasmi*, vol.2, pp- 314-481.



नवजागरण की 'रस्साकशी' : 'इमाँ मुझे रोके हैं तो खैंचे हैं मुझे कुफ्र...'

‘रस्साकशी’ : हिंदी नवजागरण का पुनर्पाठ

■ अलका तिवारी

भारत के संदर्भ में '19वीं सदी का नवजागरण', विश्व के अन्य भागों के 'नवजागरण' से थोड़ा भिन्न व थोड़ा पेचीदा कहा जा सकता है। पेचीदा इस मामले में कि यह औपनिवेशिक शासन के गर्भ से उपजा 'नवजागरण' था जिसके कारण भारत में इसके पनपने की स्थितियाँ थोड़ी अलग व विपरीत थीं, दूसरे पूरे भारत में नवजागरण का आगाज एक साथ नहीं होता, कुछ भागों में यह पहले सामने आता है और कुछ भागों में बाद में। वस्तुतः 'भारत का नवजागरण' बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु व केरल से चलता हुआ उत्तर भारत तक पहुँचता है, जिससे इसके स्वरूप व मुद्दों में विविधता दिखायी पड़ती है। और कहना न होगा कि भारतीय नवजागरण अपने में बहुवचनात्मकता को समेटे हुए भारत के भिन्न-भिन्न भागों में अलग-अलग तेवरों वाला दिखता है, जिस कारण इसे समग्रता में आंकना थोड़ा मुश्किल जान पड़ता है।

महत्त्वपूर्ण है कि 'भारतीय नवजागरण' के परिप्रेक्ष्य में 'हिन्दी नवजागरण' का आकलन, प्रारम्भ अब तक एक विवादास्पद विषय रहा है। क्योंकि भारतीय नवजागरण के मुकाबले हिन्दी नवजागरण बिल्कुल भिन्न व अलग धारा थी, जिसके केन्द्रीय मुद्दे और आंदोलन कुछ और ही थे। डॉ. रामविलास शर्मा ऐसे पहले आलोचक रहे जिन्होंने 'नवजागरण' पर विस्तृत और सुव्यवस्थित चिंतन का श्रीगणेश किया। उनकी पुस्तक 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' के प्रकाशन के बाद हिन्दी जगत में नवजागरण की अवधारणा को लेकर व्यापक विचार-विमर्श का कार्य प्रारम्भ हुआ जो अनवरत जारी है। वस्तुतः डॉ. रामविलास शर्मा भारतीय नवजागरण के संदर्भ में हिन्दी नवजागरण की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए इसे 'हिन्दी नवजागरण' घोषित करते हैं। साथ ही सन् 1857 के स्वतंत्रता संग्राम को इस नवजागरण का प्रथम चरण मानते हुए बंगाल, महाराष्ट्र व गुजरात के नवजागरण से भिन्न स्वीकारते हैं। डॉ. शर्मा के बाद आलोचकों की लम्बी कतार सामने आती है, जिन्होंने 'नवजागरण की अवधारणा' को अपने-अपने स्तर पर सामने लाने का प्रयास किया है। मगर बाद के आलोचकों के विचारों के मूल में कहीं न कहीं डॉ. शर्मा की ही विचारधारा काम करती दिखायी देती है, हाँ कुछ विषयों पर भले वो डॉ. शर्मा से सहमत नहीं दिखते। परन्तु उनकी स्थापनाओं के मूल में डॉ. शर्मा के विचारों की छाप अवश्य देखी जा सकती है।

डॉ. रामविलास शर्मा समेत बाद की पीढ़ी के सभी आलोचक अपनी-अपनी तरह से 'हिन्दी नवजागरण' की जाँच-पड़ताल करते हैं, और कई नवीन व अज्ञात तथ्य सामने आते हैं, मगर फिर भी 'हिन्दी नवजागरण' की स्पष्ट अवधारणा समग्रता व वस्तुनिष्ठता के साथ सामने नहीं आती। नवजागरण की अवधारणा को रेखांकित करते हुए कोई उसकी समग्रता की बात करता है, कोई विशिष्टता की, कोई बहुवचनात्मकता की, कोई जातीयता की तो कोई भिन्नता की। परन्तु इन सब तर्कों के बावजूद उस समय 'नवजागरण' के संदर्भ में वास्तव में हिन्दी क्षेत्र की स्थिति क्या थी? यह स्पष्ट रूप से सामने नहीं आती। फलतः 'हिन्दी नवजागरण' के संदर्भ में अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं, मसलन अखिल नवजागरण के स्तर पर जो विद्रोह, सुधार और बदलाव की लहर समूचे भारत में थी, क्या हिन्दी क्षेत्र में वैसी ही स्थिति थी? क्या कारण रहे कि हिन्दी पट्टी में सुधार आंदोलनों का वैसा प्रभाव नहीं दिख पड़ता जैसा भारत के अन्य प्रांतों में था? स्त्री-शिक्षा व स्त्री हितों के सवाल पर हिन्दी पट्टी में निष्क्रियता के भाव क्यों नजर आते हैं? सवाल यह भी उठता है कि क्या वास्तव में हिन्दी क्षेत्र के अंदर नवजागरण हो रहा

था? अतः इन सब प्रश्नों के आलोक में 'हिन्दी नवजागरण' का पुनर्पाठ आवश्यक जान पड़ता है।

नवजागरण के उपर्युक्त प्रश्नों को समेटते हुए 'नवजागरण की अवधारणा' के पुनर्पाठ की परम्परा में डॉ. वीर भारत तलवार का नाम उनकी बेलाग लेखनी व तीखी विचारधारा के साथ उभरकर सामने आता है। नवजागरण के पुनर्पाठ के संदर्भ में डॉ. वीर भारत तलवार अपनी गहन शोधपरक पुस्तक 'रस्साकशी : उन्नीसवीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत' (2002) लेकर आते हैं, जिसमें बड़ी मेहनत से संगृहीत सामग्री का प्रयोग तो किया ही गया है, साथ ही 19वीं सदी के तथाकथित 'हिन्दी नवजागरण' के अनछुए पहलुओं और अज्ञात तथ्यों को उद्घाटित करने का सफल प्रयास किया गया है। डॉ. तलवार की यह पुस्तक अपने प्रकाशन के साथ ही आलोचना जगत में, 'नवजागरण की अवधारणा' पर बहसों का बाजार गर्म कर देती है। डॉ. वीर भारत तलवार, 'रस्साकशी' के माध्यम से इतिहास लेखन और नवजागरण के संदर्भ में अब तक ज्ञात तथ्यों पर अनेक सवाल उठाते हुए कई नए तथ्य सामने रखते हैं। साथ ही वे 'हिन्दी नवजागरण' की अब तक की अवधारणा पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं, जिस कारण 'रस्साकशी' आलोचकों और बुद्धिजीवियों के बीच एक तरह से 'बौद्धिक चर्चा' का विषय बनी हुई है।

डॉ. वीर भारत तलवार, 'रस्साकशी' के माध्यम से न सिर्फ भारतीय और हिन्दी नवजागरण के वैविध्य और अंतर्विरोधों को स्पष्ट करते हैं वरन् दोनों का तुलनात्मक आकलन भी प्रस्तुत करते हैं। 'रस्साकशी' के माध्यम से उनका भरसक प्रयास रहा है कि 'हिन्दी नवजागरण' की अब तक की अवधारणा पर पड़ी धुंध को हटाकर उसकी साफ-सुथरी तस्वीर सामने लायी जा सके, जिसके परिणामस्वरूप पुरानी बहुत-सी अवधारणाएँ टूटती-सी दिखती हैं। साथ ही तथाकथित 'हिन्दी नवजागरण के पुरोधा' सवालों से घिरे कटघरे में खड़े मिलते हैं। डॉ. तलवार, रस्साकशी में ऐसे सवालों व मुद्दों को उठाते हैं, जिनका अब तक इतिहास में नोटिस नहीं लिया गया था। वस्तुतः डॉ. तलवार, रस्साकशी के अन्तर्गत भारतेन्दु व उनके मंडल की सामाजिक व सांस्कृतिक आलोचना करते हुए हिन्दी नवजागरण के पिछड़े होने का कारण स्पष्ट करते हैं, जिससे कहीं न कहीं 'हिन्दी नवजागरण' की अब तक की छवि चरमरा जाती है। डॉ. तलवार यह तथ्य सामने रखते हैं कि पश्चिमोत्तर प्रांत का नवजागरण मात्र हिन्दी-हिन्दू नवजागरण था? क्योंकि आज के हिन्दू राष्ट्र, साम्प्रदायिकता, धार्मिक उन्माद, हिन्दी-नागरी व उर्दू विवाद इन सबका जन्म 19वीं सदी के नवजागरण में ही हुआ था। इसीलिए वे पुष्ट साक्ष्यों के आधार पर 'हिन्दी नवजागरण' की संज्ञा को भ्रामक सिद्ध करते हुए उसे उसके वास्तविक स्वरूप में सामने लाते हुए 'हिन्दी आंदोलन' की संज्ञा देते हैं। महत्त्वपूर्ण है कि जब अखिल भारतीय नवजागरण के स्तर पर समाज-सुधार, शिक्षा, स्त्री-हितों व धर्म सुधार जैसे व्यापक नवजागरण कार्यक्रम चलाये जा रहे थे, तो उस समय हिन्दी नवजागरण के पुरोधा नागरी, हिन्दी व गोरक्षा के मसलों पर 'हिन्दूवादी आंदोलन' चला रहे थे, जो कहीं से भी अखिल नवजागरण का हिस्सा नहीं थे। अतः इस परिप्रेक्ष्य में जो तथ्य 'रस्साकशी' से निकलकर सामने आते हैं, उससे 'हिन्दी नवजागरण' की जो छवि निर्मित होती है, वह निश्चित 'हिन्दी नवजागरण के पुनर्पाठ' पर विवश करती है।

'रस्साकशी' का पहला अध्याय 'शिक्षा पर औपनिवेशिक राज्य का नियंत्रण और स्त्री शिक्षा' पर केन्द्रित है। इसमें डॉ. तलवार 1882 के 'हंटर शिक्षा आयोग' को दिए 'भारतेन्दु' व 'सर सैयद अहमद खॉं' के बयानों का विवेचन करते हैं। उनका विशेष फोकस भारतेन्दु पर ही जाता है। साथ ही उस समय सक्रिय दयानंद, आर्यसमाज, विद्यासागर व अन्य के शैक्षिक प्रयासों का अवलोकन डॉ. तलवार बड़े सूक्ष्म व वस्तुनिष्ठ ढंग से करते हैं। महत्त्वपूर्ण है कि 19वीं सदी के नवजागरण में शिक्षा का बुनियादी सवाल न सिर्फ भारतीयों के हित से जुड़ा था वरन् भारतीय नवजागरण का मूल तत्कालीन शिक्षित वर्ग ही था। ऐसे में युक्तप्रांत में शिक्षा की स्थिति अपने आप में कई सवाल उठाती है। महत्त्वपूर्ण है कि- "बंगाल और बम्बई के प्रांतों में 1820-30 से आधुनिक शिक्षा प्राप्त भद्रवर्ग का विकास हो रहा था।" जबकि पश्चिमोत्तर या हिन्दी प्रांत में उस समय आधुनिक शिक्षित लोग गिनती के थे, "1860 के दशक में भी बनारस में अंग्रेजी शिक्षा का बड़ा अभाव था। रईसों में केवल राजा शिवप्रसाद अंग्रेजी पढ़े थे।" 1882 में 'हंटर आयोग' ने जो रिपोर्ट प्रस्तुत की, उसमें कलकत्ता, बम्बई आदि के मुकाबले शिक्षा के क्षेत्र में पश्चिमोत्तर

प्रांत की स्थिति चौंकाने वाली थी। डॉ. तलवार इस पर टिप्पणी देते हुए लिखते हैं- “1891 में पश्चिमोत्तर और अवध प्रांत की कुल साढ़े चार करोड़ की आबादी में 97 प्रतिशत लोग निरक्षर थे, सिर्फ तीन प्रतिशत साक्षर थे। इन साक्षरों में भी अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त लोगों की संख्या पूरे प्रांत में सिर्फ 43 हजार 364 थी। इसमें से आधी संख्या प्रांत में बाहर से आये बंगालियों व अंग्रेजों की थी।”³ स्पष्ट है कि शिक्षा के मामले में हिन्दी पट्टी की स्थिति दयनीय थी। गौरतलब है कि इस समय तक भारत के अन्य प्रांतों में सरकारी तथा गैर-सरकारी संगठनों के प्रयास से ‘शिक्षा’ के क्षेत्र में काफी उन्नति हो चुकी थी, प्राथमिक शिक्षा के मामले से ऊपर उच्च शिक्षा के लिए कलकत्ता, मुम्बई व मद्रास आदि जगहों पर विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके थे। जिनसे नयी चेतना सम्पन्न युवा वर्ग का उदय हो रहा था, जो नवजागरण का महत्वपूर्ण अंग थे। विपरीत इसके पश्चिमोत्तर प्रांत में प्राथमिक शिक्षा के मामले कुछ इस तरह के स्कूल खोलकर हल किए जा रहे थे- “कायस्थ पाठशाला (1857, इलाहाबाद), बंगाली टोला स्कूल (बनारस) और एंग्लो-मुहम्मडन स्कूल (1874, अलीगढ़)।”⁴

वस्तुतः शिक्षा के मामले पर पश्चिमोत्तर प्रांत की स्थिति काफी पिछड़ी हुयी थी। बकौल डॉ. तलवार- “प्रांत की शिक्षा के मामले में हंटर आयोग ने इसके दो ‘काले धब्बों’ का जिक्र किया- एक, यहाँ के भद्रवर्ग ने शिक्षा के प्रति दिलचस्पी बहुत कम दिखाई। दूसरे स्त्रियों को शिक्षित करने के प्रति घोर निष्क्रियता।”⁵ वस्तुतः शिक्षा के क्षेत्र में युक्त प्रांत की स्थिति अखिल नवजागरण स्तर पर सबसे पिछड़ी रही और उसके पिछड़े होने के मूल में यहाँ के रूढ़िवादी विचारों से ग्रस्त भद्रजन का बहुत बड़ा योगदान रहा जो जाति जाने या स्त्रियों को हीन समझकर शिक्षा के अधिक से स्त्रियों व निचली जातियों को वंचित रखते थे। इसी सम्बन्ध में “आयोग ने इस निष्क्रियता पर हैरानी जताते हुए लिखा कि इस प्रांत में शिक्षा की राह में सबसे बड़ी रूकावट प्रभावशाली वर्गों का यह विचार है कि जो कुछ भी करना है, वह सरकार करे; हम नहीं कर सकते। क्या राजा शिवप्रसाद, क्या भारतेन्दु और क्या बालकृष्ण भट्ट सब इसी विचार के थे। आयोग को ताज्जुब था कि ये लोग अपने घरों की स्त्रियों तक की शिक्षा के लिए सरकार का मुँह देखते हैं।”⁶

रस्साकशी, का सबसे दिलचस्प पहलू, हंटर आयोग के समक्ष दिया गया भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का बयान है। जिसे बहुत व्यवस्थित तरीके से डॉ. तलवार ने पेश किया है। उल्लेखनीय है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ‘जो ‘हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत’ और ‘आधुनिक युग के जन्मदाता’ कहे जाते हैं, उसे जब ‘हंटर आयोग’ ने शिक्षा के सम्बन्ध पर विचार माँगे तो, हिन्दी भाषा का आंदोलन चलाने वाले भारतेन्दु ने, अंग्रेजी में पूछे गए सवाल का जवाब “अच्छी खासी अंग्रेजी में दिया था।”⁷ इसके आगे आयोग ने जब उनसे पूछा कि ‘इस प्रांत की भाषा किसे माना जाय’ तो उनका जवाब कुछ इस तरह का था- “यह कहना मुश्किल है कि इस प्रांत की देशी भाषा किसे माना जाय, क्योंकि यहाँ कई बोलियाँ चलती हैं... इस नजर से युक्त प्रांत की भाषा एक तो ब्रजभाषा कही जा सकती है, दूसरी खड़ी बोली।”⁸ महत्वपूर्ण है कि जब सैयद अहमद हिन्दी को ‘गँवारु’ की संज्ञा देते हैं तो पलटवार करते हुए भारतेन्दु उर्दू को “वेश्याओं और नाचने-गाने वालियों की जुबान”⁹ कहते हैं। जबकि वस्तुस्थिति ये थी कि हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा के दो रूप थे, जिनकी लिपि अलग थी।

वस्तुतः भारतेन्दु जिस तरह शिक्षा व्यवस्था के प्रचार-प्रसार व नियंत्रण के लिए औपनिवेशिक सरकार की वकालत करते हैं, वह हैरत में डालती है। ‘हंटर आयोग’ ने जब भारतेन्दु से पूछा कि- “सरकार के बिना सहायता के शिक्षा का प्रबंध निजी हाथों में सौंपा जाना चाहिए।”¹⁰ इस प्रश्न पर हमारे नवजागरण के पुरोधा का जवाब देखिए- “हिन्दुस्तान की जनता हमेशा बादशाही हुकूमत में रही है। उसमें मूर्तिपूजा की ऐसी प्रवृत्ति घर कर चुकी है कि... हमारी भाषा में पब्लिक जैसा कोई शब्द नहीं है। हम इसकी जगह सरकार शब्द बोलते हैं। हमारे पास नेशनलिज्म या पैट्रियटिज्म के प्रतिरूप का पर्यायवाची शब्द नहीं है। हमसे अपने बच्चों के लिए ऊँची शिक्षा देना तो दूर रहा, प्राइमरी शिक्षा देने के लिए कहना भी एक गलती होगी। मेरी समझ में भारत ने सभ्यता में बहुत कम उन्नति की है और वह अपने बच्चों की शिक्षा की जिम्मेदारी पूरी करने लायक अभी नहीं बन सका है।”¹¹ यहाँ भारतेन्दु स्वयं में कितने अंतरविरोधों से ग्रसित हैं, इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि उन्हें

भारत में 'राष्ट्रीय भावना' की अवधारणा ही नजर नहीं आती, तो क्या 1857 का स्वतंत्रता संग्राम बिना किसी 'राष्ट्रीय भावना' के ही घट गया था। और तो और उन्हें भारतीयों की क्षमता पर भी संदेह था कि भारतीय इतने गए-गुजरे हैं कि वे अपने बच्चों की शिक्षा तक का प्रबंध भी स्वयं नहीं कर सकते।

दूसरी तरफ भारतेन्दु के चिर प्रतिद्वन्दी 'सैयद अहमद खॉ' के विचार उनसे कहीं विपरीत और खुले हुए थे। 27 जनवरी, 1884 में पंजाब के एक मदरसे में दिया गया उनका भाषण उनके आधुनिक विचारों की ओर संकेत करता है, जहाँ वे कहते हैं "मेरे विचार से अगर कोई कौम अपने बच्चों को शिक्षित करना चाहती है तो यह तब तक नामुमकिन है जब तक कि वह खुद उसके लिए प्रयत्न न करे। यह अफसोस की बात है कि हम चाहते हैं कि हर जगह सरकार ही स्कूल खोले।"¹² डॉ. वीर भारत तलवार यह स्पष्ट करते हैं कि जहाँ भारतेन्दु शिक्षा में औपनिवेशिक सरकार के दखल को स्वीकार करते हैं, वहीं 'सैयद अहमद' जैसे लोग निजी प्रयत्नों को बढ़ावा देकर शिक्षा संस्थाओं पर भारतीयों का नियंत्रण प्रबंधन चाहते थे।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि शिक्षा जैसे बुनियादी सवाल का मसला जिस तरह से हिन्दी प्रांत में घिसट-घिसट कर चल रहा था, अन्य धार्मिक व सामाजिक सुधारों की भी यही स्थिति थी। जबकि उलट इसके उसी समय 'दयानंद सरस्वती' और 'ईश्वरचंद्र विद्यासागर' भारत के पिछड़े प्रांतों में शिक्षा के प्रचार-प्रसार में लगे थे, और इस कार्य में उन्हें सरकार से कोई सहायता भी नहीं मिली थी। बल्कि वे अपने प्रयासों से भारतीय समाज को शिक्षित करने का अभियान चला रहे थे। बकौल डॉ. तलवार- "भारतेन्दु के सामने दयानंद सरस्वती ने भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति के आधार पर अँग्रेजी शिक्षा प्रणाली से अलग देशी शिक्षा प्रणाली के विचार और सिद्धान्त पेश किए थे। हिन्दुओं की धार्मिक और सामाजिक प्रथाओं का विरोध करते हुए उन्होंने स्त्रियों और शूद्रों-दलितों समेत समाज के सभी वर्गों को शिक्षित करने के आंदोलन को जन्म दिया।"¹³

'स्त्री शिक्षा' जैसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर भी, हमें भारतेन्दु या उनकी मंडली के किसी लेखक की स्पष्ट सोच दिखायी नहीं देती। वस्तुतः अपने घर की स्त्रियों को भी शिक्षित करने के लिए हिन्दी प्रांत का भद्रवर्ग, सरकार का मुँह ताकता था। वस्तुतः जब 'हंटर आयोग' ने भारतेन्दु से स्त्री-शिक्षा सम्बन्धित सवाल पूछे, तो उस पर उनके जवाब चौंकाने वाले थे। 'नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु' कितने आधुनिक थे, इसका स्पष्टीकरण वे स्वयं देते हैं। डॉ वीर भारत तलवार ने 'हंटर आयोग' के हवाले से उल्लेख किया है कि जब आयोग ने 'लड़कियों के पाठ्यक्रम' के बारे में भारतेन्दु से सुझाव माँगा तो, उन्होंने इसकी आलोचना करते हुए कहा- "बड़ी लड़कियों की 'प्रेमसागर' (लल्लुलाल का बनाया) ग्रन्थ पढ़ने के लिए नहीं देना चाहिए। 'विद्यांकुर' और 'इतिहासतिमिरनाशक' उनके नैतिक चरित्र का विकास नहीं कर सकते। चरित्र निर्माण (मोरालिटी) और घरेलू प्रबंध वगैरह के बारे में बताने वाली अच्छी पाठ्य पुस्तकें उनके पाठ्यक्रम में लगानी चाहिए।"¹⁴

इसके उलट लड़कों द्वारा इन पुस्तकों के पढ़ने पर भारतेन्दु को कोई आपत्ति नहीं थी। यह भारतेन्दु की कैसी दृष्टि थी कि जो चीज पुरुषों के लिए नैतिक है, वही स्त्रियों के लिए अनैतिक है? आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की वकालत करने वाले भारतेन्दु, 'इतिहासतिमिरनाशक' और 'विद्यांकुर' जैसी आधुनिक ढंग से लिखी गयी पुस्तकों को स्त्रियों से दूर रखना चाहते थे। इसी सम्बन्ध में आगे के प्रश्नों पर 'सहशिक्षा' का विरोध करते हुए भारतेन्दु कहते हैं- "मैं इस देश में लड़के-लड़कियों के मिले-जुले स्कूलों की योजना बनाने का समर्थन नहीं कर सकता। एक ही स्कूल में लड़कों के साथ अपनी लड़कियों को पढ़ाने के लिए हिन्दुस्तानियों को कभी राजी नहीं किया जा सकता।"¹⁵

भारतेन्दु स्त्री-शिक्षा को पूरी तरह औपनिवेशिक सरकार के हवाले छोड़ देते हैं। बरक्स इसके उस समय तक 'कलकला का बेथून कॉलेज' स्त्री शिक्षा के रूप में मिसाल बन चुका था। वहीं दूसरी तरफ 'विद्यासागर' स्त्री शिक्षा का आंदोलन चला रहे थे। इसी प्रकार "द्वारिकानाथ गांगुली ने शिवदास शास्त्री, दुर्गामोहन दास और आनंदचरण खास्तिगीर के साथ मिलकर... 'हिन्दू महिला विद्यालय' की स्थापना की जिसने लड़कियों को भी लड़कों की तरह आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने का आंदोलन खड़ा किया।"¹⁶

इसी तरह भारतेन्दु के समकालीन 'ज्योतिबा फुले' ने स्त्री शिक्षा के सवाल पर महाराष्ट्र में युगांतकारी काम किया। उन्होंने न सिर्फ अपनी पत्नी 'सावित्री बाई फुले' को पढ़ाया वरन् उनकी मदद से लड़कियों का स्कूल चलाया। इस क्षेत्र में महार, माँग और निचली जातियों को भी शिक्षित करने का जो क्रांतिकारी कदम फले व सावित्री बाई ने मिलकर उठाया, उसके लिए उनको विरोध, अपमान व धमकियों का पग-पग पर सामना करना पड़ा। यहाँ स्वतः स्पष्ट है कि शिक्षा का जो अभियान अखिल नवजागरण के स्तर का था, वह पश्चिमोत्तर प्रांत में कहीं नहीं दिखता। भारतेन्दु, फुले, विद्यासागर के मुकाबले कितने पिछड़े व अंतर्विरोधों से ग्रसित दिखते हैं, कहने की आवश्यकता नहीं।

डॉ. तलवार ने 'भारतेन्दु' की एकतरफा नैतिकतावादी दृष्टिकोण पर कटाक्ष करते हुए, उनके द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी की पहली स्त्रीवादी पत्रिका 'बालाबोधिनी' की ओर ध्यान दिलाते हैं। चार वर्ष तक निकली इस पत्रिका में एक भी शृंगार रस की रचना नहीं छपी। जबकि रसिक हृदय भारतेन्दु, ब्रजभाषा तथा अपनी अन्य पत्रिकाओं में पर्याप्त शृंगारिक रचनाएँ लिखते व छापते थे। वस्तुतः तलवार जी से, पहले 'वसुधा डालमिया' ने भी इस तथ्य को नोटिस में लिया था और अपनी पुस्तक 'दी नेशनलाइजेशन ऑफ हिन्दू ट्रेडिशनस: भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एंड नाइन्टीथ सेंचुरी बनारस' में भारतेन्दु विरोधी कई तर्क प्रस्तुत किए थे, जिस कारण हिन्दी जगत में उस पुस्तक पर 'नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु' की छवि को धूमिल करने का आरोप लगाते हुए आलोचकों ने उसका विरोध किया था, कमोबेश यही स्थिति 'रस्साकशी' पर भी लागू होती है।

वस्तुतः स्त्री शिक्षा का मसला भारतेन्दु के लिए पेचीदा सवाल था। आधुनिकता के जनक कहलाने वाले भारतेन्दु, स्त्रियों के लिए आधुनिक शिक्षा का समर्थन नहीं करते; वे मानते हैं कि "लड़कियों को भी पढ़ाइये, किन्तु उस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती है जिससे उपकार के बदले बुराई होती है।"¹⁷ भारतेन्दु लड़कियों और स्त्रियों के लिए परम्परागत, रूढ़िवादी तथा गृहपयोगी शिक्षा की वकालत करते हुए कहते हैं- "ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए की वह अपना देश और कुल-धर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज में शिक्षा दें।"¹⁸ स्त्री शिक्षा सम्बन्धी भारतेन्दु के ये विचार उनकी रचनाओं में भी दिखायी देते हैं। 'रस्साकशी' में जिस प्रकार डॉ. तलवार, भारतेन्दु की रूढ़िवादी व अंतर्विरोधों से ग्रसित छवि पेश करते हैं, उससे भारतेन्दु के पैरोकारों को काफी ठेस पहुँचती है। बजाय इसके कि वे नये तथ्यों की रोशनी में भारतेन्दु पर पुनर्विचार करें, वे डॉ. तलवार पर आरोप लगाते हैं- "तलवार जी, हिन्दी नवजागरण को सीमित संदर्भों में देखने के पक्षधर हैं।" 19 वस्तुतः रस्साकशी की विचारधारा से सहमत या असहमत होना अलग बात है, यह विद्वानों व पाठकों के अपने बोध का विषय है। परन्तु यहाँ 'तलवार जी' का यह कथन सटीक बैठता है कि "हिन्दी नवजागरण की भव्य रूपरेखाएँ खींचने और उसमें तरह-तरह के रंग भरने के बजाय इन सवालों पर विचार करना क्या ज्यादा अर्थपूर्ण नहीं होगा?"²⁰

'रस्साकशी' का दूसरा अध्याय 'इतिहास का खलनायक और हिन्दी की नई चाल' इस पुस्तक का सबसे विवादास्पद अध्याय रहा है। इस अध्याय में डॉ. तलवार भारतेन्दु को आड़े हाथों लेते हुए 'राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द' के अवदान को नवजागरण के संदर्भ में उभारकर सामने लाते हैं, जिसे भारतेन्दु के समर्थक स्वीकार नहीं कर पाते। महत्वपूर्ण है कि 19वीं सदी के नवजागरण में हिन्दी प्रांत में मुख्य रूप से तीन व्यक्ति सक्रिय थे, पहले 'राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद', दूसरे 'सर सैयद अहमद खाँ' और तीसरे 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र'। ये तीनों ही बकौल डॉ. तलवार उस समय के 'एलीट' वर्ग से ताल्लुक रखते थे। तीनों ही तत्कालीन औपनिवेशिक सरकार के विशेष कृपा पात्र और सरकारी ओहदों पर बैठे वफादार मुलाजिम थे। 'सैयद अहमद' उस समय भद्रवर्गीय मुस्लिमों का प्रतिनिधित्व करते थे। वे मुस्लिम वर्ग के हितों के लिए विशेष चिंतित थे और निश्चय ही उन्होंने 'अलीगढ़ विश्वविद्यालय' की नींव रखकर मुस्लिमों के उत्थान में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। दूसरी तरफ 'राजा शिवप्रसाद' और 'भारतेन्दु' दोनों ही हिन्दी वर्ग के प्रतिनिधि थे और 'हिन्दी भाषा व जाति' के उत्थान के लिए कटिबद्ध थे। तो फिर एक 'नायक' और दूसरा 'खलनायक' कैसे बन गया? वस्तुतः राजनीतिक साजिशों के चलते, शिवप्रसाद की छवि उस समय 'खलनायक' की और भारतेन्दु की 'नायक' की बनायी गयी, जो आज भी इतिहास

में यथावत् कायम है। मगर डॉ. तलवार ने नए साक्ष्यों की रोशनी में राजा शिवप्रसाद की नवजागरण के संदर्भ में बनी नकारात्मक छवि को बहुत हद तक साफ करने का सराहनीय प्रयास किया है।

‘रस्साकशी’ में डॉ. तलवार ने यह स्पष्ट किया है कि ‘शिवप्रसाद’ ने भारतेन्दु से पहले हिन्दी के लिए आवाज उठाई थी, जिस समय हिन्दी का कोई नामलेवा भी नहीं था। वस्तुतः जिस आंदोलन के ‘भारतेन्दु’ जनक माने जाते हैं, उसके प्रवर्तक सही मायने में ‘राजा शिवप्रसाद’ ही थे। यथा- “राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद’ खड़ी बोली के न सिर्फ पहले महत्वपूर्ण लेखक थे, बल्कि 19वीं सदी में बोलचाल की साफ-सुथरी, मुहावरेदार और प्रवाहपूर्ण हिन्दी लिखने वाले सबसे प्रभावशाली गद्य लेखक थे।”²¹

राजा शिवप्रसाद हिन्दी के उत्थान में तब सक्रिय थे, जब शायद भारतेन्दु ढंग से पढ़ना-लिखना भी न जानते होंगे। सरकारी ओहदों पर रहते हुए उन्होंने अरबी-फारसी के वर्चस्व के बीच शिक्षा का माध्यम ‘हिन्दी’ को बनाने पर जोर दिया था। औरतों और उन्होंने स्वयं ही विभिन्न विषयों की पाठ्य पुस्तकें हिन्दी में तैयार कीं। बकौल डॉ. तलवार- “राजा शिवप्रसाद ने अपनी बनाई पाठ्य पुस्तकों में पहली बार अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया, जैसे मानचित्र (नक्शा), अनुक्रमणिका (इंडेक्स), आधार (बेस) अथवा न्यूनकोण, समकोण और समबाहु, त्रिभुज इत्यादि। ये पारिभाषिक शब्द तब से लेकर आज तक हिन्दी में उसी तरह चले आ रहे हैं।”²²

राजा शिवप्रसाद को मुस्लिम विरोधी कहा जाता है, जिसे आंशिक रूप में तो सत्य माना जा सकता है पर पूरी तरह नहीं। महत्वपूर्ण है कि सैयद अहमद जहाँ फारसी के वर्चस्व को बढ़ावा देते थे और शिक्षा का माध्यम ‘फारसी मिश्रित उर्दू’ रखना चाहते थे। कहीं शिवप्रसाद हिन्दी को बढ़ावा देते हुए शिक्षा का माध्यम हिन्दी रखना चाहते थे, जिसमें वे सफल भी हुए। यही नहीं “अदालतों से फारसी लिपि हटाने के आंदोलन के भी वे प्रवर्तक थे।... गोरक्षा आंदोलन के भी वे समर्थक हुए। इन सबके बावजूद 19वीं सदी में हुए नागरी, हिन्दी और गोरक्षा आंदोलन में भी उनकी छवि खलनायक के रूप में उभारी गई।”²³

वस्तुतः सैयद अहमद खाँ और राजा शिवप्रसाद एक ही एलीट वर्ग के प्रतिनिधि थे और दोनों के सम्बन्ध में दरार का प्रमुख कारण ‘शिक्षा का माध्यम उर्दू या हिन्दी की बहस’ बनी थी, जिसमें शिवप्रसाद हिन्दी की जंग जीत गए थे। शिवप्रसाद की यह जीत एक तरह से मुस्लिम भद्रवर्ग के हितों पर गहरी चोट थी। तनाव का एक बड़ा कारण ‘राजा शिवप्रसाद’ का ग्रन्थ ‘इतिहासतिमिरनाशक’ भी था। जिसमें उन्होंने मुस्लिमों पर नकारात्मक टिप्पणियाँ की थीं। इसका परिणाम यह था कि सैयद अहमद और राजा साहब एक दूसरे के मुखर विरोधी बन गए।

डॉ. तलवार, इस तथ्य की भली-भाँति सामने लाते हैं कि, अपनी बीस वर्ष की सरकारी नौकरी में राजा शिवप्रसाद ने न सिर्फ युक्त प्रांत में सार्वजनिक शिक्षा में हिन्दी और नागरी लिपि को जगह दिलायी बल्कि नागरी लिपि को प्रतिष्ठित करने का आंदोलन भी चलाया, जिसका किंचित भी श्रेय उन्हें नहीं दिया गया। महत्वपूर्ण है कि- “भारतेन्दु मंडली, काशी नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन जैसी संस्थाओं ने नागरी लिपि के जिस आंदोलन को आगे जारी रखा उसके प्रवर्तक शिवप्रसाद ही थे। हालाँकि, इन लोगों और संस्थाओं ने शिवप्रसाद को इसका श्रेय कभी नहीं दिया।”²⁴

“महत्वपूर्ण है कि- “सरकारी नौकरी में रहते हुए 1868 ई. में उन्होंने युक्त प्रांत की सरकार को एक मेमोरेण्डम दिया... इसमें पहली बार अदालतों में फारसी की जगह नागरी लिपि लागू करने की माँग की गई थी।”²⁵ इसमें कोई दो राय नहीं कि इस मेमोरेण्डम से हिन्दू-मुस्लिमों के बीच तनाव को और बढ़ावा मिला। मगर बकौल डॉ. तलवार- “जिसे हिन्दी नवजागरण कहा जाता है, उसकी शुरुआत 1868 के इसी मेमोरेण्डम से हुयी थी।”²⁶ डॉ. तलवार यह बात सामने रखते हैं कि शिवप्रसाद के इसी लिपि सम्बन्धी ‘मेमोरेण्डम’ में ‘हिन्दूजाति’ की चेतना पहली बार मुखर होकर सामने आती है, जो आगे चलकर आचार्य शुक्ल व डॉ. शर्मा जैसे प्रबुद्ध आलोचकों में ‘हिन्दीजाति के विकास’ की दृढ़ भावना के रूप में दिखती है। इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दी-उर्दू के विवाद से युक्त प्रांत में हिन्दू व मुस्लिम वर्ग के बीच अलगाववाद की जो भावना जन्मी कहीं न कहीं वहीं से आगे होने वाले

हिन्दू-मुस्लिम बैटवारे की नींव पड़ी। इसी संदर्भ में डॉ. तलवार की यह टिप्पणी भी गौर करने लायक है- “जिसे हम हिन्दी नवजागरण के नाम से पुकारते हैं, वह एक तरह से पुराने साझे वर्ग के टूटकर दो धार्मिक समुदाय बनने की कहानी है... हिन्दी और नागरी को प्रतीक बनाकर लड़ी गई इस लड़ाई के पहले नायक राजा शिवप्रसाद ही थे। लेकिन उन्हीं के सामने उभरी नई पीढ़ी ने भारतेन्दु के नेतृत्व में लड़ाई की कमान अपने हाथ में ले ली और उन्हें नायक के पद से नीचे धकेल दिया गया। उन्हें इतिहास का खलनायक बनाने वालों के लिए इतने बड़े कभी नहीं हुए कि उन्हें नागरी लिपि आंदोलन शुरू करने का भी श्रेय दे सकें।”²⁷

राजा शिवप्रसाद सहज सर्वग्राह्य भाषा के समर्थक थे। जबकि उनकी भाषा पर उर्दूपरस्ती का इल्जाम लगाकर उसका खूब विरोध किया गया। इस विरोध का शुभारंभ भारतेन्दु ने ही किया, आगे उनकी मंडली के लेखकों ने इस विरोध में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। राजा शिवप्रसाद के ग्रन्थ ‘इतिहासतिमिरनाशक’ पर सर्वाधिक भाषा सम्बन्धी आरोप लगाए गए। परन्तु विवादास्पद होने के बावजूद यह ग्रन्थ “19वीं सदी के सबसे मशहूद ग्रन्थों में एक था। हिन्दी में आधुनिक इतिहास लेखन की शुरुआत इसी से हुई।”²⁸ अकेले राजा शिवप्रसाद की दी भाषा नहीं, अपितु उस समय ‘देवकीनंदन खत्री’ और ‘अयोध्या प्रसाद खत्री’ की भाषा का भी भारतेन्दु व उनके मंडल ने खूब विरोध किया। परन्तु भारतेन्दु जिन बातों को लेकर शिवप्रसाद व अन्य की आलोचना करते थे, ठीक वही बातें उनके ग्रन्थ ‘बादशाह दर्पण’ पर भी लागू होती थी। इसीलिए ‘शिवप्रसाद’ के अवदान को ध्यान में रखते हुए ‘देवकीनंदन खत्री’ ने कहा था- “यदि राजा शिवप्रसाद की हिन्दी प्रकट न हुई होती, तो सरकारी पाठशालाओं में हिन्दी के चन्द्रमा की चाँदनी मुश्किल से पहुँचती।”²⁹ खत्री जी भी इन पंक्तियों में शिवप्रसाद का हिन्दी के हित में योगदान स्वतः स्पष्ट है।

1873 ई. में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ‘हिन्दी की नई चाल’ की घोषणा की। जिसे आगे चलकर उनके समर्थकों ने ‘हरिश्चन्द्री हिन्दी’ कहा। परन्तु भारतेन्दु की इस घोषणा पर उन्हीं के समर्थ आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने असहमति जतायी है; उदाहरणार्थ, “भारतेन्दु ने कोई नयी भाषा नहीं चलाई। उन्होंने प्रचलित खड़ी बोली को साहित्यिक रूप दिया।”³⁰ आगे उन्होंने लिखा है- “भाषा की दृष्टि से यह कहना ठीक न होगा कि हिन्दी नई चाल में ढली सन् 1873 में, यह ढलाई का काम सन् 1873 से पहले सम्पन्न हो चुका था।”³¹ उन्होंने यह भी माना है कि- “... भारतेन्दु को हिन्दी विरासत में मिली थी।”³² गौरतलब है कि डॉ. शर्मा यहाँ जिस प्रचलित खड़ी बोली की बात कर रहे हैं, वह कोई और नहीं राजा शिवप्रसाद द्वारा प्रतिष्ठित हिन्दी ही थी, जिसे देवकीनंदन खत्री और अयोध्या प्रसाद खत्री जैसे लेखक पहले ही लेखन में उतार चुके थे, भारतेन्दु ने उसमें से बोलचाल के सामान्य उर्दू-फारसी शब्दों को निकालकर जबरन उसमें संस्कृत शब्द ढूस दिए थे। सवाल उठता है 1873 में भारतेन्दु की हिन्दी में आखिर ऐसा क्या बदलाव आ गया था कि उन्होंने ‘हिन्दी की नई चाल’ की घोषणा कर दी, इसकी पुष्टि करने की जरूरत शायद किसी ने नहीं समझी। जबकि “हकीकत है कि 1873 से पहले और 1873 के बाद भारतेन्दुयी भाषा में कोई बुनियादी फर्क नहीं मिलता।”³³

वस्तुतः 19वीं सदी के नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो राजा शिवप्रसाद और भारतेन्दु दोनों ही अपनी एक सीमा तक सीमित दिखायी देते हैं। दोनों में ही व्यापक समाज-सुधार की भावना का अभाव था। मगर फिर भी ‘शिवप्रसाद’ का हिन्दी को सरकारी स्कूलों में शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करना, पिछड़े इलाकों में सरकारी स्कूलों को खुलवाना व नागरी आंदोलन चलाना अपने में महत्वपूर्ण कार्य थे, जिन्हें विद्वानों ने विस्मृत कर सारे योगदान का श्रेय ‘भारतेन्दु’ को देते हुए उन्हें ‘नवजागरण का अग्रदूत’ घोषित कर दिया, साथ ही शिवप्रसाद को इतिहास में उपेक्षित बना दिया। सही अर्थों में तो ‘राजा शिवप्रसाद’ ही ‘हिन्दी नवजागरण’ के प्रथम नेता थे और उन्हीं के बनाए मार्ग पर आगे चलकर ‘भारतेन्दु’ ने उनके कार्यों का श्रेय भी अपने नाम कर लिया।

वस्तुतः ‘रस्साकशी’ के माध्यम से जब डॉ. वीरभारत तलवार, राजा शिवप्रसाद के कार्यों का इतिहास के संदर्भ में पुनर्मूल्यांकन कर नवजागरण के संदर्भ में उनकी धुंधली छवि को बहुत हद तक स्पष्ट कर सामने रखते हैं तो इससे भारतेन्दु की छवि ‘नवजागरण’ के संदर्भ में कहीं न कहीं दबती नजर आती है, जिससे उनके

अंधभक्त विचलित हो जाते हैं और 'रस्साकशी' पर छींटकशी करते नजर आते हैं; उदाहरणार्थ, "इस पुस्तक का मुख्य लक्ष्य शिवप्रसाद सितारे हिंद को नायक और भारतेन्दु को खलनायक बनाना है।"³⁴ वहीं दूसरी तरफ 'गजेन्द्र पाठक' भी इस संदर्भ में लिखते हैं- "वीर भारत तलवार की 'रस्साकशी' हिन्दी नवजागरण की निराशाजनक तस्वीर प्रस्तुत करने के लिए व्यवस्थित ढंग से किया हुआ प्रयास है। यह भारतेन्दु और शिवप्रसाद सितारे हिंद का तुलनात्मक विवेचन करने में हिंदी नवजागरण को सीमित करने का प्रयास...।"³⁵

अतः मेरे हिसाब से निष्पक्ष दृष्टि से देखने का प्रयास करें तो पायेंगे डॉ. तलवार ने इस पुस्तक में शिवप्रसाद या भारतेन्दु दोनों में से किसी को भी प्रतिष्ठित करने का प्रयास नहीं किया है, बल्कि तटस्थ रहते हुए नवजागरण के संदर्भ में इन दोनों महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के कार्यों का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। अतः इन निष्कर्षों से यदि भारतेन्दु और शिवप्रसाद की अब तक की बनी छवियों में अंतर उपस्थित होता है तो आलोचकों को इस पर आपत्ति नहीं होनी चाहिए, बकौल डॉ. तलवार- "शिवप्रसाद आज भी प्रासंगिक हैं। उनके विचारों और योगदान पर फिर से विचार करने की जरूरत है।"³⁶

'रस्साकशी' का तीसरा अध्याय 'धर्म और समाज-सुधार' अपने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री के साथ नवजागरण के अनेक अनछुए पहलू सामने रखता है। इसमें एक ओर जहाँ डॉ. तलवार, पश्चिमोत्तर प्रांत में शिक्षा प्रयासों, संस्थाओं की ओर दृष्टिपात करते हैं वहीं दूसरी तरफ युक्त प्रांत में स्त्री प्रश्नों की दयनीय स्थिति भी अखिल नवजागरण के स्तर पर तुलनात्मक ढंग से उजागर करते हैं। उल्लेखनीय है कि सन् 1830 में राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित 'ब्रह्म समाज' भारतीय नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में पहला संगठन था, जिसने भारत में समाज-सुधार का आंदोलन चलाया। यह बंगाल से लेकर पंजाब व दक्षिण तक लोकप्रिय हुआ और विभिन्न प्रांतों में इसकी संस्थाएँ खोली गयीं, परन्तु हिन्दी प्रांत में कोई भी प्रबुद्धजन इस संस्था से नहीं जुड़ा। डॉ. तलवार इंगित करते हैं, लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद जैसे प्रबुद्ध नगरों में भी इस संस्था में स्थानीय लोगों का अभाव रहा। हिन्दी प्रांत में जो भी लोग इस संस्था से जुड़े वो अधिकांश बंगाली ही थे। ध्यातव्य है कि 'हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत' माने जाने वाले भारतेन्दु और उनके मण्डल के बालकृष्ण भट्ट, ब्रह्मसमाज और इसकी मान्यताओं के घोर विरोधी थे। उस समय भारतेन्दु ने तो अपनी पत्रिका 'कविवचन सुधा' तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में ब्रह्मों द्वारा प्रचारित 'नए-विवाह विधान' और 'विधवा विवाह' पर कटाक्ष करते हुए, इसे हिन्दुओं के खिलाफ उभरा 'नया औरंगजेब' बताया। बाद में भारतेन्दु इसकी तरफ कुछ आकर्षित अवश्य हुए, जैसा कि डॉ. वीरभारत तलवार इस विषय पर लिखते हैं- "ब्रह्मसमाज ने हिन्दू धर्म का बुरा नहीं बल्कि कुछ भला ही किया था, इसे भारतेन्दु ने काफी बाद (स्वर्ग में विचारसभा का अधिवेशन) में जाकर स्वीकार किया। तब भी उन्होंने इसका समर्थन नहीं किया, सिर्फ इस पर लगाए गए कुछ इल्जामों से इसको बरी कर दिया।"³⁷ विचारणीय तथ्य है कि नवजागरण के उस काल में सम्पूर्ण भारत में समाज और धर्मसुधार अभियानों में जिस ब्रह्मसमाज की भूमिका अत्यन्त सराहनीय और महत्त्व की रही, वहीं वह हिन्दी क्षेत्र में भद्रवर्ग और जनता की मानसिकता बदल पाने में कोई विशेष सफलता प्राप्त न कर सका।

जहाँ युक्त प्रांत में 'ब्रह्मसमाज' जैसे महत्त्वपूर्ण सुधार संस्था अपना प्रभाव डालने में असमर्थ रही, वहीं 'थियोसॉफिल सोसाइटी' का हिन्दी प्रांत के अग्रदूतों ने बड़े उत्साह के साथ स्वागत किया। इसी प्रकार 'कायस्थ महासभा' के आंदोलनों पर हिन्दी लेखकों की कोई टिप्पणी नहीं मिलती। मगर 'नेशनल सोशल कांफ्रेंस' जैसी देशव्यापी समाज सुधार संस्था के बिलों और सुझावों को हिन्दी प्रांत में पूरी तरह खारिज कर दिया गया। 'बालकृष्ण भट्ट' ने अपनी पत्रिका में रानादेव भंडाकर और आगरकर जैसे सुधारकों को 'होटलिए' कहते हुए कुछ इस तरह विरोध किया- "सोशल कांफ्रेंस बड़ी बला है। थोड़े से होटलिए बाम्बे और पूना के मरहट्टे इसके जन्मदाता हैं, जिनका प्रयोजन केवल हिन्दू समाज को छिन्न-भिन्न करने और हिन्दू धर्म को जहाँ तक हो सके तहस-नहस कर देने का है, क्योंकि वे ही इसमें अधिक सिर उठाए हुए हैं। इसलिए इस बला का जहाँ तक हो सके, अभी ही मूलोच्छेद हो जाना चाहिए।"³⁸

"बालकृष्ण भट्ट के साथ ही 'प्रताप नारायण मिश्र' भी सोशल कांफ्रेंस के विरुद्ध रहे, भट्ट जी की ही

तरह वे भी 'ब्राह्मण' में लेख लिखकर सोशल कांफ्रेंस के नेताओं की योग्यता पर शक जाहिर करते रहे। वस्तुतः हिन्दी नवजागरण के लेखकों और अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त मराठी सुधारकों के बीच रुचि भेद और दृष्टि भेद का यह प्रतिनिधि उदाहरण है।³⁹

19वीं सदी के भारतीय नवजागरण में सबसे सशक्त संगठन 'आर्य समाज' माना जाता है। दयानंद के इस संगठन ने धार्मिक रूढ़ियों को तोड़कर स्त्री, शूद्रों समेत सभी को शिक्षा व धार्मिक साधना का समान अधिकार दिलाने की आवाज बुलंद की थी। जिसमें उन्हें बहुत हद तक सफलता मिली। महत्त्वपूर्ण है कि दयानंद ने आर्य समाज का सर्वाधिक प्रचार हिन्दी प्रांत में ही किया, फिर भी जो सफलता उन्हें पंजाब में मिली उसकी आधी भी हिन्दी प्रांत में न मिल सकी। तत्कालीन हिन्दी की कई पत्रिकाओं में आर्य समाज व दयानंद के सुधार आंदोलन का विरोध करते हुए लेख निकाले गए व उनका बहिष्कार किया गया क्योंकि "आर्य समाज पौराणिक धर्मों को करीब-करीब अधर्म जैसा मानकर चलता था, वह सनातन और पौराणिक धर्मों पर आधारित जीवन के हर पक्ष की... कड़ी आलोचना करता था और इनमें किसी तरह के धार्मिक मूल्य को अस्वीकार करता था।"⁴⁰ लेकिन हिन्दी क्षेत्र के शिवप्रसाद, भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र जैसे नवजागरण के अग्रदूत, परम्परागत सनातन धर्म के विरोधी दयानंद की विचारधारा के विरुद्ध थे, इसीलिए युक्त प्रांत में आर्य समाज की स्थिति गौण रही।

डॉ. तलवार, उचित टिप्पणी देते हैं कि- "धार्मिक सुधारों की बात तो दूर रही, हिन्दी नवजागरण के लेखकों के लिए आर्य समाज के सामाजिक सुधारों को भी गले उतारना आसान नहीं था। खासकर ब्राह्मणों के वर्चस्व का विरोध करने, जाति-पाँति छोड़कर सभी आर्यों के साथ भोजन करने, शूद्रों-दलितों को संस्कृत समेत सभी तरह की विद्या और वेदपाठ का अधिकारी मानने और विधवा विवाह का समर्थन करने से सम्बन्धित विचार उन्हें काफी परेशानी में डालते थे।"⁴¹

भले ही हिन्दी प्रांत में आर्य समाज का विरोध हुआ हो, हिन्दी नवजागरण के लेखक इसके विरोध में चाहे जितने भी लेख छापते रहे हों परन्तु वे कहीं न कहीं इससे प्रभावित भी हो रहे थे, जैसा कि डॉ. तलवार लिखते हैं- "पश्चिमोत्तर प्रांत में ब्रह्मो समाज या *सोशल कांफ्रेंस* इतने प्रभावशाली संगठन न थे जितना आर्य समाज था। इसलिए हिन्दी नवजागरण के लेखकों की मुख्य लड़ाई आर्य समाज से हुई और प्रभाव भी उन पर अगर पड़ा तो इसी का पड़ा।"⁴²

डॉ. तलवार इंगित करते हैं कि अनेक विरोधों के बावजूद हिन्दी प्रांत में सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में आर्य समाज का योगदान अभूतपूर्व रहा। "काशीनाथ खत्री जैसे आर्य समाजी लेखक सनातनियों के बीच रहकर भी ताउम्र सुधारों के हक में लिखते रहे।"⁴³ जबकि नवजागरण के पुरोधाओं में से किसी की भी लेखनी सुधारों के हक में न चली। हिन्दी प्रांत में सहयोग के बिना भी आर्य समाज ने अपने स्तर पर समाज सुधार के क्षेत्र में बहुत से कार्य किए, मसलन "पश्चिमोत्तर प्रांत में ऐसे काम जैसे अनाथालय खोलना और अकाल में राहत कार्य चलाना, पहली बार आर्य समाज ने शुरू किए जिनके विस्तृत विवरण आर्य समाज के इतिहासकारों ने दिए हैं। उन्होंने बनारस तक में, जहाँ उनका असर बहुत कम था, 1882 में विधवा आश्रम खोला।"⁴⁴

वस्तुतः पश्चिमोत्तर प्रांत में स्त्रियों की स्थिति उस समय अत्यन्त शोचनीय थी। तत्कालीन 'स्त्री प्रश्नों' पर हिन्दी पट्टी में कोई सुगबुगाहट नजर नहीं आती जबकि, उस समय बाकी प्रांतों में स्त्री शिक्षा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह आदि को लेकर व्यापक स्तर पर आंदोलनात्मक कार्यक्रम चलाए जा रहे थे। उस समय सुधारकों ने 'बाल विवाह' के संदर्भ में 'विवाह' की आयु निश्चित करने की माँग की थी।

बकौल डॉ. तलवार- "स्वामी दयानंद ने इस विवेकहीन प्रथा की कड़ी निंदा की, लड़के और लड़कियों दोनों की शिक्षा पर समान रूप से जोर देते हुए उन्होंने ब्याह के लिए लड़की की उम्र कम से कम सोलह साल और लड़के की कम से कम 24 साल जरूरी ठहराई। बंगाल में ब्राह्मोविवाह विधान तैयार करते समय केशवचंद्र सेन ने ब्याह की कम से कम उम्र के बारे में मेडिकल डॉक्टरों से सलाह माँगी थी।"⁴⁵ बाद में उन्होंने "लड़कियों के लिए 14 साल और लड़कों के लिए 16 साल"⁴⁶ की आयु तय कर दी।

इसके विपरीत हिन्दी प्रांत में लेखकों की कोई स्पष्ट राय इस विषय पर निकलकर सामने नहीं आती। हाँ, भारतेन्दु कुछ हद तक बाल विवाह के विरोधी थे, जो ‘भारत-दुर्दशा’ के कुछ अंशों और ‘बलिया वाले भाषण’ से जान पड़ता है। बंगाल में जब ब्रह्मोसमाज विवाह विधान के तहत लड़के, लड़कियों की आयु निश्चित कर दी गयी थी, फिर भी भद्रवर्ग इसका असमर्थक ही रहा, “स्वयं भारतेन्दु ने अपनी बेटी का विवाह 11-12 वर्ष की आयु में किया।”⁴⁷

सन् 1884 में बम्बई, मद्रास, कलकत्ते आदि में बाल विवाह रोकने और विधवा विवाह की रूकावटों को दूर करने की योजनाएँ बनायी जा रही थीं, यहाँ तक कि बंगाल में बहुविवाह को गैरकानूनी घोषित किया जा चुका था। साथ ही उस समय पारित ‘सहवास बिल’ पर जब सभी प्रांतों से लेखकों की प्रतिक्रियाएँ आ रही थीं, तो ऐसे में बालकृष्ण भट्ट जैसे हिन्दी के अग्रणी लेखक के पास बाल विवाह की बुराई का राग अलापने के सिवा अपनी पत्रिका में छापने के लिए कोई और मुद्दा दिखायी नहीं पड़ता था। वहीं दूसरी तरफ भारतेन्दु या बालकृष्ण भट्ट की तुलना में “आर्यसमाजी काशीनाथ खत्री ने बाल विवाह पर पैफलेट लिखकर सुधार की असली भावना को पूरी गंभीरता से प्रकट किया।” एक बात और महत्वपूर्ण है कि- “काशीनाथ खत्री ने अपने पैफलेट में बाल विवाह की समस्या पर जैसी गहराई से विचार किया, वह उस वक्त दूसरे किसी हिन्दी लेखक में नहीं दिखायी देती।”⁴⁸

नवजागरण काल की एक बड़ी समस्या विधवा विवाह के संबंध में भी जो तथ्य हिन्दी प्रांत से निकलते हैं, वे भी पश्चिमोत्तर प्रांत की निराशाजनक तस्वीर ही नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में सामने लाते हैं। समाज सुधार के क्षेत्र में विधवा विवाह उस समय एक ज्वलंत मुद्दा था। डॉ. तलवार, 14 अप्रैल 1884 के ‘भारत जीवन’ पत्र में छपी एक रिपोर्ट का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि- “भारत की कुल 2 करोड़ विधवाओं में से 36 लाख 22 हजार 107 पश्चिमोत्तर और अवध में थीं। इनमें से 28 हजार 276 विधवाएँ 15 से 16 साल के बीच की थीं।”⁴⁹

विद्यासागर की अनथक कोशिशों से 1856 में विधवा-विवाह को मान्यता मिल जाने के बाद भी हिन्दी प्रांत में इसके प्रति कोई सक्रियता नहीं दिखती, बल्कि ‘विधवा विवाह’ से दुराचार फैलेगा ऐसा कहने वालों की कमी न थी। अपने समय में बड़ी तीखी भाषा बोलने वाले हिन्दी के अग्रणी लेखक ‘बालकृष्ण भट्ट’ भी विधवा विवाह की समस्या पर कहीं खुलकर टिप्पणी देते नजर नहीं आते। जबकि अन्य मुद्दों पर उनके लेख सबसे पहले छपते थे। इसी संदर्भ में डॉ. तलवार की एक टिप्पणी ध्यान देने योग्य है- “कलकत्ता से किसी ने विधवा विवाह के समर्थन में एक लेख ‘हिन्दी प्रदीप’ में छापने के लिए उनके पास भेजा। भट्ट जी ने उस लेख को नहीं छपा।”⁵⁰ दूसरी ओर प्रताप नारायण मिश्र भी इस संदर्भ में एकांगी दृष्टि अपनाते हैं। एक ओर तो वे बाल विधवाओं के पुनर्विवाह के समर्थक थे, लेकिन युवा विधवाओं के विवाह के समर्थक नहीं थे। यही नहीं वे युवा विधवाओं पर लगे तरह-तरह के कठोर बंधनों का भी समर्थन करते थे।⁵¹

पुनर्जागरण के अग्रदूत भारतेन्दु की बात करें तो वो भी विधवा विवाह के प्रश्न पर दुविधाग्रस्त दिखायी देते हैं। कभी वे इसके समर्थन में लिखते थे तो कभी वे इसका मजाक उड़ाते थे। उनके जीवनीकार ‘शिवनंदन सहाय’ भी इस विषय पर कोई स्पष्टीकरण न देते हुए लिखते हैं- “विधवा विवाह में इनकी क्या सम्मति थी, हम निश्चय से नहीं कह पाते।” विधवा विवाह की सम्मति पर भारतेन्दु का एकमात्र लेख प्राप्त होता है, जो मार्च 1875 में ‘श्रीहरिश्चन्द्र चंद्रिका’ में ‘भ्रूणहत्या’ नाम से छपा था।

16वीं सदी में ‘विधवा विवाह’ के प्रति ज्यादातर पुरुषों की सोच एकांगी व संकीर्णतावादी थी। वे विधवाओं को अबला व दया का पात्र मानकर उनके विवाह के पक्षधर थे। परन्तु इस मुद्दे पर आर्य समाज की सोच ही सबसे खुलकर सामने आती है, जो आधुनिक बोध से युक्त थी। आर्य समाज की एक प्रश्नोत्तरी का जिक्र करते हुए डॉ. तलवार लिखते हैं- “विधवा विवाह की बुनियाद स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों के सिद्धान्त पर रखकर प्रश्नोत्तरी इस सवाल से शुरू होती है कि जब मर्द कई शादियाँ कर सकते हैं तो औरत क्यों नहीं कर सकती? शादी या यौन मामलों में बराबर के हक की यह चेतना हिन्दी नवजागरण के किसी लेखक में अपवाद स्वरूप ही मिल सकती थी।”

यह सत्य है कि अखिल भारतीय नवजागरण स्तर पर स्त्री की दशा सुधारने के उद्देश्य से 'ईश्वरचन्द्र विद्यासागर' जैसी दृष्टि, निष्ठा और उत्साह रखने वाला कोई अन्य सुधारक नहीं हुआ। बकौल डॉ. तलवार- "हिन्दी नवजागरण के लेखकों में विधवाओं की हालत के लिए 'दोषी' समाज के प्रति साफतौर पर गुस्से का इजहार अगर किसी एक लेखक में मिलता है तो वह राधाचरण गोस्वामी हैं। 1880 में उन्होंने 'विधवा विवाह विवरण' नाम से एक लंबा-चौड़ा प्रबंध लिखकर विधवाओं की बुरी हालत के सच्चे चित्र खींचे।"⁵²

'विधवा विवाह' का आंदोलन बंगाल से आरम्भ हुआ और देशव्यापी रहा, उसे प्रत्येक प्रांत में थोड़ी-बहुत सफलता अवश्य प्राप्त हुई, सिर्फ पश्चिमोत्तर प्रांत ही इसमें असफल रहा। बकौल डॉ. तलवार- "रानाडे ने बतलाया कि 1856 से लेकर 1900 ई. तक 44 सालों में पूरे भारत में कुल 300 विधवा विवाह हुए। बेशक यह संख्या बहुत कम थी। बाकी सभी प्रांतों में विधवा विवाह के लिए कमोवेश आंदोलन होते रहे, लेकिन हिन्दी भाषी समाज मध्यप्रदेश में राधाचरण गोस्वामी के मुताबिक, "बिल्कुल सन्नाटा रहा।"⁵³

वस्तुतः हिन्दी प्रांत में 'विधवा विवाह' को सही मायने में स्वीकार ही नहीं किया गया। हिन्दी के मुख्य गढ़ 'बनारस' में विधवा विवाह का एक भी प्रकरण सामने नहीं आता। यहाँ विधवा विवाह के बजाय विधवा आश्रम खोले गए। डॉ. तलवार के शब्दों में- "हिन्दी नवजागरण का गढ़ विधवाओं का भी गढ़ था। सारे हिन्दुस्तान से विधवाएँ काशी में आती थीं। जो दशाश्वमेध घाट की सीढ़ियों से लेकर मुमुक्षु भवन जैसी बड़ी इमारतों तक में बसी हुयी थीं। पर इनके लिए बनारस में कोई 'विद्यासागर' नहीं हुआ।"⁵⁴

स्त्री शिक्षा के सवाल पर डॉ. वीरभारत तलवार 'रस्साकशी' में तीखे सवाल उठाते हैं। हिन्दी क्षेत्र के उन्नायकों की दोगली नीति की वे खुलकर आलोचना करते हैं। वस्तुतः पश्चिमोत्तर प्रांत में 'स्त्री शिक्षा' के नाम पर मिरात-उल-उरूस, देवरानी-जेठानी की कहानी, भाग्यवती और बालाप्रबोध जैसी किताबें स्कूलों के पाठ्यक्रम में लगायी गयीं, ऊपर से औपनिवेशिक सरकार भी ऐसी किताबें लिखने व छापने का प्रोत्साहन देती रही। अब यह सोचने की बात है कि किताबें स्त्रियों में आदर्श पत्नी, पुत्री और माता का पाठ पढ़ाने के साथ उन्हें आदर्श पतिव्रता नारी का संदेश देने के सिवा और कैसी शिक्षा की नींव रखती थीं? इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि 'भारतेन्दु' के निर्देशन में खड्गविलास प्रेस से 1883 में स्त्री शिक्षा की पहली किताब छपी और उसमें पाठ रखा गया 'शीलवती'। वहीं दूसरी तरफ राजा शिवप्रसाद और सैयद अहमद के मित्र लक्ष्मीशंकर मिश्र जब काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष हुए तो उन्होंने लड़कियों के स्कूली पाठ्यक्रम में लगाने के लिए तीन किताबें छापीं, बकौल डॉ. तलवार- "इन किताबों में स्त्रियों से सम्बन्धित पाठ कम थे पर जो थे वे पुरुष के नजरिये से पूरी तरह मेल खाने वाले थे। जैसे- लड़कियों की दूसरी किताब (तीसरा संस्करण, 1892) में एक पाठ अच्छी लड़की की पहली ही पंक्ति है- 'अच्छी लड़की वह है जो अपने घर का काम दिल लगाकर करती है।'⁵⁵

वस्तुतः हिन्दी नवजागरण के सुधारक स्त्रियों को शिक्षित करना भी चाहते थे, तो पूरी तरह भद्रवर्गीय मर्यादाओं व मूल्यों के आधार पर। 'शिक्षित होकर भी स्त्रियाँ उनकी गुलाम ही रहें, उनके आगे अपना सिर न उठायें ये उनकी मूल अवधारणा थी।' उन्हें स्त्रियों द्वारा अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो जाने का भी डर रहता था, क्योंकि मद्रास, बंगाल जैसे प्रांतों में शिक्षित स्त्रियों द्वारा अपने हक के लिए आवाज उठाई जा रही थी। इसी कारण "हिन्दी नवजागरण के लेखकों के सामने स्त्रियों की समस्याएँ नहीं थीं। उनके लिए खुद स्त्री ही एक समस्या थी जिस पर हर हाल में काबू पाना था। हिन्दी नवजागरण के नेताओं को इस समस्या से इतने लंबे समय तक जूझना पड़ा कि पश्चिमोत्तर प्रांत में स्त्री शिक्षा घिसट-घिसटकर ही चलती रही।"⁵⁶

अखिल भारतीय नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में 'स्त्री लेखन' की बात करें तो, पाएंगे 1860 के बाद बंगाल में ब्रह्मोसमाज से जुड़े परिवारों की स्त्रियों द्वारा स्त्री प्रश्नों पर स्त्री लेखन की शुरुआत होने लगी थी और उन्हें वहाँ प्रोत्साहन भी मिला। आगे चलकर बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब से कई महत्वपूर्ण लेखिकाएँ सामने आयीं, जिन्होंने स्त्री प्रश्न पर पुरुषों से अलग अपना नजरिया पेश किया, मगर खेद की बात है कि हिन्दी नवजागरण ने ऐसी किसी लेखिका को जन्म नहीं दिया।

नवजागरण के संदर्भ में स्त्री लेखन की प्रथम पुस्तक 'सीमंतनी उपदेश' प्राप्त होती है, जो किसी 'अज्ञात हिन्दू औरत' द्वारा लिखी गई है और यह लेखिका पंजाब की थी जैसा कि प्रकाश में आया है, साथ ही इस पर आर्य समाज और ब्रह्मोसमाज की विचारधाराओं का बहुत प्रभाव था। वस्तुतः 'अज्ञात हिन्दू औरत' द्वारा "सौ साल से भी ज्यादा पहले लिखी गई इस किताब में आधुनिक नारीवादी चेतना की कई विशेषताएँ पनपती दिखायी देती हैं।"⁵⁷ वस्तुतः 'सीमंतनी उपदेश' में उस समय के सभी स्त्री प्रश्नों को लेकर दी गई तीखी प्रतिक्रियाएँ देखी जा सकती हैं। लेखिका ने अपनी पुस्तक में उस समय विधवाओं पर किए जाने वाले अत्याचारों से लेकर स्त्रियों के लिए बनायी गयी तमाम तरह की प्रथाओं का क्रमवार वर्णन किया है। डॉ. तलवार के अनुसार- "वास्तविकता की सच्चाई पर खड़े होकर उसने साहसपूर्वक एक नयी बात कही जिसे कहने का साहस 19वीं सदी के किसी सुधारक ने नहीं दिखाया, एक दो खाविंद के मरने से नहीं, बल्कि जब तक खाविंद बाकी रहे, चाहे पचास खाविंद मरें- बेशक शादी कर लें। विधवा विवाह के इस सीधे-सच्चे बेलग दर्शन के आगे तरह-तरह के द्वन्द्वों में फंसे भारतेन्दु जैसे सुधारकों के विधवा विवाह पर किए गए कटाक्ष हास्यास्पद और क्षुद्रतापूर्ण लगते हैं।"⁵⁸

आगे चलकर 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के लगभग महाराष्ट्र की 'ताराबाई शिंदे' अपनी पुस्तक 'स्त्री पुरुष तुलना' में 'अज्ञात हिन्दू औरत' की तरह ही पुरुषवादी समाज में स्त्री प्रश्नों को बड़े साहस के साथ सामने रखती हैं। अपनी "बावन पृष्ठों की इस छोटी सी किताब में ताराबाई ने हर तरह का दोष स्त्रियों के मत्थे मढ़ने की पुरुषों की प्रवृत्ति को और उन्हीं के बनाए स्त्री धर्म (पतिव्रत धर्म) की ऐसी तीखी आलोचना की जिससे बहुत से पुरुष-सुधारक बौखला उठे।"⁵⁹ अज्ञात हिन्दू औरत की ही भाँति ताराबाई ने भी लिंगभेद के आधार पर स्त्री-पुरुष के अधिकारों में फर्क करने और दोयम दर्जा बरते जाने के खिलाफ आवाज उठाई, साथ ही उन्होंने पुरुषों के सुधार आंदोलन के सतहीपन, दिखावे व साहसहीनता की कड़ी आलोचना भी की। "ताराबाई ने लिखा कि ये पुरुष सुधारक बड़े विद्वान और महान हैं, फिर भी जाति प्रथा के नियमों का उल्लंघन करने से इतना डरते हैं। विधवा हो गयी स्त्री का पुनर्विवाह कराने की हिम्मत वे नहीं जुटा पाते।"⁶⁰

जिस समय ताराबाई शिंदे और पंडिता रमाबाई जैसी स्त्रियाँ अपने विचारों से पुरुषों को टक्कर दे रही थीं, उस समय तक पश्चिमोत्तर प्रांत में कोई लेखिका उनकी समकक्षता में निकलकर सामने नहीं आती। हाँ, 19वीं सदी के बीत जाने पर 'बंग महिला' जिनका असली नाम 'राजेन्द्र बालाघोष' था, हिन्दी की प्रथम लेखिका के रूप में सामने आयीं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि हिन्दी की यह प्रथम लेखिका मूल रूप से हिन्दी प्रांत की नहीं अपितु बंगाली थीं। वस्तुतः बंग महिला में ताराबाई और अज्ञात हिन्दू औरत जैसी प्रखरता नहीं मिलती, 20वीं सदी में दूसरे प्रांतों की नवजागरण कालीन लेखिकाओं के मुकाबले वे पिछड़ी हुई ही दिखती हैं। फिर भी उनके लेखन में 'स्त्री चेतना' के दर्शन होते हैं और पुरुषवादी समाज के प्रति उनका रवैया आलोचनात्मक है। 'स्त्री शिक्षा' और 'स्त्री चेतना' के स्तर पर इस प्रकार 16वीं सदी के नवजागरण का आकलन करें तो अन्ततः डॉ. तलवार की यह पंक्तियाँ अपनी सार्थकता सिद्ध करती हैं- "नवजागरण का आंदोलन पश्चिमोत्तर प्रांत में न किसी अज्ञात हिन्दू औरत को जन्म दे सका, न किसी ताराबाई को 16वीं सदी में हिन्दी की एक भी महत्वपूर्ण लेखिका सामने नहीं आई। यह तथ्य पश्चिमोत्तर प्रांत के नवजागरण पर अपने आप एक टिप्पणी है।"⁶¹

वस्तुतः डॉ. तलवार यह स्पष्ट रूप से सामने रखते हैं कि नवजागरण की जिस वृहद व स्वतंत्र आधुनिक सोच से विद्यासागर व राजा राममोहन राय लैस थे, उसके विपरीत हिन्दी नवजागरण के लेखक जाति-पाँति और धर्म-अधर्म के विचारों से आगे न बढ़ सके। भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, राजा शिवप्रसाद और प्रताप नारायण मिश्र जैसे हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत कभी जाति, धार्मिक व प्रान्तीय उन्नति से बढ़कर देश की उन्नति के लिए सोच नहीं सके। वस्तुतः शिक्षा, सुधार और नवलेखन सभी स्तरों पर हिन्दी नवजागरण, भारतीय नवजागरण का पीछा करता रहा।

डॉ. तलवार रस्साकशी के अंतिम अध्याय 'हिन्दी, नागरी और गोरक्षा' के अन्तर्गत 19वीं सदी में हिन्दी नवजागरण में उभरे जाति, भाषा व लिपि सम्बन्धी आंदोलनों का सम्यक विवेचन करते हैं। उपरोक्त अध्यायों से

जो तथ्य निकलकर सामने आते हैं, उनसे सिद्ध होता है कि नवजागरण की जो अवधारणा बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात में थी वैसी अवधारणा हिन्दी प्रांत में न थी। अपने सुधारों और विचारों में हिन्दी नवजागरण पिछड़ा हुआ था, इसमें कोई संदेह नहीं और इस सत्य को दबे स्वर में ही सही विद्वान स्वीकार भी करते हैं। एक बात और महत्वपूर्ण है कि नवजागरण के फलस्वरूप सम्पूर्ण भारत में बहुत से परिवर्तन हुए जो देश व समाज के हित में थे। तत्कालीन आंदोलनों ने देशीय व जातीय एकता को एक सूत्रता प्रदान की परन्तु कितनी अजीब बात है कि हिन्दी पट्टी के आंदोलनों ने पश्चिमोत्तर प्रांत की जातीय व भाषायी एकता को छिन्न-भिन्न कर, देश के सबसे बड़े 'साँझे वर्ग' को तोड़ दिया था। इसी कारण डॉ. तलवार हिन्दी नवजागरण की अवधारणा को खारिज करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं, "हिन्दी नवजागरण एक भ्रामक नाम है, क्योंकि यह अपनी ऐतिहासिक अंतर्वस्तु को प्रकट नहीं करता। इससे गलतफहमी होती है कि यह भारतीय नवजागरण जैसी ही कोई धारा थी।"⁶²

पश्चिमोत्तर प्रांत में भाषा के सवाल पर 'हिन्दी को प्रतिष्ठित करने के लिए 'हिन्दी आंदोलन चलाया गया। उस समय यहाँ के नेताओं ने न सिर्फ हिन्दी उर्दू के अलगाववाद को जन्म दिया, बल्कि हिन्दी को 'हिन्दू जाति से भी जोड़ दिया। गौरतलब है कि 'हिन्दी' को 'उर्दू की जगह प्रतिष्ठित करने के लिए उस समय 'हंटर आयोग को सैकड़ों मेमोरियल देने का अभियान चलाया गया। उस समय सर्वाधिक संख्या में मेमोरियल भिजवाने का कार्य संगठित रूप से आर्य समाज ने हिन्दी प्रांत के नेताओं के साथ मिलकर किया था। इस अभियान में दयानंद, शिवप्रसाद, भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी जैसी हिन्दी के उन्नायकों ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। इसी परिप्रेक्ष्य में यह तथ्य गौरतलब है कि पश्चिमोत्तर प्रांत के मुस्लिम भद्रवर्ग ने उर्दू के पक्ष में मेमोरियल देने का कोई अभियान नहीं चलाया। उन्हें इसकी कोई जरूरत भी नहीं थी... सैयद अहमद ने खुद आयोग को जो मेमोरियल दिया, वह विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में था।

उस समय हिन्दी के पक्ष में भेजे गए सभी मेमोरियल एक ही बात दुहराते थे कि उर्दू सिर्फ मुस्लिम वर्ग की भाषा है, जिससे हिन्दुओं का अहित ही होता है। दूसरी तरफ इन मेमोरियलों के द्वारा यह सिद्ध करने का भरसक प्रयास किया गया कि 'हिन्दी' समग्र हिन्दू जाति की भाषा है। उपरोक्त मेमोरियल हिन्दू जाति का पक्ष तो रखते थे, परन्तु बाकियों के मतों और हितों को पूरी तरह नजरअंदाज करते थे इससे स्वतः स्पष्ट है कि पश्चिमोत्तर प्रांत में ही 'हिन्दी आंदोलन' अपने आप में कितना कटा और एकांगी था।

19वीं सदी में नवजागरण के संदर्भ में 'हिन्दी प्रांत' में चला 'गोरक्षा' का आंदोलन भी बहुत महत्वपूर्ण था। उस समय इस आंदोलन के दो पहलू थे एक तो धार्मिक और दूसरा राजनैतिक। बकौल डॉ. तलवार "पश्चिमोत्तर प्रांत में 19वीं सदी के आखिरी दो दशकों में गोरक्षा का मुद्दा पहली बार 1881-82 में उठाया गया, दूसरी बार 1892-93 में। पहली बार कुछ जगहों पर तनाव और दंगों के बावजूद यह वैचारिक स्तर पर ज्यादा रहा और इसमें हिन्दी के सभी बड़े साहित्यकारों और संपादकों ने आगे बढ़कर हिस्सा लिया। दूसरी बार इसमें बड़े पैमाने पर हिंसक दंगे हुए और यह दूसरे प्रांतों में भी फैल गया। दोनों बार हुए आंदोलनों में एक विशेषता समान थी- गोरक्षा की मांग हिन्दी और नागरी के साथ मिला दी गई। तीनों ही मुद्दों ने ऐसा मंच प्रदान किया जिस पर पश्चिमोत्तर प्रांत में हिन्दू नवजागरण की परस्पर विरोधी धाराएँ एक साथ आ मिलीं।"⁶³

'गोरक्षा आंदोलन' का अभियान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रारम्भ किया, "1877 के दिल्ली दरबार के समय उन्होंने (भारतेन्दु) गोरक्षा के लिए 60 हजार दस्तखतों के साथ एक मेमोरियल सरकार को दिया।"⁶⁴ भारतेन्दु के साथ ही दयानंद सरस्वती ने भी इस आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। उल्लेखनीय है कि हिन्दी प्रांत के नागरी, हिन्दी और गोरक्षा जैसे आंदोलनों से जुड़ने का दयानंद का मकसद सिर्फ पश्चिमोत्तर प्रांत में 'आर्य समाज की स्थिति को सुदृढ़ करना था, क्योंकि आर्य समाज के सुधारों का हिन्दी प्रांत में ही सबसे ज्यादा विरोध हुआ था। अतः कट्टर सनातनपंथियों को आर्य समाज के अनुकूल करने के लिए दयानंद के पास इससे अच्छा रास्ता और क्या हो सकता था?

'गोरक्षा आंदोलन' की अध्यक्षता करने वाले भारतेन्दु और दयानंद दोनों ही अंग्रेजी राज के पूर्णतः विरोधी

न होकर उसके नरम आलोचक थे। अतः दोनों ने इस आंदोलन को तूल देने के लिए गोरक्षा के विषय पर पुस्तकों, प्रहसनों व नाटकों को जनसाधारण में प्रचारित किया। बकौल डॉ तलवार “पश्चिमोत्तर प्रांत में गोरक्षा आंदोलन खड़ा करने में दो किताबों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई- 1880 में छपी दयानंद की ‘गोकर्णानिधि’ और 1881 में छपी भारतेन्दु की ‘गोमहिमा’।”⁶⁵ गोरक्षा के सवाल पर भारतेन्दु ने पत्रिकाओं के माध्यम से आर्य भ्राताओं का आवाहन किया। उल्लेखनीय है कि “हिन्दी भाषा और लिपि के अलावा भारतेन्दु ने अपने जीवन में सबसे बड़ा आंदोलन गोरक्षा के लिए ही किया।”⁶⁶ ‘गोरक्षा आंदोलन के संदर्भ में अबिकादास व्यास का ‘गोसंकट’ नाटक भी उल्लेखनीय है, जो गोरक्षा आंदोलन को बढ़ाने-फैलाने की भावना से प्रेरित होकर लिखा गया था।

पश्चिमोत्तर प्रांत में ‘गोरक्षा आंदोलन सिर्फ लेखकों व समाज सुधारकों तक ही सीमित नहीं था। अपितु कट्टर हिन्दूवादी राजनीतिज्ञों ने भी इसमें बढ़कर हिस्सा लिया। उल्लेखनीय है कि- “1890 के दशक में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के आंदोलन का नेतृत्व करने वाले मदनमोहन मालवीय ने अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत गोरक्षा के सवाल से की थी।”⁶⁷ और तो और उस समय मालवीय जी ने गोरक्षा और च्यवन आश्रम खोलने के साथ ‘गोरक्षा मंडल’ की स्थापना भी की।

हिन्दी नवजागरण में ‘गोरक्षा आंदोलन’ एक ऐसा मुद्दा था, जिसे तत्कालीन सक्रिय नेताओं ने हिन्दू जाति का प्रतीक बना दिया। उस समय हिन्दी प्रांत के सभी लेखकों, नेताओं आदि ने इस विषय पर जैसी सक्रियता व चिंता दिखायी वैसी तत्कालीन अन्य सामाजिक मुद्दों (बाल विवाह, विधवा विवाह, शिक्षा, स्त्री शिक्षा) पर शायद ही दिखायी हो। हिन्दी प्रांत का भद्रवर्ग जो सदैव आर्य समाजियों के सुधारों का विरोध करता था, उल्लेखनीय है कि गोरक्षा के प्रश्न पर आर्य समाजी व हिन्दी नेता दोनों ‘चोर-चोर मौसेरे भाई’ बने हुए थे।

19वीं सदी के तथाकथित ‘हिन्दी नवजागरण में हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक तनाव को बखूबी देखा जा सकता है। उस समय हिन्दी लेखकों ने सिर्फ मुस्लिमों का विरोध ही नहीं किया, बल्कि उन्हें हर तरह से नीचा दिखाने का प्रयास भी किया, जिसके लिए वे तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में आपत्तिजनक लेखन करते रहे या मुस्लिम विरोधी पुस्तकें छपवाते रहे। इसका एक उदाहरण मुरादाबाद के आर्य समाजी लेखक ‘मुंशी इंद्रमणी’ थे। उन्होंने 1880-81 में मुस्लिम विरोधी पुस्तकें लिखकर छपवायीं, जिस कारण मुस्लिमों ने उन पर मुकदमा कर दिया, जिसमें जीत अंततः मुस्लिमों की ही हुई। इस विषय पर बालकृष्ण भट्ट गुप्ते व क्षोभ के साथ ‘हिन्दी प्रदीप’ में जो प्रतिक्रिया देते हैं, उससे तत्कालीन हिन्दू समाज की मानसिकता को स्पष्टतः समझा जा सकता है, यथा “सरकार हम हिन्दुओं का कभी पक्ष न करेगी और न्याय-अन्याय के ख्याल को उस समय हिन्द महासागर में डुबो देगी।” यहाँ पर भट्ट जी नैतिक-अनैतिक का विचार किए बिना ही, पूरे प्रकरण को हिन्दुत्व से जोड़ देते हैं।

आर्य समाजी लेखक ‘इंद्रमणि’ की तरह ही 1884 में छपा ‘सोहन प्रसाद मुदरिस का नाटक ‘हिन्दी और उर्दू की लड़ाई भी मुस्लिम विरोध का ज्वलन्त उदाहरण था। इस नाटक में न सिर्फ हिन्दी-उर्दू की लड़ाई में हिन्दी को श्रेष्ठ और उर्दू को हीन दिखाया गया, बल्कि मुस्लिमों के कुछ पुराने संतों और धार्मिक नेताओं पर भी आपत्तिजनक टिप्पणियाँ की गयीं। फलतः इस नाटक पर विरोध जताते हुए मुस्लिमों ने सोहन प्रसाद पर नालिश दायर कर दी। अतः ‘सोहन प्रसाद ने देशभर के आर्यों से अपनी मदद की गुहार लगायी। उपरोक्त संदर्भ में डॉ. तलवार की टिप्पणी दृष्टव्य है “इस पूरे कांड का सबसे दिलचस्प और महत्वपूर्ण हिस्सा पत्र-पत्रिकाओं में सोहन प्रसाद की गुहार पर उसकी मदद के लिए हुआ आंदोलन था, जिसमें सैकड़ों हिन्दी समर्थकों ने भाग लिया... हिन्दी आंदोलन के अंदर मौजूद मुस्लिम विरोध का जैसा उग्र रूप सोहन प्रसाद की किताब में प्रकट हुआ था, उससे कहीं ज्यादा सोहन प्रसाद की मदद के लिए चले अभियान में प्रकट हुआ। इस अभियान में पश्चिमोत्तर प्रांत के नवजागरण का और खासतौर पर हिन्दी आंदोलन का साम्प्रदायिक चरित्र सबसे आक्रामक रूप में प्रकट हुआ।”⁶⁸

हिन्दी नवजागरण में ‘हिन्दी’ को ‘हिन्दी जाति’ बनाने में उस समय हिन्दी गढ़ के लेखकों, नेताओं आदि ने कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी, जिसका एक उदाहरण अयोध्या सिंह उपाध्याय की कविता ‘जातीय भाषा भी है। इसमें “हिन्दी को हिन्दुओं की जातीय भाषा मानते हुए कहा गया कि जातियों का गठन जातीय भाषा से ही होता

है।”⁶⁹ ऐसे और भी बहुत से उदाहरण हैं, जिन्होंने इस जातीय भावना के द्वारा हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया। उल्लेखनीय है कि- “पश्चिमोत्तर प्रांत में हिन्दी नवजागरण का शायद ही कोई ऐसा नेता होगा जिसने मुसलमानों का विरोध करते हुए उनसे अलग रहने की इच्छा न प्रकट की हो। अगर राजा शिवप्रसाद ने मुसलमानों का सिंधु पार करना भारतवासियों के लिए अभिशाप का दिन माना, तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र न भी गोरक्षा का मुद्दा उठाते हुए कुछ इसी ढंग की बात की।”⁷⁰

‘बिहार का नवजागरण हिन्दी पट्टी के विपरीत जब हम देखते हैं, वह हिन्दी नवजागरण से बहुत भिन्न था और सही मायने में वह नवजागरण था। उल्लेखनीय है कि वहाँ, हिन्दू-उर्दू के प्रश्न पर, या धार्मिक सुधारों के लिए कोई आंदोलन नहीं चला, अपितु जो आंदोलन हुआ वह बंगाल से बिहार को अलग करने का आंदोलन था। यही आंदोलन ‘बिहार का नवजागरण’⁷¹ था। बकौल डॉ. तलवार, “बिहार को बंगाल से अलग करने की माँग पहली बार 1880 के दशक में उठी। 1894 में पहली बार आंदोलन का मुखपत्र बिहार टाइम्स (बाद में बिहारी नाम से) निकलना शुरू हुआ, तो आंदोलन के नेता डॉ. सच्चिदानंद सिन्हा ने लिखा कि यहीं से “बिहार में नवजागरण का दौर शुरू हुआ।”⁷² अपने उद्देश्य व कार्यों दोनों में बिहार नवजागरण, हिन्दी नवजागरण से अलग था। बिहारी नवजागरण के अन्तर्गत “शिक्षित बिहारी भद्रवर्ग किसी हिन्दी जाति या हिन्दू जाति का निर्माण नहीं कर रहा था, बल्कि एक ऐसे बिहारीपन की बात कर रहा था जिसमें हिन्दू बिहारी और मुसलमान बिहारी, दोनों एक साथ शरीक थे।”⁷³

वस्तुतः जो वस्तुनिष्ठ और आधुनिक सोच ‘बिहार या बंगाल नवजागरण’ के अन्तर्गत थी, उसकी हिन्दी नवजागरण के अंदर सर्वथा अभाव था। अपने दुराग्रहों, साम्प्रदायिक होड़ वह अंतर्विरोध के ही कारण ‘हिन्दी नवजागरण सम्पूर्ण रूप से ‘नवजागरण’ न होकर ‘आंदोलन’ मात्र बनकर रह गया। और ऐतिहासिक संदर्भों में देखा जाय तो यहाँ के नेताओं ने तत्कालीन सभी बुनियादी धर्म व समाज-सुधार के प्रश्नों पर समर्थन देने के बजाय तत्कालीन सुधारों का विरोध ही किया। तत्कालीन बाल विवाह, विधवा विवाह, स्त्री प्रश्नों पर हिन्दी प्रांत का नजरिया हमें दुविधाग्रस्त और पिछड़ा ही दिखायी देता है। उल्लेखनीय है कि ब्राह्मणों और आर्यों को समाज सुधार के क्षेत्र में बंगाल, पंजाब या महाराष्ट्र जैसी सफलता हिन्दी प्रांत में कभी नहीं मिली, बकौल डॉ. तलवार “उस दौर में आर्य समाजी सुधार आंदोलन का विरोध करते हुए लेखक जो लड़ाई लड़ रहे थे, उसका सही नाम हिन्दी नवजागरण के बजाय हिन्दी आंदोलन होना चाहिए,⁷⁴ क्योंकि उस समय हिन्दी नेताओं और लेखकों का मुख्य लक्ष्य यही था। वस्तुतः नवजागरण के लिए जो आधुनिक, वस्तुनिष्ठ व वैज्ञानिक सोच चाहिए थी, वह ‘हिन्दी नवजागरण’ में सम्यक रूप से नहीं मिलती। इसी कारण डॉ तलवार ‘हिन्दी नवजागरण’ एक भ्रामक नाम⁷⁵ घोषित करते हुए इसे ‘हिन्दी नवजागरण की जगह ‘हिन्दी आंदोलन’ की संज्ञा से अभिहित करते हैं।

वस्तुतः नवजागरण की तीखी व सटीक आलोचना के कारण ही डॉ. वीरभारत तलवार की पुस्तक ‘रस्साकशी’ अपने प्रकाशन के साथ ही हिन्दी जगत में तहलका मचा देती है, कारण डॉ. तलवार हिन्दी नवजागरण की जो छवि इसके माध्यम से उजागर करते हैं, वह कपोल कल्पना आधारित न होकर उनके गहन शोध व पुष्ट प्रमाणों पर आधारित है। जाहिर है इससे अब तक की ‘हिन्दी नवजागरण की अवधारणा’ बिखरती प्रतीत होती है।

‘रस्साकशी’ का सबसे मजेदार पहलू यह रहा है कि आलोचना जगत में तलवार जी की स्थापनाओं से सहमत और असहमत दोनों वर्गों के मध्य यह समान रूप से बहस का मुद्दा बनी हुयी है। इसी संबंध में ‘पी. एन. सिंह की टिप्पणी गौर करने लायक है “वीरभारत तलवार की नवजागरण सम्बन्धी यह स्थापना रामविलास शर्मा की प्रति स्थापना है। नामवर जी भी इससे सहमत दिखते हैं, बशर्ते भारतेन्दु को अलग रखा जाय। लेकिन राजेन्द्र यादव अपनी बौद्धिक उग्रता और सनसनीखेज अभिव्यक्तियों के साथ इसका समर्थन करते हैं।... यही करते-करते हंसराज रहबर और कायस्थ-शूद्र मुद्राराक्षस पतनशील साहित्यिक संवेदना के प्रतीक से लगते हैं। उनकी गम्भीर बातों को भी गम्भीरता से नहीं लिया जाता, अगर निहित स्वार्थों को दरकिनार कर दें। लेकिन वीरभारत ने

यह खतरा मोल लिया है। उनके द्वारा हिन्दी नवजागरण जैसी एक अर्थवान एवं ऊर्जावान विरासत को एकबारगी खारिज करना निश्चय ही सनसनीखेज है। उतना ही सनसनीखेज है 19वीं सदी की अन्य भद्रलोकीय एवं गैर-भद्रलोकीय विरासतों को बिना सम्यक् विवेचन के यथावत स्वीकार कर लेना।”⁷⁶

उपरोक्त कथन में पी.एन. सिंह जिस गैर-भद्रलोकीय समाज का जिक्र कर रहे हैं, वह तलवार जी के हिसाब से 19वीं सदी का दलित-शूद्र और आदिवासी समाज था, जिनका संघर्ष हमारे प्रबुद्ध इतिहासकारों व आलोचकों की दृष्टि में नोटिस करने लायक नहीं था। मगर डॉ. तलवार का मानना है कि गैर-भद्रवर्गीय दलित-शूद्रों व आदिवासियों समेत नवजागरण का अध्ययन, उसे समग्रता में व्याख्यायित करने का सफल प्रयास होगा। वस्तुतः पी.एन. सिंह की तरह ही भारतेन्दु के अंधभक्तों को उनकी आलोचना बर्दाश्त नहीं होती, जिस कारण वे ‘रस्साकशी’ पर छोट्याकशी करते नजर आते हैं।

बहरहाल इसमें कोई दो राय नहीं कि डॉ. वीरभारत तलवार की पुस्तक ‘रस्साकशी’ हिन्दी नवजागरण की अवधारणा को एक नए धरातल पर उपस्थित करती है। डॉ. तलवार ने इस पुस्तक में विषय की गहराई में जाकर तथ्यों और तर्कों के साथ बारीकियों से मुद्दों को विश्लेषित-व्याख्यायित किया है। बिना शोध किए उन्होंने कोरे तथ्य नहीं गढ़े हैं? नवजागरण पुरानी मान्यताओं के मुकाबले इतिहास के संदर्भ में निश्चित ही नयी स्थापनाओं को जन्म देता है, साथ ही इतिहास लेखन का निष्पक्ष व पूर्वाग्रह मुक्त दृष्टिकोण भी प्रस्तुत करता है। इसी कारण ‘हिन्दी नवजागरण के पुनर्पाठ’ की दृष्टि से ‘रस्साकशी’ का अध्ययन दिलचस्प व नए तथ्यों को उजागर करने वाला साबित होता है। अन्ततः कहा जा सकता है कि डॉ. वीरभारत तलवार या ‘रस्साकशी’ की विचारधारा से सहमत या असहमत हुआ जा सकता है, लेकिन उनके वैचारिक प्रस्तावों की अनदेखी नहीं की जा सकती है।

संदर्भ :

1. रस्साकशी, पृ. 117
2. वही, पृ. 118
3. वही, पृ. 118
4. वही, पृ. 119
5. वही, पृ. 118
6. वही, पृ. 116
7. वही, पृ. 12
8. वही, पृ. 12
9. वही, पृ. 13
10. वही, पृ. 17
11. वही, पृ. 17-18
12. वही, पृ. 25-29
13. वही, पृ. 21
14. वही, पृ. 34
15. वही, पृ. 34
16. वही, पृ. 45
17. बलिया वाला भाषण, भारतेन्दु समग्र, सं. हेमंत शर्मा, पृ. 1013
18. भारतेन्दु समग्र, हेमंत शर्मा, पृ. 1013
19. हिन्दी नवजागरण, गजेन्द्र पाठक, पृ. 35
20. रस्साकशी, पृ. 51
21. वही, पृ. 52
22. वही, पृ. 53
23. वही, पृ. 57

24. वही, पृ. 57
25. वही, पृ. 67
26. वही, पृ. 63
27. वही, पृ. 65-66
28. वही, पृ. 103
29. वही, पृ. 73
30. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ (भूमिका), डॉ. रामविलास शर्मा।
31. भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, डॉ. शर्मा, पृ. 195
32. वही, पृ. 199
33. रस्साकशी, पृ. 177
34. हिन्दी नवजागरण और संस्कृति, डॉ. शम्भुनाथ
35. हिन्दी नवजागरण, गजेन्द्र पाठक, पृ. 34
36. रस्साकशी, पृ. 116
37. वही, पृ. 125
38. वही, पृ. 127
39. वही, पृ. 128
40. वही, पृ. 130
41. वही, पृ. 131
42. वही, पृ. 126
43. वही, पृ. 170
44. वही, पृ. 170
45. वही, पृ. 171
46. वही, पृ. 171
47. वही, पृ. 171
48. वही, पृ. 173
49. वही, पृ. 124
50. वही, पृ. 178
51. वही, पृ. 177
52. वही, पृ. 183
53. वही, पृ. 187
54. वही, पृ. 187
55. वही, पृ. 195
56. वही, पृ. 197
57. वही, पृ. 199
58. वही, पृ. 204
59. वही, पृ. 211
60. वही, पृ. 215
61. वही, पृ. 217
62. वही, पृ. 135
63. वही, पृ. 290
64. वही, पृ. 291
65. वही, पृ. 292
66. वही, पृ. 299
67. वही, पृ. 304
68. डॉ. तलवार, मुकद्दमा सोहन प्रसाद मुदरिसिका, कथादेश, अक्टूबर 2001
69. रस्साकशी, पृ. 261

70. वही, पृ. 255
71. वही, पृ. 266
72. वही, पृ. 266
73. वही, पृ. 266
74. वही, पृ. 342
75. वही, पृ. 135
76. रस्साकशी: एकलापी पांडित्य का निदर्शन, पी.एन. सिंह, आलोचना, जुलाई-दिसम्बर 2002



नवजागरण की '२२शाकशी' : 'इमाँ मुझे शेके है तो खैचे है मुझे कुफ्र...'

भारतेन्दु की स्त्री-शिक्षा और 'रस्साकशी'

■ जगमोहन सिंह

भारतेन्दु ने स्त्रियों की शिक्षा के महत्व को समझा था। आज से लगभग 150 वर्ष पहले स्त्रियों को शिक्षित करने की बात कल्पना स्वरूप थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्त्री-शिक्षा की बात कही। उन्होंने स्त्रियों को पुरुष के समकक्ष रखा और कहा,

“नारी नर अरधंग की सांचेहिं स्वामिनि होय ॥”

यह कहना उस दौर में साहस का काम था। भारतेन्दु निर्भीक वक्ता थे। वे किसी के दबाव में आकर कोई भी निर्णय तुरंत नहीं लेते थे। उस समय की परिस्थितियाँ ऐसी थीं, वातावरण ऐसा था जहाँ कई बातों को साथ लेकर चलना होता था। कभी-कभी भारतेन्दु दबाव में आकर काम करते थे, परंतु स्त्री-शिक्षा का वे पुरजोर समर्थन करते थे। भारतेन्दु स्त्रियों को आदर्श रमणी, आदर्श माता, आदर्श गृहिणी बनाना चाहते थे। उनका मानना था कि जब तक स्त्रियों को उचित शिक्षा नहीं दी जाएगी, उसका सही ढंग से मार्ग दर्शन नहीं किया जाएगा समाज की उन्नति नहीं होगी। वीर भारत तलवार भारतेन्दु की स्त्री-शिक्षा के दृष्टिकोण की कड़ी आलोचना करते हुए कहते हैं कि भारतेन्दु ने स्त्री-शिक्षा की वकालत सही ढंग से नहीं की। यदि उन्होंने सही ढंग से स्त्री-शिक्षा की वकालत की होती, ब्रिटिश शासकों के दबाव में न आए होते तो स्त्रियों की शिक्षा-व्यवस्था में सुधार के काम बहुत पहले ही शुरू हो गए होते। आज राष्ट्र की स्थिति कुछ और ही होती।

वीर भारत तलवार हिंदी आलोचना के ऐसे सशक्त सिरमौर हैं जिनकी निर्भीक वाणी (भारतेन्दु की तरह) ने आलोचना जगत को एक नई दिशा दी है। उनकी आलोचना दृष्टि पूर्वाग्रह में लिप्त नहीं है। बने बनाए ढर्रे पर चलना भी उन्हें गवारा नहीं है। वे सबकी हाँ में अपनी हाँ नहीं मिलाते, बल्कि तथ्यों एवं तर्कों के आधार पर एक ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं जहाँ से झनझनाहट की ध्वनि सुनाई पड़ती है। प्रमाणित कर तथ्यों को प्रस्तुत करने की शैली ने आलोचना जगत में उनकी एक अलग पहचान बनाई है। वे राह से भटकते नहीं, बल्कि एक नई राह बनाते हैं और उस राह पर बड़े परिश्रम के साथ चलकर एक सशक्त दृष्टि प्रदान करते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रामविलास शर्मा, निर्मल वर्मा, हरिश्चंकर परसाई, प्रेमचंद की दृष्टि के साथ-साथ नवजागरण के तथ्यों को खंगालते हुए उनकी आलोचना दृष्टि एक नई दिशा प्रदान करती है, जिनमें ज्वलंत विचारधाराओं की अनुगूँज सुनाई पड़ती है। यदि तटस्थ पाठक विचलित न होकर इन विचारधाराओं के सैलाब में गोते लगाए तब कुछ ढूँढ़ा जा सकता है।

हंटर आयोग ने स्त्री-शिक्षा के संबंध में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से उनके विचार जानने चाहे थे और कई सवाल पूछे थे, किन्तु भारतेन्दु के उत्तर पर वीर भारत तलवार की स्पष्ट असहमति है। चूँकि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र उस समय हिंदी प्रांत (पश्चिमोत्तर प्रांत) के बहुत बड़े सुधारक थे, एक जागरूक साहित्यकार थे। नवजागरण की जो हवा बह रही थी, जिस तरह सुधार के प्रयास किये जा रहे थे उस दृष्टि से उनकी चिंताधारा अन्य प्रदेशों के समाज-सुधारकों की चिंताधारा से मिलती थी। पश्चिमोत्तर प्रांत बंगाल, महाराष्ट्र, मद्रास की तरह जागृत नहीं हो पाया था, अभी भी सुप्त अवस्था में ही था। अतः हंटर आयोग को उम्मीद जगी कि भारतेन्दु से पूछकर पश्चिमोत्तर प्रांत की समस्याओं से अवगत हुआ जा सकता है। हंटर आयोग ने पूछा कि सरकार के शिक्षा विभाग ने लड़कियों

के लिए जो विद्यालय खोले हैं उसमें कितनी प्रगति हुई है ? वहाँ दी जा रही शिक्षा पद्धति के बारे में बताते हुए सुधार के उपाय की तरफ ध्यान दिलाएँ। भारतेन्दु ने कहा, “इस देश में लोगों में अपनी लड़कियों को पब्लिक स्कूल में भेजने की इच्छा नहीं है।.....हमारी सरकार का यह कर्तव्य है कि वह स्त्री शिक्षा के प्रति लोगों के इस मानसिक अज्ञान को दूर करे। It is the duty of our Government to remove this ignorance from their minds.”² जब सरकार ने कई सरकारी स्कूलों को बंद कर उसे भारतीयों को सौंपकर निजी स्कूलों में परिवर्तित करना चाहा था, तब भारतेन्दु रुष्ट होकर अपनी प्रतिक्रिया इस तरह व्यक्त करते हैं, “मैंने पहले भी कहा कि सरकार ने एक ही बार में लड़कियों के 200 स्कूल बंद कर दिए, स्कूल इंस्पेक्टरों का ओहदा खत्म कर दिया और बाकी बचे स्कूलों का प्रबंध जिला कमेटियों को सौंप दिया। मुझे अफसोस है कि ये कमेटियाँ इतना भी नहीं जानती कि ये स्कूल जिले के किन हिस्सों में हैं; उनमें कैसी शिक्षा दी जाती है। उनकी निगरानी डिप्टी इंस्पेक्टरों के हवाले कर दी जाती है जो इस काम को शायद ही संतोषप्रद ढंग से कर सकते हैं। उनके दौरे से शायद ही कोई फायदा होता है। उनकी जगह यूरोपीय इंस्पेक्टरों को बहाल करने की सख्त जरूरत है, बशर्ते वह मिशनरी न हो।”³ वीरभारत तलवार भारतेन्दु के इस तरह के बयान पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि भारतेन्दु का यह कहना उचित नहीं था। सरकारी सहानुभूति पर केवल निर्भर रहना, अपने दम पर कुछ न करना नवजागरण के दौर में तकलीफ देह लगती है। यूरोपीय इंस्पेक्टरों की बहाली की बात भारतेन्दु न कर भारतीयों की बहाली की बात अपने दम पर कर सकते थे। ‘शिक्षा का निजीकरण हो’ भारतेन्दु इसके खिलाफ थे, जबकि उन्हें इसका समर्थन करना चाहिए था। विशेष कर जब स्त्री-शिक्षा की बात हो रही थी। दूसरी ओर भारतेन्दु ने यह भी कहा कि, “सरकार स्त्री-शिक्षा के लिए मिशनरियों को काफी धन देती है लेकिन वे उसका बड़ा हिस्सा ईसाई लड़कियों की शिक्षा पर खर्च करते हैं और उसका मुख्य उद्देश्य धार्मिक शिक्षा देना है।”⁴ इस तरह एक तरफ भारतेन्दु सरकार पर पूर्ण रूप से निर्भर नजर आते हैं वहीं दूसरी तरफ धार्मिक शिक्षा की पद्धति पर नाराज होते हैं। यहाँ एक ही जगह विरोधाभास की स्थिति है। दरअसल भारतेन्दु समझ रहे थे कि जो शिक्षा ईसाई मिशनरियाँ अपार धन उड़ेलकर दे रही थी, वह उचित शिक्षा नहीं थी। वह मार्ग भटकाने वाली थी। अंग्रेज भारतीय स्त्रियों को ईसाइयत के रंग में रंगने के लिए लालायित थे। वीरभारत तलवार भारतेन्दु के दो तरफा बयान से असंतुष्ट नजर आते हैं।

पाठ्यक्रम को लेकर हंटर आयोग ने भारतेन्दु से सवाल पूछा था। भारतेन्दु ने उस पाठ्यक्रम की आलोचना की थी और कहा था कि “ये पाठ्य पुस्तकें कई कारणों से आपत्तिजनक हैं। मैं मिस रोज ग्रीनफील्ड से पूरी तरह सहमत हूँ कि बड़ी लड़कियों को प्रेमसागर (लल्लूलाल का बयान) ग्रंथ पढ़ने नहीं देना चाहिए। विद्यांकुर और इतिहासतिमिरनाशक उनके नैतिक चरित्र का विकास नहीं कर सकते।”⁵ वीरभारत तलवार भारतेन्दु के इस दृष्टिकोण पर कटाक्ष करते हैं। उनका कहना है कि यह भारतेन्दु की पक्षपात भरी दृष्टि थी। एक जगह उस समय जहाँ ये पुस्तकें लड़कों को पढ़ाई जा रही थीं, वहीं भारतेन्दु इन पुस्तकों को लड़कियों को पढ़ाने का विरोध कर रहे थे, सहमत नहीं हुआ जा सकता। उस समय जब स्त्रियों के विकास की बात हो रही थी, तब इन पुस्तकों में खराबी कहाँ से आ गई। तलवार जी कहते हैं, “प्रेमसागर अगर आपत्तिजनक ग्रंथ था तो वह लड़कों के लिए भी आपत्तिजनक होना चाहिए था।‘प्रेमसागर’ उन्हें हिंदू घरों की लड़कियों के लिए अनैतिक लगा, वह उन्हीं घरों के बड़े या छोटे, किसी भी उम्र के लड़कों के लिए अनैतिक नहीं लगा। यह एकतरफा नैतिकतावादी दृष्टि, खासकर हिंदुओं के संदर्भ में – कि एक ही चीज पुरुषों के लिए नैतिक है, पर स्त्रियों के लिए नहीं – भारतेन्दु के साहित्यिक जीवन में भी दिखाई देती है।”⁶ इसी तरह अन्य पुस्तकों के बारे में टिप्पणी करते हुए तलवार जी आगे कहते हैं, “इतिहासतिमिरनाशक इतिहास पर आधुनिक ढंग से लिखी गई किताब थी तो विद्यांकुर आधुनिक पदार्थ विज्ञान और समाजशास्त्र की। भारतेन्दु एक ओर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा को हिंदुस्तानियों के लिए बिलकुल जरूरी ठहराते थे, दूसरी ओर लड़कियों को इसी ज्ञान-विज्ञान से दूर रखना चाहते थे।”⁷ दरअसल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्त्रियों को वैसी शिक्षा देना चाहते थे जिससे उनका मानसिक ही नहीं घरेलू विकास भी हो। वे स्त्रियों में पतिव्रता, आज्ञाकारिता, कुल को संभालने वाली, लज्जाशील नारी का रूप देखना चाहते थे। स्त्रियाँ अपने ध

म का पालन करते हुए यदि समाज, राष्ट्र के कल्याण में योग देती हैं तभी उनका समुचित विकास संभव है। स्त्रियों का अस्तित्व क्या है, वह क्यों सम्माननीय है, इसको ध्यान में रखकर आधुनिक बनना उचित है। अन्यथा अपने विनाश से इतर वह कुछ भी नहीं संजो सकती हैं। भारतेन्दु की दृष्टि व्यापक थी। बलिया वाले व्याख्यान (1884) से पता चलता है कि वहाँ भी भारतेन्दु लड़के-लड़कियों को पढ़ाने की जरूरत पर बल दे रहे हैं और कह रहे हैं कि “लड़कियों को भी पढ़ाइए, किन्तु इस चाल में नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती है, जिससे उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुल – धर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज में शिक्षा दें।”⁸ यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि भारतेन्दु कौन सी चाल की बात कर रहे थे, जहाँ किसी को कोई आपत्ति न हो। कहना न होगा कि उस युग में विशेषकर पश्चिमोत्तर प्रांत में स्त्रियों की शिक्षा-व्यवस्था की बात करना बड़ा दुरुह काम था। ऊपर से जिस तरह की शिक्षा-व्यवस्था दी जा रही थी उससे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अवगत थे। ईसाई मिशनरियाँ इसका जीता-जागता उदाहरण थीं। भारतेन्दु बार-बार देशी शिक्षा की बात कर रहे थे, इसे झुठलाया नहीं जा सकता। उद्धृत पंक्तियों में कुल-धर्म के साथ-साथ देश के बारे में भी जानने की बात आई है। यह देश को जानना क्या था ? भारतेन्दु को यह भली-भाँति आभास था कि देश की जानकारी घर बैठे नहीं हो सकती है। इसके लिए बाहर निकलना होगा, अपने ज्ञान को विकसित करना होगा। घर की चारदीवारी के घेरे को लाँघना होगा। पश्चिमोत्तर प्रांत में यह सब काम कठिन अवश्य था, परंतु असंभव नहीं था।

वीरभारत तलवार भारतेन्दु के दृष्टिकोण पर मतभेद का आरोप लगाते हुए यह कहते हैं कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से भी भारतेन्दु ने भेदभावपूर्ण व्यवहार किया। उन्हीं के शब्दों में, “लड़कियों के पाठ्यक्रम से उन्होंने राजा शिवप्रसाद की बनाई दो किताबें- ‘विद्यांकुर’ और ‘इतिहासतिमिरनाशक’ को हटाने के लिए कहा। तर्क दिया कि इन किताबों से लड़कियों के चरित्र का विकास नहीं होगा। भारतेन्दु ने इन्हें लड़कों के पाठ्यक्रम से हटाने के लिए नहीं कहा। वास्तव में इन किताबों का संबंध ज्ञान के विकास से था। इनसे ज्ञान का विकास होता था, इसलिए भारतेन्दु ने इन्हें लड़कों के पाठ्यक्रम से हटाने के लिए कभी नहीं कहा।”⁹ वीरभारत तलवार ने ‘बालाबोधिनी’ पत्रिका की तरफ बारंबार इशारा किया और कहा कि पश्चिमोत्तर प्रांत की स्त्री-संबंधी पहली पत्रिका में भी पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाया गया है, परंतु मैं (आलेख लेखक) मनाता हूँ कि सूक्ष्म दृष्टि से मूल्यांकन करने पर पता चलेगा कि वीरभारत तलवार का तर्क ‘बालाबोधिनी’ पत्रिका को लेकर निराधार है। ‘बालाबोधिनी’ पत्रिका में कई लेख ऐसे हैं जिससे स्त्रियों के ज्ञान में वृद्धि की गई है। उन्हें मात्र घरेलु या घरवा लेख कहकर मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। इसमें कई लेख विज्ञान के माध्यम से स्त्रियों के ज्ञान में वृद्धि करने के उद्देश्य से लिखे गए हैं। उदाहरण स्वरूप “अर्थनीति वा अर्थशास्त्र”¹⁰ लेख को देख सकते हैं। इस लेख में भारतेन्दु स्त्रियों को आर्थिक दृष्टि से मजबूत बनने और अर्थनीति के चोचलों से अवगत होने की कला सिखा रहे हैं। उद्धरण, “भूमि का अधिकारी धनी, मूल धन का अधिकारी असामी और परिश्रम का अधिकारी श्रमिक कहाता है। धनी को जो भाग मिलता है उसे कर वा खजाना कहते हैं, और श्रमिक के भाग को वेतन कहते हैं और असामी का भाग लाभ कहा जाता है।”¹¹ इस उद्धरण से स्पष्ट हो रहा है कि यहाँ कुल-धर्म की बात नहीं, बल्कि अर्थशास्त्र की जानकारी दी जा रही है। स्त्रियों के ज्ञान को समृद्ध किया जा रहा है। इसी तरह ‘उद्भिज्ज’ आलेख पादप-विज्ञान का परिचय कारानेवाला है। इसमें पेड़-पौधे के साथ सांसारिक प्राणियों का किस तरह आपसी संबंध है, बताया गया है। उद्धरण, “पृथिवी में ऐसा कोई भी देश नहीं है जहाँ पर कि किसी न किसी प्रकार के उद्भिज्ज आपाततः हमारे हितकारी नहीं। वे भी हमारे और और जीवों के पक्ष में विचार करने से वस्तुतः परम हितकारी ठहरते हैं। वैद्यक विधा के अध्ययन से इस विषय का ज्ञान उत्तम प्रकार से हो जाता है।”¹² इस उद्धरण से कई कुछ जानकारी मिल रही है। यही नहीं ‘बालाबोधिनी’ पत्रिका में कौतुक शीर्षक से ज्ञान-विज्ञान की जो जानकारी स्त्रियों को दी जा रही थी उससे पता चलता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र वैज्ञानिक दृष्टि से स्त्रियों को सचेत करना चाहते थे। कारण था स्त्रियाँ अंधविश्वास से दूर रहकर वैज्ञानिक दृष्टि से अपने मस्तिष्क को तरोताजा रखें और किसी भी अनहोनी

से बची रहें। कौतुक शीर्षक से भारतेन्दु जिन छोटी-छोटी ज्ञान-विज्ञान की बातें 'बालाबोधिनी' पत्रिका में संजों रहे थे, वे हैं - 'रंगीन फूल सफेद करने की युक्ति', 'गुप्त अक्षर', 'नीबू दौड़े', 'बिच्छू के डंक का उपचार', 'बोतल में अंडा', 'डोरे में अंगूठी बाँध कर डोरा जला दो अँगूठी न गिरे' आदि। वीरभारत तलवार ने इस संबंध में क्यों कुछ नहीं कहा, नई दृष्टि की उम्मीद की जा सकती है।

वीरभारत तलवार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की स्त्री-शिक्षा संबंधी विचारों को आड़े हाथों लेते हुए कहते हैं कि "भारतेन्दु की बालाबोधिनी पत्रिका में एक भी शृंगारिक रचना क्यों नहीं मिलती ? घरेलू स्त्रियों के प्रति ऐसी संकीर्ण नैतिकतावादी दृष्टि, जो उन्हें कभी पूर्ण मनुष्य का दर्जा नहीं देती, हिंदी में स्त्री-शिक्षा संबंधी साहित्य में लंबे समय तक बनी रही।"¹³ तलवार जी को आपत्ति है कि शृंगारिक रचना 'बालाबोधिनी' पत्रिका में क्यों नहीं है ? जबकि यह पश्चिमोत्तर प्रांत की पहली स्त्रियों से संबंधित पत्रिका थी। उनका सीधे भारतेन्दु से प्रश्न है कि, "क्या स्त्रियों के लिए शृंगारिक साहित्य नहीं हो सकता।"¹⁴ ऐसा नहीं लगता कि भारतेन्दु की सोच यह होगी कि यह पुरुष के लिए है और यह स्त्री के लिए। भारतेन्दु का अवतरण जिस समय हुआ था उस समय समाज की अवस्था चिंताजनक थी। विशेष कर पश्चिमोत्तर प्रांत की स्थिति सोचनीय थी। कोई भी निर्णय लेने के पहले सौ बार सोचना पड़ता था। परिस्थितियों को देखना होता था, तब जाकर कोई ठोस निर्णय लिए जाते थे। भारतेन्दु एक मार्ग निकालना चाहते थे। वे चाहते थे कि स्त्रियों को किसी भी तरह शिक्षा का अधिकार दिया जाए। वे जब शिक्षित होने लगेंगी धीरे-धीरे सारी दीवारें ढह जयेंगी। पहले से बिना सोचे निर्णय लेकर कुछ भी थोपना उचित नहीं है। भारतेन्दु दूर की सोचते थे। थोड़ा संभलकर चलने में वे विश्वास करते थे। संजीव कुमार कहते हैं, "वे स्त्री की भूमिका को परिवार के दायरे में ही देखते थे और उसकी शिक्षा का लक्ष्य बच्चों का उत्तम लालन-पालन, जिससे कि समाज और देश को उपयोगी सदस्य और नागरिक मिलें तथा गृहस्थी का सुचारू संचालन, मानते थे। पतिभक्ति, आज्ञाकारिता, लज्जाशीलता, ऐन्द्रिक सुख से परहेज इत्यादि को वे स्त्री के आवश्यक चरित्र-गुण के रूप में देखते थे।"¹⁵ कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय रमणी में जब यह गुण न हो तब वह क्या कहलावेगी ? अत्यधिक आधुनिक होकर अपने संस्कारों को तिलांजलि देकर भारतीय रमणियाँ कौन से धर्म का पालन कर लेंगी ? न वे पाश्चात्य रंग में ढल ही पायेंगी और न भारतीय ही रह पायेंगी। भारतेन्दु वस्तु-स्थिति को समझ रहे थे। उनके सामने पूरा समाज था। केवल 'बालाबोधिनी' पत्रिका के आधार पर ही भारतेन्दु का मूल्यांकन कर देना उचित नहीं प्रतीत होता। स्त्रियों के लिए लिखी जाने वाली इस प्रथम पत्रिका में शृंगार की रचनाएँ भले ही न हों, परंतु हास्यपूर्ण उल्लास तो है। सखी, सहेलियों की बातचीत में ठिठोली तो है। 'मुद्राराक्षस' नाटक 'बालाबोधिनी' पत्रिका में क्रमशः धारावाहिक रूप में छपी थी, इनमें कई पंक्तियाँ हैं जहाँ शृंगार के छोटें हैं। 'बालाबोधिनी' पत्रिका जबतक निकलती रही 'मुद्राराक्षस' नाटक का धारावाहिक रूप एक-दो अंक को छोड़कर इसमें निकलता रहा। 'मुद्राराक्षस' नाटक का यह दोहा देखें जहाँ शृंगार के साथ-साथ नीति वाक्य भी है,

“ प्रिया दूर घन गरजहीं अहो दुःख अति घोर।

औषधि दूर हिमाद्रि पै सिर पै सर्प कठोर ॥”¹⁶

इसी तरह और एक कवित्त है -

“बहुं फूल की माल लपेट कै खंभन धूप सुगंध सों ताहि धुपाइये।

तापैं चहुं दिस चंद छपासे सुसोभित चौर घने लटकाइये ॥

भार सों चारू सिंहासन के मुरछामें धरा परी धेनु सीपाइये ।

छींटी कै तापैं गुलाब मिल्यौ जल चन्दन ताकंह जाइ जगाइये ॥”¹⁷

इस तरह के कवित्त को शृंगारपरक कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

हंटर आयोग ने भारतेन्दु से सहशिक्षा के बारे में उनके विचार जानने चाहे थे। भारतेन्दु ने इसका विरोध करते हुए कहा था, “मैं इस देश में लड़के-लड़कियों के मिले-जुले स्कूलों की योजना बनाने का समर्थन नहीं

कर सकता। एक ही स्कूल में लड़कों के साथ लड़कियों के पढ़ाने के लिए हिंदुस्तानियों को कभी राजी नहीं किया जा सकता।”¹⁸ तलवार जी भारतेन्दु की इस विचारधारा का कड़ा विरोध करते हुए कहते हैं कि, “इस तरह की योजना उनकी मर्यादा और पर्दा-प्रथा संबंधी भावनाओं के विरोध में पड़ती है।”¹⁹ यहाँ एक बात ध्यान देने वाली है कि भारतेन्दु ने स्वयं स्त्री-पुरुष की समानता की बात बार-बार दोहराई है। वे नहीं चाहते थे कि स्त्रियाँ कूपमंडूक बनकर घर की चारदीवारी में कैद रहें। उन्होंने ‘बालाबोधिनी’ पत्रिका के सूत्र-वाक्य (ऊपर उद्धरण दिया गया है) में स्त्री-पुरुष की समानता की बात दोहराई। दरअसल भारतेन्दु एक माहौल बना रहे थे। वर्षों की रूढ़ियों को धीरे-धीरे तोड़ने का प्रयास कर रहे थे। वे जानते थे कि एक ही झटके में सबकुछ आसानी से नहीं हो सकता है। उनकी अन्य कई रचनाओं में भी स्त्री-पुरुष की समानता की गूँज सुनाई पड़ती है। हंटर आयोग की सहशिक्षा पर भारतेन्दु की असहमति को कुछ और मान लेना उचित नहीं है। ‘नीलदेवी’ का उपर्युक्त उद्धरण इसका जीता जागता सबूत है, “जब मुझे अंग्रेजी रमणी लोग मेदसिंचित केशराशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविध वर्ण वसन से भूषित क्षीण कटि-देश कसे, निज-निज पति गण के साथ, प्रसन्न बदन इधर से उधर फर-फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी-सीधी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी इच्छा करता हूँ कि इस गौरांगी युवती समूह की भाँति हमारी कुललक्ष्मीगणा भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें, किन्तु और बातों में जिस भाँति अंग्रेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज संभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की संपत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहाय देती हैं, और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को व्यर्थ गृह दास्य और कलह में ही नहीं खोतीं उसी भाँति हमारे गृह देवता भी वर्तमान हीनावस्था का उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करे यही लालसा है। इस उन्नति पथ की अवरोधक हमलोगों की वर्तमान कुल परंपरा मात्र और कुछ नहीं।”²⁰ भारतेन्दु स्वयं सामाजिक व्यक्ति थे। उन्हें समाज की नाजूक स्थिति का भली-भाँति आभास था। वे अपने विचारों को भावावेश में आकर नहीं, बल्कि बुद्धि का प्रयोग कर सुलझाना चाहते थे।

हंटर आयोग ने और भी कई सवाल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पूछे थे। जिनका दो टूक शब्दों में भारतेन्दु ने उत्तर दिया था। स्त्री-शिक्षा संबंधित इन उत्तरों में विरोधाभास नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु भारतेन्दु के दृष्टिकोण को एकदम नकार देना यह अनुचित प्रतीत होता है। वीरभारत तलवार भारतेन्दु को उनके समकालीन ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ज्योतिबा फूले, दयानंद सरस्वती, लाला देवराज, द्वारिकानाथ गाँगूली से तुलना कर विवेचन करते हैं। वे टिप्पणी के साथ तर्क प्रस्तुत करते हैं कि देश के अन्य भागों में स्त्री-शिक्षा संबंधी जो विचारधारा इन समाज सुधारकों के अंदर दिखाई देती है वह भारतेन्दु में छटांग मात्र भी नहीं है। उनका कहना है कि भारतेन्दु की विचारधारा इन समाज सुधारकों से इतनी अलग क्यों है ? उन्हीं के शब्दों में, “हिंदी नवजागरण और भारतेन्दु का अध्ययन करनेवाले आलोचक हंटर आयोग को दिए गए भारतेन्दु के विस्तृत बयान को क्यों कभी नहीं छूते? शिक्षा पर औपनिवेशिक राज्य के नियंत्रण के सवाल पर भारतीय नवजागरण के सभी नेताओं से भारतेन्दु का इतना फर्क और विरोध क्यों है ?”²¹ बहरहाल, भारतेन्दु की स्त्री-शिक्षा संबंधी दृष्टिकोण को जानने के लिए उस युग की परिस्थितियों को, नवजागरण की धारा को, समाज सुधारकों के प्रयास को, राजनीतिक हथकंडों को एक साथ खंगाल कर ही कुछ निर्णय और टिप्पणी की जा सकती है। भारतेन्दु के समग्र साहित्य को ध्यान में रखकर, उनकी चिंतनधारा से रूबरू होकर ही अपने दृष्टिकोण को प्रकट किया जा सकता है। एक दो रचनाओं के आधार पर भारतेन्दु जैसे नवजागरण के पुरोधा का समग्र मूल्यांकन कर देना उचित नहीं है। गद्य के निर्माण की चिंतनधारा से टकराने के लिए पश्चिमोत्तर प्रांत की चिंतनधारा से भी टकराना होगा और पूरे राष्ट्र की पृष्ठभूमि को समझकर अपना निर्णय देना होगा, तभी भारतेन्दु के स्त्री-शिक्षा संबंधी दृष्टिकोण की व्यापकता को समझा जा सकता है।

संदर्भ :

1. डालमिया, वसुधा, संकलन/संपादन, बालाबोधिनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2014, पृष्ठ. 32
2. तलवार, वीरभारत, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2006, पृष्ठ. 33
3. वही, पृष्ठ. 33
4. वही, पृष्ठ. 34
5. वही, पृष्ठ. 34
6. वही, पृष्ठ. 38
7. वही, पृष्ठ. 38
8. यादव, रामजी, संकलन/संपादन, भारतेन्दु संचयन, भारतीय पुस्तक परिषद्, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2011, पृष्ठ. 343
9. तलवार, वीरभारत, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2006, पृष्ठ. 38
10. डालमिया, वसुधा, संकलन/संपादन, बालाबोधिनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2014, पृष्ठ. 303
11. वही, पृष्ठ. 305
12. वही, पृष्ठ. 341
13. तलवार, वीरभारत, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2006, पृष्ठ. 38
14. वही, पृष्ठ. 38
15. डालमिया, वसुधा, संकलन/संपादन, बालाबोधिनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2014, पृष्ठ. XVII
16. वही, पृष्ठ. 195
17. वही, पृष्ठ. 268
18. तलवार, वीरभारत, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2006, पृष्ठ. 34
19. वही, पृष्ठ. 34
20. यादव, रामजी, संकलन/संपादन, भारतेन्दु संचयन, भारतीय पुस्तक परिषद्, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2011, पृष्ठ. 263 - 264
21. तलवार, वीरभारत, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2006, पृष्ठ. 51



हिंदी-उर्दू : ‘केवल अपनाव है, प्राणों है एक थे...’

साझी विरासत, साझी अदावत !

■ निरंजन सहाय

हिंदी-उर्दू के रोचक रिश्ते को समझने के लिहाज से एक हालिया प्रकरण का उल्लेख करना मौजूं लग रहा है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 के बाद हिन्दी की जो किताबें एन.सी.ई.आर.टी. दिल्ली ने पूरे देश के लिए बनायी थी, उसमें अनेक बदलाव किए गए थे। अब हुआ यह है कि उन हिंदी किताबों (स्पर्श, कृतिका, क्षितिज, अंतरा आदि) के विविध सन्दर्भों पर खुद को राष्ट्रवादी कहने वाले हिंदूवादी संगठनों ने कड़ी आपत्ति दर्ज की है। उन अनेक सन्दर्भों में, प्रसंग के अनुरूप भाषाई सन्दर्भ का यहाँ उल्लेख जरूरी लग रहा है। दरअसल, एक बार फिर जब नयी शिक्षा नीति के मुहाने पर देश खड़ा है, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के आनुषंगिक संगठन ‘शिक्षा संस्कृति उत्थान न्यास’ के मुखिया दीनानाथ बतरा (पूर्व प्रमुख विद्या भारती, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) का कहना है, हिन्दी की किताबों में शामिल उर्दू के शब्द, गालिब, अक्क महादेवी, मकबूल फिदा हुसैन पर आधारित पाठ हिन्दी भाषा और हिन्दू संस्कृति पर हमला है। जिन उर्दू शब्दों को हटाने की वकालत की गयी है, वे हैं – बेतरतीब, ताकत, इलाका, अक्सर, ईमान, बदमाश, लुच्चे – लफंगे, जोखिम, मेहमान नवाजी, कमबख्त, उल्लू कहीं का इत्यादि। उनका यह भी कहना है कि हिंदी पाठ्यपुस्तकों में उन सन्दर्भों का उल्लेख जरूर होना चाहिए जिनसे यह पता चले कि कैसे मध्यकालीन सूफी आन्दोलनों और अमीर खुसरो ने हिन्दू-मुसलमानों के बीच दरार बढ़ाने का काम किया। दरअसल, शुद्धीकरण के इस हालिया सिरे की जड़ें काफी गहरी हैं। वीर भारत तलवार ने अपनी मशहूर पुस्तक ‘रस्साकशी’ के अध्याय दो ‘इतिहास का खलनायक और हिंदी की नयी चाल’ में दो नवजागरणकालीन नायकों राजा शिवप्रसाद ‘सितारेहिंद’ और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के माध्यम से हिंदी-उर्दू के दिलचस्प रिश्ते को विश्लेषित किया है। लेकिन इस मसले को और भी बेहतरीन ढंग से समझने के लिए इसके पूर्ववृत्त को समझना आवश्यक है।

तकरीबन दो शताब्दियों से हिन्दुस्तान की आबोहवा में घुली हिन्दी-उर्दू की इस पूरी विरासत को एक मुहावरे के माध्यम से हम समझना चाहें तो कह सकते हैं कि, यह ‘साझी विरासत और साझी अदावत’ का मसला है।

सितारे हिन्द बनाम भारतेन्दु का पूर्ववृत्त

(प्राच्यवादी अध्ययन, भाषाई विवाद और संस्थागत वैधता का सन्दर्भ)

भारत पर अपनी हुकूमत को पुख्ता करने के सिलसिले में अंग्रेजों ने भारत की भाषाई संरचना का व्यापक अध्ययन किया। वसुधा डालमिया ने अपनी पुस्तक ‘हिन्दू परम्पराओं का राष्ट्रीयकरण’ (राजकमल प्रकाशन, 2016) के चौथे अध्याय ‘हिन्दुओं की राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी’ में विभिन्न सन्दर्भों के आधार पर यह रेखांकित किया है कि कैसे भारत में फोर्ट विलियम कालेज के माध्यम से भाषाई दो फाड़ हुआ। इसके पहले तक की भाषाई स्थिति पर वसुधा जी यूल और बर्नेल के हवाले से टिप्पणी करती हैं, ‘जब अठारहवीं शताब्दी के आखिर में अंग्रेजों ने बंगाल, बिहार और बाद में पश्चिमोत्तर प्रांत के नाम से जाने गए इलाकों के प्रशासन की बागडोर अपने हाथों में ली तो उन्हें वहाँ कुछ इसी तरह के हालात मिले। हिन्दवी न तो खालिस हिन्दुओं की भाषा थी और न ही नागरी में लिखी जाती थी; न ही वह ज्यादा शहराती उर्दू के बरक्स खालिस तौर पर ग्रामीण समाज तक सीमित थी। कस्बों

में मुसलमानों का ज्यादा बड़ा प्रतिशत था जिसके चलते दिल्ली व लखनऊ में उर्दू के दरबारी प्रयोक्ताओं और बाद में औपनिवेशिक अधिकारियों द्वारा इसके प्रयोग से इस सामान्य निष्कर्ष को लगातार बल मिला कि भद्रभाषा मुसलमानों की गैर-विभेदीकृत हिन्दी या हिन्दुस्तानी से ही हुआ था जिसको उसके नाना संस्करणों में लगभग उपमहाद्वीप में समझा जाता था प्रारम्भिक यूरोपीय प्रेक्षक व सैलानी 'इन्दोस्तान' 'यामूस' के नाम से दर्ज कर चुके थे।¹² फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना और हिंदी-उर्दू के रिश्ते को समझने के लिहाज से युवा शोधार्थी गणपत तेली का 'समकालीन भारतीय साहित्य' में 'औपनिवेशिक सत्ता की भाषा नीति और हिंदी-उर्दू विवाद' शीर्षक शोधपत्र महत्वपूर्ण है। दोनों भाषाओं के बीच की खाई को संस्थागत वैधता दिलाने और बढ़ाने की प्रक्रिया पर गणपत का मत है, हिन्दी और उर्दू विवाद को पैदा करने में अंग्रेजी उपनिवेशवाद की केवल यह भूमिका नहीं है कि उस समय राष्ट्र या राष्ट्र-राज्य के विचार यहाँ आए और इस आधार पर यहाँ हिन्दू-मुस्लिम दोनों समुदायों ने क्रमशः हिंदी और उर्दू खुद को राष्ट्र घोषित करने में सहारे के रूप में इस्तेमाल किया। यह तो एक प्रक्रिया में हुआ ही था, लेकिन उपनिवेशवादी ताकतों द्वारा संस्थागत रूप से हिंदी और उर्दू का विभाजन किया गया। आगे मैकडॉनल द्वारा यह भूमिका निभाए जाने से पहले गिलक्राइस्ट ने अपने अनुमानों और पूर्वाग्रहों के आधार पर फारसीनिष्ठ भाषा की जगह संस्कृत के शब्दों से युक्त हिंदी को मान्यता दी और उधर फारसीनिष्ठ शब्दों से युक्त फारसी लिपि में उर्दू को बनाया। यह पहली बार था कि हिंदी और उर्दू को इस तरह अलग-अलग भाषाओं की तरह संस्थागत वैधता प्राप्त हुई।¹³ यह एक ऐसा विभाजन था जिसने भारत की भाषा नीति को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। भाषा नीति, गौरक्षा और धार्मिक प्रतीकों के राजनैतिक उपयोग की जो बिसातें बिछाई गईं उसने दो तरह की राष्ट्रीयताओं को जन्म दिया। यह सही है कि औपनिवेशिक शासन व्यवस्था ने सुगम शासन संचालन के लिए जिन विभिन्न पक्षों, जैसे- पाठ्यक्रम, सर्वेक्षण, गजट, जनगणना पर काम किया उनका सर्वाधिक दुखद पक्ष यह था कि उनसे परस्पर विरोधी समुदाय निर्माण को बल मिला। आशा सारंगी ने प्राच्यवादी अध्ययन संबंधी इस मुद्दे पर उल्लेखनीय शोध किया है, उनके अनुसार भाषाई पहचान की राजनीति और सांस्कृतिक-राजनीतिक समुदाय के रूप में समुदाय निर्माण इन सर्वे और गणनात्मक कार्यों से बहुत प्रभावित हुई थीं। हिंदी और उर्दू अब केवल दो अलग भाषाई शैलियाँ न रह कर हिन्दुओं और मुसलमानों की अलग पहचान वाली सामाजिक समुदाय बन चुकी थीं।¹⁴ अँग्रेजों ने भाषा संबंधी मुद्दे पर अपनी समझ का जब संस्थानीकरण शुरू किया तब फोर्ट विलियम कालेज की भाषा नीति निर्णायक मोड़ साबित हुई।

अँग्रेजों ने पुरानी संयुक्त भाषा हिंदी/हिंदवी को दो अलग-अलग भाषाओं आधुनिक हिंदी और आधुनिक उर्दू की सांस्थानिक स्वीकृति दी। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि इस विभाजन के जिम्मेदार अँग्रेज नहीं थे, पर सांस्थानिक स्वीकृति उन्होंने जरूर की। इस भाषा नीति और 1800 में गठित फोर्ट विलियम कालेज की नीति पर विचार करते हुए अमृत राय ने लिखा है, इन भाषाओं को बाँटने वाली ताकतें एक सदी से काम कर रही थीं, जब 1800 ई. में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई थी। इसलिए यह सही नहीं लगता कि अँग्रेजों ने पुरानी संयुक्त हिंदी / हिन्दवी को दो अलग-अलग भाषाओं आधुनिक हिंदी और आधुनिक उर्दू में बाँट दिया। हालाँकि, उनकी भूमिका थी, उन्होंने पहले से ही अस्तित्वमान इस विभाजन को देश में अपनी साम्राज्यवादी सत्ता के प्रबन्धन के लिए इस्तेमाल किया। उन्होंने मुसलमानों को हिन्दुओं के खिलाफ खड़ा करने की अपनी नीति के अनुरूप एक भाषा के खिलाफ दूसरी भाषा को खड़ा कर दिया और भाषा सुधार आन्दोलन की शृंखलाबद्ध प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप समय के साथ दोनों भाषाएँ मुस्लिम और हिन्दू खेमे में ध्रुवीकृत हो गयीं, जिसने उर्दू को साफतौर पर एक मुस्लिम पहचान दी।¹⁵ इसके बाद का समय कई दृष्टियों से उल्लेखनीय बना।

1832 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने अदालतों की स्थापना की, तब पहले से प्रचलित भाषा फारसी को अदालतों के कामकाज के लिए चुना। अँग्रेजों की इस नीति का विरोध होने लगा। बाद में इस विवाद ने हिंदी-उर्दू विवाद का रुख अख्तियार कर लिया। अँग्रेजों में भी इस मुद्दे पर दो गुट बन गए। हिंदी समर्थक ग्राउस साहब और उर्दू समर्थक बीम्स साहब के बीच के वाद-विवाद का अंदाजा, 1865 से 1868 के बीच रॉयल एशियाटिक सोसायटी

जनरल' में प्रकाशित लेखों से लगाया जा सकता है। असगर वजाहत का मानना है, 'इन दोनों ने लिपि और भाषा के प्रश्न को हिन्दू और मुस्लिम पुनरुत्थानवाद से जोड़कर देखा और उसे साम्प्रदायिक रंग दिया।'⁶ धीरे-धीरे यह खाई बढ़ती गयी। राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद और उनके शिष्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बीच का विवाद इसी वृहत्तर असहमति का हिस्सा है। आलोचक वीर भारत तलवार ने विस्तारपूर्वक इस मुद्दे पर विचार किया है, जिसपर अलग से नजर डालने की जरूरत है। फिलहाल इस सन्दर्भ का नोटिस लिया जाना आवश्यक है कि भाषाई विवाद में जब वर्ष 1900 आया, तब उसने आने वाले भारत विभाजन की नियति मुकर्रर कर दी। आलोक राय ने का कहना एकदम सटीक है कि मैकडॉनल ने आधुनिक हिंदी के उद्भव और आधुनिक भारत के इतिहास में भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखने वाला दूरगामी कदम उठाया। 18 अप्रैल 1900 को मैकडॉनल ने वह दूरगामी आदेश दिया जिसके तहत प्रान्त की अदालतों में नागरी के इस्तेमाल की अनुमति दे दी, लेकिन यह सिर्फ नागरी का एकाधिकार नहीं था, यह कील का वह भ्रामक नुकीला सिरा था, जिसके चुभाने का अंतिम परिणाम भारत विभाजन हुआ।⁷ कहना न होगा भाषाई विवाद के जिस प्रसंग को हिन्दू-मुस्लिम अस्मिता से संबद्ध किया गया उस राजनीति का यह पटाक्षेप भारतीय उपमहाद्वीप को लहलुहान कर गया।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद बनाम भारतेन्दु हरिश्चंद्र : भाषाई अस्मिता निर्माण की दिशाएँ

प्रो. वीर भारत तलवार ने 'रस्साकशी' में हिंदी मन के निर्माण में इन दोनों शख्सियतों की मौजूदगी का अत्यंत प्रभावी आकलन किया है। आज की हिंदी के निर्माण में जिन प्रमुख शैलियों (यानी एक वह जो आम बोलचाल की भाषा के करीब है, जिसमें जनपदीय भाषाओं, संस्कृत, अरबी-फारसी आदि के अनेक प्रचलित शब्द मिल जाते हैं और दूसरी वह जिस पर संस्कृत का आधिपत्य है) की मौजूदगी है, उनके निर्माण के लिहाज से नवजागरण कालीन इन दो चिंतकों की केन्द्रीय भूमिका रही। तलवार जी ने रस्साकशी के दूसरे अध्याय 'इतिहास का खलनायक और हिंदी की नयी चाल' शीर्षक अध्याय में विस्तार और गहराई से विचार किया है। लेख के इस दूसरे खंड में तलवार जी की मान्यताओं और विश्लेषण को परखने का प्रयास किया जाएगा।

रस्साकशी के दूसरे अध्याय की शुरुआत में तलवार जी ने दो उद्धरणों से अपनी बात की शुरुआत की है। पहला उद्धरण भारतेन्दु का है, जिसमें वे कहते हैं, 'हिंदी नए चाल में ढली, 1873'। इसके तुरंत बाद तलवार जी राजा शिवप्रसाद की 1863-1864 की मशहूर इतिहास पुस्तक 'इतिहास तिमिरनाशक' के उस हिस्से को उद्धृत करते हैं, जिससे लेखक की भाषा की रंगत का अंदाजा मिलता है। यदि इन दोनों उद्धरणों को ध्यानपूर्वक देखें तो आलोचक की मान्यता से हम एक हद तक सहमत हो जाते हैं कि भारतेन्दु की मान्यता पर पुनर्विचार की जरूरत है। भारतेन्दु के पहले उनके अग्रज और गुरु राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद की जबान भारत की उस भाषिक परम्परा की सटीक अभिव्यक्ति लगती है जो भारत में खासो आम तक विस्तृत थी। तलवार जी द्वारा उद्धृत सितारे हिंद की भाषा का नमूना देखिए-

“तमाशा यह कि लिखना-पढ़ना वह कुछ नहीं जानता था। केवल नाम-भर लिख सकता था और आँख भी एक ही रखता था। एक सीतला में जाती रही। लेकिन आदमी की पहचान भगवान ने इसे ऐसी दी थी कि विक्रम भोज और अकबर के बाद शायद इसी के दरबार में नवरत्न गिने जा सकते थे। एक टुकड़ा बादल का नमूदार हुआ और कुछ बूंदे पानी की बरसा गया, मानो खुद आसमान महाराज के मरने से रोया।”

अनेक तथ्यों, विश्लेषणों और सन्दर्भों के आधार पर तलवार जी हिंदी की प्रचलित अवधारणा पर पुनर्विचार की वकालत करते हैं और सितारेहिंद को खलनायक बनाने के कॉमन सेन्स को खारिज करते हैं। बकौल तलवार जी, '19वीं सदी के दौरान हिंदी-उर्दू प्रदेश में कई मिथक बने जो 20वीं सदी में भी जारी रहे और लोगों के सामान्य बोध का अंग बन गए। इन्हीं मिथकों में एक मिथक राजा शिवप्रसाद का खलनायकत्व है, जिसे हिंदी साहित्य का विद्यार्थी स्वयंसिद्ध तथ्य मानकर चलता है।'⁸ अपने विश्लेषण की तार्किकता का पटाक्षेप करते हुए वे डॉ. बच्चन सिंह को उद्धृत करते हैं, 'आज पुनर्विचार करने पर राजा साहब की नीति ही साधु और विवेकपूर्ण

प्रतीत होती है।' कहना न होगा सितारे हिंद की भाषा शैली के प्रति तलवार जी का उत्कट विश्वास है, जिसे वे हिंदी की स्वाभाविक शैली मानते हैं। तलवार जी अपनी स्थापना के पक्ष में जिन विचार सरणियों की प्रस्तावना करते हैं, उन पर विस्तृत नजर डालना मुनासिब होगा।

यह इतिहास की विडम्बना ही है कि जिस व्यक्ति ने युक्त प्रान्त में शिक्षा और अदालत की भाषाई दुनिया से फारसी लिपि को अपदस्थ कर देवनागरी लिपि को स्थापित करने में केन्द्रीय भूमिका निभाई उसे ही भारतेंदु हरिश्चन्द्र और उनके मंडल ने हिंदी विरोधी करार दिया - यह इतिहास का एक दुखद प्रसंग है, पर भविष्य के भाषाई संसार ने हिंदी के इन दोनों रूपों को अलग-अलग शैलियों के रूप में स्वीकार कर लिया।

लम्बे समय तक दिल्ली की हुकूमत अरबी-फारसी भाषी लोगों के हाथों में रहने के कारण शासन की लिपि और भाषा इससे संबद्ध हो गयी। ठीक वैसे ही जैसे अँग्रेजों के समय यह भाषा अँग्रेजी रही। भारतीय भाषाओं के लगातार सम्पर्क के कारण फारसी का एक नया रूप सामने आया, जिसे उर्दू कहा गया। आरम्भ में यह भाषा भारत की शास्त्रीय भाषाओं और जनपदीय भाषाओं से अपनेपन का रिश्ता बनाकर चली। बाद में यह फारसी की तरफ लगातार झुकती चली गई। ठीक वैसे ही जैसे खड़ी बोली (हिंदी) संस्कृत की ओर झुकती चली गई। एकदम शुरू में हिंदी-उर्दू का ऐसा तीक्ष्ण भेद नहीं था जैसा कालांतर में हुआ। यह अलग बात है कि भाषा के इस सामासिक रूप के समय भाषाओं के नामकरण का दौर नहीं आया था। प्रसंगवश हिंदी के सबसे बड़े रामभक्त कवि तुलसीदास को यह कहने में गुरेज नहीं था -

रघुवर तुमको मेरी लाज ।
सदा सदा मैं शरण तिहारी,
तुम हो गरीब निवाज

पतित उद्धारण विरद तिहारो,
शरवानन सुनी आवाज ।
हूँ तो पतित पुरातन कहिए,
पार उतारो जहाज

ठीक उसी तरह गजलों के इतिहास में अपनी जबान को हिंदी, हिन्दवी और रेख्ता कहने वालों का एक बड़ा संसार है। असल में अपने आरम्भिक दौर में भाषाओं का ऐसा तीक्ष्ण विभाजन नहीं था। इस विवाद के मूल में आर्थिक ध्रुवीकरण की अंतर्गता है। ध्रुवीकरण के इस इतिहास से ही हिंदी-उर्दू के विभाजन की त्रासदी का मंजर जुड़ता है। प्रो. तलवार ने आरम्भिक साझे भद्रवर्ग के दो फाड़ होने की दास्तान का प्रभावी विश्लेषण करते हुए बताया है कि कालांतर में जो लोग हिंदी-उर्दू की दूरी के हिमायती थे उनमें भी आरम्भ में साझे हित के कारण उर्दूपरस्तीका आलम था। फ्रांसिस रोबिनसन की किताब सेपरेटिज्म एमंग इन्डियन मुस्लिम' (विकास 1975) के हवाले से वे कहते हैं , 'इस भद्रवर्ग में सरकारी मुलाजिम और कचहरी से जुड़े शहरी मुसलमान और हिंदू, दोनों सामान रूप में शामिल थे। उनके वर्गहित एक थे। उनकी घरेलू संस्कृति अपने-अपने धर्म के मुताबिक थी पर सार्वजनिक जीवन में उनका सांस्कृतिक रूप एक जैसा था- उर्दू भाषा, मुस्लिम पहनावा , कभी-कभी मुस्लिम खान-पान भी , नाच-गान और शोरे-शायरी। (हिंदी आलोचक रामचन्द्र शुक्ल के पिता चन्द्रबली शुक्ल, जो क्वींस कॉलेज में पढ़े हुए थे और मिर्जापुर में सदर कानूनगो थे, इसी भद्रवर्ग के सदस्य थे।) हर शहर में उनकी साझी बौद्धिक संस्थाएँ थीं, जैसे- बनारस इंस्टीट्यूट, गाजीपुर इंस्टीट्यूट, बलिया इंस्टीट्यूट और अलीगढ़ साईंटिफिकल सोसायटी वगैरह। सर सैयद अहमद और राजा शिवप्रसाद, दोनों इसी उर्दू भाषी भद्रवर्ग के सदस्य थे।" कहना न होगा इस समय तक विरासत में साझी भागीदारी जारी थी और साझी अदावत की सुगबुगाहट के अँखुए फूटने शुरू हुए थे। सैयद ने जब अलीगढ़ में कॉलेज खोलने का निर्णय लिया तब अनेक हिंदू, जिनका रिश्ता इस एलीट तबके

से था, ने चंदा भी दिया। खुद शिवप्रसाद जी ने एक हजार रुपए दिए, इस शर्त पर कि उक्त संस्थान को अलीगढ़ की बजाए प्रयाग में खोला जाय।

1867-1868 वह उल्लेखनीय वर्ष है, जब शिवप्रसाद जी ने युक्तप्रान्त में फारसी लिपि की जगह नागरी लिपि का पक्ष लिया। मुस्लिम प्रभुत्व को यह पहली चुनौती थी। यह हिंदी संसार का विलुप्तप्राय सच है, जिसका उल्लेख करते हुए तलवार जी कहते हैं, 'इतिहास लेखन के बाद मुस्लिम प्रभुत्व के विरोध का सबसे मुख्य प्रतीक देवनागरी लिपि बनी। भारतेंदु मंडली, काशी नागरीप्रचारिणी सभा और हिंदी साहित्य सम्मेलन जैसी संस्थाओं ने नागरीलिपि के जिस आन्दोलन को आगे जारी रखा, उसके प्रवर्तक शिवप्रसाद ही थे; हालाँकि, इन लोगों और संस्थाओं ने शिवप्रसाद को इसका श्रेय कभी नहीं दिया।'¹⁰ सार्वजनिक शिक्षा में हिंदी और नागरी लिपि के लक्ष्य को हासिल करने के बाद शिवप्रसाद जी का ध्यान अदालतों की भाषा पर गया। इस लिहाज से उनके द्वारा युक्तप्रान्त की सरकार को भेजे गए मेमोरेण्डम : कोर्ट कैरेक्टर इन द अपर प्रोविंसेज ऑफ इंडिया' को हम सबसे उल्लेखनीय प्रसंग मान सकते हैं। पहली बार इसी मांगपत्र के द्वारा अदालतों की लिपि को, फारसी की जगह नागरी करने की मांग की गयी। यह ध्यान देने की बात है कि इस मेमोरेण्डम में लिपि बदले की बात तो की गयी, पर भाषा पर कोई सवाल नहीं उठाया गया। इतना ही नहीं, शिवप्रसाद जी ने यह स्पष्ट राय प्रकट की कि हिंदी और उर्दू में कोई फर्क नहीं है। वह भाषा जिसका सिरा आम आदमी की रोजमर्रा की जिन्दगी से जुड़ा है। वे भाषा के इसी स्वरूप के लिए देवनागरी लिपि की माँग कर रहे थे। तलवार जी की टिपण्णी गौरतलब है, मेमोरेण्डम में अदालती भाषा का सवाल नहीं उठाया गया, सिर्फ उसकी लिपि बदलने की माँग की गयी। शिवप्रसाद ने हाट-बाजार से लेकर घरों के जनाने तक में प्रचलित बोलचाल की मिली-जुली जुबाँ का जिक्र करते हुए दावा किया कि उसमें हिंदी और उर्दू का कोई फर्क नहीं है। इसी भाषा के लिए उन्होंने नागरीलिपिकी माँग उठायी। सरकारी नौकरी में रहते हुए शिव प्रसाद इस मेमोरेण्डम का सार्वजनिक प्रकाशन नहीं कर सकते थे। बावजूद इसके उन्होंने इसकी कई प्रतियाँ 'प्राइवेट सर्कुलेशन' के नाम पर छपवायी और पूरे प्रांत में बँटवाई।'¹¹ कुल मिलाकर वे एक ऐसी भाषा के समर्थक थे जिसमें किसी तरहकी कट्टरता का निषेध हो।

इस माँग की त्वरित प्रतिक्रिया यह हुई कि साझे उर्दू वर्ग की एकता में दरार पड़ी। अब साझा वर्ग दो भागों में विभक्त हो गया और हिन्दू तथा मुसलमान अपने-अपने धार्मिक आधारों पर गोलबंद होने लगे। मेमोरेण्डम में मुस्लिमपूर्व इतिहास और हिंदुत्व की जड़ों पर राय जाहिर की गयी। शिवप्रसाद जी के अनुसार भारत में मुसलमानों के पहले कैथी और हिंदी लिपि ही चलती थी। बाहर से आए मुगलों ने पहले से प्रचलित लिपि को न सीखकर फारसी लिपि का चलन किया। उन्होंने ब्रिटिश शासन पर आरोप लगाया कि उसने जनता पर फारसीनिष्ठ उर्दू और फारसी लिपि को थोपा। इतना कह कर वे थमे नहीं, उन्होंने यह भी कहा कि इससे जातीयता की भावना खत्म हुई। तलवार जी ने मेमोरेण्डम के उस हिस्से को इस तरह उद्धृत किया है, 'आजकल की फारसी में आधी अरबी मिली हुई है। सरकार की इस नीति को विवेकपूर्ण नहीं माना जा सकता जिसने हिंदुओं के बीच सामी तत्त्वों को खड़ा कर उन्हें अपनी आर्यभाषा से वंचित कर दिया है; न सिर्फ आर्यभाषा से बल्कि उन सभी चीजों से आर्य हैं, क्योंकि भाषा से ही विचारों का निर्माण होता है और विचारों से प्रथाओं तथा दूसरे तौर-तरीकों का। फारसी पढ़ने से लोग फारसीदाँ बनते हैं। इससे हमारे सभी विचार दूषित हो जाते हैं और हमारी जातीयता (नेशनलटी) की भावना खत्म हो जाती है।'¹² राजाशिवप्रसाद ने अंग्रेजी हुकूमत से आग्रह किया कि जैसे राजकाज की भाषा में बदलाव कर फारसी भाषा को हटा दिया गया उसी तरह अब उसकी लिपि को भी हटा दिया जाय। इसके पीछे वह आकांक्षा काम कर रही थी, जिसके द्वारा सरकारी नौकरियों में फारसी-उर्दूदाँ की जगह हिन्दू भद्र वर्ग की संख्या बढे और नए शक्ति संतुलन की तस्वीर उभर सके।

नागरी लिपि और हिंदी के संबंध को हिंदू जातीयता से सम्बद्ध करने का यह पहला प्रयास था। इसकी त्वरित प्रतिक्रिया यह हुई कि फारसी लिपि और उर्दू का संबंध सहज ही मुस्लिम जातीयता से जुड़ गया। इस घटना का प्रभाव यह भी हुआ कि हिंदी संसार के कॉमन सेन्स में एक ऐसी समझ का विकास हुआ जो सचेत रूप से स्वयं

को फारसी-उर्दू परंपरा से अलग कर अपने अस्तित्व के निर्माण में लग गया। भविष्य के उन सभी आन्दोलनों का रिश्ता इस मेमोरेण्डम से जुड़ा जो नागरी लिपि और हिंदी के पक्ष में गोलबंद हुआ। तलवार जी ने सटीक टिप्पणी की है, 'नागरी लिपि और हिंदी भाषा को लेकर जितने भी आन्दोलन हुए - चाहे वह 1873 में भारतेंदु और दूसरे लोगों द्वारा छोटे लाट को दिया गया मेमोरियल हो या 1882 में हंटर कमीशन को भेजे गए दर्जनों मेमोरियल हो अथवा 1897 में मैडम मोहन मालवीय के नेतृत्व में काशी नागरी प्रचारिणी सभा का लेफ्टीनेंट गवर्नर मैकडॉनाल्ड को दिया गया आखिरी और निर्णायक मेमोरियल हो - इन सबमें बार - बार उन्हीं बुनियादी तर्कों को दोहराया गया या उन्हें और विस्तार दिया गया, जिन्हें सबसे पहले राजा शिवप्रसाद ने अपने मेमोरेण्डम में दिया था।'¹³ पर यह बात याद रखनी चाहिए कि बाद के आन्दोलन और राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद की भाषानीति में बहुत अंतर है। दरअसल शिवप्रसाद जी जनता की भाषा के पक्षधर थे, न कि फारसी की जगह संस्कृत के हिमायती। (प्रसंगवश वह भाषा जिसे प्रेमचन्द ने अपनायी थी।) आलोचक वीर भारत तलवार ने सही टिप्पणी की है, 'उन्होंने लिपि के आन्दोलन को प्रयासपूर्वक भाषा के आन्दोलन से अलग किया। शुद्ध हिंदी समर्थकों पर शिवप्रसाद जी के मेमोरेण्डम के उस हिस्से को तलवार जी ने 'रस्साकशी' में उद्धृत किया है -

"भाषा लोगों के फैसले से तय नहीं होती। वह स्वाभाविक, प्राकृतिक रूप से तय होती है जिसे कुछ परिस्थितियों में सुधारा और निखारा जा सकता है। लेकिन भाषा का रूप तय करना सरकार का काम नहीं। सरकार को उसे उसी रूप में लेना होगा जिस रूप में वह समाज में मौजूद है। लोगों को उसी जुबान में लिखने देना चाहिए जिसे वे अपनी बोलचाल की जुबान में समझते हैं। पांडित्य को अलग रखना चाहिए। आसान, मुहावरेदार, निखरी हुई और प्रवाहपूर्ण हिन्दुस्तानी (हिन्दुस्तान सूबे की जबान) को बढ़ावा देना चाहिए।"¹⁴

आगे चलकर बत्तीस साल बाद 1900 में युक्त प्रांत की राजभाषा के रूप में नागरी को मंजूरी दे दी गयी। यह एक ऐसा पड़ाव था जिसने हिन्दू और मुसलमान दोनों में सांस्कृतिक श्रेष्ठता की होड़ मचा दी।

शिक्षायी हिंदी का स्वरूप और शिवप्रसाद सितारेहिंद

शिक्षायी हिंदी का स्वरूप कैसा हो, यह एक गम्भीर सवाल है जो किसी-न-किसी रूप में अब भी जारी है। नागारिलिपि के लिए संघर्ष और फारसी लिपि तथा फारसी से आक्रान्त उर्दू भाषा से असहमति के बावजूद शिवप्रसाद जी एक ऐसी भाषा के हिमायती थे जो साझी संस्कृतियों से बनी थी। इतिहास तिमिरनाशक, भूगोल हस्तामलक, साहित्य की पाठ्यपुस्तक गुटका आदि किताबें उनकी भाषानीति का आईना हैं, जिनसे भाषा के प्रति उनका दृष्टिकोण जाहिर होता है। भारतेंदु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट समेत अनेक परवर्ती शोधार्थियों ने सितारे हिंद की भाषा को फारसीपरस्त और उर्दूनिष्ठ करार दिया। यह कितना सही है, इसे दो आधारों पर समझा जा सकता है - एक स्वयं शिव प्रसाद जी की भाषा के रास्ते तथा दूसरे उनके द्वारा सम्पादित हिंदी पाठ्यपुस्तक की भाषा नीति के माध्यम से। तलवार जी ने उनकी भाषा के कुछ अंशों को उद्धृत किया है, उनमें से बानगी के रूप में एक उद्धरण -

"हैदरअली से अँगरेजों का जो सुलहनामा हुआ था, उसमें शर्त थी कि बचाव के लिए दोनों एक-दूसरे की मदद करेंगे। लेकिन जब मरहटों ने हैदरअली पर चढ़ाव किया तो अँगरेजों ने उसे कुछ भी मदद न दी। इस बात की उसके जी में बड़ी लाग थी। वह सन 1870 में एक लाख फौज लेकर चढ़ आया और अंगरेजी अमलदारी में हर तरफ लूट मचा दी।"¹⁵ कहना न होगा इस हिंदी की रवानगी, मुहावरेदानी और कहन शैली तीनों (पहले भाग का प्रकाशन 1864) लाजवाब है और भविष्य की हिंदी के लिए एक मजबूत आधार।"

उसी तरह शिवप्रसाद जी ने जो 1860 में जिस हिंदी पाठ्यपुस्तक 'गुटका' का सम्पादन किया, उसमें हिंदी की विभिन्न शैलियों को बराबर महत्व दिया, लल्लूलाल, और राजा लक्ष्मण सिंह की संस्कृतनिष्ठ भाषा से असहमत होते हुए भी उन्हें शामिल किया। अपने सम्पादकीय में उन्होंने बागोबहार के लेखक मीर अम्मन और प्रेमसागर के लल्लूलाल दोनों की भाषा को बनावटी और प्रदर्शनधर्मी माना।

संस्कृतनिष्ठ हिंदी के पक्षधर वर्ग ने राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद, अयोध्याप्रसाद खत्री और प्रेमचन्द तीनों का विरोध किया। हिंदी की अंतरवर्ती धारा को हिन्दू मनीषा से नाभिनालबद्ध करने वाली समझ ने इन तीनों का जब सामना किया तो उनकी असहज स्थितियाँ सहज ही प्रकट हो गयीं। प्रो. तलवार का विश्लेषण है, 'हिंदी के तीन प्रभावशाली और लोकप्रिय गद्यलेखक राजा शिवप्रसाद देवकीनंदन खत्री और प्रेमचन्द एक ही भाषा परम्परा में हुए। जैसे प्रेमचन्द की तारीफ रामचन्द्र शुक्ल मुश्किल से कर पाते थे, उसी तरह देवकीनंदन खत्री भी लोकप्रियता के बावजूद हिंदी आन्दोलनकारियों को अपनी भाषानीति के कारण पसंद नहीं आए। बिहार के अयोध्याप्रसाद खत्री ने ब्रजभाषा के बजाय खड़ीबोली उर्दू को खड़ीबोली हिंदी के ज्यादा करीब बतलाते हुए उर्दू मिश्रित आसान हिंदी में कविता लिखने की माँग की तो भारतेंदु समर्थकों ने उनका विरोध किया और मजाक उड़ाया।'¹⁶ विडम्बना देखिए कि जिस हिंदी की वकालत भारतेंदु और उनके समर्थक कर रहे थे, उनकी रचनाओं से ज्यादा खत्री जी की चन्द्रकांता पढ़ी जा रही थी। अपनी असहमति के बावजूद शुक्ल जी ने अपने इतिहास में दर्ज किया कि चन्द्रकान्ता और चन्द्रकान्ता सन्तति पढ़ने के लिए अनेक उर्दूवाँ लोगों ने हिंदी सीखी।

और अंत में

तलवार जी ने विस्तारपूर्वक उन कारणों की तहकीकात की है और अनेक प्रमाण दिए हैं कि कैसे शिवप्रसाद सितारे हिंद और भारतेंदु हरिश्चन्द्र के बीच दूरी बढ़ती गयी। पर एक सवाल वे भी अनुत्तरित छोड़ देते हैं कि आखिर क्यों अपने अंतिम दौर की किताबों, जैसे- 'सिक्खों का उदय और अस्त' की भाषा उस उर्दू के करीब पहुँच गयी जो हिंदी से बहुत दूर थी। हालाँकि, तलवार जी यह नोट करते हैं कि शिवप्रसाद जी की नब्बे प्रतिशत रचनाओं की भाषा वह बोलचाल की भाषा है जो खड़ी बोली उर्दू और खड़ी बोली हिंदी दोनों के बीच की खाई को पाटती है।

अब जब भाषाओं के बीच जंग में वह तलखी नहीं रही जो उस दौर में थी। आज दोनों ही शैलियाँ हिंदी में प्रचलित हैं। किसे सही कहें और किसे गलत अब यह दौर नहीं रहा। भारत के संविधान ने आठवीं अनुसूची में शामिल हिंदी का कोई रूप निर्धारित नहीं किया है, जबकि राजभाषा हिंदी की चर्चा धारा 343 से धारा 351 के बीच है। यानी राजभाषा के रूप को निर्धारित किया गया है और आठवीं अनुसूची में शामिल हिंदी के किसी रूप को निर्धारित न कर इस बात की जनतांत्रिक आजादी दी गयी है कि हिंदी के विविध रूप और उसकी विविध शैलियाँ सभी बराबर सम्मान की हकदार हैं। अब यदि कोई सिरफिरा विचार शुद्धतावाद के आग्रह से इस कदर लबरेज हो जाए कि हिंदी के वर्तमान और भविष्य को केवल संस्कृत से सम्बद्ध करने की हिमायत करे तो यह स्वयं हिंदी के संसार की चौहद्दी को कम करना होगा। और ठीक यही बात उन अतिवादियों पर भी लागू होती है जो हिंदी की उस शैली से असहमत हैं जिनमें संस्कृत और जनपदीय भाषाओं से गहरे राग का भाव सक्रिय है।

संदर्भ :

1. 24 July 2017, Bhardvaj Ashutosh, Urdu words off school text Indian Express.
2. 155:2016, डालमिया वसुधा, हिन्दू परम्पराओं का राष्ट्रीयकरण, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
3. 136,137:2015, तेली गणपत, जुलाई-अगस्त, समकालीन भारतीय साहित्य, साहित्य अकादेमी, दिल्ली।
4. 222,223:2009, Saranagi Asha, Enumeration and the Linguistic Identity Formation in Colonial North India, Studies in History, <http://sih.sagepub.com/content>
5. 285:1984, Ray Amrit, A House Divided: The Origin and Development of Hindi/Hindavi, Oxford University Press.
6. 69:2008, वजाहत असगर, हिंदी उर्दू की पड़ताल, नया पथ, अप्रैल-जून।
7. 17:2001, Ray Alok, Hindi Nationalism, Orient Longman, Hyderabad.
8. 53:2006, तलवार वीरभारत, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, दिल्ली।
9. 55, 56:2006, तलवार वीरभारत, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, दिल्ली।

10. 57-58:2006, तलवार वीरभारत, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, दिल्ली।
11. 62:2006, तलवार वीरभारत, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, दिल्ली।
12. 63:2006, तलवार वीरभारत, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, दिल्ली।
13. 64-65:2006, तलवार वीरभारत, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, दिल्ली।
14. 67-65:2006, तलवार वीरभारत, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, दिल्ली।
15. 69:2006, तलवार वीरभारत, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, दिल्ली।
16. 70:2006, तलवार वीरभारत, रस्साकशी, सारांश प्रकाशन, दिल्ली।



किशन : 'जिशनको फलक ने लूट कर वीशन कर दिया...'

किसान की कहानी के मायने : 'प्रेमाश्रम' और वीर भारत तलवार के संदर्भ में

■ अनिरुद्ध कुमार

सतारा (महाराष्ट्र) से मंदसौर (मध्यप्रदेश) तक फैले किसान आंदोलन की कहानी एक सदी पूर्व अवध में हुए किसान आंदोलन की यादें ताजा करने वाली हैं। यह आजादी, विकास, लोकतंत्र आदि के मायने तलाशने की आवश्यकता की निरंतरता का भी संकेतक है। हिंदी आलोचना का वर्तमान दौर वर्ग के बनिस्पत जाति और लिंग की बुनियाद पर कायम विमर्शों का है। मजदूर और किसान की कहानी कहीं पीछे छूट चली है। बावजूद इसके कि शहरी श्रमिकों के श्रम का मूल्य और किसानों की जमीन हड़पने की गति बहुत तेज हो गई है और उतना ही मुश्किल हो गया है किसानों का जीवन-संघर्ष। यद्यपि किसानों के भूमिहीन होने की वर्तमान प्रक्रिया औपनिवेशिक दौर की बेदखली नहीं है जो साम्राज्यवादी-सामंती शक्तियों द्वारा नग्न शोषण के रूप में चलाई जाती थी। वर्तमान प्रक्रिया के पीछे मजदूरों को काम देने वाले, किसानों का माल खरीदने वाले और उन्हें किसानों का सामान और जीवन की सुविधाएँ उपलब्ध कराने वाले तंत्र हैं। इनका समर्थन और संरक्षण भारत की संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक सरकार कर रही है जिसके चुनाव का अवसर अधिकतम पाँच साल बाद किसानों को पुनः-पुनः प्राप्त होता रहता है। यह जटिल सामाजिक संरचना किसानों के लिए फाँस बन गई है। यह अकारण नहीं है कि किसानों की आत्महत्याओं की संख्या शेष सभी पेशेवरों से बहुत अधिक है। भारतीय किसानों की आत्महत्या के परिमाण, प्रवृत्ति और स्वरूप पर किए गए एक अध्ययन "फारमर्स सुसाइड इन इंडिया : मैग्नीट्यूड्स, ट्रेंड्स, एंड स्पेशल पैटर्न्स" बताती है कि आधिकारिक आँकड़ों के अनुसार 1997 से 2006 तक करीब सोलह हजार किसानों ने हर साल आत्महत्या की।¹ खुले बाजार की स्पर्धा, जलवायु की प्रतिकूलता, बाजार की मुनाफाखोरी का अर्थशास्त्र आदि उपज को लागत की भरपाई करने में भी असमर्थ बनाकर किसानों को क्रमशः बैंकों या ग्रामीण महाजनों के कर्ज में डुबोते गए। उनके खेत और घर कुर्क होने की नौबत आ गई। परिवार को दो जून का भोजन दे सकने के लिए बच्चे स्कूल के बजाय कुछ कमाने की कोशिश में जा लगे। ऐसे में रोजी जुटाने में असमर्थ किसानों ने कभी कर्ज की जिल्लत से मरकर राहत पाने के लिए तो कभी मुआवजे के जरिए परिवार की विपत्ति दूर करने के लिए आत्महत्या का मार्ग अपना लिया। बीते डेढ़ दशक में डेढ़ लाख से भी अधिक आत्महत्या करने वाले किसानों के परिप्रेक्ष्य में पढ़ा गया प्रेमचंद साहित्य का निष्कर्ष किसानों के प्रतिपक्ष के रूप में साम्राज्यवादी सत्ता और उसकी जमींदारी-महाजनी व्यवस्था की पहचान करने से आगे जाकर समकालीन संदर्भों में नए सिरे से पढ़े जाने की मांग करता है। ऐसा अध्ययन निश्चित रूप से भूमि अधिग्रहण, न्यूनतम समर्थन मूल्य, कृषि नीति जैसे सरकारी प्रयासों की सार्थकता समझने में सहायक होगा।

हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना में भी हिंदी किसान साहित्य की गंभीर आलोचना का प्रायः अभाव रहा है। इस अभाव की कुछ पूर्ति तो रामविलास शर्मा के लेखन में मिलती है किंतु वहाँ भी किसान आलोचना के केंद्रीय विषय नहीं बने हैं जैसा प्रेमचंद की कृतियों में बने हैं। प्रेमाश्रम (1922), गोदान (1936) तथा कुछ हद तक कर्मभूमि (1932), कायाकल्प (1926) आदि उपन्यासों में तथा 'राजहठ' (1912), 'बाँका जमींदार', 'पछतावा' (1914), 'घमंड का पुतला' (1916), 'बलिदान' (1918), 'सवा सेर गेहूँ' (1924), 'पूस की रात'

(1930) आदि कहानियाँ किसान केंद्रित हैं। किसानों से प्रेमचंद के सरोकार को तथा उसके युगीन संदर्भ को रेखांकित करने की गहरी अंतर्दृष्टि से युक्त आलोचना के अभाव की काफी हद तक पूर्ति करने का श्रेय वीर भारत तलवार की पुस्तक 'किसान, राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद 1918-22 : प्रेमाश्रम और अवध के किसान आंदोलन का विशेष अध्ययन' को जाता है। पीएच.डी. शोध-ग्रंथ के रूप में रची गई यह पुस्तक पहली बार वाणी प्रकाशन से 1990 ई. में प्रकाशित हुई। यह हिंदी आलोचना में रचना, रचनाकार और उसके युग के साथ संबंध को देखने की नई दृष्टि और तकनीक प्रदान करती है।

प्रेमाश्रम और किसान आंदोलन के संबंध को रेखांकित करते हुए तलवार जी रचना को उसके अपने दौर के यथार्थ के साथ भावी संभावनाओं से जोड़कर देखने का मार्ग दिखाते हैं। उन्होंने प्रेमाश्रम का महत्व बताते हुए लिखा कि “यह एक ही साथ वास्तविक चेतना और संभावित चेतना दोनों का उपन्यास था।”²

तलवार जी का आलोचनात्मक वैशिष्ट्य किसान जीवन को केंद्र में रखने और उससे संबंध के सहारे अन्य सामाजिक कारकों की स्थिति की पड़ताल करने के कारण भी है। प्रेमाश्रम के महत्व को रेखांकित करते हुए उन्होंने अपनी यह पद्धति स्पष्ट कर दी है- “1922 में प्रकाशित प्रेमाश्रम हिंदी में किसानों के सवाल पर लिखा गया पहला उपन्यास है। इसमें सामंती व्यवस्था के साथ किसानों के अंतर्विरोध को केंद्र में रखकर उसकी परिधि के अंतर्गत पड़ने वाले हर सामाजिक तबके का जमींदार, ताल्लुकेदार, उनके नौकर, पुलिस, सरकारी मुलाजिम, शहरी मध्यवर्ग और उनकी सामाजिक भूमिका का सजीव चित्रण किया गया है।”³ यह प्रेमाश्रम की ही नहीं तलवार जी की प्रेमाश्रम पर लिखी गई आलोचना की भी विशेषता है। औपनिवेशिक भारत में स्वयं किसान के बाद किसान जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला सामाजिक तबका जमींदारों का था। किसानों से संबंध के आधार पर तलवार जी ने जमींदारों के विभिन्न प्रकार चिह्नित किए हैं -

1. परंपरागत ढंग का जमींदार जो आसामियों से हाल पूछता है और हँसी खुशी बेगार करने को कहता है। जो मान-मर्यादा के पुराने सामंती मूल्यों का पालन करता हुआ औपनिवेशिक व्यवस्था में टूटता जाता है। जैसे- प्रभाशंकर।
2. नए ढंग का जमींदार जो क्रूरता और धन लिप्सा में अंग्रेजी राज के अनुकूल है। जैसे-ज्ञानशंकर।
3. स्त्री जमींदार जिसमें दया भाव है मगर आसामियों के हक की माँग के प्रति असहिष्णुता है। जैसे-गायत्री।
4. किसानों के हितैषी जमींदार जो टॉलस्टॉय के भू-स्वामित्व के यूटोपिया के अनुरूप जमींदारी छोड़कर जमीन आसामियों में बाँट देते हैं। जैसे- मायाशंकर।
5. ताल्लुकेदार- जो ज्ञानी हैं मगर शोषक और क्रूर भी। जैसे-राय कमलानंद।

किसानों के मित्र और शत्रु वर्ग तथा उसके विभिन्न रूपों की तलवार जी ने बारीकी से तलाश की है। जमींदार और सरकार की मशीनरी अनेक पुर्जों से चलती थी। ये सभी पुर्जे किसानों के जीवन को विकट बनाने में योगदान करते थे। तलवार जी के यहाँ सहजता से हमें इनकी सूची मिलती है-

- कारिंदा - जमींदार का अधिकारी जो सामंती दबदबा और अपना रौब जमाए रखने के लिए उन्हें पैरों तले कुचलकर रखते हैं जैसे गौस खाँ और फैजुल्लाह।
- चपरासी- कारिंदा का मातहत जो उसके कहने पर किसानों की मुश्कें बाँधते और घर जलाते हैं।
- तहसीलदार- जो किसानों को घरों से खींचकर उनसे जबर्दस्ती बेगार लेता है।
- सरकारी मुलाजिम- जो किसानों से मुफ्त में रसद लेना हक समझते हैं⁴

प्रेमाश्रम में किसानों से अधिक जमींदारों की कहानियाँ हैं। फिर उसे किसानों की कहानी कहने वाला उपन्यास मानना कहाँ तक ठीक है? तलवार जी ध्यान दिलाते हैं कि ये कहानियाँ किसानों के वर्ग शत्रु की पहचान कराने की दृष्टि से उपयोगी है। इसका महत्व इसलिए अधिक है, क्योंकि इसमें जमींदारी व्यवस्था और उसके किसानों के शोषण के स्थिर रूप को नहीं बल्कि समय के साथ बदलते स्वरूप को रेखांकित किया गया है। वे

लिखते हैं कि- “प्रेमाश्रम में जमींदार वर्ग के चित्रण में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रेमचंद ने इस वर्ग के गतिशील इतिहास को पकड़ा और उसके बदलते हुए चरित्र को दिखलाया। ...प्रेमाश्रम में प्रेमचंद दो तरह के जमींदारों को दिखलाते हैं। एक पुराने ढंग के जमींदार और दूसरा नए ढंग का जमींदार।”⁵ तलवार जी की आलोचनात्मक विशेषता सिद्धांत और तथ्य की सहजीविता की शैली में भी है। उन्होंने तथ्य रखकर सिद्धांत निकाले हैं या सिद्धांत देकर उदाहरणों से उसकी तथ्यात्मक पुष्टि की है। पुराना जमींदार प्रभाशंकर और नया जमींदार ज्ञानशंकर के व्यवहारगत अंतर को किसान मनोहर से उसके साक्षात्कार प्रसंग के द्वारा स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा कि- “किसानों के साथ पुराने जमींदार के संबंध थे तो शोषणपूर्ण ही लेकिन उसमें मनुष्यता की कुछ मिलावट भी थी। ...लेकिन नए ढंग के जमींदार ने उस बची-खुची मनुष्यता को भी खत्म कर दिया।”⁶ नए ढंग के जमींदार अंग्रेजी शिक्षित, अंग्रेजों से संबंध रखने वाले, कचहरी मुकदमा करने वाले थे। पुराने ढंग के जमींदार का एक ही व्यक्तित्व था। नए ढंग के जमींदार के दो व्यक्तित्व हैं, आसामियों से क्रूर और सभ्यता संस्कृति के उद्धारक। ये अपने पेशे से सामाजिक छवि को दूर रखते हैं। तलवारजी नए जमींदार के संबंध में लिखते हैं कि- “ये सामाजिक रुचियों वाले आधुनिक व्यक्तित्व के सामंत हैं जो अपने पेशे के तौर-तरीकों को अपनी सामाजिक छवि से अलग रखते हैं। ब्रिटिश राज में यही जमींदार और ताल्लुकदार चुनावों में जीतकर विधान सभाओं में आते थे और अपने देश और समाज का नेतृत्व करते थे।”⁷

जमींदारों का नया और पुराना वर्ग के रूप में वर्गीकरण तथा उसकी विशेषताओं को रेखांकित करना तलवार जी का मौलिक प्रयास है। इस तरह वे नए वर्ग के रूप में अत्यधिक नृशंस, क्रूर, अमानवीय जमींदारों को सामने लाते हैं। उन्हें प्रेमचंद इस वर्ग के यथार्थ को पहचानने और असलियत को उद्घाटित करने वाले रचनाकार लगते हैं। उन्होंने लिखा कि- “प्रेमचंद इस वर्ग को अच्छी तरह पहचानते थे। वे इस वर्ग के खोखलेपन, उसके जातीय नेतृत्व के मिथ्या दावे, उसके बौद्धिक दिवालियापन और उसकी भद्रता के पीछे छुपी क्रूरता और हिंसा को अच्छी तरह दिखलाते हैं।”⁸ नए जमींदारों का यह चरित्र प्रेमचंद की रचनाओं में अत्यंत प्रभावी रूप में चित्रित हुआ है। मगर वह कहानी का एक अंग है। तलवार जी आलोचना की रोशनी उस पर केंद्रित कर नए जमींदारों की क्रूरता और खोखलेपन को अधिक उजागर करते हैं। राय कमलानंद के चरित्र के दोगलेपन और निरर्थकता को दिखाते हुए तलवारजी लिखते हैं कि- “उसकी महत्वाकांक्षा है योग के बल पर सिद्धि प्राप्त करना ताकि उसके यौवन की शक्ति कभी खत्म न हो और वह जीवन भर आनंद प्राप्त करता रहे। हाँ, वह भू-स्वामी वर्ग, जिसे बेशुमार दौलत मिली हुई थी और जो उस दौलत के बल पर विद्या और कलाओं पर भी अपना अधिकार रखता था और समाज का नेता बना हुआ था, वह वर्ग ऐसी ही महत्वाकांक्षाओं पर अपना जीवन जीता था। इस पर भी वह अपने बड़प्पन से अभिभूत था। लेकिन उसका यह परम ज्ञान उसे छोड़कर और किसी के भी काम नहीं आता। वह अपनी जायदाद को ‘निरी दलाली’ कहता है, लेकिन उसी जायदाद के लिए किसानों को कतारों में खड़ा कर हंटर भी लगाता है। उसका ज्ञान एक मिथ्या दंभ की तरह उसके खोखलेपन के कवच का काम करता है। वह सब कुछ जानता है, लेकिन करता कुछ भी नहीं”⁹ तलवार जी ने जमींदारों की प्रतिष्ठा की कसौटी को चिह्नित कर उस पर सवाल खड़े किए हैं। वे लिखते हैं कि - “अभिजात वर्ग के पास मनुष्य के व्यक्तित्व और चरित्र को परखने की कसौटी क्या है? भिक्षुओं को द्वार से न लौटाना, सत्कार्यों में चंदे देना और साधुओं को भोजन कराना। इन सबके लिए रुपया कहाँ से आता है, यह उसकी दृष्टि में महत्वपूर्ण नहीं। किसानों का निर्दय शोषण और उत्पीड़न उसके चरित्र-मूल्यांकन में बाधक नहीं बनता, क्रूरता और बेरहमी उसकी धार्मिक छवि को कलंकित नहीं करती। व्यक्ति के चरित्र-मूल्यांकन की ऐसी ही उथली, एकांगी और स्वार्थपूर्ण कसौटी के आधार पर अभिजात वर्ग के सदस्य एक-दूसरे की दृष्टि में आदरणीय और श्रद्धेय बने रहते हैं और इसी तरह अपने वर्ग के सदस्यों की छवि को वे समाज में भी प्रतिष्ठित करते हैं।”¹⁰ कहना न होगा कि जमींदार वर्ग के उच्च सामाजिक स्तर का यह मूल्यांकन निम्न सामाजिक स्तर पर माने जाने वाले किसानों के समक्ष उन्हें तुच्छ ठहराता है। मगर विडंबना यह है कि सांस्कृतिक उच्चता बोध से ग्रस्त जमींदार मेहनतकश किसानों को ही नीच मानते हैं। तलवारजी ने इस

बिड़बना को रेखांकित करते हुए लिखा है कि- “किसान नीच होते हैं, उन्हें गालियाँ और लात-घूँसे खाकर ही काम करने की आदत होती है, वे मूर्ख और कृतघ्न होते हैं जो अपना उपकार भी नहीं समझते और वे इस लायक नहीं हैं कि उनके साथ संस्कृति और सभ्यता के नियमों के अनुसार बर्ताव किया जाए। जो जमींदार किसानों के वोट पर चुनकर काउंसिलों में जाते थे, जिन्हें ब्रिटिश शासन किसानों का, ‘स्वाभाविक नेता’ कहता था, उन जमींदारों की किसानों के प्रति धारणाएँ ऐसी ही थीं।”¹¹ वह जमींदार वर्ग किसान को नीच मानता था, जिनका जीवन और कार्य-संस्कृति स्वार्थपरता, हिंसा, षड्यंत्रों और यातनाओं से भरा था। वह जमींदार वर्ग जो अत्यंत कायर भी था। ज्ञानशंकर की साहसहीन क्रूरता पर टिप्पणी करते हुए तलवारजी ने लिखा कि- “महत्वाकांक्षी क्रूर, हिंसक और धूर्त ज्ञानशंकर इतना ही डरपोक और कायर भी था। ब्रिटिश राज के टुकड़ों पर पलने वाला और उसकी संगीनों के साए में सुरक्षित वह जमींदार वर्ग ऐसा ही था।”¹²

‘प्रेमाश्रम’ में जमींदार वर्ग का संघर्ष किसानों से है। बदलते समय के साथ जमींदार का ही नहीं किसान का चरित्र भी बदल रहा है। तलवार जी ने इस गतिशीलता को पकड़ने में सफलता पाई है। बहुआयामी परिवर्तनकारी शक्तियों के प्रभावों के बीच ‘प्रेमाश्रम’ के किसानों के बदलते स्वरूप को रेखांकित करते हुए उन्होंने लिखा कि- “इतिहास के प्रवाह में प्रेमचंद जैसे बदलते हुए सामंत वर्ग के चरित्र को दिखलाते हैं-वैसे ही समय की गति में बदलते हुए किसानों को चित्रित करते हैं। किसान, जिनकी चेतना पर परंपराओं का बोझ पड़ा हुआ है, और जिनमें साठ वर्षों की नई सामंती व्यवस्था के शोषण-उत्पीड़न की प्रतिक्रिया भी है, दूर देश में हुई मजदूर-किसानों की क्रांति का असर भी उन तक पहुँचता है और अपने देश में उठ रही नई गर्म हवाओं की आँच भी उन्हें तपाती है।”¹³

बाह्य और आंतरिक परिस्थितियाँ किसानों को विद्रोही बनाती हैं। तलवार जी ने इस प्रक्रिया को भी रेखांकित किया है और उसकी बाधाओं को भी। आम तौर पर किसान संघर्ष से दूर रहने की कोशिश करते हैं। इसके लिए वे मिथकों और शास्त्रों का सहारा लेते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति को तलवारजी ने दुखरन भगत और विलासी के तर्क के सहारे रेखांकित किया है- “दुखरन भगत ही नहीं, इतिहास भी इसका समर्थन करता है। रावण, जरासंध और जिरजोधन का सर्वनाश इसलिए हुआ कि उन्होंने सर्वशक्तिमान ईश्वर की सत्ता के खिलाफ खड़े होने का घमंड किया था। इससे निष्कर्ष निकलता है कि किसान अगर जमींदार की सत्ता के खिलाफ खुद को बड़ा समझने का घमंड करेगा तो उसका भी इसी तरह सर्वनाश होगा। किसान अपने छोटेपन को उचित ठहराने के लिए इस तरह इतिहास की व्याख्या से समर्थन जुटा लेता है।”¹⁴ जमींदार वर्ग इन धारणाओं से किसानों को मुक्त नहीं होने देता है। वह अपने दमन के द्वारा उनकी मुक्ति की आकांक्षा को कुचल देता है। तलवारजी लिखते हैं कि- “अपनी ही परिस्थितियों के दबाव से और अन्य तत्त्वों से चेतना प्राप्त कर जब किसान इस प्रतिष्ठित मूल्य का अतिक्रमण करता है तो अपनी ही परिस्थितियों के दबाव से और अन्य तत्त्वों से चेतना प्राप्त कर जब किसान इस प्रतिष्ठित मूल्य का अतिक्रमण करता है तो उसे शारीरिक और आर्थिक दंड मिलता है और इस तरह उस मूल्य को पुनः प्रतिष्ठित किया जाता है।”¹⁵ इसे प्रेमाश्रम के मनोहर के साथ ज्ञानशंकर द्वारा किए गए बर्ताव के उदाहरण से समझाते हुए तलवार लिखते हैं कि- “बेगार में घी देने से इनकार करने वाले मनोहर की जोत से जमींदार अपनी शिकमी जमीन वापस निकाल लेता है, उसका अपमान करता है और उसके लगान में इजाफे का हुक्म देता है। यह कठोर भौतिक सत्ता ही वह निर्णायक तत्त्व है जो किसान की चेतना में उसके छोटेपन को एक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करती है।”¹⁶ किसानों का न्यूनता बोध उनके व्यक्तित्व के विकास को भी रोकता है। तलवार जी लिखते हैं कि- “भौतिक आधार पर एक बार प्रतिष्ठित हो जाने के बाद फिर इसके समर्थन में विचारधारात्मक तत्त्व-ईश्वरीय विधान और इतिहास की व्याख्या-जुटा लिए जाते हैं। अपनी परिस्थितियों के सार-तत्त्व को अपनी चेतना में एक मूल्य की तरह सँजोये हुए किसान अपने छोटेपन के एहसास से दबे हुए कमजोर व्यक्तित्व को प्राप्त करते हैं और अपने सामाजिक व्यवहार में बेबसी और दीनता की जिंदगी गुजारते हैं।”¹⁷ ऐसे न्यूनता-बोध से मुक्त होकर ही किसान संघर्ष के लिए तैयार हो सकते हैं।

किसानों के संघर्ष से दूर रहने का आधार बताने के साथ ही तलवार जी उन आधारों को भी गिनाते हैं जिनके सहारे किसान न्यूनता-बोध से उबरकर विद्रोही बनने के लिए तैयार होता है। मनोहर ने बेबसी और दीनता की जिंदगी जीने से इनकार कर दिया था। उसकी स्वाभिमानी और संघर्षी चेतना का आधार बताते हुए तलवारजी ने लिखा कि- “वह दूसरे किसानों की तुलना में ज्यादा संवेदनशील हैं, सामंती प्रथाओं में निहित अन्याय के प्रति उसकी चेतना ज्यादा सजग है। यह उसकी संघर्षी चेतना का पहला आधार है।”¹⁸ अन्याय के प्रति सजगता आर्थिक कठिनाई की परिस्थिति में अन्याय को असहनीय बना देती है। ऐसे में सजग किसान चेतना विद्रोही हो जाती है। तलवारजी लिखते हैं कि- “बाजार-तंत्र के अधीन चीजों की बढ़ती कीमतों ने किसान के लिए अपनी पैदावार को बेगार में देना पहले से भी ज्यादा असहनीय बना दिया था। आर्थिक परिस्थितियों का यह दबाव उसे लुटेरी सामंती प्रथाओं के खुले विरोध में ला खड़ा करता है। उसकी संघर्षी चेतना का यह दूसरा आधार है।”¹⁹ जमींदार वर्ग की नई पीढ़ी के मनुष्यता खोकर नग्न शोषक रवैया अपनाने ने किसानों के विद्रोह के लिए आधार का काम किया। तलवारजी लिखते हैं कि- “अब किसान के साथ जमींदार का संबंध पिता और पुत्र जैसा नहीं था। ...जब जमींदारों ने किसानों के प्रति अपनी प्रथाएँ तोड़ दीं तो किसान उनके प्रति अपनी प्रथाएँ एकतरफा ढंग से क्यों निभाएँ? यह संभव नहीं था। किसानों की संघर्षी चेतना का यह तीसरा आधार था।”²⁰ संघर्ष करने के लिए किसान के पैरों के नीचे ठोस जमीन का होना जरूरी है। जमीन का मालिकाना हक अन्याय के प्रति विद्रोह के लिए ठोस आधार बन जाता है। तलवार जी लिखते हैं - “जमीन शिकमी हो तो जमींदार को अपनी जमीन वापस लेने का हक था। लेकिन वह किसान की मौरूसी जमीन नहीं ले सकता था, उस पर कानूनी कब्जा किसानों के वंश का था। भूमि के इस टुकड़े पर कानूनी कब्जा किसानों को वह भौतिक आधार प्रदान करता था जिसके बल पर वे जमींदार का प्रतिरोध करते थे। किसानों की प्रतिरोधी और संघर्षी चेतना का यह चौथा आधार था।”²¹ संघर्ष के लिए प्रस्तुत किसान अन्याय के विरुद्ध जारी अन्य संघर्षों से प्रेरणा और शक्ति पाता है। प्रेमाश्रमयुगीन भारतीय किसानों के लिए स्वाधीनता आंदोलन और महात्मा गाँधी तथा रूस के किसानों के आंदोलन प्रेरणा स्रोत का काम कर रहे थे। तलवारजी इस प्रेरणादायक आधार को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि- “उस जमाने में किसानों की संघर्षी चेतना का पाँचवाँ आधार राष्ट्रीय आंदोलन और गाँधी का नाम था।”²² राष्ट्रीय आंदोलन की ही तरह रूस की किसान क्रांति किसानों को संघर्ष के लिए प्रेरित करती है। तलवारजी लिखते हैं कि- “सामंती प्रथाओं के खिलाफ सिर उठा रहे किसानों की संघर्षशील चेतना का सातवाँ आधार रूस के मजदूर-किसानों की क्रांति थी।”²³ औद्योगीकरण ने शहरी मजदूर वर्ग को जन्म दिया था। उसकी स्थिति किसानों की तुलना में कुछ बेहतर लगती थी। किसानों छूटने पर मजदूरों का सहारा किसानों को विद्रोही होने के लिए ढाँढस देता था। तलवारजी लिखते हैं- “किसान का बेटा बलराज औद्योगीकरण को अपनी आत्मा के पतन का रास्ता नहीं, सामंती शोषण और उत्पीड़न से मुक्ति का रास्ता समझता है। शहर में मजदूरों का विकल्प उसे जमींदार की धौंस के खिलाफ लड़ने में सहारा देता है। वह इसे सामंती जुए के नीचे किसानों करने से ज्यादा बेहतर जीवन मानता है। यह एक नया मूल्य था जो औद्योगीकरण की नई परिस्थितियों के बीच उभरा था। किसानों की सामंत विरोधी संघर्षशील चेतना का यह छठवाँ आधार था।”²⁴

भारतीय ग्रामीण जीवन में किसानों का एकबारगी जाग उठना संभव नहीं है। यह निरंतर चलने वाली प्रक्रिया के तहत ही हो सकता है। तलवारजी ने आम किसानों के संघर्ष की तरफ क्रमशः उन्मुख होने की प्रक्रिया को विश्वसनीयता से रेखांकित किया है। उपन्यास के आरंभ में किसानों की दुर्दशा पर खुश होने वाला सुख्ख चौधरी उनका रक्षक बनकर सामने आता है। तलवारजी लिखते हैं कि- “तालाब पर किसानों का परंपरा से इस्तेमाल करने का हक था। गाँव में पीने के पानी का और कोई स्रोत न था। इस परंपरागत हक के लिए सुख्ख चौधरी जमींदार के आदमियों पर लाठी चलाने को तैयार होता है। वह जमींदार के खिलाफ अदालत में लड़ता है और जीत जाता है।”²⁵ जमींदार वर्ग से संघर्ष में किसान पराजित होते हैं। मगर इसका कारण उनमें साहस की कमी का होना न था। किसानों के पराजय के कारणों को रेखांकित करते हुए तलवार लिखते हैं कि - “मनोहर की पराजय का

कारण सामंती प्रथाओं और जुल्म के खिलाफ उसकी संघर्षशील भावनाएँ न थीं, पराजय का कारण किसान वर्ग का असंगठित होना था।”²⁶ यह एक वर्ग संघर्ष था जिसमें सामंतों ने मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों को अपने पक्ष में कर लिया था।

तलवार जी ने प्रेमाश्रम की आलोचना मार्क्सवादी पद्धति के अनुरूप की है। इसी कारण उन्होंने मानवीय स्वभाव को वर्ग चरित्र के रूप में रेखांकित कर उसके राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आधारों को चिह्नित किया है। इसीलिए उन्हें बदलती जमींदारी व्यवस्था और उसके किसानों के साथ पिता-पुत्र वाले पुराने संबंध की बदली हुई धारणा के सामाजिक, आर्थिक आधारों और उसके तत्कालीन शासन व्यवस्था से संबंध को चिह्नित करने में सफलता मिली है। “भूमि का मूल्य बढ़ गया था और बे-जमीन असामियों की कमी न थी। नया जमींदार इसी नए भौतिक आधार की सृष्टि था। यह नया भौतिक आधार ब्रिटिश राज की देन था।” इसी तरह जमींदार वर्ग की आभिजात्य संस्कृति और उनकी रुचियों का भी भौतिक आधार है। तलवारजी लिखते हैं कि- “किसानों की मुश्कें कसकर और उनके घर जलाकर उनसे वसूले रुपयों से गायत्री अपना नाम कमाती है, यश और कीर्ति हासिल करती है। समाज और धर्म की नेत्री बनती है। इस तरह प्रेमचंद उच्च वर्ग की उच्चता का भौतिक आधार दिखलाते हैं, उसके चरित्र की विडंबना और फरेब दिखलाते हैं।”²⁷ जमींदार वर्ग उच्चता बोध से ग्रस्त है तो किसानों में निम्नताबोध घर कर गया है। इस निम्नता-बोध का भी भौतिक आधार है। सुक़्खु चौधरी के कथन के जरिए इसे सामने रखते हुए तलवारजी लिखते हैं कि- “सुक़्खु महतो कहता है : ‘किसान जिस जमीन पर खेती करके अपने परिवार का गुजर-बसर करता है, वह जमीन जमींदार की है, किसान उस जमीन का मालिक नहीं है। अगर जमींदार उसे उस जमीन से निकाल दे तो वह उजड़ जाएगा, उसका परिवार भूखों मर जाएगा।’ किसान के छोटेपन का मूल आधार यही है। यह वास्तविक भौतिक परिस्थिति किसान की चेतना में एक मूल्य बनकर प्रतिष्ठित होती है। वह यों ही, अपने आप प्रतिष्ठित नहीं हो जाती। उसे प्रतिष्ठित करती है जमींदार की दमनकारी मशीनरी, उसके कारिंदे और चपरासी जो किसान की रोजमर्रा की जिंदगी में आते हैं और उसे जब भी जरूरत पड़ती है तो, यह याद दिलाते रहते हैं कि : ‘जब जमींदार की जमीन जोतते हो तो उसके हुकुम के बाहर नहीं जा सकते।’”²⁸

भौतिक कारक जमींदार और किसान की ही तरह मध्यवर्ग की रुचियों और क्रियाओं को भी निर्धारित करते हैं। मध्यवर्ग शासक वर्ग की विचारधारा से प्रभाव, सुविधाएँ, धन, सत्ता का भय आदि के कारण उच्च वर्ग के साथ जा मिलता है। सामंत और पूँजीपति मध्यवर्ग को सुविधाओं के प्रलोभनों में डालकर भी अपनी ओर कर लेते हैं तथा उनकी मदद से निम्न वर्ग के मुक्ति संघर्ष को समाप्त करने की चेष्टा करते हैं। तलवारजी दिखाते हैं कि ‘प्रेमाश्रम’ का ज्ञानशंकर किस तरह मध्यवर्ग के डॉक्टर और वकील को किसानों से विमुख कर अपनी ओर कर लेता है। उनकी सहायता से वह सरकारी मशीनरी का अपने हित में उपयोग कर किसान संघर्ष को मिटा देता है। तलवारजी लिखते हैं कि- “किसानों को उनके संघर्ष में पराजित करने के लिए वह न सिर्फ सामंती उत्पीड़न के हथियारों का इस्तेमाल करता है, बल्कि राज्य-मशीनरी के अंगों पर अपने प्रभाव और मेल-जोल का और बारीक तरीकों से रिश्वत और उपहारों से शहरी भद्र वर्ग को खरीद कर उनका भी इस्तेमाल करता है।”²⁹ मध्यवर्ग का यह चरित्र तत्कालीन भारतीय मध्यवर्ग के अनुरूप था। तलवारजी लिखते हैं कि- “ब्रिटिश भारत का वह शहरी मध्यवर्ग, जो गँवार किसानों को अपने मंच पर चढ़ने न देता था, जो किसानों की लड़ाई को भय की नजर से देखता था, जो जमींदारों को हर आंच से बचाते हुए साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन को सफल बना लेने का सपना देखता था, वह मध्यवर्ग ऐसा ही था जैसे इफान अली, प्रियनाथ और ईजाद हुसैन हैं।”³⁰ ऐसा मध्यवर्ग किसान संघर्ष के पतन में सहायक बनता है।

जमींदार से संघर्ष करने वाले किसान तबाह हो जाते हैं। किंतु ‘प्रेमाश्रम’ इससे आगे भी चलता है। वह जमींदार ज्ञानशंकर, उसकी पत्नी विद्या, गायत्री की आत्महत्या और कमलानंद के संन्यास से गुजरकर मायाशंकर द्वारा जमींदारी खत्म होने पर समाप्त होता है। ‘प्रेमाश्रम’ के अंत को रामविलास शर्मा ने युटोपिया माना है। तलवार जी इसका समर्थन करते हैं और इसे ‘प्रेमाश्रम’ की कलात्मकता में बाधक और उसके मूल्य को कम कर देने

वाला मानते हैं। वे लिखते हैं कि- “कला की दृष्टि से यह यूटोपिया उपन्यास की सबसे बड़ी कमजोरी है। प्रेमचंद की यथार्थवादी चित्रण-कला से इसका कोई मेल नहीं। इससे उपन्यास का असर बिखर जाता है और उसकी मार्मिकता कम हो जाती है।”³¹

तलवार जी की आलोचना संवादधर्मी है। उन्होंने अपने दौर की ‘प्रेमाश्रम’ संबंधी आलोचनाओं से संवाद कायम किया है। वे रामविलास शर्मा के निष्कर्षों से प्रायः सहमत और हंसराज रहबर, इंद्रनाथ मदान आदि के कई मतों से असहमति प्रकट करते हैं। वे सहमति और असहमति दोनों को विस्तार से स्थापित करते हैं। मसलन श्रद्धा को अपनी भावनाओं पर दृढ़ रहकर प्रेम के लिए अथक संघर्ष करने वाले चरित्र के रूप में चिह्नित करते हुए वे लिखते हैं कि- “इंद्रनाथ मदान जैसे आलोचक, जो उसे सिर्फ एक रूढ़िवादी चरित्र कहकर किनारे कर देते हैं, यह जानते ही नहीं कि चरित्र किसे कहते हैं।”³² तलवारजी ने इस पुस्तक में अपने दौर के हिंदी आलोचकों से ही नहीं पूर्व की पत्र-पत्रिकाओं में निहित टिप्पणियों, विश्लेषणों आदि के जरिए ‘प्रेमाश्रम’ के दौर के लोगों से भी संवाद कायम करने की कोशिश की है। यह संवाद-धर्मिता ‘प्रेमाश्रम’ संबंधी आलोचना को बेहतर लक्ष्य की ओर अग्रसर करने में सफल रही है।

मार्क्सवादी विचारधारा के साथ ही दलित, स्त्री एवं आदिवासी संबंधी विमर्शों ने भी तलवार की आलोचनात्मक दृष्टि के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। ‘प्रेमाश्रम’ में औरतों पर विचार करने की भूमिका बनाते हुए उन्होंने स्वयं ही लिखा है कि- “आज नारीवाद ने उसकी स्वायत्तता के सवाल को उठाया है तो यह लाजिमी है कि हम उपन्यास के अध्ययन में उस पर अलग से भी विचार करें।”³³ उन्होंने ‘प्रेमाश्रम’ के स्त्री पात्रों के पिछड़ेपन को सामाजिक पिछड़ेपन का प्रतिबिंब माना है। इसके बावजूद मानवता के गुणों से विभूषित होने के कारण वे स्त्री पात्रों की सराहना करते हैं। मसलन श्रद्धा के रूढ़ियों में विश्वास करने के प्रश्न पर विचार करते हुए वे लिखते हैं कि- “एक रूढ़िवादी समाज में, जहाँ विदेश यात्रा को एक पाप माना जाता है, श्रद्धा का ऐसे मूल्य में विश्वास करना कोई अजीब बात नहीं है। अकेले वही नहीं, पूरी बिरादरी इस मूल्य में विश्वास करती है और उसमें पुरुष भी शामिल है। श्रद्धा का पिछड़ापन एक औरत का पिछड़ापन नहीं है बल्कि एक समाज का पिछड़ापन है। उसके अपने चरित्र की खासियत तो यह है कि समाज द्वारा थोपे गए इस पिछड़ेपन के बावजूद वह अपने प्रेम के लिए संघर्ष करती है, अपनी कोमल और सहज मानवीय भावनाओं को सुरक्षित रखती है।”³⁴ कमजोर किंतु मानवीय नारी चरित्रों की रचना के लिए वे प्रेमचंद की प्रशंसा करते हैं कि- “प्रेमचंद ने अपने नारी-चरित्रों में सामाजिक कारणों से पैदा हुई इन कमजोरियों को दिखलाकर अपनी यथार्थवादी चित्रण कला का ही परिचय दिया है। ये कमजोरियाँ उनके नारी-चरित्रों को बहुत स्वाभाविक और विश्वसनीय बनाती हैं।”³⁵ इसके मूल में वे प्रेमचंद की स्त्री संबंधी प्रगतिशील दृष्टि को रेखांकित करते हैं।

“नारी पाप और अवगुणों की खान है-सामंती समाज के इस प्रचलित मिथ्या, दूषित और षड्यंत्रमूलक मिथक के उल्टा प्रेमचंद दिखलाते हैं कि स्त्रियों में सच्चाई और न्याय की भावनाएँ और अच्छे गुण स्वाभाविक रूप से मिलते हैं। ...औरतों के प्रति अपने प्रगतिशील और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण के कारण वे पितृसत्तात्मक समाज की स्थापित धारणाओं को पूरे विश्वास के साथ टुकरा देते हैं और नारी की असली सच्चाई को चित्रित करते हैं।”³⁶

‘प्रेमाश्रम’ के कथानक, पात्रों, संवाद आदि के आलोचनात्मक मूल्यांकन के साथ ही उन्होंने उस पर अवध के किसान आंदोलन के प्रभाव के दावों का भी परीक्षण किया है। वे लिखते हैं कि- “‘प्रेमाश्रम’ में किसी भी तरह का किसान आंदोलन नहीं है। उसमें किसानों का वीरतापूर्ण संघर्ष जरूर है, लेकिन यह संघर्ष आगे बढ़कर आंदोलन का रूप नहीं ले पाता।”³⁷ अपनी बात को स्पष्टता से रखते हुए उन्होंने संघर्ष और आंदोलन के अंतर को सामने रखा- “आंदोलन, चाहे वह संगठित हो या स्वतःस्फूर्त, संघर्ष के विकास की एक अवस्था है जहाँ संघर्ष का स्वरूप आम हो जाता है; संघर्ष व्यक्तिगत नहीं रह जाता, सामूहिक हो जाता है।”³⁸ प्रेमाश्रम के किसान संघर्ष और अवध के किसान आंदोलन में समानता नहीं है। तलवार जी ने इसे घटना, पात्र और काल के भेद के द्वारा

पुष्ट किया है।

अवध के किसान आंदोलन से 'प्रेमाश्रम' के संबंध की तलाश करते हुए तलवार जी ने रचना, रचनाकार और उसके युग के संबंधों को भी समझने की कोशिश की। वे इस तथ्य तक पहुँचे कि प्रेमचंद जिन पत्र-पत्रिकाओं से बतौर पाठक या लेखक जुड़े थे और जिन शहरों से सीधे संपर्क में थे वे अवध के किसान आंदोलन की घटनाओं और खबरों से अच्छी तरह परिचित थे। किंतु, प्रेमचंद की कहानियों और उपन्यासों में ही नहीं उनके पत्रों, टिप्पणियों, संपादकीय और आलेखों में भी इस आंदोलन का कहीं जिक्र नहीं मिलता है। तलवार जी इन सबसे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि- "इसका मतलब यह हुआ कि कला के सृजन और सामाजिक घटनाओं के बीच कोई सीधा-दर्पण में प्रतिबिंब जैसा-संबंध नहीं होता।"

'प्रेमाश्रम' का उसके समय के साथ संबंध की बेहतर पहचान के लिए तलवार जी ने 'युग और कृति' शीर्षक अध्याय में विश्वयुद्ध के साथ 'प्रेमाश्रम' को जोड़कर देखा है। वे दिखाते हैं कि विश्वयुद्ध ने 'प्रेमाश्रम' को जन्म देने वाली और उसमें चित्रित परिस्थितियों को गहराई से प्रभावित किया था। विश्वयुद्ध से किसानों के सरोकारों के विभिन्न सूत्रों को रेखांकित करते हुए तलवार जी लिखते हैं कि- "हिंदोस्तान के गाँवों के किसान 'विश्वयुद्ध' या 'महायुद्ध' शब्द का प्रयोग नहीं करते थे। वे इसे 'लड़ाई' कहते थे।...इस लड़ाई के लिए उनसे 'चंदा' लिया गया था; लड़ाई-चंदा। ...उसमें लड़ने वाले सिपाही भी भारत के किसान ही थे; किसानों के भाई-बेटों को रंगरूट बनाकर लड़ाई के मैदानों में भेजा गया था।"³⁹ इसके साथ ही विश्वयुद्धों ने भारतीय पूंजीपति वर्ग को मजबूत किया था और शिक्षित मध्यवर्ग में भी नई चेतना का संचार किया था। किंतु इसने सर्वहारा वर्ग को बिल्कुल बदलकर रख दिया था। विश्वयुद्ध ने महँगाई को जन्म दिया, जिसने अन्य कई समस्याओं को। इसके मजदूरों और किसानों पर पड़े प्रभाव को चिह्नित करते हुए तलवार जी ने लिखा कि- "भुखमरी महँगाई का सिर्फ एक नतीजा था, सबसे सीधा नतीजा। उसके और भी नतीजे थे। महँगाई के कारण मजदूरों का वास्तविक वेतन बहुत कम हो गया था।...किसान जो चीजें बेगार और रसद में पहले जमींदार को रिवाजी तौर पर देता था, महँगाई के कारण अब उनका देना उसे चुभने और अखरने लगा। इससे खेतिहर अंतर्विरोध बढ़े। लगान की बढ़ती दर अब उसके लिए और भी घातक बन गई।"⁴⁰ ऐसे समय में किसान संघर्ष की गाथा का रचा जाना स्वाभाविक था। 'प्रेमाश्रम' को उस दौर की स्वाभाविक उपज बताते हुए तलवार लिखते हैं कि- "एक ओर 1917 का चम्पारन का किसान आंदोलन था, दूसरी ओर 1921-22 का अवध का किसान आंदोलन था। 'प्रेमाश्रम' इन दोनों के बीच के समय की रचना थी। यह बीच का समय जन-जागरण का समय था। भारी उथल-पुथल का युग था। ...अवध के किसान अपनी सभाओं में संगठित हो रहे थे और कलकत्ता, कानपुर और बंबई के मजदूर हड़ताल की तैयारी कर रहे थे। इन सब की तरह कला की दुनिया में भी एक कृति रची जा रही थी। यह कृति गाँधी के नेतृत्व, किसानों की सभा या मजदूरों की हड़ताल से नहीं उपज रही थी, बल्कि उन्हीं सब की तरह यह भी अपने युग की उपज थी।...जिस युग की ये उपज थीं, उसे युद्ध ने जन्म दिया था।"⁴¹ तलवार जी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के उदाहरणों के सहारे स्थापित करते हैं कि किसान साहित्य की रचना उस दौर की वैसी ही स्वाभाविक उपज थी जैसे कि किसान आंदोलन। प्रेमचंद की ही तरह अनेक लेखकों ने सरस्वती, प्रताप, मर्यादा, अभ्युदय, लीडर, आज आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, अखबारों, राजनीतिक किताबों, बुकलेट और पैम्फलेटों, साहित्यिक उपन्यासों, कहानियों, कविताओं और पत्र-पत्रिकाओं में छपनेवाले रेखाचित्रों में पहली बार व्यापक रूप से किसानों की समस्याओं को स्वर देने वाली कविताएँ, लेख, टिप्पणियाँ जाँच रपटें आदि प्रकाशित कराए। 'प्रेमाश्रम' भी इन्हीं युगीन चेतना की रचनात्मक उपलब्धि है।

समान युग की निर्मितियों में समान चेतना और घटनाओं की साम्यता का होना भी स्वाभाविक है। तलवार जी ने प्रेमाश्रम की घटनाओं, बेगार, बेदखली, कड़ाई से लगान वसूली, मौरूसी, सिकनी जमीन, कारिंदों द्वारा किसान स्त्रियों की दुर्दशा आदि घटनाओं का अवध के किसान आंदोलन के किसानों की स्थिति से साम्यता दिखाई है। मसलन 'प्रेमाश्रम' के आरंभ में ही किसानों की चौपाल में चपरासी आकर बेगार घी की माँग करता है जिसे

लेकर मनोहर से उसकी बहस भी होती है। तलवार जी ने बेगार घी को अवध के किसान आंदोलन से जोड़कर दिखाया। वे लिखते हैं कि- “अवध के इलाके में बेगार में घी का भाव जमींदारी इलाके से ज्यादा बदतर था। यह सवाल अवध के किसान आंदोलन में संघर्ष का एक मुख्य मुद्दा बन गया। किसान सभाओं में किसानों ने इन चीजों का वाजिब दाम लेने की और एका सभाओं में बेगार में इन चीजों को न देने की प्रतिज्ञा की।”⁴² इसी तरह सरकारी अफसरों की गाँवों में होने वाली यात्राओं के कारण किसानों सहित पूरे गाँव की दुर्गति जैसी घटनाएँ भी ‘प्रेमाश्रम’ और अवध किसान आंदोलन की साँझी सच्चाई है।

तलवार जी की आलोचना तथ्यपरक और विश्लेषणात्मक है। यह आम भाषा में बेहतर आलोचना का श्रेष्ठ उदाहरण है। बात साफ-साफ और समझाकर कही गई है। आलोचना में आद्योपांत मौजूद तार्किकता है, अध्याय विभाजन में भी यह दिखाई पड़ती है। आरंभिक अध्याय में ‘प्रेमाश्रम’ के किसान आंदोलन, उसमें विभिन्न वर्गों जैसे सामंतवर्ग, मध्यवर्ग और किसानों की भूमिका की पड़ताल की गई है। अगले अध्यायों में ‘प्रेमाश्रम’ को अवध के किसान आंदोलन और फिर उसके युग की व्यापक चेतना के साथ रखकर देखा गया है। तीसरे अध्याय में उस युग की सबसे बड़ी घटना यूरोपीय महायुद्ध (विश्वयुद्ध) के कारण किसानों के बढ़े हुए शोषण और उसके विविध रूपों पर विचार किया गया है। इसके साथ किसानों के संगठन, उनके संघर्ष और इन सबके कारण निर्मित होने वाली युग की चेतना को रेखांकित किया गया है। अंतिम अध्यायों में ‘प्रेमाश्रम’ के युग की अन्य कहानियों के साथ उस पर विचार करते हुए प्रेमचंद और उनके दौर की किसान चेतना के साहित्यिक कला रूपों को सूक्ष्मता से रेखांकित करने की कोशिश मिलती है। इस तरह यह कृति ‘प्रेमाश्रम’ पर एक मुकम्मल पुस्तक बन गई है। चरित्रों की विशेषताओं को रेखांकित करने के लिए तलवार जी ने बिंदुओं के संघनन का सफल मार्ग चुना है। उदाहरण के लिए ज्ञान शंकर के जरिए जमींदार वर्ग के सोच और क्रिया की नृशंसता को रेखांकित करने के लिए एकत्र किए संवादों को देखिए- “असामियों के साथ संघर्ष में अपनी हार की संभावना पर वह एक सच्चे जमींदार की तरह सोचता है : “हार हुई तो असामियों की निगाहों में गिर जाऊँगा। वह शेर हो जाएँगे और बात-बात में मुझसे उलझेंगे।”... जब किसान बाहरी मदद से ऊपर भी उसके दावे के खिलाफ लड़ते हैं तो वह नफरत से भरकर संकल्प लेता है : “जमींदार के बावन हाथ होते हैं। लखनपुर वालों को ऐसा कुचलूँगा कि उनकी हड्डियों का भी पता न चलेगा।”⁴³

अच्छी आलोचना के लिए रचनाकार की महानता के प्रति भक्ति-भावना से आलोचक का मुक्त होना आवश्यक है। तलवार जी ने न केवल इसकी जरूरत महसूस की है बल्कि स्वयं ऐसा करने का हौसला भी दिखाया है। इसीलिए वे प्रेमचंद की कुछ ख्रामियों की ओर भी संकेत कर सके हैं। ‘प्रेमाश्रम’ में मायाशंकर द्वारा जमींदारी का त्याग करने तथा किसानों की समस्या का खात्मा हो जाने के अंत को टॉलस्टॉय के यूटोपिया से प्रभावित प्रेमचंद का यूटोपिया बताते हुए कलात्मक दृष्टि से कमजोर मानते हैं। वे लिखते हैं कि- “यह विचारधारा एक असंगति की तरह उनके यथार्थ चित्रण के पीछे टंगी नजर आती है।”⁴⁴ नारी चरित्रों को यथार्थवादी बनाने के लिए प्रेमचंद की तारीफ करने वाले तलवार जी राय कमलानंद को अविश्वसनीय चरित्र बताते हैं। वे लिखते हैं कि- “ज्ञानशंकर की तुलना में राय कमलानंद एक कम विश्वसनीय चरित्र है। प्रेमचंद इस रईस ताल्लुकेदार के जीवन की अकर्मण्यता, भोग-विलास और असंगतियों को तो दिखलाते हैं लेकिन साथ ही उसे योग सिद्धियों के उपासक के रूप में अतिमानव भी बना देते हैं जो सिर्फ अपने योगबल से ही छिपे हुए भेदों को जान लेता है और घातक विष के कई कौर खाकर भी पचा लेता है।...यह सब बड़ा ही अविश्वसनीय है।”⁴⁵

उत्कृष्ट शोधपरक आलोचना का उदाहरण प्रस्तुत करने वाली ‘प्रेमाश्रम’ संबंधी तलवार जी की आलोचना सर्वथा निर्दोष नहीं है। उसमें कुछ त्रुटियाँ भी हैं और कुछ भूलें भी। किसान केंद्रीयता इस आलोचना की विशेषता भी है और कुछ चूकों की वजह भी। मसलन किसानों के प्रतिपक्षी शोषक सामंत वर्ग और उसके टुकड़ों पर पलने वाले दमनकारी वर्ग के सदस्यों में उन्होंने जमींदार, कारिंदे, दारोगा, पुलिस के साथ ‘धूर्त ईजाद हुसैन खाँ जो हिंदू-मुस्लिम एकता की समस्या को अपनी कमाई का पेशा बनाता है’⁴⁶ को भी शामिल कर लिया

है। ऐसा लगता है कि तलवार जी ने 'प्रेमाश्रम' के हर पात्र और घटना को किसानों से जुड़ा मान लिया है जबकि 'प्रेमाश्रम' में बहुतेरे प्रसंग उसके शोषक वर्ग के चरित्र, पारिवारिक-सामाजिक स्थिति एवं अन्य सामाजिक मुद्दों से भी संबंधित हैं। उनकी यह प्रवृत्ति मायाशंकर द्वारा जमींदारी व्यवस्था का त्याग करने संबंधी टिप्पणी से भी जाहिर होती है। तलवार जी ने इसे टॉलस्टाय के यूटोपिया से प्रभावित मानते हुए लिखा है कि- "प्रेमचंद किसानों से अपनी सहानुभूति के कारण अपने सपने को मूर्त करने के लिए एक यूटोपिया की सृष्टि करते हैं और किसानों की हार को एक जीत में बदल देते हैं।"⁴⁷ यह टिप्पणी करते हुए तलवार 'प्रेमाश्रम' के कथानक की विकास प्रक्रिया को भूल जाते हैं। मायाशंकर के जमींदारी के त्याग के पूर्व उसी जमींदारी के लिए उसके पिता ज्ञानशंकर का गहन पतन और आत्मघात, माँ विद्यावती की दुर्दशा और आत्महत्या, मौसी गायत्री का पतन और आत्महत्या, मौसे की हत्या, नाना राय कमलानंद की हत्या का प्रयास आदि घटनाएँ घट चुकी थीं। तलवार जी ने मायाशंकर द्वारा जमींदारी को छोड़ने में कथानक के इन सूत्रों की कोई भूमिका रेखांकित नहीं की है मानो मायाशंकर के मानस के निर्धारण के लिए ये सर्वथा अप्रासंगिक कारक हों।

जमींदार दो तरह के होते हैं- 'नए ढंग का' और 'पुराने ढंग का'। तलवार जी का यह विभाजन भी गड़बड़ लगता है। पहले वे इसे नई और पुरानी पीढ़ी के अंतर के रूप में रेखांकित करते हैं जैसे जटाशंकर और प्रभाशंकर के बरक्स ज्ञानशंकर को खड़ा करके। फिर वे निष्कर्ष निकालते हैं कि नए ढंग का जमींदार जागीर बढ़ाता है और पुराने ढंग का जमींदार टूटता जाता है। कमलानंद इस विभाजन में फिट नहीं बैठता है। उसे पीढ़ी की दृष्टि से पुराने ढंग का कहा जाएगा जबकि वह संपत्ति बढ़ाता है। तलवार जी ने प्रभाशंकर के चरित्र की विशेषताओं को पुराने जमींदार की और ज्ञानशंकर की विशेषताओं को नए जमींदार की विशेषताएँ मान लिया है। इस कारण स्वाभाविक मानवीय प्रतिक्रियाओं को भी वे नए और पुराने तरह के जमींदार से जोड़ते गए हैं। ज्ञानशंकर की संपत्ति के लोभ में भाई की अकल्याण कामना और प्रभाशंकर का अपने भतीजे पर स्नेह संबंधी उनकी व्याख्या ऐसी ही सीमाओं का संकेत करती है। मसलन वे लिखते हैं कि- "किसी हत्याकांड के झूठे इल्जाम में प्रेमशंकर गिरफ्तार हो जाता है। उसका अपना सगा भाई उसकी रिहाई के लिए कुछ नहीं करता। उस वक्त इस पुराने जमींदार की चिंता और तत्परता देखने योग्य है..."⁴⁸

तलवार जी के कुछ विश्लेषण नए तथ्यों के आलोक में फिर से देखे और परखे जाने की माँग करते हैं। ऐसा लगता है कि 'प्रेमाश्रम युगीन' अन्य रचनाओं पर विचार करने में उनसे बहुत कुछ छूट गया है। वे 'प्रेमाश्रम' के दौर को दो भागों में बाँटते हुए 1918-1919 में प्रकाशित कहानियों के संबंध में लिखते हैं कि- "1918 में प्रेमचंद की सिर्फ तीन कहानियाँ छपीं और 1919 में सिर्फ दो कहानियाँ। इस तरह पूरे दो साल में सिर्फ पाँच कहानियाँ।"⁴⁹ 'प्रेमाश्रम' लिखे जाने के बाद के संबंध में उनकी राय है कि - "जब 'प्रेमाश्रम' का उर्दू मसौदा पूरा हो गया तो प्रेमचंद ने कई कहानियाँ लिखीं।"⁵⁰ कमलकिशोर गोयनका ने प्रेमचंद कहानी रचनावली में प्रेमचंद की सभी कहानियों की प्रकाशन वर्ष के आधार पर सूची दी है। इसके अनुसार प्रेमचंद की प्रकाशित कहानियों की संख्या 1918 में 9 (1 अप्राप्य सहित) तथा 1919 ई. में 5 थी।⁵¹ 1920 से पहले प्रेमचंद लगभग 7-8 कहानियाँ प्रति वर्ष लिख रहे थे। 1920 में यह संख्या दस हो गई और आगे भी यह बढ़ती गई। प्रेमचंद के उपन्यास लेखन ने उनकी कहानियों की संख्या को बहुत प्रभावित किया हो ऐसा लगता नहीं है। भले ही स्वयं प्रेमचंद को और तलवार जी को भी ऐसा लगता हो। इसी तरह कुछ त्रुटियाँ असावधानीवश भी हो गई हैं। मसलन 'प्रेमाश्रम' के किसान दुखरन भगत के रावण और जुरजोधन के उद्धरण को वे कई बार इतिहास के प्रसंग लिख गए हैं। दुखरन भगत के कथन पर उनकी टिप्पणी देखिए- "दुखरन भगत ही नहीं, इतिहास भी इसका समर्थन करता है। रावण, जरासंध और जुरजोधन का सर्वनाश इसलिए हुआ कि उन्होंने सर्वशक्तिमान ईश्वर की सत्ता के खिलाफ खड़े होने का घमंड किया था। इससे निष्कर्ष निकलता है कि किसान अगर जमींदार की सत्ता के खिलाफ खुद को बड़ा समझने का घमंड करेगा तो उसका भी इसी तरह सर्वनाश होगा। किसान अपने छोटेपन को उचित ठहराने के लिए इस तरह इतिहास की व्याख्या से समर्थन जुटा लेता है।"⁵²

‘प्रेमाश्रम’ की आलोचना के द्वारा तलवार जी ने आलोचना की एक नई शैली और दिशा का बोध कराया है। वह दिशा है किसान साहित्य के मूल्यांकन की दिशा। आलोचना की नई पद्धति है समय के साथ उसके संबंधों की छानबीन; रचना को रचनाकार मात्र की नहीं बल्कि युग की उपज के रूप में देखने की पद्धति। इसके लिए गहन अंतर्दृष्टि के साथ पुरानी पत्र-पत्रिकाओं की मोटी फाइलों से गुजरकर सत्य को पहचानने की कोशिश वांछनीय है। तभी समझी और कही जा सकेगी किसानों की कहानी की कहानी।

संदर्भ :

1. Why Do So Many Indian Farmers Commit Suicide? | The Diplomat <http://thediplomat.com/2013/07/why-do-so-many-indian-farmers-commit-suicide/>
2. वीर भारत तलवार- किसान राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद, पृष्ठ 19
3. वही, पृष्ठ 19
4. वही, पृष्ठ 20
5. वही, पृष्ठ 22
6. वही, पृष्ठ 23
7. वही, पृष्ठ 26
8. वही, पृष्ठ 27
9. वही, पृष्ठ 27
10. वही, पृष्ठ 30
11. वही, पृष्ठ 32
12. वही, पृष्ठ 38
13. वही, पृष्ठ 39
14. वही, पृष्ठ 42
15. वही, पृष्ठ 42-43
16. वही, पृष्ठ 42-43
17. वही, पृष्ठ 43
18. वही, पृष्ठ 44
19. वही, पृष्ठ 44
20. वही, पृष्ठ 45
21. वही, पृष्ठ 45
22. वही, पृष्ठ 46
23. वही, पृष्ठ 50
24. वही, पृष्ठ 48
25. वही, पृष्ठ 60
26. वही, पृष्ठ 53
27. वही, पृष्ठ 30
28. वही, पृष्ठ 42
29. वही, पृष्ठ 34-35
30. वही, पृष्ठ 80
31. वही, पृष्ठ 69
32. वही, पृष्ठ 83
33. वही, पृष्ठ 82
34. वही, पृष्ठ 83
35. वही, पृष्ठ 84
36. वही, पृष्ठ 85
37. वही, पृष्ठ 93

38. वही, पृष्ठ 93
39. वही, पृष्ठ 113
40. वही, पृष्ठ 116
41. वही, पृष्ठ 118-119
42. प्रेमचंद, 'प्रेमाश्रम', सुमित्रा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ 135
43. वही, पृष्ठ 34
44. वीर भारत तलवार, किसान राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद, पृष्ठ 22
45. वही, पृष्ठ 38-39
46. वीर भारत तलवार, किसान राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद, पृष्ठ 19
47. वही, पृष्ठ 21
48. वही, पृष्ठ 25
49. प्रेमचंद, प्रेमाश्रम, सुमित्रा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ 242
50. प्रेमचंद, प्रेमाश्रम, सुमित्रा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ 242
51. कमलकिशोर गोयंका(सं.)- प्रेमचंद कहानी रचनावली, भाग-2, परिशिष्ट
52. वही, पृष्ठ 242



किशान : 'जिश्को फलक ने लूट कऽ वीशान कऽ दिया...'

अवध का किसान आंदोलन और 'प्रेमाश्रम'

■ एस. एन. वर्मा

अवध का किसान आंदोलन (1920-22) प्रथम विश्व युद्ध के बाद की परिस्थितियों की उपज है। कमरतोड़ लगान से दोहरे हुए किसान बेदखली की समस्या से रूबरू थे। नजराना, मनमाने टैक्स और बढ़ती महँगाई आग में घी का काम कर रहे थे। रौलट एक्ट पास होने से ब्रिटिश शासन का असली रूप सामने आया। युद्ध में भाग ले चुके सैनिकों के निष्कासन और छँटनी के कारण अवध के ग्रामीण क्षेत्रों में निराशा का वातावरण था। देहात के जुझारू नेता, बाबा और फकीर के नेतृत्व में एकत्र हो रहे थे। रामचंद्र और मदारी पासी किसान-भावनाओं को ठोस शक्ति दे रहे थे। सरकार उन्हें फरार मुजरिम, दुश्चरित्र, गुंडा और अपराधी मानकर चल रही थी। उन्होंने बगैर बाहरी उच्च मध्यवर्ग की मदद के गरीब किसानों व खेतिहर मजदूरों के बल पर विशाल आंदोलन खड़ा किया। किसान सभाओं में एकत्र 50000 तक की भीड़ इसका प्रमाण थी। गाँव के धोबी, नाई, कहार, कुम्हार आदि ने ऊँची जमींदार जातियों का बहिष्कार कर किसानों के साथ एकजुटता प्रदर्शित की। नेतृत्व ने धर्म के सकारात्मक पहलू का उपयोग किया। 'सीताराम' क्रांतिकारी शब्द बन गया। मदारी पासी गीता और कुरान साथ रख कर चले। सांप्रदायिक भावना से दूर वर्गीय चेतना से भरपूर यह आंदोलन अपने आप में अनोखा था। लोकप्रिय बगावत की शक्ति में किसानों ने सूचना देकर आंदोलन किया। महिलाओं की सक्रियता इस किसान आंदोलन को अलग पहचान दिलाती है। भारत की पहली महिला किसान सभा [किसानिन सभा] प्रतापगढ़ में इसी समय बनी। असहयोग आंदोलन अवध के गावों में किसान आंदोलन बन गया, जबकि उस समय तक गाँधी हिंसा के भय से किसानों को शामिल नहीं करना चाहते थे। काँग्रेस के किसान आंदोलन में शामिल होने से इसकी चमक जाती रही। क्रांतिकारी वर्ग के बिना किसानों का जुझारूपन लंबे समय तक बरकरार नहीं रह सका। अवध के किसान आंदोलन ने सामंत विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष चलाने के लिए जरूरी चेतना जगाई। बाद के वर्षों में इसका प्रभाव स्वतन्त्रता आंदोलन में दिखाई पड़ा।

अवध की भौगोलिक पहचान उसकी ऐतिहासिक पहचान से सम्बद्ध है। इसकी सीमाएँ परिवर्तित होती रहीं। जब सादात खान ने इस राज्य का निर्माण किया था तब तत्कालीन अवध 1920 के अवध से अलग था। 1801 में सहायक संधि स्वीकार करने वाला राज्य आगरा तक फैला था। विलय के समय इसका मानचित्र भिन्न था। प्रोफेसर इरफान हबीब ने 'मैपिंग अवध' शीर्षक परचे में विस्तार से परिवर्तनशील सीमाओं का उल्लेख किया है। 1921 के अवध में सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, फैजाबाद, बहराइच, गोंडा, लखीमपुर, सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव, बाराबंकी तथा रायबरेली जिले शामिल थे। इसमें गोरखपुर और वाराणसी मण्डल के जिले शामिल नहीं थे, जहाँ रहकर प्रेमचंद 'प्रेमाश्रम' लिख रहे थे और जिसे उपन्यास का क्षेत्र बनाया था। वाराणसी का लखनपुर गाँव अवध का हिस्सा नहीं था। यहाँ जमींदारी व्यवस्था लागू थी जो लॉर्ड कार्नवालिस ने 1793 में बनाई थी। जाहिर है कि इस भूमि व्यवस्था में कृषक समस्या का रूप वही नहीं रहा होगा जो अवध में था। किसान की खराब दशा तो सभी प्रणालियों में थी। प्रेमचंद के सामने ऐसी कोई विवशता नहीं थी कि वे किसान समस्या को अवध के जमीनी स्तर पर चित्रित न कर पाते। वे अपनी दूसरी रचनाओं में इसे प्रदर्शित भी कर चुके हैं। अतः 'प्रेमाश्रम' के बहाने अवध के किसान आंदोलन की पड़ताल अत्यंत रोचक हो जाती है।

वीर भारत तलवार ने यह महत्वपूर्ण पहल की है। उन्होंने कपिल कुमार के साथ पट्टी तहसील प्रतापगढ़ का

भ्रमण कर अवध किसान आंदोलन की प्राथमिक स्रोत सामग्री का अध्ययन कर अपना निष्कर्ष प्रस्तुत किया है। इसी विषय पर शोध करने वाले ज्ञान पांडे ने शाहिद अमीन, माजिद सिद्दीकी को कई स्थानों पर मजबूत करते हुए कुछ स्थानों पर चुनौती दी है। वे कहते हैं कि 'मैंने कपिल कुमार के साथ किसान आंदोलन के आरंभिक केंद्र प्रतापगढ़ जिले की पट्टी तहसील और रुरे गाँव में जाकर किसान आंदोलन के सूरमाओं से बात की। यहीं पर रामचन्द्र की विधवा जगगी देवी से मुलाकात हुई। वृद्ध होने के बावजूद उनके विचारों की धार अभी तेज थी। किसानों का फिर संगठन बनाने और आंदोलन करने की उनकी बेचैनी देखकर बरबस उस महान किसान नेता की याद आ जाती थी, जिनकी वह संगिनी थीं'। तलवार जी की यह भूमिका उनकी गहरी समझ का संकेत देती है। यहीं उनकी कपिल कुमार के साथ कृषीय संरचना की समझ और अवध के किसान आंदोलन की विसंगति की परख का ज्ञान मिलने लगता है। अवध का किसान आंदोलन पारंपरिक नेतृत्व में हुआ था। बाबा रामचंद्र फिजी में मजदूर रह चुके थे। उनका जन्म महाराष्ट्र कुल में दक्षिणी ब्राह्मण ऋग्वेदी दाशस्थ के घर हुआ था। इनके परिवार के लोग शिवाजी के दरबार में मुलाजिम थे। मराठी, हिन्दी, अँगरेज़ी, उर्दू और संस्कृत के जानकार रामचन्द्र सौतेली माँ के कारण घर से अलग हो गए थे। कुल पुरोहित ने बचपन में श्रीधर नाम रखा था। 1904 में मद्रास पहुँचे, फिर कुली के रूप में फिजी भेजे गए। भाषा ज्ञान के कारण मैजिस्ट्रेट के घर काम मिल गया। 1915 में आजमगढ़ के रास्ते जौनपुर और प्रतापगढ़ की सीमा पर स्थित पट्टी तहसील आए। यहीं रहते हुए किसानों को एकत्र करना आरंभ किया। ग्रामीण जीवन की समझ और रामचरित मानस के प्रयोग से जनता के बीच पैठ बनाने में समय नहीं लगा।

वीर भारत तलवार अवध की परिस्थिति में उन्हें फिट बताते हैं। वहाँ तालुकदारी भूमि व्यवस्था थी। जोत की सुरक्षा नहीं थी। अवध रेंट ऐक्ट के बाद भी बेदखली जारी थी। अवध का किसान आंदोलन के आरम्भ होने के पहले रिफॉर्म कमिटी ने जो रिपोर्ट दी थी उसके मुताबिक 99 रुपये तक लगान देने वाले किसानों में केवल 1.3 प्रतिशत को जोत की सुरक्षा मिली थी। प्रतिवर्ष बेदखली की नोटिस जारी की जा रही थी। अवध का किसान आंदोलन इसी समस्या पर केन्द्रित था। कानपुर से प्रकाशित 'प्रताप' में इस पर लेख मिलते हैं, लेकिन बनारस के 'आज' में इस समस्या पर लेख नहीं मिलता। अवध किसान आंदोलन की विशेषताएँ बताते हुए तलवार जी ने लिखा है कि तुलसी के रामचरितमानस के सहारे वर्ग संघर्ष की चेतना का प्रसार अनूठा है। 'सीताराम' शब्द की जिहादी परिकल्पना दूसरी विशेषता है। गाँव में किसानसभाओं की स्थापना और किसान प्रतिज्ञाएँ, 50000 किसानों का एकत्र होना, व्यापारियों की दुकानों पर हमला, जमींदारों की घरेबंदी, नाई- धोबी बंद, बेटिकट यात्रा, जेल का घेराव आदि आदि। कपिल कुमार तथा माजिद भी इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख करते हैं। लेकिन वे इस किसान आंदोलन को स्वायत्त पहचान देने की कोशिश करते हैं। वीर भारत तलवार ने इस पर आपत्ति की है। उनका मानना है कि सबाल्टर्न इतिहासकार ग्राम्शी को आदर्श मानते हैं और ग्राम्शी स्वयं पीड़ित वर्गों की चेतना या संघर्ष की स्वायत्तता की वकालत नहीं करते। उन्होंने सामाजिक क्रान्ति में विभिन्न वर्गों की चेतना के आपसी सम्बन्धों की प्रक्रिया को महत्वपूर्ण माना था। राष्ट्रीय आंदोलन के अंतर्गत कोई भी आंदोलन ब्रिटिश साम्राज्य को कमजोर बनाता था, इसे समझा जाना चाहिए। काँग्रेस नेतृत्व इसका उपयोग कर सकता था, जो वह नहीं कर पाया। कपिल कुमार कहते हैं कि 'एक बात माननी होगी कि क्रांतिकारी वर्ग के नेतृत्व के बिना किसानों का जुझारूपन लंबे समय तक अपने आप नहीं बना रह सकता था। फिर भी सामंत विरोधी और साम्राज्य विरोधी संघर्ष चलाने तथा ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा बड़ी मेहनत से बनाए गए दमन के ढाँचे को कमजोर करने के लिए जरूरी चेतना किसानों तक पहुँचाने का श्रेय इन आंदोलनों को ही जाता है।'

मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यास 'प्रेमाश्रम' के किसान आन्दोलन में अवध के किसान आंदोलन को देखना कितना सही है, इसकी पड़ताल वीर भारत तलवार ने की है। वे इस उपन्यास में यूटोपिया देखते हैं और राम विलास शर्मा के हवाले से कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति जब समस्याओं से टकराता है और व्यवस्था के भीतर हल नहीं पाता तो वह या तो वैरागी बनता है या फिर यूटोपिया का निर्माण करता है। बुद्ध ने वैराग्य धारण किया, तुलसीदास

ने रामराज्य का यूटोपिया खड़ा किया। प्रेमचंद भी एक यूटोपिया खड़ा करते हैं कि एक दिन आएगा जब किसान सुखी होंगे, जमींदार समाप्त हो जाएँगे। कला की दृष्टि से यह यूटोपिया एक कमजोरी है। किसान समस्या का जो रूप अन्यत्र दिखता है वह 'प्रेमाश्रम' में नहीं है। प्रेमचंद के प्रेमशंकर बनावटी दिखते हैं। तालस्टाय के नेख्लुदोव सजीव लगते हैं क्योंकि लेखक ने अपने जीवन के निचोड़ को विचार दिया था। प्रेमचंद में वह गहरा विश्वास नहीं था। वे प्रेमशंकर के जरिए अहिंसा और प्रेम के आदर्श को प्रस्तुत करते हैं, लेकिन कारिंदे की हत्या को वीरता का काम कहकर सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं। यह दुविधा उनके उपन्यास को कमजोर बनाती है।

अवध किसान आंदोलन से प्रेमाश्रम का रिश्ता इसी दुविधा पर टिका है। तलवार जी की दृष्टि में 'प्रेमाश्रम' किसान संघर्ष का आख्यान है, आंदोलन का नहीं। संघर्ष और आंदोलन अलग होते हैं। संघर्ष रोजमर्रा की चीज है और आंदोलन तात्कालिक। अगर प्रेमचंद ने अवध किसान आंदोलन से प्रेरित होकर उपन्यास लिखा होता तो सुक्यू के नेतृत्व में बेदखली के खिलाफ आंदोलन चित्रित किया जा सकता था। सुक्यू चौधरी चमत्कार से रुपये बनाता है और इससे किसानों को बचाने की कोशिश करता है। कमलाकांत के उपन्यास 'बेदखल' में इस समस्या का सजीव चित्रण है जो हाल के वर्षों में लिखा गया है, 'प्रेमाश्रम' इस समस्या को नहीं उठाता। तालाब की पहुँच पर रोक किसान आंदोलन की चिंता थी, 'प्रेमाश्रम' में यह आंदोलन का अंग नहीं बन पाता। तलवार जी कहते हैं कि तालाब की घटना आंदोलनपरक थी लेकिन प्रेमचंद की दिलचस्पी उसके आंदोलनात्मक रूप में नहीं, बल्कि सुक्यू के हृदय परिवर्तन में थी। लखनपुर के किसान सब दिन जमींदार के सामने घुटने टेकते आए, उन्हें साहस के साथ खड़े होते दिखाया जा सकता था। क्या यह स्थिति एक गाँव में उभर रहे सामंतवाद विरोधी आंदोलन का रूप नहीं है, इसका उत्तर देते हुए तलवार जी स्वयं कहते हैं कि सब मिलकर भी इस रूप में नहीं है कि उसे किसान आंदोलन की परिकल्पना कहा जा सके। वह भी ऐसी जो अवध किसान आंदोलन से प्रेरित हो। ऐसा कहना घड़ी को उल्टी दिशा में मोड़ने जैसा होगा। वास्तव में 'प्रेमाश्रम' में किसान आंदोलन का पूर्वाभास है, किसान आंदोलन की संभावना है। अवध के किसान आंदोलन की विशेषताएँ यहाँ नहीं मिलती हैं। यहाँ कोई किसान सभा नहीं है, मनोहर किसानों की एकता के लिए कोई प्रयास नहीं करता। वह केवल किसानों की दशा पर शोभ व्यक्त करता है। रूसी क्रान्ति से प्रेरित बलराज भी कोई संगठन नहीं बनाता। अवध के दोनों प्रमुख नेताओं रामचन्द्र व मदारी की छाया किसी पात्र में नहीं दिखती। झिंगुरी सिंह, सहदेव सिंह आदि रामचंद्र की मदद करते हैं। गौरी शंकर मिश्रा शिक्षक होकर भी किसान आंदोलन में शरीक होते हैं। इस तरह के पात्र 'प्रेमाश्रम' में नहीं हैं। अवध में नेहरू पहले सकारात्मक भूमिका में हैं लेकिन बाद में सामंत विरोध को समाप्त कर किसानों को असहयोग आंदोलन में खींचने की कोशिश करते हैं, उनका चरित्र भी प्रेमशंकर से मेल नहीं खाता।

वीर भारत तलवार को नेतृत्व और किसान संगठन की सटीक पहचान है। उनके अनुसार किसान संगठन बनाने की प्रक्रिया अहिंदा भाषी क्षेत्रों में पहले शुरू हुई। आंध्र और राजस्थान में इसके उदाहरण हैं। हिन्दी भाषी क्षेत्र में चंपारण में किसान संगठन मिलता है जो 'प्रेमाश्रम' की रचना से पहले बना था। नेतृत्व का स्वरूप भी अभी तक उच्च वर्ग के हाथों वाला था, पहली बार अवध में इसका रूप निम्न मध्यम वर्ग के हाथ में दिखता है। निम्न मध्य वर्ग किसान समस्याओं को जमीनी स्तर पर समझता था। स्वराज की असली जरूरत इसी वर्ग को थी। स्कूल के मास्टर हमेशा से देहाती समाज को नेतृत्व देते रहे हैं। लेकिन उच्च वर्ग का आकर्षण बना हुआ था, रामचन्द्र ने नेहरू और टंडन को नेतृत्व के लिए बुलाया था। यह वर्ग शीघ्र ही अलग हो गया। प्रेमचंद इस युगीन सत्य से अवगत थे, इसलिए उच्च वर्ग को नेतृत्व करते दिखाते हैं। चंपारण के किसान प्रतिनिधि राजकुमार शुक्ल लखनऊ से गाँधीजी को बुला ले जाते हैं।

तलवार जी कहते हैं कि जब 'प्रेमाश्रम' की रचना हुई, उस समय कोई आंदोलन किसानों से जुड़कर नहीं चल रहा था। इसका लेखन काल 2 मई, 1918 से 25 फरवरी, 1920 के बीच था। 1922 में इसका प्रकाशन भी हो गया था, जब मदारी पासी एकता आंदोलन को गतिशील बना रहे थे। अतः 'प्रेमाश्रम' पर अवध किसान आंदोलन का प्रभाव मिलना संभव नहीं है। उसी समय राजेन्द्र प्रसाद 'चंपारण में गाँधी' नामक पुस्तक लिख रहे

थे। उन्होंने किसानों के बारे में लिखा कि 'किसान स्वभाव से डरपोक होते हैं चंपारण की रियाया तो और भी सीधी-सादी है। 'राजेन्द्र प्रसाद की इस धारणा के विपरीत प्रेमचंद ने किसानों की वीरता और हिम्मत को दिखाया। तत्कालीन समाचार पत्र भी किसानों को कमजोर चित्रित करते थे। गंगाधर पंत ने 'सरस्वती' में लिखे अपने लेख में शोषण और अन्याय की बात रखी, लेकिन किसानों की संघर्ष क्षमता में विश्वास नहीं व्यक्त कर सके। इस संदर्भ में प्रेमचंद अपने समय से आगे हैं, लेकिन अवध के किसान संघर्ष की तीव्रता से पीछे।

किसानों पर लिखने वालों ने उन्हें 'दुधारू गाय', 'सोने के अंडे देने वाली मुर्गी' बताया था। तात्पर्य यह कि जमींदार इसी रूप में किसानों को बनाए रखना चाहते थे। 'प्रेमाश्रम' में किसानों की परिस्थिति को दिखाया गया, उसे बदलने के लिए लड़ते हुए दिखाया गया। अतः कहा जा सकता है कि 1917-20 के बीच लिखे गए किसान साहित्य में 'प्रेमाश्रम' अकेली कृति है जिसमें किसान संघर्ष को चित्रित किया गया है। जमींदारी के खिलाफ किसानों के संघर्ष को वर्णित करने वाले वे पहले लेखक थे।

अवध के किसान आंदोलन में वर्गीय चेतना देखने को मिलती है। कोइरी, चमार, पासी, कुर्मी, ब्राह्मण, अहीर, गोसाईं, भुरजी आदि सभी किसान थे। कपिल कुमार इस वर्गीय चेतना की तारीफ करते हैं। 'प्रेमाश्रम' में भी यही वर्ग चेतना दिखाई पड़ती है। धनी कुर्मी किसान सुकबु चौधरी सभी को जोड़ने का काम करता है। मुस्लिम कादिर, राजपूत डपट सिंह, अहीर मनोहर मिलकर जमींदार के खिलाफ लड़ते हैं। उस समय ग्रामीण जनता में धार्मिक प्रतीकों के प्रति गहरा आकर्षण था। चंपारण में गाँधी को भगवान रामचंद्र कहा जाता था। बाबा रामचंद्र के 'सीताराम' के उद्बोधन, सत्य नारायण की कथा, महमूद शरीफ की कथा किसानों को संगठनात्मक प्रेरणा देती थी। प्रोफेसर कपिल कुमार ने अपने सुप्रसिद्ध लेख 'रामचरित मानस का क्रांतिकारी गद्य के रूप में प्रयोग' में लिखा है कि राजनीतिक नेतृत्व का सबसे उम्दा नमूना गाँधी हैं, लेकिन उनकी नजर में केवल अँगरेजी हुकूमत ही शैतानों की हुकूमत है, जिसे वे अक्सर रावण राज्य कहा करते थे। उन्होंने भारतीय समाज के दमनकारी सामाजिक ताकतों को भला बुरा नहीं कहा। बाबा रामचंद्र की नजर में भू स्वामी, पूँजीपति तथा सूदखोर आदि किसानों का शोषण करते थे अतः वे शैतान थे। यह चेतना 'प्रेमाश्रम' में दिखाई पड़ती है।

रामचंद्र ने धार्मिक प्रतीकों की नयी व्याख्या की। 'गीता' को "ग ई ता आ" अर्थात् गयी हुई स्वतन्त्रता के रूप में की। श्रीमद् का तात्पर्य राजा का घमंड तथा भागवत का अर्थ उसके घमंड को चूर चूर करना बताया। 'हतो वा प्राप्स्यि स्वर्गम्' की किसानपरक व्याख्या की। किन्तु 'प्रेमाश्रम' में इस चेतना का चित्रण नहीं है। कई स्थान पर धार्मिक प्रतीकों पर चोट की गई है, दुखरन शालिग्राम को मिट्टी का ढेला और पिंड कहकर मजाक उड़ाता है।

एक और समान बात यह दिखती है कि साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष दोनों जगह है। तालुकदार, बनिया सूदखोर, कारिंदे आदि निशाना बनते हैं। लेकिन साम्राज्य को खत्म करने का कोई उपाय नहीं किया जाता। किसान आंदोलन की प्रतिज्ञाओं में स्वराज का उल्लेख कम मिलता है। रायबरेली में किसान पुलिस से नहीं लड़ते, वे अपने शोषण की बात रखकर वापस चले गए। कपिल कुमार कहते हैं कि अगर कोई काश्तकार जाति से ब्राह्मण या राजपूत है, भले ही उसके पास एक एकड़ जमीन हो, लेकिन वह खुद हल नहीं चलाएगा और उसके घर औरतें भी कृषि के काम में हाथ नहीं बटाएँगी। अतः सामाजिक विभेद बरकरार रहता है। यही बात 'प्रेमाश्रम' में भी दिखती है। यहाँ किसान जानते हैं कि शोषण का आधार अँगरेजी शासन ने तैयार किया लेकिन उसके खिलाफ आंदोलन का स्वर नहीं है। मानो वे मानते थे कि अँगरेजी राज के खात्मे से ज्यादा जरूरी स्थानीय शासकों के शोषण को समाप्त करना है। वास्तव में यह द्वंद्व राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुआ था। जैसे जैसे आजादी का संघर्ष आगे बढ़ा यह द्वंद्व समाप्त होता गया।

डॉ. वीर भारत तलवार किसान सभाओं के गठन का संकेत 'प्रेमाश्रम' में मानते हैं। तहसीलदार लखनपुर के किसानों और चमारों से जबरन बेगार लेता है। विरोध करने पर दुखरन भगत को पीटा जाता है। तहसीलदार व्यंग्य में कहता है कि 'आपके [प्रेम शंकर] के कहने पर ही इन बदमासों ने सरकसी अख़्तियार की है। मैं समझ

गया कि आप किसान सभा से ताल्लुक रखते हैं'। लेकिन इस कथन से यह प्रमाणित नहीं होता कि अवध की किसान सभाएँ प्रेरणा का स्रोत थीं।

‘प्रेमाश्रम’ की विषयवस्तु और अवध का किसान आंदोलन दो अलग घटनाएँ हैं, इनका मिलना संभव नहीं है। दोनों हो प्रथम विश्व युद्ध के बाद के पूर्वी उत्तर प्रदेश की खेतिहर परिस्थितियों की देन हैं। इस विवरण से यह ज्ञात हो जाता है कि अवध किसान आंदोलन की पहचान अलग थी। वीर भारत तलवार ने इसे सही रूप में पहचाना है।

संदर्भ :

- कपिल कुमार, किसान विद्रोह : काँग्रेस और अँगरेजी राज्य, मनोहर, नई दिल्ली।
- बाबा राम चंद्र, पेपर्स भाग -1 तथा 2, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एंड लाइब्रेरी, दिल्ली।
- एम सिद्दीकी, अग्रेरियन अनरेस्ट इन नॉर्थ इंडिया, नई दिल्ली 1978.
- ज्ञान पांडे, असेंडन्सी ऑफ काँग्रेस इन यू पी 1926 -1935, दिल्ली 1978
- एम बी पांडे, अवध किसानों की दुर्दशा, इलाहाबाद 1921.
- ए आर देसाई, पीजेंट्स स्ट्रगल इन इंडिया, बॉम्बे 1979.
- डी एन धनागरे, पीजेंट्स मूवमेंट इन इंडिया 1920-1950, नई दिल्ली 1983।
- कपिल कुमार, द रामचरित मानस एज ए रैडिकल टेक्स्ट : वोट रामचंद्र इन अवध, सुधीर चन्द्र द्वारा संपादित।
- वीर भारत तलवार ; किसान, राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद । नई दिल्ली
- प्रेमचंद, प्रेमाश्रम, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1977.



झारखंड : ‘श्वाक हो जाएँगे हम तुमको खबर होने तक...’

झारखंड आंदोलन में डॉ. वीर भारत तलवार की भूमिका

■ सूर्य सिंह बेसरा

झारखंड अलग राज्य की मांग का आंदोलन पाँच दशक से भी ज्यादा पुराना है। भारत देश के अंदर राज्यों के विभाजन का एक अलग इतिहास है। उनमें से झारखंड राज्य की अलग विडंबना है। लंबे संघर्ष के बावजूद लक्ष्य की प्राप्ति में कठिनाई और विलंब हो रहा था। इसका मुख्य कारण चरणबद्ध, कालबद्ध एवं एकताबद्ध आंदोलन का अभाव था। सही दिशा में नेतृत्व की कमी के कारण, जिस प्रकार समुद्र में दिशा सूचक के अभाव में समुद्री जहाज दिशाविहीन होकर भटक जाता है, उसी प्रकार सही नेतृत्व के अभाव में झारखंड आंदोलन दिशाविहीन भटकता रहा। झारखंड नामधारी संगठनों के बिखराव तथा नेतृत्व को लेकर गुटबाजी और आपस में टकराव के कारण झारखंड आंदोलन कमजोर साबित हुआ। 1956 में ‘राज्य पुनर्गठन आयोग’ द्वारा झारखंड अलग राज्य की मांग को सीधे ठुकरा देना तथा 1963 में मारांग गोमके जयपाल सिंह (मुंडा) द्वारा झारखंड पार्टी को कांग्रेस में विलय कर देने से झारखंड आंदोलन को जबरदस्त झटका लगा। उस दौर में हताशा और निराशा के बीच 70 के दशक में झारखंड की राजनीतिक क्षितिज से टिमटिमाते हुए एक आशा की रोशनी का उदय हुआ। एक ओर जहाँ 1973 में विनोद बिहारी महतो और शिबू सोरेन के नेतृत्व में ‘झारखंड मुक्ति मोर्चा’ का गठन हुआ तो दूसरी ओर 1978 में पुनर्गठित झारखंड पार्टी के नेता एन.ई. होरो के आह्वान पर ‘सीधी कार्रवाई’ का आंदोलन का शुभारंभ। ठीक उसी समय, यानी 1978 में, डॉ. वीर भारत तलवार का व्यक्तित्व और नेतृत्व प्रमुख रूप से झारखंड आंदोलन में उजागर हुआ। उन्होंने 1978 में राँची में ‘झारखंड बुद्धिजीवी सम्मेलन’ आयोजित कर झारखंड आंदोलन की दशा और दिशा को बौद्धिक आयाम प्रदान करने का सार्थक प्रयास किया। बुद्धिजीवी सम्मेलन के सफल आयोजन से डॉ. वीर भारत तलवार के साथ डॉ. कुमार सुरेश सिंह, डॉ. राम दयाल मुंडा, डॉ. निर्मल मिंज, डॉ. बी.पी. केसरी, डॉ. पशुपति प्रसाद महतो जैसे विद्वान झारखंड आंदोलन के प्रति समर्पित भावना से जुड़े। निःसंदेह बुद्धिजीवियों की प्रतिबद्धता से झारखंडी एकता को ताकत मिली। 80 के दशक में फिर एक बार झारखंड आंदोलन में शिथिलता आई। 1980 में झारखंड मुक्ति मोर्चा के नेता शिबू सोरेन ने कांग्रेस (ई) के इंदिरा गाँधी से चुनावी गठबंधन के कारण झामुमो तीन गुटों में बिखरित हो गई। एक शिबू सोरेन गुट, दूसरा विनोद बिहारी महतो गुट और तीसरा देवेन्द्र माझी गुट। अतीत की परिघटनाओं से सबक लेकर साथ ही डॉ. वीर भारत तलवार से उत्प्रेरित होकर ‘ऑल झारखंड स्टूडेंट्स यूनियन’ (आजसू) के संस्थापक छात्र श्री सूर्य सिंह बेसरा ने 1986 में ‘अखिल झारखंड छात्र एवं बुद्धिजीवी सम्मेलन’ जमशेदपुर में आयोजित किया था, जिसमें अंततोगत्वा ‘आजसू’ का आंदोलन झारखंड राज्य निर्माण में निर्णायक साबित हुआ।

डॉ. वीर भारत तलवार एक ऐसे वामपंथी विचारक हैं, जो झारखंड में ‘थिंक टैंक’ के नाम से जाने जाते हैं। उन्होंने नीति और सिद्धांत के तहत राजनीतिक कार्यकर्ताओं को वैचारिक परिपक्वता के लिए झारखंड के विभिन्न क्षेत्रों में ‘कार्यशाला’ आयोजित की। उन दिनों उनके द्वारा लिखित पुस्तक ‘झारखंड क्या, क्यों और कैसे?’ काफी चर्चित थी। पहली बार इस तरह की छोटी सी पुस्तक सन् 1987 में प्रकाशित हुई थी। उस पुस्तक को पढ़कर झारखंड आंदोलनकारियों को काफी लाभ मिला। डॉ. तलवार द्वारा लिखित दस्तावेज से राजनीतिक कार्यकर्ताओं

को प्रशिक्षण मिला कि झारखंड आंदोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या है ? और झारखंड अलग राज्य क्यों चाहिए ? और उसे कैसे हासिल किया जा सकता है ?

डॉ. वीर भारत तलवार द्वारा 1977-78 में धनबाद से 'शाल पत्र' तथा राँची से 'झारखंड वार्ता' का प्रकाशन होता था, जिसका संपादन वे स्वयं करते थे। उक्त दोनों ही पत्रिकाएँ काफी लोकप्रिय होने के साथ झारखंड आंदोलन में सहायक सिद्ध हुईं।

सन् 1980 में राँची विश्वविद्यालय के अंतर्गत स्नातकोत्तर की पढ़ाई के लिए 'जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग' की स्थापना हुई, जिसमें 9 झारखंडी भाषाएँ क्रमशः संथाली, मुंडारी, हो, कुड़ूख, खड़िया, नागपुरी, कुरमाली, खोरठा एवं पंचपरगनिया शामिल हैं। इस विभाग के संस्थापक अध्यक्ष डॉ. राम दयाल मुंडा थे। झारखंड में झारखंडी भाषाओं की पढ़ाई हो, इसके लिए भाषा आंदोलन के अलावे 'जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग' स्थापना में डॉ. वीर भारत तलवार की काफी अहम एवं ऐतिहासिक भूमिका रही है।

डॉ. वीर भारत तलवार ने झारखंड आंदोलन के जनक मारांग गोमके जयपाल सिंह (मुंडा) की ओर से 1954 में 'राज्य पुनर्गठन आयोग' को दिए गए मेमोरैंडम का अंग्रेजी से हिंदी में अनुवाद किया है। उसी प्रकार 1971 में प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी को झारखंड पार्टी के अध्यक्ष एन. ई. होरो द्वारा दिए गए मेमोरैंडम का अंग्रेजी से हिंदी में अनुवाद किया है।

कॉमरेड सीताराम शास्त्री को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके द्वारा लिखित पुस्तक की चर्चा करना चाहेंगे, जिसके लेखन और संपादन में डॉ. वीर भारत तलवार की प्रमुख सहभागिता रही। पुस्तक का शीर्षक है, 'भारत में राष्ट्रीय प्रश्न और आदिवासियों के राष्ट्र की समस्या'। उक्त पुस्तक उस समय काफी चर्चित थी, जब 1975 में भारतीय राजनीति में 'कम्युनिस्ट पार्टियों का बोलबाला था। 'वर्ग संघर्ष' वामपंथी विचारधारा का मूल सिद्धांत था। आत्म निर्णय का अधिकार की वकालत तो करते थे, लेकिन 'आदिवासी राष्ट्रीयता के लिए राजसत्ता के अधिकार के मुद्दे पर कम्युनिस्ट पार्टियाँ चुप्पी साधे हुई थीं। वैसी परिस्थितियों में उस पुस्तक की प्रासंगिकता और अधिक बढ़ जाती है। उस पुस्तक के तार्किक सवालों के कारण राष्ट्रीय बहस छिड़ गई थी... क्या आदिवासी राष्ट्रीयता के लिए आत्म-निर्णय के अधिकार के साथ राजसत्ता जरूरी है? यानी झारखंड अलग राज्य की मांग का औचित्य है क्या ? इस वैचारिक बहस के बाद आखिरकार कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (सी.पी.आई.) ने पहली बार एक प्रस्ताव पारित कर 'झारखंड अलग राज्य' मांग का समर्थन किया। वामपंथियों के इस वैचारिक परिवर्तन के लिए डॉ. वीर भारत तलवार को श्रेय जाता है।

हाल के दिनों में डॉ. तलवार द्वारा लिखित पुस्तक 'झारखंड आंदोलन के दस्तावेज' चर्चा में आयी है। उन्होंने झारखंड आंदोलन के प्रारंभिक काल से आज तक के दस्तावेजों की प्रासंगिकता पर विश्लेषणात्मक वर्णन किया है। उन्होंने विभिन्न राजनीतिक संगठनों द्वारा जारी किए गए दस्तावेजों का गहन अध्ययन कर अपनी पुस्तक में संपादित कर मूल्यांकन किया है कि झारखंड नामधारी पार्टियों के उन पुराने दस्तावेजों को देखें तो पता चलेगा कि झारखंड आंदोलन के दौरान जिन प्रस्तावों को वे पारित कर चुके थे... उनके लिए ये कोई मुद्दे नहीं रह गए हैं। डॉ. वीर भारत तलवार ने विशेषकर उन दो संगठनों के नामों की चर्चा की है, जिनकी झारखंड आंदोलन में निर्णायक भूमिका रही है। एक है.... झारखंड मुक्तिमोर्चा, जो एक राजनीतिक पार्टी है और दूसरा है- झारखंड स्टूडेंट्स यूनियन (आजसू), जो एक छात्र संगठन है। झारखंड मुक्तिमोर्चा की नीति सिद्धांत या यूँ कहा जाय उनका 'घोषणा पत्र' बिलकुल ही वामपंथी विचारधारा से मिलती-जुलती है। झामुमो संघर्ष से सत्ता तक पहुँची, लेकिन सरकार बनाते ही सारे मुद्दों को मुर्दे की तरह दफना दिया। श्री सुदेश कुमार महतो ने तो 'आजसू' (स्वतंत्र छात्र संगठन) को 'आजसू पार्टी' के नाम से एक राजनीतिक पार्टी बनाकर अपनी स्वार्थ की राजनीतिक रोटी सेंकनी शुरू कर दी। इस प्रकार झामुमो और आजसू पार्टी ने ही अपने सिद्धांतों की तिलांजलि दे दी है।

डॉ. वीर भारत तलवार झारखंड की राजनीति में नए विकल्प की जरूरत पर बल देते हैं, संकल्प लिया है.... अगर पुराने दस्तावेजों के आधार पर नीति निर्धारण किया जाय तो झारखंडियों का अस्तित्व भी बचेगा और

झारखंड का नवनिर्माण भी हो सकता है। डॉ. तलवार के अनुसार, 'इस किताब में जो दुर्लभ ऐतिहासिक दस्तावेज दिए गए हैं, उनमें झारखंड अलग राज्य क्यों बनना चाहिए ? इसके लिए विभिन्न तर्कों और सिद्धांतों को पेश करने के अलावा झारखंड के नवनिर्माण से संबंधित प्रश्नों पर काफी प्रकाश डाला गया है। यह भी बताया गया है कि झारखंड अलग राज्य बन जाने से कैसे यहाँ की बुनियादी समस्याओं का हल निकलना आसान हो जाएगा, कैसे अलग राज्य के संसाधनों के सही उपयोग से यहाँ की जनता का जीवन स्तर ऊँचा उठाया जा सकता है और विकास के लिए एक संतुलित अर्थव्यवस्था की नीतियों से रोजगार में बढ़ोत्तरी हो सकती है और गाँवों से होने वाला पलायन रुक सकता है।

डॉ. वीर भारत तलवार ने झारखंड आंदोलन के दस्तावेजों को पढ़ते हुए लिखा है कि झारखंड आंदोलनकारी पार्टियों पर सवाल उठाना लाजिमी है, क्योंकि ये दस्तावेज शायद आज की परिस्थितियों में एक नई दिशा दे सकें, एक नई दिशा की ओर संकेत कर सकें। झारखंड में आज राजनीतिक पतन का जो घनघोर अंधकार छाया हुआ है, उसमें शायद कोई साहसी झारखंडी इन दस्तावेजों से नई दृष्टि हासिल कर सके और नए आत्मविश्वास से भरकर झारखंडी राजनीति में एक नया विकल्प पेश कर सके।

डॉ. वीर भारत तलवार सिर्फ एक विचारक ही नहीं, बल्कि वे एक बहुआयामी प्रतिभाशाली व्यक्तित्व और नेतृत्व हैं। झारखंड आंदोलन में उनकी अहम भूमिका, उत्कृष्टता एवं प्रतिबद्धता के लिए आदिवासी संगठनों द्वारा 1989 में 'भगवान बिरसा मुण्डा पुरस्कार' तथा 2005 में ऑल झारखंड स्टूडेंट्स यूनियन (आजसू) द्वारा 'झारखंड रत्न' की उपाधि से विभूषित किया गया है।



झारखंड : संस्कृति, समाज और विकास की बलिवेदी

■ रणेन्द्र

(साभार : तद्भव, अंक 20, जुलाई 2009)

वीर भारत तलवार की सद्यःप्रकाशित पुस्तक ‘झारखंड के आदिवासियों के बीच : एक एकटीविस्ट के नोट्स’ से गुजरना एक विरल अनुभव संसार से सुपरिचित होना है। झारखंड, आदिवासी अस्मिता, उनके श्रेष्ठ सांस्कृतिक मूल्य, भाषिक साहित्यिक सम्पन्नता, विकास बुलडोजर की बर्बरता, आंतरिक औपनिवेशिकता की भयावहता आदि पृष्ठ दर पृष्ठ पाठक के समक्ष खुलते जाते हैं। ‘नोट्स’ के बहाने लेखक ने विधागत बाधाओं को छलांगने की कोशिश की है ताकि वे आदिवासी, आदिवासियत और उनकी पीड़ा की गुत्थियों को सुलझा सकें।

सत्तर के दशक में तलवार जी ने इस इलाके में पूर्णकालिक कार्यकर्ता के रूप में सक्रिय जीवन गुजारा था। उन्होंने एक जिज्ञासु विद्यार्थी की तरह अपने भीतर बहुत कुछ बटोरने संजोने की कोशिश की थी। तभी वे यहां आदिवासी बनाम अन्य समाज, विकास बनाम विस्थापन, मुख्यधारा बनाम मौन धारा के मिथक और यथार्थ की भिन्नताओं के विश्लेषण में सक्षम दिखते हैं। कथित मुख्यधारा ‘आदिवासी’ को जिस दृष्टि से देखती है, लेखक उसे अच्छी तरह से समझता है, “आदिवासियों से अनजान लोग उनके प्रति बहुत सी गलत धारणाएं रखते हैं और उन्हें असभ्य तथा जंगली समझते हैं और जब उनके सम्पर्क में आते हैं तो उनके साथ ऐसा ही व्यवहार भी करते हैं। यह तथाकथित सभ्य समाज की असभ्यता, अहंकार और कूपमंडूकता है। उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि न सिर्फ मुंडा, बल्कि भात की अधिकांश बड़ी आदिवासी जातियां सभ्य हैं, सुसंस्कृत हैं, भाषा और लोकसाहित्य से सम्पन्न हैं और उनमें लिखित साहित्य की भी रचना हो रही है।” इसी अहंकारी, पूर्वाग्रही, कूपमंडूक असभ्य समाज का प्रतिनिधि है ‘जोजोहातु का वह सरकारी वैद्य’, मैथिल ब्राह्मण झा जी जो स्वास्थ्य केन्द्र में रखी लाखों रुपये की दवाओं को बीमार आदिवासियों को बांटने में अपनी हेठी समझता है और उनमें बदतमीजी से पेश आने, गालियां देने, स्वास्थ्य केन्द्र न खोलने में अपना बड़प्पन। (पृ. 33)

कथित मुख्यधारा की दूसरी गलत अवधारणा यह है कि वह न केवल झारखंड के 32 आदिवासी समुदायों को बल्कि भारत की करीब 427 आदिवासी जातियों को अभिन्न, एक समान, एक रेखीय संरचना वाला मानता है। लेकिन यथार्थ कुछ और ही है, आदिवासी समुदाय भी सांस्कृतिक, आर्थिक और समाजिक दृष्टिकोण से एक दूसरे से भिन्न हैं। यहां भी विविधताएं हैं जो धैर्य से समझे जाने की मांग करती हैं। लेखक ने झारखंड के गांवों, हाटों, मेलों ठेलों, अखड़ा सरना में वर्षों बैठ कर इस विविधता को महसूस किया है, “अलग अलग आदिवासी जातियां अपने ऐतिहासिक विकास की अलग अलग मंजिलों पर हैं और उनकी समाज व्यवस्था एवं संस्कृति भी अलग अलग है। कुछ आदिवासी जातियां ऐसी भी हैं, जो अभी भी मानव समाज की सबसे प्राचीन अवस्था में हैं— जैसे, अंडमान की कुछ जातियां। कुछ आदिवासी जातियां किसी खास पेशे में लगी हुई हैं और आहार संग्रह की अवस्था में हैं तो कुछ आदिवासी जातियां खेतिहर अवस्था में हैं। झारखंड में ‘बिरहोर’ जाति आहार संग्रह की अवस्था में है।” (पृ. 660-661)

लेखक को यह मालूम था कि उसकी यह पुस्तक ऐसे सुधी पाठकों के हाथों में भी जायगी जो झारखंड और यहां के आदिवासी समुदायों से बिल्कुल अपरिचित अजाने होंगे। अतएव तलवार जी ऐसे पाठकों के लिए झारखंड के बड़े पांच आदिवासी समुदायों (संताल, उरांव, मुंडा, खड़िया, हो) में से एक, मुंडाओं के गहन समाजशास्त्रीय विश्लेषण में जाते हैं। इस समुदाय के संदर्भ में वे एक विशेषज्ञ समाजशास्त्री के रूप में प्रकट होते हैं। ऐसा इसीलिए सम्भव हो सकता है क्योंकि उन्होंने मुंडा इलाकों में पूरे मन से एक लम्बी अवधि सचेतन रूप से गुजारी है। वे मुंडा समाज के गोत्र टोटम पाहन, सरना, बोंगा, हाट मेला, अखड़ा नाच, पर्व, त्योहार आदि का सविस्तर वर्णन करते हैं। मुंडाओं के झारखंड में आगमन एवं गोत्र गण जनपत के जाति (नेशन) में विकास पर अलग अलग अध्याय इस पुस्तक की उपादेयता में वृद्धि करते हैं।

प्रथम मुंडा इतिहासकार, चोंडोर के सागू मुंडा को याद करने, पर्सनल पेपर्स में उनकी कहानी उन्हीं की जुबान सुनाते, मुंडा गण के विघटन को समझाते, 'नोटबुक से' उपशीर्षक के तहत पुनः मुंडारी लोकगीत पर बात करते डब्ल्यू.जी. आर्चर और जगदीश त्रिगुणायनों के मुंडारी लोकगीतों के संकलन का बारीक विश्लेषण करते हुए लेखक बार बार मुंडारी लोकजीवन, संस्कृति, साहित्य की समृद्धि और खूबसूरती की ओर हमारा ध्यान खींचता है।

आदिवासी समाज संस्कृति क्षेत्र के प्रथम पूर्ण प्रवासी बेरियर एल्विन से पंडित नेहरू ने आदिवासियत को समझाने की कोशिश की थी। इसी 'समझ' ने पांचवीं अनुसूची में सम्मिलित आदिवासी इलाकों के लिए एक पंचशील का सिद्धांत विकसित किया। जिसके तहत इन इलाकों में बाहरी हस्तक्षेपों को न्यूनतम करना, प्रशासनिक ढांचे में स्थानीयता को बढ़ावा देना और इन इलाकों के विकास की गति को भौतिक व्यय के माप से मुक्त रखने की शर्तें शामिल थीं। किन्तु पूंजीवादी विकास के दबाव में पंडित नेहरू ने ही ये शर्तें तोड़ दीं। कथित विकास के उप उत्पाद के रूप में विस्थापन और पलायन सामने आया जो न केवल झारखंड बल्कि देश के सभी आदिवासी इलाकों के लिए विध्वंसकारी साबित हुआ। इस पुस्तक में 'विकास के प्रश्न' उपशीर्षक के तहत इसी प्रगति की बलिवेदी की पड़ताल की गयी है।

यह वीर भारत तलवार की तथ्यपरक दृष्टि ही है जो झारखंड की राजनीति और राजनीतिज्ञों को भावुक नजरिये से नहीं देखती बल्कि वस्तुपरक विश्लेषण करने के क्रम में उनकी कमजोरियों पर भी उंगली रखती है। उपनिवेशकालीन झारखंड में हुए विद्रोहों क्रांतियों की शृंखला और उसकी महत्ता से लेखक सुपरिचित है। वह महान संताल हूल के नायक सिद्धू कानू से लेकर भगवान बिरसा मुंडा की महत्ता को पुनः प्रतिष्ठित करता है किन्तु इस आंदोलन की परम्परा के विकास से वह संतुष्ट नहीं है। गांधीवादी और कम्युनिस्ट आंदोलनों ने आदिवासियों की विशिष्टताओं को रेखांकित नहीं किया और न उनके अनुरूप अपने आंदोलनों कार्यक्रमों के कोई बदलाव लाने की कोशिश की। ये तथ्य लेखक को उद्वेलित करते हैं, "गांधीवादियों ने, खासकर ठक्कर बापा और उनके आदिम जाति सेवा मंडल ने, आदिवासियों के प्रति वही उद्धारक वाला दयापूर्ण दृष्टिकोण रखा, जैसे वे दलितों के प्रति रखते थे। ये गांधीवादी ऊंची जातियों की सवर्ण मानसिकता के साथ आदिवासियों को सुसंस्कृत करने की कोशिश करते रहे। दूसरी ओर कम्युनिस्ट आदिवासियों को एक क्रांतिकारी वर्ग के हिसाब से देखते रहे जो उन लोगों द्वारा तय की गयी नयी जनवादी या राष्ट्रीय जनवादी क्रांति में अपनी भूमिका अदा करेंगे।"

चूँकि लेखक एक सुनिश्चित राजनैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही पटना में 'फिलहाल' के सम्पादन को स्थगित कर, झारखंडी इलाके में पूर्णकालीन कार्यकर्ता के रूप में सक्रिय था अतएव उसने समाजवादी चेतना के साथ झारखंडी आंदोलन के साथ सम्बंध बनाये। पुस्तिका की भूमिका 'जोहार' में वे अपनी इस राजनैतिक सक्रियता की तपसील में जाते हैं। लेखक एक ओर झारखंड आंदोलन के लिए संगठन, सिद्धांत और संघर्ष सम्बंधी प्रशिक्षण शिविरों की सफलता, जिनके परिणामस्वरूप 1978 के पंद्रह अगस्त से प्रारम्भ हुई 'सीधी कार्रवाई' नामक आंदोलन की व्यापकता तथा कोल्हान के 'जंगल आंदोलन' के प्रभाव से संतुष्ट दिखता है वहीं दूसरी ओर झारखंडी राजनेता अपने अहम, स्वार्थपरता और व्यक्तिवादिता से उसे दुखी करते जान पड़ते हैं। लेखक के ही शब्दों में "झारखंडी

नेताओं में अपना अपना अहंकार और अपनी स्वार्थ भावना काफी थी और एक बड़े लक्ष्य के लिए मिल कर विकास नहीं हुआ था। लिहाजा आम चुनाव आने से पहले ही मोर्चा बिखर गया और चुनाव में सभी झारखंडी दल एक दूसरे के खिलाफ खड़े हो गये। इस घटना ने मुझे काफी निराश किया।” (पृ. 21-22)

लेखक की संवेदनशील दृष्टि से झारखंड के सदानों (गैर आदिवासियों) की भी पीड़ा ओझल नहीं रहती है। इस पुस्तक के प्रथम उपशीर्षक ‘समाज’ के अंतर्गत ही ‘पलामू के बंधुआ मजदूरों’ की अनसुनी चीख शब्दाकार ग्रहण करती है। रामशरण जोशी की आदमी, बैल और सपनों में भी पलामू के इन बंधुआ मजदूरों की बदहाली और कलपती आवाजों से भेंट हुई थी।

इस पुस्तक के एक उपशीर्षक ‘यह भी झारखंड में’ के तीन अध्याय सदानों को समर्पित हैं। ‘झारखंड के सदान और उनकी समस्याएं’ सामान्य पाठक को ध्यान में रखकर लिखा गया आलेख है जो इस समुदाय और इनकी समस्याओं के रूबरू करवाता है। किन्तु मानभूम के एक जमींदार घर की औरतों की कहानी उन्हीं में से एक की जुबानी एक अद्भुत अध्याय है। ‘एक बंद सीलन भरी अंधेरी कोठरी में झांकता हुआ। युगों की चुप्पी, घुटन, शोषण और पीड़ा को जुबान देता हुआ। इसका पाठ देर तक पाठकों की स्मृति में गूंजता है और व्यथित करता है।

झारखंड के आदिवासियों की तरह सदानों की अपनी भाषाएं हैं जिनमें नगपुरिया, खोरठा, पंचपरगनिया, कुरमाली आदि प्रमुख हैं। ‘मेघदूत’ खोरठा में शीर्षक अध्याय खोरठा के सुप्रसिद्ध कवि श्रीनिवास पानुरी की काव्य सामर्थ्य को बहुत ही शिद्दत से रेखांकित करता है।

विकास की पूंजीवादी प्रक्रिया की आलोचना तो आदिवासी या झारखंड विषयक हर पुस्तक में मिल जाती है किन्तु वैकल्पिक विकास की अवधारणा पर शोधपरक आलेख कम ही दिखते हैं। गहन शोधकर्ता के रूप में सुख्यात वीर भारत तलवार ने इस पुस्तक में भी अपनी श्रमसाध्यता के प्रमाण दिये हैं। लगभग 40 पृष्ठों के ‘झारखंड में बड़े बांधों का विकल्प’ शीर्षक आलेख ने अपनी गम्भीरता, खोजपूर्ण दृष्टि एवं मेहनत से एकत्र किये आंकड़ों से इस पुस्तक की महत्ता बहुत बढ़ा दी है। 1901-03 की भारतीय सिंचाई आयोग की रिपोर्ट, छोटानागपुर में नियुक्त पहले सर्वे सेटलमेण्ट अफसर जॉन रीड की रिपोर्ट, श्री ए.सी. डॉब्स, उपनिदेशक, कृषि विभाग का सन् 1919 का शोधपत्र एवं जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के शोधछात्र प्रभु महापात्र के 1880 से 1920 के बीच छोटानागपुर से मजदूरों के पलायन पर किये गये शोधकार्य पर आधारित यह आलेख एक बहुत महत्वपूर्ण कार्य सिद्ध करता दिखता है।

लेखक की श्रमसाध्य शोधवृत्ति का दर्शन ‘मुंडा गण का विघटन’ अध्याय में भी होता है जब वे फादर हॉफमैन के सोलह खंडों वाले ‘एन्साइक्लोपीडिया मुंडारिका’ का आद्योपांत अध्ययन करने के बाद सामान्य पाठकों की सुविधा के लिए, किस अध्याय के किन पृष्ठों पर किस विषयवस्तु पर प्रकाश डाला गया है, इसका विश्लेषण करते हैं। तलवार जी का यह विश्लेषण इस एन्साइक्लोपीडिया की उपयोगिता को कितना बढ़ा देगा यह तो बस महसूस करने की बात है।

‘कुछ खड़िया शब्दों की निरुक्ति’, ‘खड़िया, मुंडारी, संताली तथा हो की व्युत्पत्तिपरक शब्दावली’ और ‘रांची जिले के आदिवासियों के बीच हिन्दी के कुछ विशिष्ट प्रयोग’ जैसे अध्याय लेखक के सूक्ष्म भाषाविज्ञानी स्वरूप से परिचित कराते हैं।

आदिवासी समुदायों के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन मूल्यों पर लेखक सम्मोहित सा नहीं है। वह ‘हो’ समुदाय में ‘गोनोड’ (वधू मूल्य) की विकृत मांग पर क्षुब्ध है तो उरावों-समाज में सांस्कृतिक क्रांति की आवश्यकता पर भी बल देता है। यह बिरसा मुंडा के बाद आदिवासी समाज में एक सांस्कृतिक योद्धा की जरूरत को बार बार अलग अध्यायों में रेखांकित करता है। ‘ब्राह्मणवाद और झारखंडी संस्कृति’ की स्पष्ट भिन्नताओं को विश्लेषित करता हुआ ब्राह्मणवादी मूल्यों के खतरों से अगाह करता चलता है।

अपनी इस पुस्तक में तलवार जी ने कुछ पुस्तकों की समीक्षाएं भी शामिल की हैं। वन विभाग के

पदाधिकारी योगेन्द्र सिन्हा की पुस्तक 'वनलक्ष्मी' के कथ्य और उपन्यासकार की नीयत पर प्रश्नचिह्न तो ठीक हैं। किन्तु अन्य समीक्षाओं में संजीव और महाश्वेता देवी की खिंचाई गले नहीं उतरती। भले ही वह कथ्य की विश्वसनीयता या शिल्प को लेकर विद्वतापूर्ण और सूक्ष्मतापूर्ण प्रयास हों।

इसी प्रकार भूमिका 'जोहार' में राजनैतिक सक्रियताओं के रेखांकन के क्रम में बार बार 'मैं' का आना भी खटकता है। अन्य छोटी मोटी तथ्यात्मक भूलें ध्यान खींचती हैं। 'पलामू के बंधुआ मजदूर' वाले अध्याय के पृष्ठ 94 पर नगोसिया को उरांवों की शाखा बतलाया गया है। जहां तक मेरी जानकारी है ये एक अलग आदिवासी समुदाय ही है जो उरांवों की तरह खेतिहर है।

'ब्राह्मणवाद और झारखंडी संस्कृति' वाले अध्याय में ब्राह्मणवाद की आलोचना करने की रौ में लेखक ने कुर्मियों की हिन्दू समाज में शुद्र दर्जे में चर्चा की है। (पृ. 213 द्रष्टव्य)। कुर्मी यूं तो झारखंड में पिछड़ी जातियों में सम्मिलित हैं किन्तु यथार्थ में शैक्षणिक सामाजिक राजनैतिक वर्चस्व के कारण अपने गांवों में एक तरह से सवर्णों की तरह ही विशेषाधिकारों का उपयोग करते हैं। इसी प्रकार भूमिज, चेरो, खरवार आदिवासी समुदायों ने राजपूतों से विवाह सम्बंध कायम कर एक निम्न गोत्रीय राजपूतों की हैसियत धीरे-धीरे पा ली है या उस दिशा में प्रयासरत हैं। ऐसे भी ये औपनिशिक काल के पूर्व शासक वर्ग में ही थे।

अंत में सिर्फ यह कि झारखंड और आदिवासी अस्मिताओं को समझने के लिए यह एक मुकम्मल और महत्वपूर्ण पुस्तक है। इन समुदायों की भौतिक बदहाली के साथ-साथ, इनके सांस्कृतिक श्रेष्ठ मूल्यों का बार-बार स्मरण भी जरूरी है। क्योंकि केन्या के प्रसिद्ध साहित्यकार नुनी वा थ्योंगों ने यह चेतावनी दी है कि 'शासित समूह की संस्कृति, भाषा, कला, इतिहास को नष्ट कर देना या जानबूझ कर उपेक्षा करना औपनिवेशिक शक्तियों का सांस्कृतिक हथियार है।' इसलिए इन विषयों पर बार-बार लेखन, गहराई से रेखांकन अत्यंत महत्वपूर्ण साहित्यिक राजनैतिक कर्म है।

वीर भारत तलवार ने 'नोट्स' के रूप में विविध विधाओं के संयोजन समुच्चयन में जिस प्रकार सफलता पायी है विरल है।

[झारखंड में आदिवासियों के बीच : एक एक्टीविस्ट के नोट्स : वीर भारत तलवार, प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, मूल्य : 500.00 रु.]



झारखंड : ‘श्वाक हो जाएँगे हम तुमको खबर होने तक...’

बतियाती हुई जन इतिहास की एक किताब

■ वंदना टेटे

(साभार : प्रभात खबर, राँची, 20 दिसम्बर, शनिवार, 2008)

झारखंड पर या फिर झारखंडियों पर लिखते हुए अक्सर लोग असंतुलित हो जाते हैं। यह असंतुलन जातीय पूर्वाग्रह, वर्गीय पक्षधरता, एकांगी दृष्टिकोण, जीवन-संस्कृति की विभिन्नता और अन्य कई-कई दूसरे कारणों से होती है लेकिन लिखने वाले अपने लिखे पर, अपनी समझ और विद्वता पर इतने आत्मगुंथ होते हैं कि अपनी रचना के खिलाफ कुछ भी सुनने को तैयार नहीं होते, वे यह मान बैठे होते हैं कि दुनिया-समाज को समझने की सबसे सटीक प्रणाली उनके पास है क्योंकि वे पढ़े-लिखे समाज से आते हैं, वे अध्ययन की श्रेष्ठ वैज्ञानिक व्यवस्था की उपज हैं, खास कर, आदिवासियों पर लिखते हुए उनका मसीहाई अंदाज देखने लायक होता है और झारखंड जहां कि आदिवासी व सदान तबका दोनों ही लगभग एक स्थितियों में जी रहा होता है (कुछेक सुविधाओं को छोड़ कर) उनका यह असंतुलन बहुत ही स्पष्ट ढंग से दिखाई पड़ता है।

झारखंडी जीवन और समाज पर लिखी गयी कुछ प्रमुख लेखकों की पुस्तकों के अध्ययन से इस बात को और बेहतर तरीके से समझा जा सकता है, वह चाहे, इतिहास, समाज, साहित्य, धर्म-संस्कृति अथवा राजनीति पर लिखी गयी पुस्तक हो कभी एकटीविस्ट रहे डॉ. वीर भारत तलवार की नयी पुस्तक ‘झारखंड के आदिवासियों के बीच : एक एकटीविस्ट के नोट्स’ इस दृष्टि को विमर्श के एक बड़े दायरे में ले जाती है, झारखंड को झारखंड के नजरिये से ही जानने-समझने की कोशिश करती उनकी यह पुस्तक समाज में अनेक स्तरों पर जूझ रहे समुदायों और जातियों के जीवनानुभवों को अभिव्यक्त करती है, जिसमें आदिवासी और गैर-आदिवासी (सदान) दोनों ही समाज समान रूप से मौजूद है, यहां सागू मुण्डा है तो मानभूम के जमींदार परिवार की औरतें भी हैं... पलामू के बंधुआ मजदूर है तो प्रगति का शिकार हो रहा आदिवासी संसार भी है। ब्राह्मणवाद और आदिवासी संस्कृति के मुठभेड़ के बीच से उभरता हुआ सिंहभूम का जंगल आंदोलन है, रूपाराम बरदियार के गीतों की सुरीली स्वरलहरियों के साथ ही ‘मेघदूत’ खोरठा में मौजूद है। कहने का अर्थ है कि इस पुस्तक में लेखक सिर्फ आदिवासियों के बीच नहीं बल्कि समूचे झारखंड के साथ खड़ा है कदम से कदम मिलाता हुआ उनके संघर्ष और सुख-दुख में बराबर का भागीदार वह उनका पथ-प्रदर्शक अथवा नेता नहीं है उन्हीं में से, उन्हीं के बीच से एक है।

डॉ. तलवार की यह पुस्तक न तो इतिहास है और न ही कहानी या उपन्यास, इसमें समय-समय पर देखी-सुनी, मिली या जुटायी गयी जानकारियां हैं, लेकिन प्रस्तुति की मौलिकता और रचनाशीलता कायल कर देनेवाली है, 691 पृष्ठों की इस पुस्तक में लेखक ने 1972-73 से 1980 के आसपास के झारखंड प्रवास के अनुभवों को इसमें बड़े ही सृजनात्मक कौशल के साथ लेखक के अपने एकटीविस्ट जीवन के नोट्स को रखा है। समाज, विकास के प्रश्न, लोक साहित्य, संस्कृति, भाषा, राजनीति आंदोलन, यादें, यह भी झारखंड में, उपन्यासों में आदिवासी, पर्सनल पेपर्स, नोटबुक से 1974-1984 के साथ-साथ झारखंड में सक्रिय रचनाकारों, भाषाविदों,

समाजकर्मियों एवं राजनीतिक बुद्धिजीवियों के साथ हुए पत्रों को भी सार्वजनिक किया है। इस तरह से देखा जाए तो लेखक ने अपने नोट्स को उपरोक्त विषयानुसार अत्यंत ही व्यवस्थित ढंग से पाठकों के समक्ष रखा है। नियम के फैलाव, सहज-सरल भाषा और जीवन-समाज के सभी पक्षों तथा वर्गों से विनम्रता से पेश आने के कारण यह एक लंबे कालखंड की रोचक बातचीत मालूम होती है। यह एक बतियाती हुई पुस्तक है जिसके साथ कोई भी बात कर (पढ़) सकता है उसे कहीं से भी आक्रांत होने की जरूरत नहीं है कि यह किसी वामपंथी विचारवाले लेखक की पुस्तक है जिसके पास दास कैपिटल की कठिन-कठिन शब्दावलियां हैं। भाषा का प्रवाह विषय को बोधगम्य बनाता है और पढ़नेवालों को लगता है कि यह तो अपनी बात है अपनी जबान में। इस अर्थ में साहित्यिक रचना अथवा इतिहास न होते हुए भी 'वोल्गा से गंगा' का स्वाद दे जाती है यह समानता सिर्फ स्वाद अथवा दृष्टि में है जबकि रचाय-बुनाव नितांत मौलिक है।

'झारखंड के आदिवासियों के बीच' की सबसे बड़ी खासियत समाज को समझने की वह दृष्टि एवं कर्म है जो किसी भी सामाजिक-राजनीतिक बदलाव में सबसे बड़ी और कारगर सांस्कृतिक भूमिका निभाती है। अक्सर एकटीविस्ट किस्म के लोग इस दृष्टि और दायित्वों से अपने मुश्किल कार्यभारों तथा रोजमर्रा के सांगठनिक एवं निजी जरूरतों, व्यस्तताओं के दबाव से अलगाव में चले जाते हैं, लिहाजा आंदोलन की दैनिक दिनचर्या और संघर्ष के दबाव उसकी समझ एवं अनुभवों को समाज के साथ साझा नहीं होने देते, उसकी जानकारीयां और समझ निजी अनुभव बन कर स्मृतियाँ में कहीं खो जाती है। डॉ. तलवार की पुस्तक इस अवरोध से बाहर निकलने के तरीके सुझाती है कि कैसे कोई एकटीविस्ट सिर्फ नोट्स लेकर अपने निजी अनुभवों को वर्गीय चेतना के प्रसार में सहायक बन सकता है चीजों को कैसे देखा और समझा जाय। उत्पीड़ित समुदायों और समाजों की संघर्षरत जिंदगियों की जबान कैसे बना जा सकता है।

दूसरी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पुस्तक वर्गीय दृष्टिकोण से झारखंड के उत्पीड़ित समाज जिसमें कि आदिवासी एवं सदान दोनों ही शामिल हैं कि बात करती है। अपनी इस वर्गीय चेतना के कारण यह पुस्तक संतुलित ढंग से बिना किसी पूर्वाग्रह के झारखंड के विभिन्न समाजों के बीच एकता की कड़ियों को जोड़ती चलती है, गीतों के माध्यम से, भाषा के माध्यम से और संघर्ष की एकताबद्ध कार्रवाइयों के व्यापक अनुभवों के माध्यम से। इस अर्थ में इस किताब का संस्कृति, राजनीतिक आंदोलन, उपन्यासों में आदिवासी, पर्सनल पेपर्स तथा पत्राचारवाले खंड विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डॉ. तलवार इन खंडों में झारखंडी समाज के संघर्ष के विभिन्न आयामों का बड़ी सूक्ष्मता से अवलोकन करते हैं। इस लिहाज से झारखंड को झारखंडी नजर से समझने की दृष्टि से इन खंडों को बार-बार पढ़ने की जरूरत है। विशेष कर हमारे जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषाओं के बुद्धिजीवियों को। क्योंकि उन्हें गैर-झारखंडी राजनीति एवं विचार को निर्णायक रूप से शिकस्त देना है तो वर्तमान के साथ-साथ इतिहास की वैज्ञानिक चेतना के साथ समझने का अथक श्रम करने की जरूरत है। अन्यथा जयपाल सिंह मुंडा से लेकर शिबू सोरेन तक के ऐतिहासिक समय झारखंड आंदोलन को और भटकाव में ही ले जाएंगे। इस महत्वपूर्ण पुस्तक पर अपनी त्वरित टिप्पणी के अंत में यह भी कहना चाहूंगी कि यह झारखंड के समकालीन जन इतिहास का वह प्रमाणिक लेखन है जो संघर्ष में शामिल नयी पीढ़ी को एक वैचारिक दृष्टि के साथ एक समृद्ध विरासत सौंपता है। इस विरासत के अभाव में झारखंड की नयी पीढ़ी का संघर्ष आगे नहीं बढ़ सकता हमारे झारखंडी बुद्धिजीवियों को इससे प्रेरणा लेने की जरूरत है और हिंदी लेखकों को झारखंडी समझ।



आदिवासी अस्मिता के पक्ष में...

■ तेलानी मीना होरो

आदिवासियों के विषय में आम धारणा है कि वे जंगली, असभ्य और बर्बर होते हैं; उनकी अपनी कोई संस्कृति नहीं है, भारतीय इतिहास में उनका कोई योगदान नहीं है और न ही उनके पास कोई जीवन-मूल्य है। इस धारणा के विपरीत डॉ. वीर भारत तलवार ने आदिवासियों को सरल हृदय और मानवीय मूल्यों से परिपूर्ण पाया है। उनकी दृष्टि में आदिवासी समाज प्रगतिशीलता, वीरता और बलिदान के मामले में अन्य भारतीय समाज से किंचित मात्र भी कम नहीं है। संसाधनों के अभाव एवं अपने भोलेपन के बावजूद आधुनिक और कुटिल दुश्मनों का सामना आदिवासी समाज ने जिस साहस के साथ किया उसके हिसाब से वह सर्वोच्च सम्मान का अधिकारी है। दूसरी तरफ उनकी संस्कृति में प्रकृति-प्रेम, मनुष्यता, भाई-चारा का भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। उनके यहाँ बलात्कार नहीं होते, अपहरण नहीं होता, दहेज नहीं लिए जाते; और किसी कन्या का विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध नहीं किया जाता। बचपन से जवानी तक लड़के-लड़कियों में कोई भेद नहीं किया जाता, उन्हें साथ-साथ खेलने-कूदने और घुमने से नहीं रोका जाता, उनके प्रेम पर पहरे नहीं बिठाए जाते।

आदिवासी समाज की ये वो विशेषताएँ हैं जिन्हें भारत का तथाकथित सभ्य और सुसंस्कृत समाज तमाम प्रयासों के बावजूद अभी तक प्राप्त नहीं कर सका है। डॉ. तलवार अपने लेखन में आदिवासी समाज की इन विशेषताओं को न केवल उजागर करते हैं, बल्कि इन बातों को उनकी अस्मिता से जोड़कर देखते हैं। आदिवासियों को उनकी भाषा, संस्कृति, धर्म, जमीन और जंगल से अलग करना उनकी अस्मिता को ध्वस्त करने जैसा है। अतः आदिवासी समाज के विकास और बचे रहने की संभावनाओं पर विचार करते हुए तलवारजी ने उनकी भाषा, संस्कृति, धर्म, जंगल और ज़मीन से जुड़े रहने को अनिवार्य माना है। अपने धर्म और संस्कृति को छोड़कर वे किसी भी अन्य धर्म, संस्कृति और भाषा को अपनाएँगे तो उनकी अस्मिता नष्ट होगी। फिर चाहे वह ईसाईयत का खेमा हो या हिंदुत्व का, कोई फर्क नहीं पड़ता।

डॉ. तलवार अपने लेखन में बार-बार आदिवासी समाज को यह समझाते हुए दिखाई पड़ रहे हैं कि भले ही आदिवासी गरीब हैं, उनकी अर्थव्यवस्था पिछड़ी हुई है, उनकी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संस्थाएँ सरल, स्थानीय तथा कमजोर हैं; लेकिन उनकी संस्कृति घटिया नहीं है। “यह सही नहीं है कि उनके रीति-रिवाज, भाषाएँ, धर्म तथा मूल्य निम्नकोटि के हैं। इसके उल्टे, सच तो यह है कि आदिवासियों की संस्कृति, मूल्य तथा बहुत-सी सामाजिक परंपराएँ तथाकथित सभ्य बाहरी लोगों की संस्कृति, मूल्यों और सामाजिक परंपराओं से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं और मानवीय हैं। सच बात तो यह है कि आदिवासियों की संस्कृति और सामाजिक मूल्य मानवजाति की कल्पना के आदर्श समाज से अधिक मेल खाते हैं जबकि आदिवासियों को असभ्य और असंस्कृत कहने वाले भारत के हिंदुओं, ईसाइयों और मुसलमानों का समाज एक सड़ा हुआ समाज है जिसमें औपनिवेशिक सभ्यता के कूड़ा-करकट तथा मध्ययुगीन सामंती संस्कृति के घृणात्मक मूल्यों के नीचे दबकर मनुष्यता और व्यक्ति की गरिमा कराह रही है।” (झारखंड के आदिवासियों के बीच, पृ. 224-25)

आदिवासी अपनी भाषा और संस्कृति का त्याग कर जिन संस्कृतियों को अपना रहे हैं, वह उनकी सांस्कृतिक गरिमा के अनुकूल नहीं है। अपनी संस्कृति और भाषा के प्रति उनकी उदासीनता अत्यंत खतरनाक है। संस्कृति केवल पहचान का आधार नहीं है, वह समाज विशेष की रक्षक भी है। आदिवासियों को अपनी रक्षा के और विकास दोनों के लिए अपनी संस्कृति की ओर लौटना होगा, उन्हें एक सांस्कृतिक आंदोलन की मुहिम छेड़नी होगी।

यह अत्यंत सोचनीय विषय है कि जो समाज हत्या, बलात्कार, दहेज-हत्या, नारी-उत्पीड़न, बाल-उत्पीड़न, घरेलू हिंसा, असमानता से कोसों दूर रहा है वह दूसरे धर्म की ओर कैसे जा सकता है? सबसे बड़ी बात यह है कि इस समाज में न विधवाओं की समस्या है और न ही कोई अनाथ बच्चा पैदा होता है। गाँव में जिन बच्चों को देखनेवाला नहीं होता, आदिवासी बहुत प्यार से उन बच्चों को अपने घर में रख लेते हैं और उन्हें अपने बच्चों जैसा ही प्यार देते हैं। यह आदिवासी समाज और संस्कृति के महान मूल्य हैं जो भविष्य में समाजवादी व्यवस्था का मूल्य बन सकती हैं। परंतु सवाल यह उठता है कि इतने महान मूल्यों वाले संस्कृति से आदिवासियों का मोहभंग क्यों, और कैसे हुआ ? डॉ. तलवार ने इस विषय पर तटस्थ होकर गंभीरता के साथ विचार किया है। इस संदर्भ में वे ब्राह्मणवाद और उसकी प्रकृति को जिम्मेदार मानते हैं। ब्राह्मणवाद ब्राह्मणों द्वारा अपने स्वार्थ-सिद्धि को ध्यान में रखकर विकसित किया गया सिद्धांत है। परंतु इसकी प्रकृति प्रत्येक शोषक वर्ग के लिए उतनी ही उपयोगी है, जितनी ब्राह्मणों के लिए। अतः यह जरूरी नहीं है कि ब्राह्मण ही ब्राह्मणवाद का उपयोग करे। सच तो यह है कि ब्राह्मणवादी संस्कारों की रक्षा में वह प्रत्येक वर्ग लिप्त है जो श्रेष्ठता की भूख से मरा जा रहा है, और जो अपनी श्रेष्ठता के लिए शोषण-चक्र को जरूरी समझता है। आदिवासी समाज में भी एक समय ऐसा आया, जब कबीले के सरदारों में श्रेष्ठता की भूख पैदा हो गई। यहीं से आदिवासी संस्कृति के महानतम मूल्यों को भीतर से तोड़ने वाले विचार ब्राह्मणवाद को प्रवेश का रास्ता मिला। इसकी शुरुआत झारखंड में सामंती राज्य सत्ताओं के उदय के बाद से हुई। डॉ. तलवार ने डॉ. कुमार सुरेश के शोध के हवाले से बताया है कि “झारखंड में जब विभिन्न सामंती राज्य कायम हुए तो उनके राज परिवार ही, जो अपने कबीले की बाकी जनता पर अपनी श्रेष्ठता को साबित करना चाहते थे, ब्राह्मणवादी संस्कृति को झारखंड में लाने के माध्यम बने। एक ही कबीले के समान लोगों के बीच से जब कुछ लोग राज्यसत्ता में पहुँच गए तो इन्हीं सत्ताधारियों ने अपने कबीले के लोग शेष लोगों से खुद ऊँचा घोषित करने के लिए अपना संबंध ब्राह्मणवाद से जोड़ा। इस काम के लिए ब्राह्मणवाद ही सबसे उपयोगी व्यवस्था थी, क्योंकि यह ब्राह्मणवाद ही है, जो समान लोगों के बीच ऊँच-नीच के भेद पैदा करता है और उस भेद को कायम रखने के लिए धर्म का ‘पवित्र’ आधार पेश करता है।” (पृ. 211) इसे डॉ. कुमार सुरेश ने संस्कृतीकरण कहा है। तलवार जी इस संस्कृतीकरण के संदर्भ को स्पष्ट करते हुए झारखंडी जातियों का ब्राह्मणीकरण कहते हैं।

झारखंडी जातियों के ब्राह्मणीकरण ने उनकी संस्कृति को नष्ट करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। समानता, भाई-चारा और प्रेम में विश्वास करने वाला झारखंडी समाज दो भागों में बँट गया। राजपरिवार से जुड़े सदान परिवार ब्राह्मणवादी संस्कृति के एजेंट बन गए और स्वयं को श्रेष्ठ समझने लगे। इस तरह वे शासक हुए और शेष जनता शासित वर्ग की हो गई। डॉ. तलवार बताते हैं कि सदान जब झारखंड आए तो उनमें जातिप्रथा नहीं थी। “ब्राह्मणवाद ने उनके अंदर जातिप्रथा पैदा की और कुछ को ब्राह्मण, कुछ को क्षत्रिय, कायस्थ, वैश्य और बाकी को शूद्र घोषित कर दिया। चेतो कबीला दो भागों में बँट गया- और एक भाग दूसरे भाग को सामाजिक रूप से अपने से नीचा समझने लगा। बराहभूम में सामंती राज्य खड़ा करने वाले भूमिज दो भागों में बँट गए- राजपरिवार से जुड़े सरदार भूमिज और बाकी मामूली भूमिज। सरदार भूमिज बाकी भूमिजों को अपने से नीचा समझते हैं।” (पृ. 211)

बात केवल नीचा समझने तक नहीं है। ब्राह्मणवादी संस्कृति से प्रभावित सरदार भूमिज आज संधालों और कुर्मियों से छुआछूत और भेदभाव रखने में काफी आगे निकल चुके हैं। तलवार जी ने इसे ब्राह्मणवादी संस्कृति के जहरीले गाछ का फल कहा है।

यह फल साधारण प्रभाव का नहीं है। इसे खानेवाली आदिवासी जातियाँ अपने स्त्रियों की स्वतंत्रता की दुश्मन बनती चली गई। उनका सामाजिक सम्मान घटने लगा, उनकी आर्थिक आत्मनिर्भरता टूटी, पुरुष के साथ उनके साथीपन की धारणा खंडित हुई। और अंततः आदिवासी स्त्रियाँ पुरुष के साथी के बजाय घर की लक्ष्मी बन गई। इस तरह ब्राह्मणवाद ने आदिवासी समाज की संस्कृति और धर्म को आहिस्ता-आहिस्ता नष्ट करना शुरू किया। वर्तमान में अधिसंख्यक आदिवासी व्यावहारिक रूप से हिंदू रीति से जीवन जीने लगे हैं। अब “वहाँ स्त्रियाँ शादी के बाद सिंदूर लगाती हैं, हाथ में लाख की चूड़ियाँ पहनती हैं, और तो और तो घूँघट तक काढ़ने लगी हैं। स्त्री और पुरुष को इतनी अलग दृष्टि से देखा जाने लगा है कि गाँव में भाई-बहन, चाचा-भतीजी एक ही खाट पर एक साथ नहीं बैठते, अगर बैठें तो इसे मर्यादाहीन समझा जाता है। अपने खुलेपन के लिए जो मुंडा जाति इतनी प्रसिद्ध रही है, उसी मुंडा जाति पर ब्राह्मणवादी संकीर्ण संस्कृति के प्रभाव का हाल यह है कि तमाड़ इलाके में अगर कोई मुंडा लड़का किसी मुंडा लड़की का हाथ पकड़ ले तो इससे ज्यादा शर्मनाक बात और दूसरी नहीं होगी। प्रकृति के समान मुक्त स्वभाव वाली मुंडा नारी आज लाज और डर का पुतली बन गयी है- इसमें पुरुष की शोषण प्रवृत्ति और रूढ़िवादी ब्राह्मणवाद को छोड़कर और किसी का हित नहीं।” (पृ. 213)

संक्षेप में, डॉ. तलवार ब्राह्मणवाद को आदिवासी समाज की अस्मिता और विकास के रास्ते का सबसे बड़ा काँटा मानते हैं। उनके अनुसार आदिवासियों का वजूद मिटता जा रहा है, उनकी संस्कृति और भाषा खत्म होती जा रही है, उनका विकास नहीं हो पा रहा है तो उसका मुख्य कारण ब्राह्मणवाद है। ‘जबतक ब्राह्मणवाद कायम रहेगा शूद्रों, अछूतों और आदिवासियों को कभी भी भारतीय समाज में गौरव का स्थान, इज्जत का स्थान और विकास का अवसर नहीं मिल सकता।’

तो फिर, इसका उपाय क्या है? उपाय है, डॉ. तलवार के जीवन भर के संघर्ष को समझना, उनके लेखन के दृष्टिकोण से अवगत होना, और उसे स्थापित करना। क्योंकि डॉ. तलवार का संघर्ष और लेखन आदिवासियों की सुरक्षा और विकास की जिस संकल्पना को प्रस्तावित करता है, वही एकमात्र रास्ता है। डॉ. तलवार की दृष्टि में एक आदिवासी होना ब्राह्मण होने से ज्यादा अहमियत रखता है। आदिवासी होने का अर्थ है- प्रकृति की सुरक्षा, पर्यावरण की शुद्धता, मानवता की स्थापना, भाई-चारा और प्रेम का स्थायित्व; और नारी की स्वतंत्रता। यही वो बातें हैं जिनसे आदिवासियों की अस्मिता निर्मित होती है। डॉ. तलवार इन मूल्यों को समाजवाद के अदर्श के रूप में जिंदा रखना चाहते हैं। अतः वे बार-बार आदिवासियों के बीच लौटकर आते हैं, उनकी अस्मिता को तलाशने की कोशिश करते हैं, परिभाषित करते हैं और अंततः उसके विकास एवं रक्षा के पक्ष में एक्टिविस्ट की हैसियत से खड़े होते हैं। डॉ. तलवार का यह प्रयास केवल एक बौद्धिक का प्रयास नहीं है, मानव और मनुष्यता के सच्चे प्रेमी का प्रयास है।

संदर्भ :

- झारखंड के आदिवासियों के बीच : एक एक्टिविस्ट के नोट्स, वीर भारत तलवार, 2008, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।



मुंडा लोकगीत : मुंडा समाज के मानस का प्रतिबिंब

■ अरविन्द कुमार

■ अंकिता कुमारी

किसी समाज को ठीक से समझना हो तो उसकी भाषा और संस्कृति से होकर गुजरना सही रास्ता है। इस बात को वीर भारत तलवार ने गहराई से समझा है और आदिवासियों के बीच काम करते हुए उनकी भाषा और संस्कृति को निकट से समझने का प्रयास किया है। न केवल समझने का प्रयास किया है बल्कि उस पर गंभीरता से विचार करते हुए आदिवासी समाज की विकास-प्रक्रिया की पड़ताल भी की है। ऐसा करने के प्रयास में डॉ. तलवार ने मुंडा लोगों के बीच रहते हुए मुंडा भाषा सीखी, उनके लोकगीत को समझा और उसमें उनके समाज की झलक पायी। तलवार जी की दृष्टि में मुंडा लोकगीतों में मुंडा समाज की सच्ची तस्वीर छिपी है। यही तस्वीर मुंडा समाज का वास्तविक संसार है। मुंडा लोकगीतों में आप मुंडा समाज के लोगों की धड़कन सुन सकते हैं, उनके दर्द की चीख सुन सकते हैं; हर्ष, उल्लास, आशा, निराशा एवं आनन्द का आसमान देख सकते हैं और सबसे बढ़कर उनके निष्कलुष हृदय की सरलता देख सकते हैं। डॉ. तलवार ने यह सब बहुत करीब से देखा है। उनका देखना किसी सामान्य व्यक्ति का देखना नहीं है, एक शोधकर्ता और विचारक का देखना है। इसलिए वे मुंडा लोकगीतों की विशेषता बताते हुए उसका तात्त्विक विवेचन भी करते हैं, और अन्य समाज के लोकगीतों से तुलना भी।

‘मुंडा लोकगीत’ नामक अपने लेख में डॉ. तलवार ने सर्वप्रथम यह बात बताने का प्रयास किया है कि ‘लोकगीत क्या है?’ इस प्रश्न के आलोक में तलवारजी ने आम तौर पर लोकगीत की उसी अवधारणा को स्वीकार किया है, जिसे विश्वविद्यालयीय शिक्षक पढ़ाते आ रहे हैं। लेकिन डॉ. तलवार इस बात से सहमत नहीं हैं कि ‘वह (लोकगीत) किसी व्यक्ति विशेष द्वारा रचा नहीं होता है अथवा उसके रचनाकार का नाम समाज को हमेशा अज्ञात रहता है।’ तलवार जी इस धारणा को भ्रामक मानते हैं। उनके अनुसार इसमें केवल आंशिक सच्चाई है, लोकगीतों के लिए यह कोई अनिवार्य शर्त नहीं है। उदाहरण के लिए मुंडा समाज में बुदू बाबू के गीत और मैथिली समाज में विद्यापति के गीत को देखें। इनके गीत वास्तविक रूप से लोकगीत हैं, परंतु लोकप्रसिद्धि के कारण लोकप्रिय गीत हो गए। लोकप्रिय गीत और लोकगीत में कोई बुनियादी अंतर नहीं है। अगर लोकगीत के रचनाकार का नाम याद है, उसके लोकगीत का लिखित रूप मौजूद है तथा उसका रूप स्थिर हो चुका है तो वह लोकप्रिय गीत की श्रेणी में आ जाता है। दूसरी तरफ जब किसी लोकगीतकार का नाम भुलाकर केवल उसके गीत को लोककंठ के माध्यम से परंपरा में जीवित रखा जाता है तो उसे लोकगीत कहेंगे। “जहाँ लोकगीतों में लोक के द्वारा अक्सर परिवर्तन-परिवर्द्धन और संशोधन होता रहता है वहाँ लोकप्रिय गीतों के साथ ऐसा करने की गुंजाइश बहुत कम रहती है क्योंकि वह लिखित रूप में मौजूद होता है जिसका बार-बार प्रकाशन या संस्करण होता रहता है। लोकप्रिय गीतों में जो स्थिरता होती है, लोकगीतों के रूप में वह स्थिरता नहीं हो पाती।” इस प्रकार जो गीत अपने रचनाकार के नाम और मूल रूप के साथ जिंदा रहते हैं वे लोकप्रिय गीत हैं, तथा जो गीत अपने रचनाकार और मूल रूप को खोकर लोककंठ में जिंदा रहे तो वह लोकगीत है। अतः डॉ. तलवार का कहना सही है कि लोकगीतों के रचनाकार हमेशा से अज्ञात नहीं होते। परंतु मुंडा समाज में ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं जिसमें रचनाकार को याद

रखा गया हो। बुदू बाबू जैसे चंद लोगों को यदि छोड़ दिया जाए तो मुंडा समाज में लोकप्रिय गीतों की क्षीण परंपरा ही मिलेगी। इसका सबसे बड़ा कारण है मुंडा लोगों में अनायासपन (Improvisation) की क्षमता। डॉ. तलवार ने बताया है कि यह अनायासपन 'पूरे लोक में व्याप्त रहता है- कुछ गिनी-चुनी प्रतिभाओं में ही नहीं। लोकगीतों के स्वरूप में, उसकी पंक्तियों में जो परिवर्तन होते रहते हैं, उसका कारण अनायासपन ही है।' इस समाज के लोग चलते-फिरते किसी भी घटना को देखकर लोकगीत रचने में निपुण होते हैं। यह गुण मुंडा समाज की मानसिक बुनावट का हिस्सा है। यहाँ के लोग 'अपने भावों-विचारों और प्रतिक्रियाओं को लोकगीतों के रूप में अभिव्यक्त करने में अभ्यस्त हैं।' इसके अतिरिक्त 'मुंडा समाज के सभी सदस्यों के मानसिक-बौद्धिक धरातल में बहुत अधिक फर्क नहीं है।' अगर कहीं है भी तो उसका कोई खास महत्व नहीं है। अर्थात् 'समाज में श्रमविभाजन और विशिष्टीकरण बहुत विकसित अवस्था में नहीं पहुँचा है। इसके फलस्वरूप सदस्यों की साहित्यिक या सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों में विशेष अंतर नहीं पड़ता, इसलिए सभी सदस्य, बिना किसी हिचकिचाहट के सामान्य रूप से लोकगीत रचने (और उन्हें संशोधित करने) का साहस रखते हैं और ऐसा करते भी हैं।' ऐसी परिस्थिति में लोकप्रिय गीतों की परंपरा क्षीण हो जाए तो स्वाभाविक है।

डॉ. तलवार ने मुंडा लोकगीतों के माध्यम से मुंडा समाज की अनेक विशेषताओं को उद्घाटित करते हुए सदस्यों की मनोवृत्ति, प्रेम भावनाएँ, रीति-रिवाज और समस्याओं की ओर भी संकेत किया है। तलवार जी ने स्पष्ट लिखा है कि 'मुंडा जाति का हृदय और मानस उसके लोकगीतों में प्रतिबिंबित होता है। इन गीतों में मुंडा जीवन के सुख-दुख, उनकी आशा-आकांक्षाएँ झलकती हैं।' इनके लोकगीतों के अध्ययन से इनके मानसिक बुनावट का आसानी से पता लगाया जा सकता है। लोकगीतों में अभिव्यक्त मानसिक विशेषता किसी व्यक्ति विशेष की मानसिक विशेषता नहीं है, वह सकल मुंडा समाज की मानसिक विशेषता है। मुंडा लोकगीतों से पता चलता है कि उनके समाज में प्रेम का सर्वाधिक महत्व है। प्रेम चाहे स्त्री-पुरुष के बीच हो या प्रकृति से- इस मामले में मुंडा समाज काफी आगे है। मुंडा लोकगीतों के वर्गीकरण में विषयवार गीतों की संख्या पर दृष्टिपात करें तो पता लगेगा कि मुंडा समाज में सबसे ज्यादा गीत प्रकृति-प्रेम से संबंधित हैं और दूसरे नंबर पर प्रेमगीतों की संख्या है। गीतों की संख्या से इस बात का संकेत मिलता है कि मुंडा सदस्यों के मानस में किन बातों के लिए सबसे ज्यादा जगह है, उनका जीवन किन बातों से जुड़कर आगे बढ़ता है। त्रिगुणायत के संकलन में शामिल गीतों की क्रमसंख्या को तलवारजी ने अपनी पुस्तक में विषयवार वर्गीकरण के तहत शामिल किया है। वर्गीकृत गीतों के कुछ महत्वपूर्ण विषयों की संख्या देखिए -

प्रेमगीत - 25,

मान भावना - 1

लड़ाई से संबंधित - 11

इतिहास से संबंधित - 14

धर्म संबंधी - 2

विरह संबंधी - 11

प्रेम संबंधी सामाजिक बंधन - 7

गरीबी और शोषण - 11

प्रकृति संबंधी - 48

पशु-पक्षी संबंधी - 11

गीतों की संख्या और उनके विषय से स्पष्ट है कि मुंडा समाज एक प्रेमी समाज है। वह अपने लोगों से और अपने आसपास की प्रकृति से गहरे लगाव को महसूस करता है। उनके संपूर्ण समाज का यह मुख्य आधार है। अर्थात् मानव-प्रेम, पशु-प्रेम और सबसे बढ़कर प्रकृति-प्रेम मुंडा समाज की सर्वप्रमुख विशेषता है। समाज में प्रेम करने की स्वस्थ परंपरा है जो अपनी प्रकृति में काफी मजबूत है, लेकिन एक सीमित दायरे में प्रेम संबंधी सामाजिक बंधन भी हैं। अतः विरह भी है। प्रेम की जितनी व्यापक स्वीकृति इस समाज में है उसके अनुपात में प्रेम संबंधी सामाजिक बंधन और विरह का अनुपात कम है। शोषण, गरीबी, संघर्ष और इतिहास चैतन्य समाज की पहचान है, जो मुंडा समाज में भी है।

कुल मिलाकर मुंडा समाज किसी भी सभ्य समाज से पीछे नहीं है, बल्कि प्रेम, उदारता, सरलता,

निष्कलुषता के मामले में यह सभ्य समाज के लिए प्रेरणादायक है। धर्म संबंधी एवं मान भावना से संबंधित लोकगीतों की कमी से धार्मिक कट्टरता एवं अहंकार का अभाव दिखाई पड़ता है। ये तमाम विशेषताएँ मुंडा समाज के लोगों को मानवीयता के उच्च धरातल पर स्थापित करती हैं। लेकिन एक बात खटकने वाली है, जिसे तलवारजी ने खास तौर पर गौरतलब किया है। वह है मुंडारी प्रेमगीतों में 'स्त्री-पुरुष के प्रेम में अपने प्रेमपात्र को प्राप्त करने के लिए साहस और समाज-व्यवस्था से टक्कर लेने की भावना का अभाव।' डॉ. तलवार ने लिखा है कि "संसार की सभी जातियों में और उनके साहित्य में प्रेमी-प्रेमिका द्वारा एक-दूसरे को प्राप्त करने के लिए अपना सब कुछ दाँव लगा देने और सारे संसार का खतरा मोल लेने की महान साहसपूर्ण भावनाएँ देखने को मिलती हैं जो प्रेम क्षेत्र का एक महान मानवीय मूल्य है।" लेकिन यह महान मानवीय मूल्य मुंडा समाज के प्रेमगीतों में कहीं दिखाई नहीं पड़ता। यह बात सोचनीय है। खास तौर पर उस स्थिति में जब मुंडा लोकगीतों में प्रेमगीतों की संख्या प्रकृति संबंधी गीतों के बाद सबसे ज्यादा है। और, 'इन गीतों में प्रेम के वर्णन के साथ प्रेम संबंधी मानवीय भावनाएँ, आशा और निराशा का वर्णन भी है, अपने प्रेम पात्र को प्राप्त करने की इच्छा का भी वर्णन है।' परंतु इससे ज्यादा कुछ नहीं। समाज और परिवार के खिलाफ जाकर अपने प्रेम को पाने की न इच्छा व्यक्त की गई है, और न ही कोशिश। आखिर, इसका कारण क्या है?

डॉ. तलवार ने इसके पीछे दो कारणों को लक्षित किया है। पहला कारण है, 'मुंडा समाज में वैयक्तिकता का अभाव। और दूसरा कारण है, सारे संसार से अलग-थलग अपनी एक छोटी-सी दुनिया में कैद पड़े रहना। तलवार जी की दृष्टि में ये दो कारण हैं, लेकिन ठीक से देखा जाय तो ये एक-दूसरे से जुड़े हुए, मूलतः एक ही कारण हैं, जिसे अलग-थलग पड़े रहने वाले अशिक्षित समाज की प्रकृति कह सकते हैं। शिक्षा मानवीय मूल्य से युक्त चरित्र का निर्माण करती है, चाहे वो शिक्षा धार्मिक ही क्यों न हो। मुंडा समाज में ऐसी किसी भी शिक्षा का अभाव है जो उन्हें महान मानवीय मूल्यों से जोड़े। धर्म संबंधी लोकगीतों की अल्प संख्या से भी इस बात का पता चलता है कि मुंडा समाज पर धर्म का शासन कमजोर है। ऐसे में प्रेम पाने का महान मानवीय मूल्य कहाँ से प्राप्त हो ? तलवार जी ने लैला-मजनू, रोमियो-जूलिएट आदि का उदाहरण दिया है। ध्यातव्य है कि ये लोग सभ्य समाज के उच्च स्तर (कम से कम मानसिक स्तर पर तो जरूर) से संबंधित लोग थे। उनकी चेतना प्रबल थी। अपने चुनाव के लिए संघर्ष करना चेतना संपन्न व्यक्ति का प्रमुख गुण है। अपनी स्वतंत्रता के लिए हो या प्रेम के लिए, चेतना संपन्न व्यक्ति ही संघर्ष कर सकता है। बिरसा मुंडा ऐसे ही चेतना संपन्न व्यक्तित्व का नाम है जिसने स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया था। आखिर उसके पास ये चेतना कहाँ से आयी ? स्वयं तलवारजी ने बिरसा मुंडा पर लेख लिखते हुए उनकी पढ़ाई से चेतना के विकास की बात कही है। मुंडा समाज का बहुलांश अशिक्षित अवस्था में कबिलाई जीवन व्यतीत कर रहा है। उसे अपने चेतना के विकास की परिस्थितियाँ अथवा अवसर मयस्सर नहीं हैं। मुंडा समाज शिक्षा के उस स्तर का स्पर्श आज तक नहीं कर पाया, जिससे महान मूल्यों का जन्म होता है। अतः वैयक्तिकता का विकास नहीं होना स्वाभाविक है। और, जहाँ वैयक्तिकता का अभाव है वहाँ जो कुछ भी उपलब्ध है, विधाता की कृपा से है। फिर चाहे विधाता के रूप में ईश्वर हों या समाज, क्या फर्क पड़ता है?

कुल मिलाकर डॉ. तलवार ने मुंडा लोकगीतों के माध्यम से मुंडा समाज की मानसिक वृत्तियों का सही आकलन किया है। उनकी चिंता भी सही है कि विकास की दृष्टि से वैयक्तिकता का अभाव कितना सही है और कितना गलत ? डॉ. तलवार की यह चिंता केवल सवाल नहीं है, आदिवासियों के विकास के लिए किए जाने वाले प्रयास को दिशा निर्देश भी है।

संदर्भ :

- झारखंड के आदिवासियों के बीच : एक एक्टिविस्ट के नोट्स, वीर भारत तलवार, 2008, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।



निरपेक्ष और क्रांतिकारी पत्रकारिता का ऐतिहासिक दस्तावेज़

■ पीयूष राज

इस साल नक्सलबाड़ी आंदोलन के 50 वर्ष पूरे हुए, ऐसे में उस दौर के बारे में एक बार फिर से सोचना और समझना जरूरी हो जाता है। 'नक्सलबाड़ी के दौर में' वीर भारत तलवार की एक ऐसी किताब है जो उस वक्त के समग्र पक्ष से आपको मुखातिब कराती है। यह किताब 1972 से 1974 के बीच तलवार जी के संपादकत्व में पटना से निकलने वाली पाक्षिक पत्रिका 'फिलहाल' के लेखों का संकलन है।

जब आप किसी आंदोलन के बीच में होते हैं या किसी बदलाव की धार में होते हैं तब आप उन परिस्थितियों का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं कर पाते हैं। लेकिन एक बार जब उन स्थितियों से कोई बाहर निकलता है तब ठहर कर उस दौर में उसे सोचने का मौका मिलता है। तलवार जी की यह किताब इसी सोच को प्रदर्शित करती है।

नक्सलबाड़ी आंदोलन से उस दौर में कई लोग, खासकर युवा, एक रोमानी और सब कुछ बदल देने के भाव से जुड़े थे। जिस वक्त 'फिलहाल' को प्रकाशित करने की योजना बनी थी, उस वक्त नक्सलबाड़ी आंदोलन का दमन जोरों पर था और आंदोलन बिखराव की स्थिति में था। इस किताब को पढ़कर यह लगता है कि 'फिलहाल' के द्वारा उस वक्त के सभी तरह के प्रगतिशील आन्दोलनों को स्वर दिया जा रहा था। इस पत्रिका में देशभर में चल रहे किसान-मजदूर आंदोलनों के साथ-साथ वैश्विक स्तर पर चल रहे आन्दोलनों को भी जगह दी गई।

वीर भारत तलवार ने इस पत्रिका के लेखों का संकलन करते समय इसे कई खंडों में बाँटा है। इससे उस वक्त को समझने में बहुत ही आसानी होती है। 'निबंध' खंड के तहत भारत-बंगलादेश युद्ध, भारत चीन संबंध, अमेरिकी साम्राज्यवाद के चरित्र के साथ-साथ भारतीय अर्थव्यवस्था के बारे में भी गंभीर चिंतन है। यहाँ भारत-चीन युद्ध और बंगलादेश मुक्ति के दूसरे और अज्ञात पक्ष की जानकारी मिलती है। इसी तरह बैंकों के राष्ट्रीयकरण, हरित क्रांति, श्वेत क्रांति कृषि क्रांति के नाम पर जो उस वक्त की मुख्यधारा के अखबारों में जिस तरह का प्रचार चल रहा था, उसकी असलियत को जनता के बीच रखने की कोशिश 'फिलहाल' ने की थी। इसके पीछे के असली मकसद को उस दौर में लिखे गए इन लेखों द्वारा उजागर किया गया था।

इस किताब की सबसे बड़ी खासियत यह है कि इसमें नक्सलबाड़ी आंदोलन के भीतरी बहस से संबंधित कई लेखों को जगह दी गई है। तलवार जी जिस ग्रुप से जुड़े थे वे लोग चारु मजुमदार की कई बातों से सहमत नहीं थे। निबंध खंड के साथ-साथ कई लेखों में चारु मजुमदार से खुलकर असहमति व्यक्त की गई है। खासकर ट्रेड यूनियन के बारे में प्रमोद सेन गुप्ता ने मार्क्स, स्तालिन, माओ के विचारों के बारे लिखते हुए चारु मजुमदार के विचारों की आलोचना की है। संगठन निर्माण को

लेकर चारु मजुमदार के परस्पर विरोधी बातों का भी जिक्र किया गया है। इन लेखों की सबसे बड़ी खूबी यह है कि यह दोस्ताना आलोचना है। इनमें चारु मजुमदार की खिल्ली उड़ाने का भाव नहीं है।

जिस वक्त 'फिलहाल' प्रकाशित हो रहा था तब 1971 का भारत-पाकिस्तान युद्ध खत्म ही हुआ था। सोवियत रूस की सहायता से भारत में स्टील प्लांट सहित कई कारखाने लगाए जा रहे थे और उद्योगों, खदानों का राष्ट्रीयकरण किया जा रहा था। नक्सलवादी आंदोलन एक अलग दिशा ले रहा था। खदानों और कारखानों में मजदूरों का गुस्सा अब एक नई शक्ति में उभर रहा था। परंपरागत ट्रेड यूनियनों द्वारा किए जा रहे आन्दोलनों की जगह स्वतंत्र मजदूर आंदोलनों ने ले ली थी। देश के ऐसे कई मजदूर आंदोलनों की ग्रांड रीपोर्टिंग उस वक्त 'फिलहाल' में छपी थी। इन रिपोर्टों को भी अलग से इस किताब में जगह मिली है जो उस वक्त के मजदूर आंदोलन के ऐतिहासिक दस्तावेज कहे जा सकते हैं।

दुर्गापुर और बोकारो स्टील प्लांट के मजदूरों ने खुद अपने संघर्ष के बारे में लिखा है। इन्हें मजदूर संघर्षों की आपबीती भी कहा जा सकता है। इस तरह के लेख उस वक्त चल रहे मजदूर आंदोलन के अंतर्विरोधों और उसकी खूबी-खामियों का बखूबी चित्रण करते हैं।

यह पुस्तक तत्कालीन राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिहाज से भी काफी महत्वपूर्ण है। 'फिलहाल' में सिर्फ नक्सलवादी धारा से जुड़े लोगों के लेख ही प्रकाशित नहीं होते थे बल्कि इसमें समाजवादी और अन्य जुझारू कम्युनिस्ट धारा के नेताओं के भी लेख प्रकाशित हुए थे। यहाँ तक कि एक-दूसरे के जवाब में लिखे गए लेखों को 'फिलहाल' और इस पुस्तक में भी जगह मिली है। आपसी वैचारिक संघर्षों से उस समय के वामपंथी और समाजवादी नेताओं एवं पार्टियों की सोच और दृष्टिकोण का भी पता चलता है। यही नहीं आज की तारीख में कोई भी पाठक इन विचारों का तटस्थ मूल्यांकन करके यह समझ सकता है कि इन विचारधारों की मौजूदा स्थिति की मूल वजहें क्या हैं।

वियतनाम, चीन और घाना जैसे तीसरी दुनिया के देशों के संघर्षों से भारत के संघर्षों को जोड़ने की कोशिश उस वक्त काफी हो रही थी। वियतनाम युद्ध में अमेरिका की हार हो चुकी थी और सोवियत रूस भी सामाजिक साम्राज्यवादी देश कहा जाने लगा था। नक्सलवादी आंदोलन से निकले ग्रुप और पार्टियाँ तब चीन को अपना आदर्श मानती थीं और रूस की सामाजिक साम्राज्यवादी देश कह कर निंदा किया करती थीं। इस तुलना के पीछे के वैचारिक आधार की समझदारी को समझने में भी इस पुस्तक से मदद मिलती है।

जिस वक्त 'फिलहाल' प्रकाशित हो रहा था उस वक्त दलित नरसंहारों की शृंखला शुरू हो चुकी थी। बिहार के चंदवा-रूपसपुर, सेलीबेली और चवरी जैसे दलित हत्याकांडों के ऊपर बहुत ही गहन और मार्मिक रिपोर्ट 'फिलहाल' में छपे थे। यही नहीं पंजाब के मोगा और तमिलनाडु के वेण्मणि हत्याकांड से संबंधित रिपोर्ट भी 'फिलहाल' ने छापे थे। इन लेखों में बिहार में हुए दलितों के हत्याकांड पर उस वक्त के प्रमुख राजनीतिक दलों और राजनेताओं की चुप्पी पर भी कड़ा प्रहार किया था। खासकर जयप्रकाश नारायण की चुप्पी पर 'फिलहाल' में छपे लेखों में सवाल किया गया था। उस वक्त जेपी आंदोलन नहीं हुआ था और जेपी मुशहरी में जाकर नक्सलवादियों से हिंसा छोड़ने की अपील कर चुके थे। 'फिलहाल' ने उस वक्त सवाल उठाया था कि जयप्रकाश भूस्वामियों की हिंसा पर क्यों नहीं बोल रहे हैं?

'फिलहाल' में स्वतंत्रता के पहले और बाद में हुए प्रमुख मजदूर और किसान आंदोलनों के इतिहास पर भी कई लेख छपे थे। इस पुस्तक में भी इन लेखों को खास जगह मिली है। इस पुस्तक की सबसे बड़ी खासियत यह है कि यह मजदूर और किसान आंदोलनों के इतिहास की पुस्तक है।

खासकर इसमें आजादी के बाद से लेकर 1974 तक के मजदूर आन्दोलनों का बड़ा ही बारीक और वैचारिक विवरण है। अगर कोई स्वतंत्रता के बाद हुए मजदूर आंदोलन का इतिहास लिखना चाहे तो उसे इस पुस्तक से बड़ी मदद मिलेगी।

भारतीय जेलों की वास्तविक स्थिति के बारे में भी इस पुस्तक से बहुत ही रोचक जानकारी मिलती है। जेलों में क्रांतिकारियों ही नहीं बल्कि महिलाओं और बच्चों की स्थिति के बारे में जिस तरह का जिक्र किया गया है उससे यह कतई नहीं कहा जा सकता कि उस वक्त जेल जाने से किसी अपराधी में सुधार आता होगा। इसके उलट अपराध के नए दौंव-पेंच ही सीखकर ये बाहर आते थे। नागभूषण पटनायक की वसीयत, कानू सान्याल और अशीम चटर्जी के बयान भी अनूदित होकर तब 'फिलहाल' में छपे थे। ये लेख नक्सलबाड़ी आंदोलन से जुड़े नेताओं के त्याग और उत्सर्ग की ऊँची भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं। नक्सलबाड़ी के ये दस्तावेज नक्सलबाड़ी की मूल भावना को समझने में काफी मददगार हैं।

'फिलहाल' में छपने वाले कई लेख बांगला और अंग्रेजी से अनूदित लेख थे। इस वजह से इसके इस पक्ष पर भी बात करना जरूरी है। इन अनूदित लेखों को पढ़ने पर शायद ही कहीं ऐसा लगे कि इसे हिंदी में नहीं लिखा गया है और यह एक अनुवाद है। खासकर तब जबकि ऐसे अधिकतर लेख वैचारिक हैं लेकिन इन अनूदित लेखों को पढ़कर इनमें अभिव्यक्त विचारों को समझने में कठिनाई नहीं होती है।

'फिलहाल' मजदूर, किसान और आम लोगों के बीच संगठन निर्माण के उद्देश्य से निकाली गई थी। इस वजह से यह जरूरी था कि इसे ऐसी भाषा में निकाला जाए जो मजदूरों और किसानों की समझ में आ जाए। यह सबसे कठिन काम था जिसे 'फिलहाल' ने करने की सफल कोशिश की। खासकर कम्युनिस्ट शब्दावलियों को जनता को उनकी भाषा में समझाने के प्रयास में। वीर भारत तलवार ने खुद 'नक्सलबाड़ी के दौर में' की भूमिका में कहा है कि इस पत्रिका के लिए किए गए काम से ही उनकी भाषा आमफहम भाषा के करीब आई।

अंततः नक्सलबाड़ी के दौर में न सिर्फ नक्सलबाड़ी आंदोलन के विभिन्न पहलुओं से हमारा परिचय कराती है बल्कि हमारे देश के इतिहास के उन पन्नों से भी हमें रूबरू कराती है जिसका जिक्र या तो नहीं होता है या उसकी नकारात्मक तस्वीर पेश की जाती है। यह क्रांतिकारी और निरपेक्ष जनवादी पत्रकारिता का ऐतिहासिक दस्तावेज है।



नक्सलवादी : ‘उटो मेरी दुनिया के गरीबों को जगा दो...’

नक्सलवाड़ी के दौर में

■ आशुतोष

(साभार : जनमत, वर्ष 26, अंक 2)

“नक्सलवाड़ी के दौर में” 1972-74 के बीच पटना से निकली पत्रिका ‘फिलहाल’ में प्रकाशित सामग्री का एक संचयन है। पत्रिका के संपादक वीर भारत तलवार ने ही सामग्री का संचयन और संपादन किया है। इसे ‘इतिहास के दस्तावेज के रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत किया गया है। आजादी के बाद की वामपंथी हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में ‘फिलहाल’ की प्रतिष्ठा के क्या कारण हैं, इसकी झलक तो इस संचयन से मिलती ही है, हिंदी की वामपंथी पत्रकारिता की वैचारिक उलझनों और रणनीतिक कमजोरियों का कुछ अनुमान भी इस आधार पर लगाया जा सकता है। साथ ही, नक्सलवाड़ी के चालीसवें साल में इस किताब के बहाने समूचे नक्सलवादी आंदोलन की उपलब्धियों, असफलताओं और भविष्य की दिशा पर सोच-विचार का अवसर भी यह किताब देती है।

इस किताब में ‘फिलहाल’ की सामग्री के अतिरिक्त एक लंबी भूमिका और एक परिशिष्ट भी है, जिसके जरिए नक्सलवादी आंदोलन और वाम-क्रांतिकारी पत्रकारिता दोनों को एक परिप्रेक्ष्य देने का प्रयास किया गया है। यहाँ बहस की पूरी गुंजाइश है, लेकिन उसके पहले ‘फिलहाल’ और उसके संचयन के कुछ ऐसे पहलुओं को रेखांकित करना जरूरी है जो आज के पाठक के लिए बहुत अधिक प्रासंगिक और मूल्यवान हैं।

जैसा कि भूमिका में बताया ही गया है, ‘फिलहाल’ एक खास नक्सलवादी समूह की पत्रिका थी, जो कि चारु मजूमदार की लाइन से अनेक महत्वपूर्ण बिंदुओं पर असहमत थी। यह समर सेन द्वारा संपादित अत्यधिक प्रतिष्ठित वाम-क्रांतिकारी पत्रिका ‘फ्रंटियर’ से प्रेरित और प्रभावित होते हुए भी कई मायनों में इससे अलग थी। यों तो दोनों ही आंदोलन से जुड़ी हुई पत्रिकाएँ थीं, लेकिन संपादक का दावा है कि ‘फ्रंटियर’ उस तरह से मजदूर वर्ग से जुड़ी पत्रिका नहीं थी, जैसे ‘फिलहाल’। और यह दावा विश्वसनीय है, क्योंकि ‘फिलहाल’ व्यापक रूप से न केवल मजदूरों के द्वारा पढ़ी जाती थी बल्कि वे स्वयं अपनी रिपोर्ट, टिप्पणियाँ, अपीलें तथा महत्वपूर्ण बहसों इस पत्रिका में छपने के लिए भेजते थे। पत्रिका इन्हें सक्रिय रूप से इसके लिए उत्साहित भी करती थी। नक्सलवाड़ी आंदोलन से जुड़ी भाषाई (गैर-अंग्रेजी) पत्र-पत्रिकाओं की यही उपलब्धि सबसे असाधारण थी।

‘फिलहाल’ की दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि वह नक्सलवादी आंदोलन के किसी एक समूह की वैचारिक लाइन की प्रवक्ता बनने की जगह, समूचे आंदोलन के लिए विचार-विनिमय और बहस-मुबाहिसे का मंच बनने में कामयाब रही। अन्य नक्सलवादी पत्रों की तुलना में ‘फिलहाल’ की विशेष प्रतिष्ठा का यह महत्वपूर्ण कारण था। वाम-क्रांतिकारी आंदोलन के दायरे के भीतर अधिकतम संभव वैचारिक खुलापन फिलहाल को इसी कारण नसीब हो पाया। इसका कतई यह मतलब नहीं है कि पत्रिका का अपना कोई राजनीतिक नजरिया नहीं था या संपादकीय नीति नहीं थी। ऐसी नकारात्मक निष्पक्षता और विचार-निरपेक्षता किसी मार्क्सवादी सांस्कृतिक-राजनीतिक आंदोलन की विशेषता नहीं हो सकती। इस पुस्तक में संकलित सामग्री को देखकर फिलहाल को निर्देशित करनेवाली राजनीतिक समझदारी का एक खाका बनाया जा सकता है। इस विषय पर चर्चा तनिक ठहरकर।

इस संचयन की सबसे बेशकीमती सामग्री वह है जो उस दौर के विभिन्न प्रतिरोधी आंदोलनों, जनसंघर्षों, दमनात्मक कार्यवाहियों और जनसंहारों इत्यादि से संबंधित है। 1971 में पूर्णिमा जिले के चंदवा-रुपसपुर गांव में हुए संथाल हत्याकांड पर एके रॉय की रिपोर्ट, पटना विश्वविद्यालय के छात्र आंदोलन (1972) पर ब्रजनारायण शर्मा की रपट, जलियांवाला कांड के समानांतर समझे गए मोगा जनसंहार (1972) पर चमनलाल का आलेख, उत्तर प्रदेश की पीएसी के विद्रोह पर 'अवधेश कुमार' के छद्म नाम से प्रकाशित किसी अज्ञात सूत्र के द्वारा भेजी गई अत्यंत विश्वसनीय रिपोर्ट, चवरी हत्याकांड (1973) पर, रामानंद तिवारी, आर.एन. महाराज और वीरभारत तलवार की तीन महत्वपूर्ण रिपोर्ट इस दृष्टि से अत्यंत उल्लेखनीय हैं। यह रिपोर्ट घटनास्थल से प्रामाणिक जानकारीयों के आधार पर भेजी गई हैं और इनमें भुक्तभोगियों के पक्ष को सबसे अधिक महत्व दिया गया है। खास बात यह है कि इन रिपोर्टों में केवल घटनाओं का वर्णन नहीं है, बल्कि गंभीर राजनीतिक विश्लेषण भी मौजूद है। ठीक इसी तरह दुर्गापुर, बोकारो, धनबाद के कोयला खदानों के मजदूरों के संघर्षों तथा झारखंड के आदिवासी संघर्ष की विस्तृत रिपोर्ट इस किताब में मौजूद हैं। इन रिपोर्टों से सातवें-आठवें दशक के राजनीतिक संकट और विप्लवकारी बैचैनियों का प्रामाणिक विवरण आज के पाठक को मिल जाता है।

संघर्षों और हत्याकांडों के अलावा महत्वपूर्ण राष्ट्रीय घटनाओं पर 'फिलहाल' की तीखी नजर है। खासकर उन घटनाओं पर जिनका सीधा रिश्ता विश्वव्यापी वाम-क्रांतिकारी आंदोलन से है। समाजवादी विचारों और आंदोलनों का निरंतर लेखा-जोखा रखना पत्रिका ने अपना दायित्व समझा था। यहां संकलित तेलंगाना के संघर्ष रूप (1946-1951) की मोहन राम द्वारा लिखी गई विस्तृत रिपोर्ट अत्यंत प्रासंगिक और तर्कसंगत ढंग से क्रांतिकारी किसान आंदोलनों के उस अत्यधिक महत्वपूर्ण अध्याय का लेखा-जोखा हमारे सामने रखती है। अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं पर वियतनाम युद्ध की छाया सबसे अधिक गहरी है। वियतनाम पर 'फिलहाल' ने एक विशेष-अंक प्रकाशित किया था और इस अंक की अधिकांश सामग्री यहां संकलित है। यह सामग्री आज के दौर के पाठकों के लिए सबसे अधिक प्रासंगिक है, क्योंकि वह अमरीकी साम्राज्यवाद के बुनियादी बर्बर चरित्र को एकदम साफ ढंग से उजागर करती है। वियतनाम के अनुभवों से क्रांतिकारी आंदोलनों ने जो सीखा होगा, सीखा होगा, लेकिन उसके साम्राज्यवाद ने यह सबसे बड़ी सीख ली कि साम्राज्यवादी कार्यवाहियों से जुड़ी सच्चाई की पूरी तरह सेंसरिंग सुनिश्चित करना सबसे अधिक जरूरी है। इसलिए आज हम इराक और अफगानिस्तान के बारे में इतना कम जान पाते हैं। लेकिन वियतनाम की जो भयानक सच्चाइयां यहां पेश की गई हैं, उससे साम्राज्यवाद के वर्तमान चेहरे का एक हद तक अंदाजा लगाया जा सकता है। इस लिहाज से कुछ अंशों को उद्धृत करना आवश्यक लग रहा है।

“हिंदचीन पर गिराए गए बमों की कुल मात्रा द्वितीय विश्वयुद्ध में गिराए गए बमों के तीन गुना है। इन बमों की कुल शक्ति हिरोशिमा पर गिराए गए परमाणु बम के 700 गुना है। दक्षिण वियतनाम के पैदल रास्तों के प्रति एक मील के अंदर औसत 5 से 10 तक बम से बने गड्ढे पाए जाएंगे। हर क्षण आपको जमीन पर बिखरे हुए बमों के उन तेज नुकीले कणों से सावधान रहना पड़ेगा कि वे कहीं आपके पैरों को फाड़ न दे। जब किसान काम पर होते हैं तो हर क्षण यह खतरा होता है कि हल से लग कर कोई बमों की सुरंग फूट न पड़े जो किसान और उसके मवेशियों को वहीं खत्म कर दे सकता है।

‘... अमेरिका ने वियतनाम में हर तरह के बमों का इस्तेमाल किया है। जैसे नापाम बम जो शरीर के चमड़े के साथ सटकर चूल्हे के तापमान पर लंबे समय तक जलता रहता है। इस्पात खंड बम जो दूर तक प्रत्येक दिशा में फैले हुए मार्ग पर आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को मारते हुए हजारों इस्पात खंडों में फूटता है। फास्फोरस बम जो घायल शरीर के अंदर से फिर बाहर नहीं निकाला जा सकता। प्लास्टिक बम जो शरीर के अंदर इतना प्रवेश कर जाता है कि एक्स-रे के द्वारा भी नहीं खोजा जा सकता और गैस बम जो किसी इलाके में रहनेवाले प्रत्येक जीवधारी को मार देता है। ... बी-52 की बमबारी इतनी अधिक होती है कि उसकी आवाज दूर से वर्षा की तरह सुनाई देती है।

इस किताब का एक और बड़ा आकर्षण यह है कि इसमें उस दौर की कुछ महत्वपूर्ण राजनीतिक और

कार्यनीतिक बहसों को भी शामिल किया गया है, जिन्हें 'फिलहाल' ने अपना मंच प्रदान किया था। मसलन चुनावों और जनसंगठनों के विषय में सही नजरिया विकसित करने का सवाल। रवींद्रनाथ जैसे नवजागरणकालीन सांस्कृतिक नायकों के मूर्तिभंजन को लेकर इस किताब में उत्पल दत्त, हंसराज रहबर, ए.के. सेन गुप्ता और कंचन कुमार के जो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण पेश किए गए हैं, उनमें सच्चाई के करीब पहुँचने की बेचैनी तो है ही, वैचारिक बहस-मुबाहसे की भरपूर उत्तेजना भी है। यह बहस खुद उस दौर की एक बेहतर झलक पेश करती है, जिसके वस्तुनिष्ठता के मार्क्सवादी आग्रह के साथ-साथ उस दौर का खास क्रांतिकारी रोमान भी देखने को मिलता है।

मुझे नहीं लगता कि वस्तुनिष्ठता की विकलता और क्रांतिकारी रोमान के इस विलक्षण संयोग के बगैर किसी भी किस्म के कम्युनिस्ट आंदोलन की कल्पना की जा सकती है। मुझे यह भी लगता है कि इस संयोग की विलक्षणता और विडंबना को हमारे समय में नक्सलवादी आंदोलन ने सबसे अधिक मार्मिकता के साथ रेखांकित किया है। यह किताब नक्सलवादी आंदोलन के इन मर्म को छू पाने सफल है, अतः इसे नक्सलवादी इतिहास का एक विश्वसनीय दस्तावेज जरूर कहा जा सकता है।

निश्चय ही यह किताब 'फिलहाल' पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का एक संचयन है। अतएव इससे नक्सलवादी आंदोलन के किसी समग्र अध्ययन अथवा प्रामाणिक इतिहास-आलेखन की आशा नहीं की जा सकती। जैसा कि पहले ही निवेदिन किया गया है, इस किताब का महत्व नक्सलवादी आंदोलन से प्रेरित हिंदी की वाम-क्रांतिकारी पत्रकारिता के एक नए और अनोखे प्रयोजन को रेखांकित करने में है। इस प्रयोग की अन्यतम उपलब्धि यह थी कि इसने एक ओर तो नक्सलवादी आंदोलन को हिंदी के पढ़े-लिखे लोगों और हिंदी क्षेत्र के मजदूरों के बीच गंभीर चर्चा का विषय बनाया तो दूसरी ओर गैर-हिंदी क्षेत्रों से जुड़े वामपंथी बौद्धिक और कार्यकर्ताओं के बीच भी परिवर्तन के एक मंच के रूप में इसने अपनी प्रतिष्ठा बनाई। 'फिलहाल' ने इस मिथ को तोड़ा है कि हिंदी में पत्रकारिता करते हुए राष्ट्रीय स्तर की स्वीकार्यता और लोकप्रियता नहीं हासिल की जा सकती।

अब हम हिंदी की वाम-क्रांतिकारी पत्रकारिता में मौजूद उस उलझन की ओर लौटते हैं, जिसका संकेत इस लेख के आरंभ में किया गया है। इस उलझन को सबसे अधिक स्पष्टता से इस किताब का परिशिष्ट में संकलित टी. विजयेंद्र का लेख "क्यों नक्सलवादी आंदोलन जिंदा रहेगा?" में देखा जा सकता है। संपादक द्वारा दी गई सूचना के मुताबिक 1972-74 में टी. विजयेंद्र 'फिलहाल' के संपादकीय कार्यालय के मुख्य सहयोगी थे। नक्सलवादी दौर के सक्रिय राजनीतिक जीवन बिताने के बाद अब संभवतः कुछ स्वैच्छिक संगठनों के साथ मिलकर काम कर रहे हैं। यह लेख दिलचस्प है, क्योंकि लेखक अब खुद एक सक्रिय नक्सलवादी नहीं है, यानी नक्सलवादी रास्ता छोड़ चुका है, लेकिन उसे नक्सलवादी आंदोलन के जीवित रहने की पूरी उम्मीद है। इस उम्मीद के रहते हुए भी वह नक्सलवादी रास्ते को छोड़कर स्वैच्छिक संगठनों की ओर क्यों गया, इस सवाल पर भी लेखक ने विचार किया होता तो उसे अपनी राजनीतिक समझदारी का उलझाव बहुत साफ दिखाई दे जाता।

आखिर नक्सलवादी आंदोलन है क्या? इस उलझाव को समझने के लिए हमें इस बुनियादी सवाल से टकराना होगा। क्या नक्सलवादी आंदोलन का मतलब केवल गुरिल्ला-युद्ध, भूमिगत कार्यवाहियाँ, जंगलों और बीहड़ों के छापामार दलों की गतिविधियाँ और कभी-कभी घात लगाकर इक्की-दुक्की पुलिस पार्टियों और छुटभैये नेताओं को उड़ा देना मात्र है? अथवा वह बुनियादी राजनीतिक-सामाजिक परिवर्तन की कोई ऐतिहासिक वर्गीय परियोजना भी है? अगर वह परिवर्तन की कोई ऐतिहासिक परियोजना है, तो उसे अपने ही अनुभव से सीखते हुए और बदलती हुई ऐतिहासिक परिस्थितियों में अपने क्रांतिकारी कार्यक्रम को पुनराविष्कृत करते हुए लगातार आगे बढ़ाना होगा। स्वयं इस पुस्तक में चारू मजूमदार की जनसंगठन न बनाने और व्यापक जनआंदोलन पर जोर न देने की नीति की आलोचना करते हुए जो लेख प्रकाशित किए गए हैं, वे इसी दिशा की ओर संकेत करते हैं इसलिए यह और भी विलक्षण लगता है कि परिशिष्ट में टी. विजयेंद्र का जो लेख संकलित किया गया है, उसमें सच्चे नक्सलवादी संगठनों के रूप में केवल पीपुल्सवार ग्रुप और एमसीसी को मिलाकर बनाई गई भाकपा (माओवादी) को ही

मान्यता दी गई है, जो अब भी बुनियादी रूप से गुरिल्ला-युद्ध और आधार-इलाकों की रणनीति पर चल रहे हैं, व्यापक जनकार्यवाही को अपनी राजनीतिक रणनीति के रूप में स्वीकार करने से इंकार करते हैं तथा चुनाव एवं अन्य लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं के पूर्ण बहिष्कार में यकीन करते हैं। इतना ही नहीं, जिन नक्सलवादी संगठनों ने लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को अपनी क्रांतिकारी कार्यनीति का हिस्सा बनाने की हिम्मत दिखाई है और ऐसा करते हुए नक्सलवादी आंदोलन को समकालीन राजनीतिक परिप्रेक्ष्य दे पाने में कामयाब हुए हैं, उनके बारे में टी. विजयेंद्र का मानना है कि “वास्तव में यह उन संगठनों द्वारा आत्महत्या किए जाने के बराबर है।”

दिलचस्प यह है कि इस किताब की भूमिका में, एकदम शुरुआत में ही, चारु मजूमदार के इन विचारों की भर्त्सना की गई है कि जब तक तुम जमींदार का सिर नहीं काटते, तुम क्रांतिकारी नहीं हो सकते; जो जितना ही अध्ययन करता है, वह उतना ही बड़ा गधा बनता है; पार्टी कार्यकर्ताओं को चाहिए कि केंद्रीय समिति जो कहे, उसी को हू-ब-हू दोहराएँ और जनसंठन बनाना संशोधनवाद है (वैसे यह अपेक्षित था कि चारु मजूमदार के इन विचारों को इतने चलताउ ढंग से उद्धृत करने की बजाय उन्हें पूरे संदर्भ में रखकर और उसमें निहित प्रश्नों की गंभीरता की ओर संकेत करते हुए उठाया जाए) लेकिन परिशिष्ट में संकलित टी. विजयेंद्र के लेख से तो यही संकेत निकलता है कि जो चारु मजूमदार के इन विचारों को आज भी सही समझते हैं, वे ही सच्चे नक्सलवादी हैं।

भूमिका और परिशिष्ट का यह विरोधाभास क्या संयोगमात्र है? या इसमें ‘फिलहाल’ की समझदारी के बारे में भी कुछ पता चलता है? दो साल सफलतापूर्वक चलाकर हिंदी की वाम पत्रकारिता में कीर्तिमान बनानेवाली इस पत्रिका को सुनियोजित रूप से बंद कर देने और यों एक सफल होते प्रयोग को बीच रास्ते में ही ध्वस्त कर देने के पीछे भी कहीं राजनीतिक समझदारी का वैसा ही कोई उलझाव तो नहीं सक्रिय था? भूमिका में संपादक द्वारा पत्रिका को बंद कर देने के निर्णय को ‘जस्टीफाई’ करने की सारी मशक्कत के बावजूद यह सवाल बाकी रहता है।

नक्सलबाड़ी के दौर में

लेखक - वीर भारत तलवार

अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली



राजनीतिक कार्यकर्ता का जीवन ज्यादा पसंद

■ सुभाष चंद्र मोर्य

(साभार : राष्ट्रीय सहारा, 2-2-2003)

वीर भारत तलवार- यह नाम सुनते ही जेहन में एक लंबे-चौड़, धीर-गंभीर लेखक की छवि कौंधती है। वैसे भी जेएनयू परिसर में उनकी छवि एक कड़ियल अध्यापक की है। ऐसी स्थिति में जनवरी के आखिरी हफ्ते की लौटती ठंड के कुछ भीगे-भीगे से मौसम की एक शाम को जब मैं उनके जेएनयू परिसर वाले फ्लैट की ओर उनसे बाचचीत करने जा रहा था तो मन में एक घबराहट भी थी कि ऐसे कड़ियल शख्स का कैसे कुरेद पाऊंगा? पर उनके छोटे से किन्तु सुरुचिपूर्ण ढंग से सजी उनकी बैठक में जब हमने बातचीत शुरू की तो छवि के विपरीत मैंने उन्हें बहुत ही सहज और सरल पाया।

औपचारिक बातचीत शुरू होने से पहले जब हम अनौपचारिक बातचीत कर रहे थे तभी मैंने उनसे पूछा कि आपकी हिंदी जगत में एक धीर गंभीर आलोचक की छवि है पर क्या आपने कभी कहानी, कविता और उपन्यास आदि रचनात्मक साहित्य भी लिखा है? जवाब में उन्होंने छोटा सा उत्तर दिया 'हां'। मैंने तपाक से पूछा फिर वह सब छूट कैसे गया? तब उन्होंने अपने प्रारंभिक लेखन के बारे में विस्तार से बताते हुए कहा- "मैं झारखंड के जमशेदपुर का रहने वाला हूँ। मेरे पिता लुधियाना से आकर 1924 में टाटा के लोहे के कारखाने में काम करने लगे थे और वहीं बस गये। जब मैं स्कूल में पढ़ता था उसी समय से कोर्स के बाहर की चीजें पढ़ने की आदत लग गयी। इन्ने शफी की जासूसी दुनिया फिर और किताबें भी। जीवन और समाज के प्रश्न मुझे स्कूली जीवन से ही खींचने लगे थे। 1959 में जब मैं नौवीं क्लास में था तब मैंने एक कहानी लिखी थी- काला आदमी। बिहार में एक बड़े मजदूर नेता थे जो काफी लोकप्रिय भी थे अब्दुल बारी। इनकी हत्या इन्हीं के पार्टी के लोगों ने करा दी थी। वे जमशेदपुर से एक अखबार निकालते थे 'मजदूर समाचार' जो उनके मरने के बाद गंगा नंद कौशल निकालते रहे। मैं इन्हीं के पास अपनी कहानी ले गया। जिसे उन्होंने छपा। इसके बाद उत्साह बढ़ा। तब मैंने अपने स्कूल के पक्के दोस्त चट्टीराम कृष्णा राव के साथ मिलकर एक उपन्यास लिखना शुरू किया। उसके कुछ अध्याय मैं लिखता तो कुछ वह। पर वह अधूरा ही रहा। मेरी पहली गंभीर रचना 'घर' श्रीपत राय द्वारा संपादित 'कहानी' पत्रिका में 1964 में छपी।

मैंने कविताएं भी लिखीं पर उन्हें कभी छपाई नहीं। बाद में कविता छूट गयी और 1970 में कहानी भी लिखना बंद हो गया। कविता, कहानी छूट जाने का मुख्य कारण मेरा राजनीतिक आंदोलन में सक्रिय हो जाना था। बी. एच.यू. में एम.ए. के दौरान ही 1969 में मेरा सपर्क कुछ नक्सलवादियों से हो गया। उसी समय मैंने माउत्से तुंग की कुछ रचनाओं के अलावा रेजिस देबे की एक किताब 'रिवॉल्यूशन विद इन रिवॉल्यूशन' पढ़ी जिससे मैं बहुत प्रभावित हुआ। इसी किताब को पढ़ने के बाद मैंने अपनी पढ़ाई छोड़कर पूर्णकालिक राजनीतिक कार्यकर्ता बनने का फैसला ले लिया। सबसे पहले मैं बक्सर शहर से गंगा के ठीक उस पार वाले गांव उजियार में राजनीतिक संगठन का काम करने लगा। इसके बाद बनारस छोड़कर पटना चला आया जहां हमारे संगठन (नेशनल लिबरेशन एवं डेमोक्रेटिक फ्रंट) ने 'फिलहाल' नाम से एक मासिक पत्रिका शुरू की जिसके प्रकाशन और संपादन की जिम्मेदारी

मुझे सौपी गयी। पत्रिका निकालने का हमारा उद्देश्य यह था कि इसके जरिये हम संघर्षशील जनता और राजनीतिक ग्रुपों के बीच अपने संपर्क कायम कर सकेंगे। ढाई साल बाद जब यह उद्देश्य हासिल हो गया तो संगठन ने मुझे मजदूर वर्ग के बीच जाने को कहा। 1974 में पत्रिका बंद करके पहले धनबाद के कोयला खदान इलाकों में और फिर बोकारो कारखाने के कंस्ट्रक्शन मजदूरी के बीच संगठन के काम में सहयोग के बाद मैं रांची के आदिवासियों के बीच चला गया, जहां मैंने आगे चलकर झारखंड आंदोलन को संगठित किया। राजनीतिक जीवन में पूरी तरह जुट जाने से कहानी, कविता लिखना छूट गया। अब मैं मुख्य रूप से राजनीति 'लेख' पम्फलेट और आंदोलन से संबंधित पर्चे ही लिखने लगा।'

अपने बनारस प्रवास के बारे में बताते हुए उन्होंने बताया कि उन्हें छात्रावासों की बंद जिदगी पसंद नहीं थी इसलिए यह बाहर कमरा लेकर रहते थे। उन्होंने बताया कि "मैं, धूमिल और मैनेजर पांडेय एक ही जगह खाना खाया करते थे। धूमिल को मैं अपनी कविताएं सुनाता था जिन्हें वह पसंद नहीं करते थे। शाम को गंगा के उस पार जाकर देर रात तक बातें किया करते थे।" तलवार जी अपनी पुरानी यादों में खोने लगे थे कि मैंने सवाल किया 'आपको राजनीतिक आंदोलनों का लंबा जमीनी अनुभव रहा है और साहित्य का भी। जमीनी स्तर पर राजनीतिक आंदोलन में लगे राजनीतिक कर्मियों को किस तरह का साहित्य प्रभावित करता है? जवाब में उन्होंने बहुत ही गंभीर स्वरों में कहा. "राजनीतिक कर्मियों में किसकी प्रेरणा कहां से आती है इसका कोई एक जवाब नहीं हो सकता। मैं आपको अपने और दूसरे क्रांतिकारी साथियों की ठोस मिसाल देकर कहूँ तो हमें सबसे अधिक महान क्रांतिकारियों की जीवनियाँ और संघर्ष गाथाएं प्रभावित करती थीं। उन दिनों जो हिंदी साहित्य पढ़कर हमें सबसे अच्छा लगता था उनमें मुक्तिबोध की कविताएं भी अच्छी लगती थीं। उस समय नये-नये आलोकधन्वा (जिनकी पहली कविता 'गोलो दागो पोस्टर' मैंने ही 'फिलहाल' में छपी थी), अरुण कमल, राजेश जोशी, मंगलेश डबराल हमारे प्रिय कवि थे। पाश और सुरजीत पातर की कविताएं भी हमें अच्छी लगती थीं। उन्हीं दिनों हमने श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' भी पढ़ा था। पाश को भी हिंदी में पहली बार मैंने ही छपा था। अब मैं आपसे एक दूसरी बात कहूंगा। जितना जोर आप इस बात पर देते हैं कि साहित्य ने राजनीतिक चेतना को कितना प्रभावित किया उतना ही ध्यान इस पर भी देना चाहिए कि लेखक की राजनीतिक पृष्ठभूमि या आंदोलनों ने साहित्य पर क्या प्रभाव डाला। ये ज्यादा महत्वपूर्ण सवाल है हालांकि इसी पर विचार कम किया जाता है। गोरख पांडे की कविता इसका अच्छा उदाहरण हैं।

यू तो वीर भारत तलवार ने डॉ. नामवर सिंह के निर्देशन में जेएनयू से पीएचडी की है पर बातचीत के दौरान पहली बार पता चला कि जेएनयू के पहले बीएचयू में वह काशीनाथ सिंह के साथ 'राष्ट्रीय आंदोलन और हिंदी साहित्य', विषय पर, पटना विश्वविद्यालय में शोभाकांत मिश्र के साथ 'मार्क्सवादी आलोचना' पर और रांची में दिनेश्वर प्रसाद के निर्देशन में 'मुंडारी लोक कथा' पर पीएचडी कर रहे थे। ये अलग बात है कि जेएनयू के अलावा उनकी पीएचडी पूरी नहीं हो सकी। उन्होंने बताया कि राजनीतिक आंदोलन में स्वयं को छिपाने के लिए उन्हें ऐसा करना पड़ा। इसी बीच मैंने पूछा कि ऐसा क्या घटित हुआ जिसके कारण आप राजनीतिक आंदोलन छोड़कर दिल्ली आ गये? जवाब में उन्होंने बताया कि - "वहां मैं पूरी तरह से झारखंड आंदोलन से जुड़ गया था। झारखंड आंदोलन में आदिवासी नेताओं की जो समझ थी वह मुख्यतः किसी तरह सत्ता में आने की थी इसके लिए वे एक-दूसरे से लड़ते झगड़ते थे। मैं इससे तालमेल नहीं बैठा सकता था। इसलिए या तो मैं अपने आदिवासी मित्रों के खिलाफ ही खड़ा हो जाता या फिर वहां से हट जाता।

उस समय वहां डटे रहने के लिए मुझे अपने ग्रुप से जिस नैतिक और राजनीतिक समर्थन की जरूरत थी वह मुझे नहीं मिला क्योंकि हमारा संगठन बिखर गया था।" उन्होंने अपनी बात खत्म की ही थी मैंने सवाल किया कि दिल्ली आ जाने के बाद क्या कभी आपको नहीं लगा कि आपने दिल्ली आकर गलती की है? या दिल्ली के जीवन से बेहतर पहले वाला जीवन था? उनका जवाब था 'जब मैं नया-नया 1981 में दिल्ली आया तो बहुत दिनों तक मेरा मन इस कशमकश में रहा कि मैंने ठीक किया या नहीं? मैं जिस राजनीतिक जीवन को छोड़ आया

था बार-बार उसी में लौट जाने का मन करता था कि अब मैं लेखन को अपना माध्यम बनाऊंगा। राजनीतिक दुनिया भी कोई साफ-सुथरी दुनिया नहीं होती। उसके भी अपने दांवपेंच, अपनी कमजोरियां और अन्तर्विरोध होते हैं चाहे वह क्रांतिकारी राजनीति ही क्यों न हो। वहां टिके रहने के लिए काफी माद्दा चाहिए लेकिन तेइस साल तक रहने के बाद भी दिल्ली मुझे आज भी दिल से पसंद नहीं है। मेरे जीवन के गौरवपूर्ण दिन वही थे जब मैं राजनीतिक कार्यकर्ता था, इस जिंदगी को मैं उस जिंदगी बेहतर नहीं समझता।'

बातों-बातों में ही उन्होंने बताया कि जेएनयू में उन्हें पांच साल की फेलोशिप मिली थी किंतु उन्होने अपनी पीएचडी डेढ़-दो साल में ही पूरी कर ली थी। तब उन्होंने विश्वविद्यालय में अनुमति मांगी कि उन्हें एक और थीसिस लिखने दी जाए। पर ऐसा हुआ नहीं। फलतः उन्होंने तीन साल की फेलोशिप जो लगभग तीस-बत्तीस हजार रुपये थी, लौटा दी। पीएचडी करने के बाद छह साल वह बेकार रहे थे।

इस बीच ऐसी भी स्थिति आयी जब उन्होंने झारखंड लौटने का मन बनाया पर कई तरह के 'रिसर्च प्रोजेक्ट' और छोटी-छोटी नौकरियां करते हुए वह दिल्ली में ही रहे। इसी बीच उनकी हालिया प्रकाशित किताब 'रस्साकशी' पर चर्चा चलने लगी।

'रस्साकशी' पर चर्चा के दौरान ही मैंने सवाल किया कि क्या वजह है कि आप हमेशा बड़े काम ही करते हैं और बहुत समय लगाते हैं। मसलन 'रस्साकशी' को लिखने में आपने दस वर्ष का समय लगाया। आप छोटे लेख क्यों नहीं लिख पाते? उन्होंने मुस्कराते हुए कहा- 'दूसरे आलोचकों की तरह विद्वान नहीं होने के कारण मुझे मेहनत कुछ ज्यादा करनी पड़ती है। विषय से संबंधित हर तथ्य की अच्छी तरह जांच-पड़ताल करके तसल्ली कर लेने, अपने विचारों के सही होने को लेकर लगातार आशंका करते रहने और भाषा को आखिर-आखिर तक ठीक करते रहने की अपनी बीमारी के कारण मुझे रचना को पूरी करने में बहुत समय लग जाता है'

वीर भारत तलवार संगीत के बड़े रसिया हैं। वह बताते हैं कि उनके पास ठुमरी, गजल, शास्त्रीय संगीत और पुरानी फिल्मी गानों का एक बड़ा संग्रह है। संगीत के बारे में वह बड़ी दिलचस्प राय देते हैं- मसलन जगजीत सिंह आजकल बहुत अन्तर्मुखी हो गया है जैसे कि दिलीप कुमार अभिनय के क्षेत्र में। रेशमा बहुत एकरस है उसे आप बहुत अधिक नहीं सुन सकते। आबिदा परवीन का मुकाबला हिंदुस्तान में कोई थोड़ा बहुत कर पाती है तो वह हैं शुभा मुद्गल आदि। तलवार जी को फोटोग्राफी और घुमक्कड़ी का बहुत पुराना शौक है। हिमालय इन्हें बहुत पसंद आता है और जब भी इन्हें मौका मिलता है ये पहाड़ों की ओर निकल जाते हैं। बातचीत के आखिरी चरण में मैं उनकी भावी योजनाओं के बारे में सवाल करता हूँ। यह बताते हैं 'मैं सबसे पहले तो अपने नवजागरण के अध्ययन को ही आगे बढ़ाना चाहता हूँ। उन्नीसवीं सदी के अंदर भी और उन्नीसवीं सदी के बाद भी इसके अलावा मैं हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना की परंपरा पर काम करना चाहता हूँ। योजनाएं तो और भी हैं पर विश्वविद्यालय में रोज-रोज का अध्यापन कार्य करते हुए मैं 'फील्ड वर्क' का काम नहीं कर सकता हूँ जो मेरे लेखन कार्य के लिए जरूरी है।' रात ढल चुकी थी और हम काफी बातचीत कर चुके थे इसलिए आपसी सहमति से यह तय किया गया कि हमें बातचीत खत्म करनी चाहिए।



‘सामना’ : ‘देखना है जोर कितना बाजू-ए...’

‘सामना’ : कूपमंडूक आत्ममुग्धता से जिरह

■ कवितेन्द्र इंदु

‘सामना’ मेरी प्रिय किताबों में से एक है। वर्ष 2005 में प्रकाशित वीर भारत तलवार की किताब ‘सामना’ एक वैविध्यपूर्ण संकलन है। यह चालीस वर्षों (1965-2005) के दौरान विविध विधाओं से संबंधित उनके लेखन से कुछ चुनी हुई रचनाओं का संकलन है लेकिन प्रधानता आलोचनात्मक लेखन की ही है। आमतौर पर हमें ऐसी किताबें प्रिय लगती हैं जो हमारी मान्यताओं का समर्थन करती हैं या उन्हें विस्तार देती हैं। ‘सामना’ ने यह तो किया ही लेकिन इसके साथ-साथ उसने मेरे कुछ पूर्वग्रहों को तोड़ा भी। खुद मुझे अपनी लेखन शैली में कुछ बदलाव करने को विवश किया। ऐसी किताब का प्रिय बन जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

हिन्दी आलोचना में गुरु-परम्परा और खेमेबंदी का भाव बहुत प्रबल है। समर्थन और विरोध यहाँ मान्यताओं का नहीं, व्यक्तियों का किया जाता है। लेखक की निष्ठा का सवाल यहाँ भी सबसे महत्वपूर्ण होता है लेकिन यह निष्ठा किसी सिद्धांत, विचारधारा या पार्टी के प्रति नहीं, व्यक्तियों के प्रति होती है। या तो आप रामचन्द्र शुक्ल के अनुयायी हो सकते हैं या फिर हजारी प्रसाद द्विवेदी के। इसी तरह या तो आप रामविलास जी के खेमे में हो सकते हैं या फिर नामवरजी के। कभी नगेन्द्रजी का भी एक खेमा हुआ करता था लेकिन वह अरसे पहले उजड़ चुका है। किनका समर्थन करना है, किन्हें उद्धृत करना है, सही लगने के बावजूद किसका विरोध करना है और प्रासंगिकता के बावजूद किसका नामोल्लेख भी नहीं करना है – हिन्दी आलोचना में यह सारी बातें पूर्वनिर्धारित होती हैं। जो इस गुटबंदी का हिस्सा नहीं बनता वह किसी के काम का नहीं होता। इस माहौल में संवाद और जिरह की गुंजाइश नहीं है। ऐसा नहीं कि ये बातें केवल नवोदित लेखकों पर लागू होती हों, बड़े आलोचक न केवल इस खेमेबंदी में शामिल हैं बल्कि वे इसे बढ़ावा भी देते हैं। हिन्दी आलोचना का एक बड़ा हिस्सा ऐसा है जिसमें न कोई नया तर्क है, न कोई नई स्थापना; समर्थन या विरोध तक ही उसकी सारी प्रासंगिकता सीमित है।

ऐसे माहौल में यह जिज्ञासा स्वाभाविक भी है और जरूरी भी कि वीर भारत तलवार ने अपने लिए कौन सी राह चुनी है। इस खेमेबंदी के बीच वे कहाँ खड़े हैं? उनकी निष्ठा किसके प्रति है? इन सवालों के जवाब के लिहाज से ‘सामना’ वीर भारत तलवार की संभवतः सबसे उपयुक्त किताब है। इस किताब के लेखों से स्पष्ट है कि वे न तो इस खेमेबंदी का हिस्सा बनते हैं और न ही मध्यमार्ग तलाशते हैं। विविध विषयों पर लिखे गए लेखों तथा अन्य रचनाओं में वे दृढ़ता से अपना मत व्यक्त करते हैं और जरूरत पड़ने पर किसी विद्वान की निर्मम आलोचना करने से नहीं झिझकते –लेकिन यह आलोचना हमेशा संदर्भ केन्द्रित रही है। विरोध मान्यताओं से है, व्यक्तियों से नहीं!

इस किताब में जहाँ रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह जैसे विद्वानों की विभिन्न मान्यताओं के साथ दृढ़ता से सहमति जताई गई है, वहीं ऐसे स्थल भी बड़ी मात्रा में हैं जहाँ उनकी गंभीर आलोचना की गई है। इस लिहाज से किताब का पहला लेख ‘हजारी प्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि’ बहुत महत्वपूर्ण है। हिन्दी आलोचना में हजारी प्रसाद द्विवेदी की जो छवि आज मौजूद है उसे निर्मित करने में सबसे बड़ी भूमिका नामवर सिंह की किताब ‘दूसरी परम्परा की खोज’ ने निभाई है। इस किताब के पहले हजारी प्रसाद द्विवेदी को बड़ा आलोचक तो माना जाता था लेकिन इस बड़प्पन के मौलिक आधार स्पष्ट न थे। नन्दकिशोर नवल

ने उन्हें ऐसा मध्यमार्गी समन्वयवादी बताया था जो आलोचना में रामचन्द्र शुक्लकी परम्परा का विकास नहीं कर सका और रामविलास शर्मा ने 'परम्परा का मूल्यांकन' करते समय उन्हें परम्परा में जगह तो नहीं दी, परोक्ष रूप से उनपर कटाक्ष जरूर किया। ऐसे में नामवर सिंह ने 'दूसरी परम्परा की खोज' के जरिए न सिर्फ हजारी प्रसाद द्विवेदी की मौलिकता स्थापित की बल्कि उन्हें 'कबीर की परम्परा' का ऐसा क्रांतिकारी विद्वान घोषित किया जिसकी स्थापनाएँ मुक्तिबोध और इरफान हबीब ही नहीं, ग्राम्सी जैसे विद्वानों से भी तुलनीय हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी के जीवन और लेखन के कई महत्वपूर्ण प्रगतिशील पहलुओं को उजागर करने के साथ-साथ इस किताब ने भ्रम भी फैलाए। इस किताब ने कुछ ऐसे मिथक गढ़े जिन्हें आज हिन्दी का विद्यार्थी स्वयंसिद्ध सत्य मानकर चलता है। शुक्ल और द्विवेदी की सर्वांग भिन्नता (बल्कि कट्टर विरोध) और द्विवेदीजी की कबीर पक्षधर क्रांतिकारिता ऐसे ही मिथक हैं।

वीर भारत तलवार अपने लेख के आरम्भ में ही शुक्ल जी और द्विवेदी जी को एक-दूसरे के मुकाबले खड़ा करने का विरोध करते हैं। विद्वानों की मान्यताओं की तुलना एक अकादमिक जरूरत है, यह सत्य की प्रतिष्ठा के लिए जरूरी है लेकिन 'अपने देवता को बड़ा बताने के लिए दूसरे के देवता का सिर फोड़ देने वाली उस झड़प में सबसे ज्यादा दुर्गति सत्य की ही हुई। 'युद्ध की तरह ही इस 'झड़प' में भी सही और गलत का प्रश्न गौण हो गया, जीतना ही लक्ष्य बन गया। ऐसे में मनचाहे निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए अगर सच के विकृतीकरण की जरूरत पड़ी तो वह भी की गई। इस विकृतीकरण का एक नमूना है दोनों विद्वानों के दृष्टिकोणों को सरलीकृत करके आमने-सामने खड़ा कर देना।

शुक्लजी को साम्प्रदायिक सिद्ध करने के लिए जहाँ उनके दृष्टिकोण को 'इस्लामी आक्रमण की हिन्दू प्रतिक्रिया' तक सीमित कर दिया गया, वहीं लोक और शास्त्र के द्वंद्व को द्विवेदीजी का 'पैराडाइम' बताया गया। यह एक भ्रामक प्रचार था। वीर भारत स्पष्ट शब्दों में इसका खंडन करते हुए लिखते हैं, "तथ्य यह है कि हिन्दी साहित्य के एक हजार वर्षों के इतिहास के लिए न तो द्विवेदीजी ने लगातार किसी एक 'पैराडाइम' का उपयोग किया है, न ही शुक्लजी ने हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष को अपना कोई 'पैराडाइम' बनाया है। जिसे शुक्लजी का 'पैराडाइम' बताया जाता है, वह वास्तव में भक्तिकाल के उद्भव के बारे में उनकी एक धारणा या टिप्पणी (भ्रामक ही सही!) से अधिक और कुछ नहीं है; उसे 'पैराडाइम' बनाकर उसके पीछे-पीछे शुक्लजी नहीं चलते। जिसे द्विवेदीजी का 'पैराडाइम' बताया जाता है, वह भी भक्तिकाल के आगे न कहीं लागू होता है, न कोई नई दृष्टि देता है। आधुनिक काल के विवेचन में द्विवेदीजी इस 'पैराडाइम' का कहीं आभास तक नहीं देते। यहाँ तक कि भक्तिकाल में भी उसका उपयोग सीमित रूप में ही हुआ है।" (सामना : रामविलास शर्मा की विवेचन पद्धति और मार्क्सवाद तथा अन्य निबंध, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 13-14) यह बात संक्षेप में जरूर कही गई है लेकिन इसमें बहुत गहरी अंतर्दृष्टि निहित है। शुक्लजी ने 'इतिहास' में भक्तिकाल के प्रसंग में 'मुसलमानी शासन' से संबंधित केवल बहुप्रचारित छः पंक्तियाँ ही नहीं लिखी थीं, उन्होंने नौ पैराग्राफ और भी लिखे थे। राजनैतिक परिस्थिति के अलावा उन्होंने इन नौ अनुच्छेदों में इस बात पर भी जोर दिया था कि सिद्धों और नाथपंथियों ने आरम्भिक निर्गुण भक्ति के लिए रास्ता तैयार कर दिया तथा निर्गुण भक्ति धारा में हिन्दू-मुसलमान का विरोध नहीं था, दोनों के लिए वह एक 'सामान्य भक्ति मार्ग' थी। शुक्लजी को साम्प्रदायिक बताने वाले आलोचक उनकी इन मान्यताओं का जिक्र तक नहीं करते जबकि सच्चाई यह है कि खुद द्विवेदीजी ने अपने लेखन में इन दो बिन्दुओं को व्यवस्थित विस्तार दिया है।

वीर भारत तलवार सिद्धों-नाथों और निर्गुण संतों के साहित्य को शिक्षित वर्ग के चश्मे से देखने की बजाय 'खुद उत्पीड़ित जातियों की अपनी स्थिति के आधार पर' समझने के प्रयास को हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि का सबसे 'शक्तिशाली' और 'सार्थक' पहलू मानते हैं। लेकिन इस सराहना के साथ ही वे यह अफसोस भी जाहिर करते हैं कि खुद द्विवेदीजी इस मूल्यवान पहलू को एक सुसंगत दृष्टि के रूप में विकसित करने में असमर्थ रहे। द्विवेदीजी के अंतर्विरोधपूर्ण दृष्टिकोण और उसके कारणों को बताते हुए वे लिखते हैं कि "बदकिस्मती यही है कि

निम्न समझी जाने वाली जातियों के विद्रोह और ऊँची जातियों के सुधारवाद के बीच अपनी दुविधाग्रस्त स्थिति के कारण यह दृष्टि खुद द्विवेदीजी के लिए भी एक सुसंगत दृष्टि नहीं बन सकी। इससे उनके विवेचन में असंगतियाँ पैदा हुईं, जिन्हें अक्सर नजरअंदाज किया जाता रहा है।” (वही, पृष्ठ 14)

हजारी प्रसाद द्विवेदी के उक्त अंतर्विरोध पर न तो उनके प्रशंसकों ने ध्यान दिया है और न ही उनके आलोचकों ने। दोनों ही इस अंतर्विरोध के मनोनुकूल पक्षों को उठाकर उनकी एकांगी छवि का खंडन-मंडन करते रहे। द्विवेदीजी की बहुत आकर्षक लगने वाली उदारता ही उनकी सबसे बड़ी सीमा भी बन जाती थी। हर चीज का मूल्यांकन करने के लिए वे उसी के अनुकूल एक सापेक्षिक प्रतिमान गढ़ लेते थे। इससे हर चीज अपनी जगह पर न केवल सही बल्कि सर्वश्रेष्ठ नजर आने लगती थी। वे समान भाव से लोक और शास्त्र, भक्ति और रीति साहित्य और यहाँ तक कि कबीर और तुलसी की भी प्रशंसा कर सकते थे। नामवर सिंह ने द्विवेदीजी को विद्रोही कबीर का ‘पक्षधर’ बताते हुए उन्हें कबीर की परम्परा का आलोचक घोषित किया है लेकिन यह ‘पक्षधरता’ सिक्के का सिर्फ एक पहलू है। सच्चाई यह है कि “द्विवेदीजी को उत्पीड़ित जातियों से बना लोक जितना अपनी ओर खींचता है, प्रभुत्वशाली जातियों के बनाए शास्त्र उससे कम नहीं खींचते।... द्विवेदीजी की आलोचना में जो मूल्य कबीरदास को महान बनाते हैं वे ही मूल्य तुलसीदास के प्रसंग में अनावश्यक हैं और शायद वे मूल्य कहलाने लायक भी नहीं हैं। कबीरदास सबकुछ को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर आए थे, तुलसीदास सबकुछ को स्वीकार करने का अपार धैर्य लेकर आए थे। कबीरदास क्रांतिकारी बने, तुलसीदास लोकनायक। द्विवेदीजी कबीर की अक्खड़ता की जितनी तारीफ करते हैं, तुलसी की संतुलित प्रतिभा की उससे कम तारीफ नहीं करते। इन दोनों के बीच जो तीखा अंतर्विरोध है, उसे द्विवेदीजी बिना किसी कष्ट के निगल जाते हैं। मुक्तिबोध ने तुलसी के जिस साहित्य को ‘भक्ति आन्दोलन के क्रांतिकारी दांतों को उखाड़ लेना’ बताया था, उसीकी द्विवेदीजी ने महान समन्वय कहकर तारीफ की है। इतिहास में जिस समझौते को संपन्न करके भक्ति आन्दोलन बुझ गया, उसी समझौते का प्रशस्तिगान किया है द्विवेदीजी ने।” (वही, पृष्ठ 20-21) इस हकीकत को छिपाकर द्विवेदीजी को कबीर का पक्षधर बताने वाले आलोचक की जाति विरोधी भावना खुद कितनी संदिग्ध है, इसका संकेत 1992 में लिखे इसी लेख में मौजूद है। समय ने उसे निर्विवाद रूप से प्रमाणित भी कर दिया है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी मार्क्सवादी आलोचक नहीं थे। मार्क्सवादी आलोचकों की तरह न तो उन्हें भारतीय समाज या साहित्य के मुख्य अंतर्विरोध की तलाश थी और न ही उनकी वर्ग संघर्ष में सर्वहारा के प्रति घोषित प्रतिबद्धता थी। द्विवेदीजी से यह शिकायत तो हो सकती है कि उन्होंने अपने ही दृष्टिकोण में निहित क्रांतिकारी संभावनाओं को विकसित क्यों नहीं किया लेकिन उनसे यह शिकायत किसी ने नहीं की थी कि वे ग्राम्शी क्यों नहीं बने। हजारी प्रसाद द्विवेदी के अपने अंतर्विरोध उस विडम्बना के आगे कुछ भी नहीं है जो उनके बारे में नामवर सिंह के लेखन से पैदा हुई हैं। नामवर सिंह तो ‘प्रखर मार्क्सवादी’ आलोचक थे उन्हें हजारी प्रसाद द्विवेदी और मुक्तिबोध, इरफान हबीब तथा ग्राम्शी का फर्क बहुत अच्छी तरह पता था। क्या फर्क पड़ता अगर वे द्विवेदीजी की प्रशंसा द्विवेदीजी के रूप में ही करते, उन्हें ग्राम्शी के समतुल्य ठहराने की कोशिश न करते!

किताब में बारह पृष्ठों के संक्षिप्त से लेख में द्विवेदीजी की बुनियादी अंतर्दृष्टि और अंतर्विरोधों के साथ-साथ नामवर सिंह द्वारा किए गए विकृतीकरण की जितनी कॉम्पैक्ट और सधी हुई आलोचना इस लेख में मौजूद है, वह गुरु परम्परा के अंतर्गत खंडन या मंडन के लिए लिखे गए मोटे-मोटे शोध-ग्रंथों और किताबों में भी दुर्लभ है। शोधार्थीगण द्विवेदीजी के इस या उस पक्ष पर विस्तृत ब्यौरे मुहैया करा सकते हैं लेकिन सही और गलत का ऐसा निष्पक्ष दृष्टिकोण, सराहना और आलोचना का ऐसा विवेकपूर्ण संतुलन मुझे अन्यत्र देखने को नहीं मिला। ऐसा इसलिए नहीं है कि शोधार्थियों और आलोचकों की बुद्धि में कोई समस्या है बल्कि ऐसा इसलिए है क्योंकि शोध, आलोचना और यहाँ तक कि खुद बुद्धिजीवियों की भूमिका को लेकर उनका दृष्टिकोण अलग है। मूल्यों को व्यक्ति से ऊपर मानने का संस्कार अभी हिन्दी आलोचना में स्थापित ही नहीं हुआ है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि द्विवेदीजी की उक्त आलोचना का पहला प्रारूप एक गोष्ठी में वीर भारत जी ने नामवर

सिंह के सामने पड़ा था। अपने गुरु के मुँह पर उसकी आलोचना करने के ऐसे और कितने उदाहरण हिन्दी में मौजूद हैं?

हिन्दी के मौजूदा बौद्धिक परिदृश्य में अगर कोई लेखक नामवर सिंह और उनके गुरु हजारी प्रसाद द्विवेदी दोनों की ऐसी बेलाग आलोचना करता है तो उसके बारे में यह अनुमान करना अस्वाभाविक नहीं समझा जाएगा कि वह जरूर रामविलास शर्मा और शुक्लजी का समर्थक होगा। लेकिन वीर भारत रामविलास शर्मा के खेमे में खड़े होकर नामवर सिंह और द्विवेदीजी की आलोचना नहीं करते। इसीलिए उनकी आलोचना में न तो वैसी एकांगिकता है और न चरित्र हनन करने वाले छिछले आरोप-प्रत्यारोप। वीर भारत तलवार कई दृष्टियों से रामविलास शर्मा के लेखन को महत्वपूर्ण मानते हैं। शायद वे अकेले आलोचक हैं जिन्होंने ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में रामविलास शर्मा के मौलिक योगदान को रेखांकित किया है। इस किताब में भी उन्हें ऐसे दृष्टि संपन्न लेखक की 'सबसे अच्छी मिसाल' बताया गया है जिसका 'अध्ययन-लेखन समाज के लिए विचारोत्तेजक और मूल्यवान हो सकता है।' (वही, पृष्ठ 269) लेकिन इसके बावजूद वीर भारत न तो उनसे आक्रांत होते हैं और न ही उनकी पद्धतिगत धांधलियों के लिए उन्हें बख्शाते हैं।

'रामविलास शर्मा की आलोचना पद्धति और मार्क्सवाद' शीर्षक एक शृंखला के रूप में लिखे गए चार निबंध इस पुस्तक का केन्द्रीय आकर्षण हैं। रामविलास शर्मा की कृति 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज' की यह विस्तृत बिन्दुवार समीक्षा मार्क्सवाद और मार्क्सवादी आलोचना में दिलचस्पी रखने वाले किसी भी गंभीर पाठक के लिए अनिवार्यतः पठनीय सामग्री हैं। ये निबंध जहाँ एक ओर मार्क्सवाद के सैद्धांतिक विवेचन से जुड़े प्रश्नों के कारण महत्वपूर्ण हैं, वहीं दूसरी ओर रामविलास शर्मा के मार्क्सवाद और (उससे भी अधिक) उनकी आलोचना पद्धति को समझने के लिहाज से असाधारण महत्व के हैं।

प्रामाणिक ज्ञान के लिहाज से विवेचन पद्धति का प्रश्न सबसे प्राथमिक और सबसे मूलभूत प्रश्न होता है। लेकिन उठाने-गिराने और मूल्य निर्णयों में ही दिलचस्पी रखने वाली आलोचना के लिए महत्व पद्धति का नहीं निष्कर्ष का होता है। अपवादों को छोड़कर आमतौर पर पद्धति का प्रश्न हिन्दी आलोचना में इसीलिए अनुपस्थित है। ऐसे में रामविलास शर्मा जैसे बड़े आलोचक की आलोचना पद्धति का यह तरतीबवार विश्लेषण हिन्दी आलोचना में व्याप्त एक गंभीर रोग का निदान भी है और इलाज भी। रामविलासजी की उक्त किताब में यह विचारोत्तेजक थीसिस प्रतिपादित की गई है कि मार्क्सवाद की स्थापना (और विकास) में पश्चिमी देशों से अधिक योगदान पिछड़े हुए देशों का है। लगभग सौ पृष्ठों में फैले 'सामना' के चार निबंधों में इस थीसिस से जो रोचक और विचारोत्तेजक बहस की गई है उसका सार प्रस्तुत कर सकना मुश्किल है। वजह यह है कि यह बहस केवल रामविलासजी के निष्कर्ष से नहीं उनकी पूरी पद्धति से है। किताब बहुत विस्तार से ब्यौरों के साथ दिखाती चलती है कि किस तरह रामविलासजी किसी बिल्कुल भिन्न संदर्भ में मार्क्स-एंगेल्स (या किसी और विद्वान) द्वारा कही गई बात को बिना संदर्भ बताए ऐसे उद्धृत करते हैं जैसे वह उसी प्रसंग में कही गई हो। इन उद्धरणों में कही गई किसी एक बात पर इतना जोर दिया जाता है जैसे वही मार्क्स-एंगेल्स का मूल कथ्य रहा हो और फिर व्याख्या करते समय उसमें चुपके से ऐसी बातें जोड़ दी जाती हैं जो मूल उद्धरण में कहीं थी ही नहीं। अर्थ यह है कि रामविलास शर्मा ठेठ मार्क्सवाद विरोधी मान्यता को प्रतिपादित करने के लिए मार्क्स-एंगेल्स को निर्जीव ठप्पे की तरह इस्तेमाल कर लेते हैं।

महत्वपूर्ण पक्ष को गौण और गौण को महत्वपूर्ण बनाकर पेश करना, सरलीकरण, असंगत तुलनाएँ और चरित्र हनन रामविलासजी की आलोचना पद्धति के कुछ अन्य महत्वपूर्ण औजार हैं। इस पद्धति का बेहतरीन इस्तेमाल उन्होंने अपनी किताब के हेगेल संबंधी अध्याय में किया है। मार्क्सवाद के अध्येता जानते हैं कि हेगेल के द्वंद्ववाद के बिना मार्क्सवादी दर्शन (द्वंद्वात्मक भौतिकवाद) का विकास संभव न था। खुद मार्क्स ने बहुत प्रभावशाली शब्दों में अपने ऊपर हेगेल के ऋण को स्वीकार किया है। लेकिन हेगेल तो पिछड़े हुए समाज के दार्शनिक नहीं थे। अगर उनके योगदान को स्वीकार कर लिया जाए तो मार्क्सवाद की स्थापना में पिछड़े समाजों

के योगदान वाली थीसिस का क्या होगा? इस समस्या का समाधान करने के लिए रामविलासजी ने हेगेल को ध्वस्त करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने हेगेल के दर्शन के सारतत्व को एक किनारे रख दिया और उनकी किताब में ध्रुवों, जलवायु, नस्ल, समुद्र और भारतीय स्त्रियों के सौंदर्य आदि पर की गई कुछ अवैज्ञानिक टिप्पणियों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। इन कमजोर टिप्पणियों के आधार पर उन्होंने हेगेल के दर्शन को नस्लपंथी और विवेकहीन घोषित कर दिया।

मुश्किल यह है कि भारत के बारे में द्वितीयक स्रोतों के आधार पर बनी ऐसी कमजोर धारणाएँ हेगेल के यहाँ ही नहीं, खुद मार्क्स-एंगेल्स के यहाँ भी मिलती हैं। यह समानता रामविलासजी को एक चुनौती की तरह लगती है। इस चुनौती से निबटने के लिए वे दो तर्क विकसित करते हैं। वे अल्थूसर की तरह मार्क्स के आरंभिक और परवर्ती चिंतन में बँटवारा करते हैं (हालाँकि उनके उद्देश्य अल्थूसर से भिन्न हैं) और तर्क देते हैं कि आरम्भिक दौर में मार्क्स-एंगेल्स बहुत से गलत विचार रखते थे और ये विचार उन्हें हेगेल से मिले थे। लेकिन जब इससे भी पूरा काम नहीं बनता तो वे सलाह देते हैं कि मार्क्स-एंगेल्स के “इतिहास संबंधी विवेचन में जहाँ-तहाँ हेगेल की मान्यताएँ मिलती हैं तो उन्हें उनके विवेचन का सार तत्व न मानना चाहिए।” (वही, पृष्ठ 40 पर उद्धृत) ऊपर से मासूम दिखती इस सलाह के पीछे मौजूद गड़बड़झाले को वीर भारतजी की यह टिप्पणी उद्घाटित करती है “भारतीय समाज की जड़ता, क्रूरता, पशु-पूजा आदि को मार्क्स-एंगेल्स के विवेचन का सार तत्व न माना जाए। बात सही है; यह सब निश्चय ही उनके विवेचन का सारतत्व नहीं है, गौण और कमजोर पक्ष है जिसपर ज्यादा जोर देने की जरूरत नहीं है। लेकिन यही बातें अगर हेगेल में मिलें तो क्या इन्हें हेगेल के विवेचन का सारतत्व मानना चाहिए? रामविलासजी ने हेगेल के कमजोर और गौण पक्षों को हाथ में लिए झंडे की तरह हिला-हिलाकर फहराया कि देखो, देखो! हेगेल क्या कर रहे हैं! त्रोट्स्कीवादी इन स्थापनाओं को खूब रंग-चुनकर मार्क्सवाद का सारतत्व कहकर पेश करें तो गलत, लेकिन कोई मार्क्सवादी (या स्तालिनवादी!) इन्हीं स्थापनाओं को हेगेल के सारतत्व के रूप में पेश करे, तो सही?” (वही, पृष्ठ 41) एक ही चीज के लिए अलग-अलग पक्षों के साथ अलग-अलग रवैया अपनाना रामविलासजी की पद्धति का अनिवार्य हिस्सा है।

रामविलासजी जिसे अपना प्रतिपक्ष बनाते हैं उसे ध्वस्त करने के लिए किसी भी सीमा तक जाते हैं। मार्क्सवाद के साथ हेगेल का संबंध दर्शन के स्तर पर है। इस संबंध को नकारने के लिए हेगेल के दार्शनिक योगदान को खारिज करना जरूरी है लेकिन रामविलासजी हेगेल के साथ दार्शनिक बहस में नहीं जाते। वे उन्हें व्यक्ति के तौर पर खारिज करते हैं। सरल शब्दों में कहें तो वे हेगेल को एक बुरे व्यक्ति के रूप में चित्रित करते हैं, उन्हें बदनाम करते हैं। उन्होंने कुछ कमजोर टिप्पणियों के हवाले से हेगेल को नस्लपंथी और विवेकहीन घोषित किया। शासक वर्ग के साथ हेगेल के संबंधों पर जोर देते हुए रामविलासजी ने उन्हें शासक वर्ग का चाटुकार बताया। कान्ट के राजनैतिक लेखन को सामने रखकर उनसे हेगेल की हास्यास्पद तुलना की। मार्क्सवाद के प्रतिष्ठित विद्वानों और नेताओं की राय में हेगेल का दर्शन रूढ़िवादी है यह दिखाने के लिए रामविलासजी ने मार्क्स-एंगेल्स, लेनिन और मार्टिन निकोलस की पंक्तियों को आधे-अधूरे और गलत ढंग से उद्धृत किया! अगर कोई पाठक रामविलासजी पर विश्वास करके उनकी किताब को पढ़े तो उसे सचमुच यकीन हो जाएगा कि हेगेल एक ऐसे बुरे इंसान और रूढ़िवादी दार्शनिक थे, जिनका मार्क्सवाद के साथ कोई सकारात्मक संबंध नहीं है। पाठक देखें तो पाएँगे कि यह रामविलासजी की परिचित पद्धति है जिसका इस्तेमाल उन्होंने मुक्तिबोध और हजारी प्रसाद द्विवेदी समेत अपने तमाम प्रतिपक्षियों को ध्वस्त करने के लिए किया है।

सवाल यह उठता है कि रामविलासजी को हेगेल के (या किसी के भी) खिलाफ ये हथकंडे अपनाने की क्या जरूरत थी? इससे क्या फर्क पड़ जाता है कि मार्क्सवाद के संस्थापकों ने हेगेल के दर्शन के मूल्यवान पक्षों को विरासत के तौर पर बेझिझक ग्रहण किया और उसका क्रांतिकारी विकास किया? हेगेल को बदनाम करके इस संबंध पर पर्दा डालने की क्या जरूरत थी? अगर हम इस जरूरत को नहीं समझेंगे तो रामविलासजी की पद्धति को भी नहीं समझ पाएँगे। वीर भारतजी बिल्कुल सही पहचानते हैं कि “रामविलासजी विचारधाराओं और

राजनीतिक दर्शन के सामाजिक आर्थिक आधारों के महत्व को कम करके उन्हें जातियों या राष्ट्रों के गौरव का विषय बना देते हैं।” (वही, पृष्ठ 26) यह काम उन्होंने मार्क्सवाद के साथ किया और यही काम नवजागरण के साथ भी किया है। उन्होंने “हिन्दी नवजागरण को तथाकथित हिन्दी जाति के जातीय गर्व की वस्तु भी बना दिया है।” (वही, पृष्ठ 254) रामविलास शर्मा का अधिकांश लेखन इसी गर्व-भावना से चालित है। मार्क्सवाद के विकास में पश्चिमी देशों का योगदान अधिक है यह बात उन्हें गौरव के प्रतिकूल लगती है इसीलिए वे हेगेल के योगदान को खारिज करके उसकी जगह जैन ‘अनेकांतवाद’ को स्थापित करने का दयनीय प्रयास करते दिखाई देते हैं। सवाल यह उठता है कि इतिहास के साथ छेड़छाड़ करके तुष्ट होने वाली इस गर्व भावना को हिन्दी में इतनी व्यापक स्वीकृति क्यों मिली हुई है। हिन्दी के बौद्धिकों ने इस गर्व भावना का प्रतिवाद क्यों नहीं किया?

‘सामना’ के लेखों से गुजरते हुए यह बात स्पष्ट होती चली जाती है कि यह गर्व भावना केवल रामविलासजी के लेखन की विशेषता नहीं है। नवजागरण के प्रसंग में देखें तो बच्चन सिंह, विजेन्द्र नारायण सिंह और शंभुनाथ जैसे आलोचकों ने इस गर्व भावना को तथाकथित हिन्दी जाति के ‘अंध-राष्ट्रवाद’ तक पहुँचा दिया है। (वही, पृष्ठ 255) असल में हिन्दी के अधिकांश लेखक-आलोचक जब किसी भी चीज के बारे में सकारात्मक लिखना चाहते हैं तो वे इसी गर्व भावना को जगाने के प्रयास में लग जाते हैं। जब तक अपने ‘देवता’ को दूसरे के देवताओं से बड़ा, सर्वश्रेष्ठ देवता न घोषित कर दिया जाए, तब तक यह गर्व भावना तुष्ट नहीं हो पाती। इस लिहाज से नामवर सिंह द्वारा हजारी प्रसाद द्विवेदी की ‘भव्य मूर्ति’ स्थापित करने के प्रयास भी इसी गर्व भावना से चालित हैं। इसमें हैरानी की कोई बात नहीं है कि नामवरजी ने आलोचना के ‘केवल जलती मशाल’ शीर्षक अपने संपादकीय में हिन्दी वालों में यही गर्व भावना जगाने के लिए रामविलासजी के नवजागरण संबंधी लेखन की प्रशंसा की थी।

अपने समाज और साहित्य की वस्तुस्थिति को समझने और उसकी चुनौतियों से टकराने की बजाय हिन्दी बौद्धिकों को इस गर्व भावना की जरूरत क्यों पड़ती है? ‘सामना’ में शामिल ‘प्रेमचंद-शरतचन्द्र विवाद’ शीर्षक शोधपूर्ण लेख एक ऐतिहासिक बहस के हवाले से इस सवाल का उत्तर देता है। अपनी सांस्कृतिक अस्मिता के प्रति हिन्दी भाषियों (असल में हिन्दी बौद्धिकों) के मन में गहरा हीनताबोध भरा हुआ है, जिसकी भरपाई करने के लिए वे अपनी हर चीज को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते हैं ताकि उसपर गर्व कर सकें। ‘प्रेमाश्रम’ के पहले संस्करण की भूमिका लिखते हुए प्रोफेसर रामदास गौड़ ने शरतचन्द्र के हवाले से प्रेमचंद की तुलना टैगोर से की थी। इस तुलना से भड़ककर हिन्दी के ही एक लेखक हेमचंद्र जोशी ने इस हवाले पर संदेह जताया और टैगोर और शरत की तुलना में प्रेमचंद को दो कौड़ी का लेखक घोषित कर दिया। इससे जो विवाद पैदा हुआ वह 1922-23 में पहले ‘प्रभा’ और बाद में ‘माधुरी’ पत्रिका के कई अंकों तक चलता रहा।

इस बहस की सबसे बड़ी विडम्बना यह थी कि प्रेमचंद के पक्षधर हों या विरोधी, दोनों के लिए प्रेमचंद की श्रेष्ठता का प्रतिमान टैगोर और शरतचन्द्र ही थे। इस विडम्बना पर दुखी होकर एक गुमनाम लेखक ने बिल्कुल ठीक टिप्पणी की थी कि “हमें हिन्दी की इस अधोगति पर बड़ा खेद होता है। अब हम इतने गए-गुजरे हो गए हैं कि अन्य भाषा वालों से अपनी पुस्तक पर सनद मांगते हैं।” (वही, पृष्ठ 234) इसी हीन भावना का एक रूप यह है कि “हिन्दी प्रदेश के शिक्षित मध्यवर्ग का सदस्य जरा-सा भी अमीर होता है तो सबसे पहले हिन्दी भाषा के व्यवहार को छोड़ता है और अंग्रेजी को सपरिवार गले लगाता है।” (वही, पृष्ठ 256) दिलचस्प बात यह है कि प्रेमचंद के महत्व को बताने की प्रक्रिया में ‘इतिहास की धारा’ की वस्तुगत टिप्पणी के रूप में वीर भारतजी ने हजारी प्रसाद द्विवेदी के पत्र की जो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं उनमें भी प्रेमचंद की प्रशंसा इस ‘गर्व भावना’ को जगाने के लिए ही की गई है। द्विवेदीजी ने प्रेमचंद को पत्र में लिखा “आपके साहित्य ने हिन्दी को समृद्ध किया है और हिन्दी भाषियों को दुनिया में मुँह दिखाने लायक। इसलिए आपके यश को हम लोग निर्विचार बाँट लिया करते हैं। जब हम रंगभूमि या कर्मभूमि दूसरों को दिखाते हैं तो मन-ही-मन गर्वपूर्वक पूछा करते हैं – है तुम्हारे पास कोई ऐसी चीज!” (वही, पृष्ठ 241) हिन्दी के बौद्धिकों में मौजूद गर्व भावना अपनी सांस्कृतिक अस्मिता

को लेकर उनके मन में गहरे बैठी हीन भावना की ही प्रतिक्रिया है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इतिहास के विकृतीकरण के बिना यह गर्व भावना पैदा नहीं की जा सकती इसीलिए रामविलास शर्मा जैसे विद्वानों को पद्धतिगत धांधलियों की जरूरत पड़ती है। मुझे तो यह भी लगता है कि हिन्दी में रामविलासजी की व्यापक प्रतिष्ठा के पीछे उनके महत्वपूर्ण अध्ययन से भी ज्यादा इस गर्व भावना का ही योगदान है। इस गर्व भावना को खारिज करने वाला कोई भी बौद्धिक प्रयास इसीलिए भक्तों को नाकाबिले-बर्दाश्त नजर आता है।

प्रसंगवश इस किताब में ‘हिन्दी नवजागरण : अध्ययन की समस्याएँ’ शीर्षक एक लेख है। इस लेख का महत्व किसी दस्तावेज जैसा है। 1993 में प्रकाशित इस लेख में वे बुनियादी जिज्ञासाएँ और समस्याएँ एक भावी शोध की रूप-रेखा के तौर पर मौजूद हैं जिनका विस्तार से अध्ययन आगे चलकर लेखक ने बहुचर्चित किताब ‘रस्साकशी’ में किया। इस लेख में भी रामविलास शर्मा समेत कई आलोचकों की मान्यताओं की आलोचना मौजूद है। रस्साकशी के प्रकाशन के बाद काफी अर्से तक रामविलासजी के भक्तों ने इस बात पर काफी शोर मचाया कि वीर भारत तलवार ने रामविलास शर्मा का विरोध करने और उनका महत्व घटाने के लिए ‘रस्साकशी’ लिखी। मानो रामविलास शर्मा की मान्यताओं का विरोध करना कोई कुफ्र है। किताब की मान्यताओं, तर्कों और प्रमाणों से बहस करने की बजाय ऐसे हास्यास्पद आरोप लगाने का काम भक्त लोग ही कर सकते हैं। लेकिन इस प्रसंग में जो बात मुझे दिलचस्प लगती है, वह यह है कि अगर रामविलासजी को ध्यान में रखकर हम ‘सामना’ और ‘रस्साकशी’ की तुलना करें तो जहाँ ‘सामना’ का स्वर आक्रामक (और कहीं-कहीं व्यंग्यात्मक भी) है, वहीं ‘रस्साकशी’ का स्वर प्रशांत गंभीर है। ‘रस्साकशी’ का परिप्रेक्ष्य बहुत व्यापक है और सच तो यह है कि उसमें रामविलास शर्मा का जिक्र भी बहुत ज्यादा नहीं है (कुछ स्थानों पर उनसे सहमति भी जताई गई है), जबकि ‘सामना’ में रामविलासजी पर केन्द्रित बहुत तीखी विस्तृत आलोचना मौजूद है फिर रामविलासजी के भक्तों ने उनकी आलोचना के लिए ‘सामना’ को लेकर शोर-शराबा क्यों नहीं मचाया?

इसकी वजह शायद यह है कि वे नहीं चाहते कि इस आलोचना की ओर पाठकों का ध्यान जाए क्योंकि यह आलोचना इतनी प्रमाण-पुष्ट, तार्किक और विश्वसनीय है कि इसे पढ़ने के बाद रामविलासजी द्वारा अपनाई जाने वाली पद्धतिगत धांधलियों को लेकर कोई संदेह नहीं रह जाता। पाठकों की यह सजगता उन आलोचकों के लिए भी असुविधाजनक है जो खुद रामविलासजी की पद्धति को अपनाए हुए हैं। शोध और आलोचना में पद्धति का महत्व निष्कर्षों से भी अधिक होता है। वीर भारत तलवार बिल्कुल ठीक कहते हैं “कई बार स्थापनाएँ भ्रामक हुआ करती हैं, लेकिन उनसे कोई भ्रम नहीं फैलता अगर उनतक पहुँचने की पद्धति निर्भ्रात हो। दुर्भाग्य से रामविलासजी की पद्धति ऐसी निर्भ्रातता से दूर है। यह उनकी भ्रामक स्थापनाएँ नहीं बल्कि उनकी विवेचन-पद्धति है जो उनके पूरे विवेचन को संदिग्ध बना देती है।” (वही, पृष्ठ 28) किसी आलोचक की विवेचन-पद्धति की समस्याओं की पहचान निःसंदेह बहुत चुनौतीपूर्ण कार्य है। रामविलासजी ने अपनी किताब में मार्क्स-एंगेल्स, लेनिन और मार्टिन निकोलस के जो वक्तव्य संदर्भ से काटकर गलत ढंग से उद्धृत किए हैं, उन उद्धरणों और संदर्भों की जाँच, सही संदर्भ में उद्धरणों के आशय की व्याख्या, उन्हीं विद्वानों द्वारा अन्यत्र हेगेल (या अन्य मुद्दों) के बारे में कही गई अन्य निर्णायक बातों की खोज और असंगत तुलनाओं के स्पष्टीकरण के लिए इस समीक्षा में लेखक ने जो श्रम किया है वह सचमुच सराहनीय है।

रामविलासजी की एकांगी आलोचना पद्धति के ठीक उलट वीर भारत तलवार लेखकों और परिस्थितियों को स्याह-सफेद के खँचे में नहीं बाँटते। वे जिनके बारे में सकारात्मक लिखते हैं उनकी कमजोरियों पर पर्दा नहीं डालते और जिनकी आलोचना करते हैं उनके सकारात्मक पक्षों (अगर कोई हों) को छिपाते नहीं, खुद रेखांकित करते हैं। उदाहरण के लिए परसाई को बिना शक एक महत्वपूर्ण लेखक मानते हुए वे उनके योगदान को रेखांकित करते हैं। परसाई के महत्व को बताते हुए वे लिखते हैं “यह ‘सिस्टम’ कैसे काम करता है, सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं की कार्यप्रणाली और कार्यक्षमता के रहस्य क्या हैं, इसे परसाई ने दिखाया। खासकर शिक्षित मध्यवर्ग की संस्कृति, आचरण और मनोवृत्तियों की पोल बेलाग ढंग से खोल कर रख दी। व्यंग्यात्मक लेखन में

समकालीन जीवन और समाज की इतनी विस्तृत जानकारी और चुटीली आलोचना परसाई से पहले और किसी लेखक में नहीं मिलती।” (वही, पृष्ठ 191) लेकिन इसके साथ ही वह परसाई जी की कमजोरियों को भी सामने ले आते हैं। व्यंग्य में अवलोकन बिंदु के महत्व को स्पष्ट करते हुए वे दिखाते हैं कि गलत जगह पर खड़े होकर देखने के चलते कई बार परसाई का हास्यबोध करुण कथा को भी मनोरंजन में बदल देता है। वे दिखाते हैं कि परसाई की राजनीतिक दृष्टि कई बार यथार्थ को उजागर करने में बाधक भी बन जाती है और वे यह भी दिखाते हैं कि सांप्रदायिकता के खिलाफ हमेशा साहसपूर्ण संघर्ष करने के बावजूद परसाई हिंदी क्षेत्र में फैली सिख-विरोधी सांप्रदायिक धारणाओं से अनजाने में प्रभावित हो जाते हैं। निष्पक्ष विवेचन के ऐसे उदाहरण किताब में और भी हैं लेकिन इसका सबसे बेहतरीन और मूल्यवान उदाहरण है निर्मल वर्मा की कहानी कला पर वीर भारतजी का 60 पृष्ठ लंबा निबंध ‘निर्मल वर्मा की कहानियों का सौंदर्यशास्त्र और समाजशास्त्र’।

निर्मल वर्मा हिंदी के एक अनोखे कथाकार हैं। उनका अनोखापन केवल कहानी कला के लिहाज से नहीं बल्कि मूल्यांकन के लिहाज से भी है। प्रशंसकों और विरोधियों की पर्याप्त मात्रा के बावजूद उनकी कहानियों की शक्ति और सीमाओं की कोई ठोस व्याख्या किसी ने नहीं की। इस अक्षमता का एक कारण हिंदी में कहानी आलोचना का समुचित विकास ना होना भी है। लेकिन दुर्भाग्यवश नई कहानी के दौर में जब नामवर सिंह कहानी आलोचना का व्याकरण तैयार कर रहे थे, तब राजनीतिक वजहों से उन्होंने निर्मल वर्मा की जो प्रशंसा की, वह खुद निर्मल वर्मा के मूल्यांकन के रास्ते में एक बड़ी बाधा बन कर खड़ी हो गई। निर्मल वर्मा की प्रशंसा और विरोध की मूल वजहें राजनीतिक ही रही हैं। इस राजनीतिक माहौल में निर्मल वर्मा का निष्पक्ष मूल्यांकन एक बहुत बड़ी चुनौती की तरह है। वीर भारत तलवार का आलेख ना केवल इस चुनौती का जवाब देता है बल्कि वह कहानी के व्याकरण निर्माण की अधूरी रह गई परियोजना को भी आगे बढ़ाता है।

वीर भारत तलवार की आलोचना पद्धति की एक बहुत महत्वपूर्ण विशेषता है लेखों का सुव्यवस्थित ढाँचा और बिंदुवार समीक्षा। लेखन से पहले ही वह अपने सामने महत्वपूर्ण सवाल और उनका क्रम निर्धारित कर लेते हैं। लेखन के दौरान वे एक-एक कर इन सवालों को हल करते जाते हैं और निष्कर्ष खुद-ब-खुद पाठक के सामने उद्घाटित होता चला जाता है। न कोई भटकाव न अप्रासंगिक विस्तार और न ही किसी महत्वपूर्ण सवाल से कतराने का प्रयास। पर्याप्त अध्ययन और शोध पर आधारित साफ-सुथरी निर्द्वंद्व आलोचना-दृष्टि के अभाव में ऐसा कभी संभव नहीं हो सकता। निर्मल वर्मा पर केंद्रित अपने आलेख के आरंभ में ही वह निर्मल वर्मा की कहानियों के अनूठेपन की मूल विशेषताओं को चिन्हित करते हैं “निर्मल की कहानियों का अनूठापन मुख्यतः तीन बातों में है –काव्यात्मक भाषा, चमत्कारपूर्ण कल्पना और रहस्यात्मकता। यही तीन मुख्य विशेषताएँ हैं जो उन्हें नई कहानी के दूसरे सभी कहानीकारों से और शायद हिंदी की पूरी कथा-परंपरा से, अलग करती हैं। कुछ दूसरी विशेषताएँ भी हैं, जैसे बारीक अनुभूतिशीलता और बिंबों में उसकी अभिव्यक्ति, अत्यधिक स्मृतिशीलता, छोटी-छोटी तफसीलों की जीवंतता, सूक्ष्म निरीक्षण-वृत्ति और खास किस्म का वातावरण, इत्यादि।” (वही, पृष्ठ 125) निर्मल वर्मा या किसी भी रचनाकार के लेखन की कुछ विशेषताएँ गिना देना अपने आप में बड़ी बात नहीं है। विशेषताएँ आरोपित भी हो सकती हैं। बड़ी बात है ठोस उदाहरणों के जरिए इन विशेषताओं का निदर्शन, इन्हीं विशेषताओं वाले अन्य रचनाकारों से उस लेखक के अलगाव की पहचान और उसकी रचनाशीलता के स्वरूप और प्रभाव को निर्धारित करने में इन विशेषताओं की भूमिका का रेखांकन।

वीर भारत पहले ही यह स्पष्ट कर देते हैं कि ये विशेषताएँ निर्मल वर्मा के पूर्ववर्ती रचनाकारों में भी मौजूद थीं लेकिन पूर्ववर्ती रचनाकारों के यहाँ ये तत्व कलात्मक प्रयोग के तौर पर आते थे जबकि “निर्मल के यहाँ काव्यात्मकता कहानी की बनावट में ही निहित है और काव्यात्मक भाषा या चमत्कारिक कल्पना और रहस्यमयता सिर्फ कलात्मक प्रयोग के रूप में नहीं मिलती, बल्कि यही उनकी कहानियों का बुनियादी दर्शन है, देह और प्राण, दोनों।” (वही, पृष्ठ 125-26)

अगर उद्देश्य किसी रचनाकार को महान या घटिया सिद्ध करना मात्र हो तो रचनाकार की एक विशेषता

बताने के लिए एक उदाहरण ढूँढ कर लाना पर्याप्त होता है, हिंदी आलोचना में यही चलन मौजूद है। लेकिन अगर आलोचक की मूल प्रतिज्ञा कहानियों की 'देह और प्राण' दोनों में विन्यस्त 'बुनियादी दर्शन' को उद्घाटित करने की हो तो सरल रास्ते की निरर्थकता उसके लिए स्वयंसिद्ध होती है। वीर भारत एक तरफ निर्मल वर्मा के कला संबंधी वक्तव्यों के हवाले से उनके साहित्य दर्शन को स्पष्ट करते हैं, दूसरी तरफ उनकी कहानियों से इस दर्शन की गहरी संगति को भी दिखाते हैं। लेकिन जो बात सबसे ज्यादा प्रभावित करती है वह यह है कि वीर भारतजी न केवल निर्मल वर्मा की कहानियों की बुनियादी विशेषताओं को पर्याप्त उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट करते हैं बल्कि उन विशेषताओं के विभिन्न अवयवों के रेशे-रेशे को अलगाकर यह भी दिखाते चलते हैं कि किस दिशा में निर्मल की उपलब्धि कितनी दूर तक है। उदाहरण के लिए वे केवल यह बताकर संतुष्ट नहीं हो जाते कि काव्यात्मक भाषा निर्मल वर्मा की कहानियों की एक महत्वपूर्ण विशेषता है बल्कि वे आगे बढ़कर यह सवाल भी उठाते हैं कि निर्मल की काव्यात्मक भाषा का स्वभाव क्या है? उसका निर्माण किन अवयवों से हुआ है? और इस काव्यात्मक भाषा ने निर्मल वर्मा की रचनाशीलता पर क्या असर डाला है, काव्यात्मक भाषा निर्मल वर्मा की ताकत है या उनकी कमजोरी? वह पाते हैं कि चमत्कारिक कल्पना के जरिए निर्मित अनूठे बिंबो और उपमाओं के कारण निर्मल वर्मा की भाषा उनके समकालीन अधिकांश कहानीकारों की बेजान, भद्दी और सपाट भाषा की तुलना में बहुत जीवंत, शक्तिशाली और सौंदर्यपूर्ण हो जाती है। चमत्कारिक कल्पना, काव्यात्मक भाषा और रहस्यात्मकता के जरिए निर्मल वर्मा जिंदगी के छोटे-छोटे अनुभवों को इतने प्रभावशाली ढंग से अंकित करते हैं कि पाठक विस्मित हो जाता है। असल में यह छोटे-छोटे ब्यौरे ही निर्मल वर्मा की कहानी कला की असली ताकत हैं। वे लिखते हैं "निर्मल की कहानियों का जो मुग्धकारी प्रभाव पाठकों पर पड़ता है, वह किसी विशेष घटना या स्थिति के वर्णन का नहीं होता। घटना का महत्व उनके यहाँ नगण्य ही रहता है। चमत्कृत कर देने वाला मुग्धकारी प्रभाव असल में सारी कहानी के ताने-बाने में यहाँ से वहाँ तक बुना रहता है- और यह बुनावट छोटी-छोटी तफसीलों की होती है इसीलिए निर्मल नाबोकोव की इस धारणा को सराहते हैं कि 'छोटी, नगण्य चीजों पर विस्मय करने की सामर्थ्य में ही आत्मा अपने स्वगत वचन बोलती है'।" (वही, पृष्ठ 133) जिंदगी के छोटे-छोटे अनुभव के प्रति यह संवेदनशीलता निसंदेह सराहनीय है लेकिन समस्या यह है कि इन अनुभवों का दायरा बहुत सीमित है और उससे भी बड़ी समस्या यह है कि आपस में असंबद्ध ब्यौरों की शक्ल में आए यह छोटे-छोटे अनुभव किसी बड़े अनुभव सत्य की व्यंजना नहीं करते।

निर्मल वर्मा ने कहानी के क्षेत्र में कई प्रयोग किए लेकिन इन प्रयोगों को उन्होंने इतनी बार दोहराया है कि उनका नयापन घिसकर खत्म हो गया है। यही बात ब्यौरों के बारे में भी है। एक दूसरे से स्वायत्त अनुभवों को ही कहानी का मर्म मानने वाले निर्मल वर्मा अपनी कहानियों में गैरजरूरी ब्यौरों का अंबार लगाते जाते हैं पूर्व परिचित अनुभव का दोहराव उबाने लगता है और "एक स्थिति आती है, जब छोटी-छोटी नगण्य चीजों में आत्मा का स्वगत वचन नहीं सुनाई देता, आत्मा का घिसा-पिटा रिकार्ड बजने लगता है। जब लेखक अपनी भाषा को एक खास साँचे में ढाल लेता है, उसकी संवेदना कुछ खास विषयों को ही छूती है और उसकी निरीक्षण-वृत्ति कुछ खास चीजों में ही रमने लगती है, तब उसकी रचना भी एक खास दायरे में ही बार-बार चक्कर काटने लगती है। आत्मा का स्वगत वचन घिसे-पिटे रिकार्ड में इसलिए बदल जाता है क्योंकि उन स्वगत वचनों को हम कई-कई बार सुन चुके होते हैं। कला की विचित्रता कला रूढ़ियों में बदलने लगती है। नई कहानी के दौर के किसी भी लेखक में इतनी रूढ़ियाँ नहीं मिलतीं, जितनी निर्मल के लेखन में दिखाई देती हैं।" (वही, पृष्ठ 152)

वीर भारत अपने लेख में निर्मल वर्मा की कहानियों के सौंदर्यशास्त्र पर ही नहीं समाजशास्त्र पर भी विचार करते हैं। अपनी निजता में डूबे एक खास तबके के छोटे से अनुभव संसार से जुड़ी निर्मल वर्मा की कहानियाँ उस वर्ग की समस्याओं का दार्शनिकीकरण करती हैं। वह उनकी स्थिति को सामान्य मानव स्थिति और उनकी नियति को सामान्य मानव नियति बनाकर पेश करती हैं। किसी सामाजिक राजनीतिक विचारधारा से निर्मल वर्मा की कहानियों का कोई खास लेना-देना नहीं है। कलावादी रुझानों के चलते उनकी कहानियों में कोई गंभीर अनुभव

सत्य देखने को नहीं मिलता। उनकी कहानियों में न तो सामाजिक यथार्थ मिलता है और न ही सामंत विरोधी चेतना। उनकी कहानियों के पात्र अकेलेपन और घुटन से त्रस्त तो रहते हैं लेकिन अपनी स्थिति या सामाजिक परिवेश को बदलने की कोई छटपटाहट इन पात्रों में सिर से नदारद है। ‘निर्मल के सामाजिक दृष्टिकोण का सार तत्व है –संघर्ष मत करो।’ इसीलिए उनकी कहानियों में मनुष्यता के भविष्य के प्रति नतो कोई आस्था मिलती है और नही जीवन को प्रेरणा दे सकने की शक्ति।(वही, पृष्ठ 171)

‘सामना’ वीर भारतजी के 40 वर्षों के लेखन से चयनित एक वैविध्यपूर्ण संकलन है जिसमें निबंध, समीक्षाएँ, संस्मरण, साक्षात्कार आदि विधाओं की कुल 23 रचनाएँ शामिल हैं। इसमें शामिल हर रचना मुझे किसी न किसी दृष्टि से प्रभावित करती है। मुझे सब पर कुछ कहना था। मुझे वीर भारत की स्त्री दृष्टि के बारे में बात करनी थी, मुझे एक नवयुवक की उस अदम्य जिज्ञासा पर बात करनी थी जो यशपाल और उत्पल दत्त जैसे लेखक-कलाकारों के कृतित्व के प्रति श्रद्धावनत होने के बावजूद असुविधाजनक सवालों को पूछने से खुद को रोक नहीं पाता है और सबसे बढ़कर मुझे ‘चुनार के किले से’ में निहित सौंदर्य दृष्टि और मर्मस्पर्शी कोमल भावनाओं पर बात करनी थी, जिनसे गुजरते हुए वीर भारत तलवार के बारे में मेरे व्यक्तिगत पूर्वग्रहों को बहुत गहरा झटका लगा था। लेकिन वह सब फिर कभी! मैं पहले ही बहुत विस्तार कर चुका हूँ। अगर मैं खुद को नहीं रोकूंगा तो शायद यह लेख पठनीयता के दायरे को लाँघ जाएगा।

एक आलोचना पुस्तक के तौर पर ‘सामना’ ने मेरे दो अकादमिक पूर्वग्रहों को तोड़ा था। पहला पूर्वग्रह भाषा को लेकर था। सैद्धांतिकी में मेरी गहरी रुचि थी और मेरा मानना था कि सरल भाषा में दार्शनिक विषयों की चर्चा नहीं की जा सकती। ऐसा करने पर सरल भाषा दार्शनिक मुद्दों का सरलीकरण कर देती है – यह धारणा रामविलासजी के लेखन से गुजरते हुए और पुष्ट हुई थी। वीर भारतजी की सरल भाषा के प्रति मन में सराहना का भाव तो था लेकिन साथ ही यह धारणा भी थी कि सैद्धांतिक विवेचन में उनकी दिलचस्पी नहीं है। ‘सामना’ के हेगेलीय द्वंद्ववाद से संबंधित अध्याय से गुजरते हुए ये धारणाएँ चूर-चूर हो गईं। अवधारणात्मक पदों को छोड़ दें (जो घटिया अनुवाद होने के कारण अतिशय कठिन बन गए हैं) तो न केवल सरल भाषा में सैद्धांतिक विश्लेषण संभव है बल्कि बोधगम्यता के कारण जैसा स्थायी प्रभाव इस विवेचन का होता है, शायद वह कठिन भाषा में कभी मुमकिन नहीं हो। इस पूर्वग्रह के टूटने के बाद धीरे-धीरे इस सच्चाई का एहसास हुआ कि हिन्दी पर एक खास तबके के विशेषाधिकार को बनाए रखने के लिए ही सचेत रूप से यह तत्सम प्रधान कठिन भाषा गढ़ी गई। कठिन भाषा लिखना विद्वान होने का पर्याय बन गया। इस भाषा में मूर्खतापूर्ण प्रतिक्रियावादी विचार भी गौरवपूर्ण नजर आने लगते हैं। अगर कोई सामाजिक सरोकारों के लिए लिखना चाहता है तो उसे कठिन भाषा से सचेत रूप से दूरी बनानी होगी, उसका विकल्प तलाशना होगा! मैं यह तो नहीं कहूँगा कि तत्सम प्रधान शब्दावली के प्रति मेरा आकर्षण बिल्कुल खत्म हो गया और मैं एकदम सरल भाषा लिखने लगा लेकिन इतना तो हुआ कि खुद मेरी भाषा बुनियादी तौर पर बदलने लगी।

दूसरा पूर्वग्रह आलोचना की पद्धति से संबंधित था। हिन्दी में आलोचना की जो पद्धति मौजूद है, उसके केन्द्र में मूल्य या विचार नहीं बल्कि व्यक्ति होते हैं। इसमें जिन विचारों के साथ असहमति होती है वे गलत विचार के तौर पर नहीं देखे जाते बल्कि वे गलत व्यक्ति के गलत विचार के तौर पर देखे जाते हैं। पक्ष-विपक्ष का स्याह-सफेद में बंटवारा इस पद्धति की बुनियादी विशेषता है। निष्कर्षों के सत्य होने से ज्यादा जरूरी है उनका उपयोगी होना : यह इस पद्धति का सारतत्व है। अपने चरम उदाहरणों में यह पद्धति अतिरंजित वर्णनों और तथ्यों की तोड़-मरोड़ तक पहुँचा करती है जबकि अपने श्रेष्ठतम रूप में भी यह एकांगी होने के लिए अभिशप्त होती है। यह पद्धति हिन्दी में इतनी व्यापकता से प्रचलित थी(और आज भी है) कि यही सहज नजर आती थी। तथ्यों की तोड़-मरोड़ और उद्धरणों से छेड़छाड़ को तो मैं अकादमिक अपराध मानता था लेकिन इस पद्धति से और कोई शिकायत मुझे नहीं थी। मुझे भी लगता था कि ‘सही पक्ष’ की गलतियों और ‘गलत पक्ष’ की सही बातों को स्वीकार करना पद्धति की दृष्टि से आत्मघातक कर्म है। सचेत रूप से गढ़ा गया ऐसा अधूरा सत्य असल में असत्य

होता है यह बात 'सामना' को पढ़ते हुए महसूस हुई। आलोचना भी ज्ञान का ही एक अनुशासन है लेकिन सचेत रूप से भ्रम पैदा करने वाली ऐसी आलोचना को ज्ञान का अनुशासन कैसे माना जा सकता है? 'सामना' पढ़ते हुए यह दृष्टि मिलती है कि यथार्थ की जटिलता और अपने प्रतिपक्षियों के सकारात्मक पहलुओं को स्वीकार करने से आलोचना कमजोर नहीं होती, बल्कि केवल तभी उसे विश्वसनीयता और दृढ़ता हासिल होती है।

यथार्थ की जटिलता और अंतर्विरोधों को पहचानने वाली संश्लिष्ट दृष्टि, सत्य के प्रति दृढ़ निष्ठा, अथक श्रम, गहरी संवेदनशीलता और आलोचना के सामाजिक सरोकारों के लिए गहरी प्रतिबद्धता के साथ-साथ असाधारण पठनीयता भी 'सामना' के लेखों की एक विशेषता है। अपने पढ़ाकू यौवनकाल में हाथ लगी इस किताब ने मुझे इतना जकड़ लिया था कि जब मुझे एकाधिक बार अपनी बहन को परीक्षा दिलवाने के लिए जाना पड़ा तो इंतजार के दौरान इसके कुछ अध्याय मैंने बस स्टॉप पर बैठे-बैठे पढ़ डाले थे। 'सामना' का महत्व आलोचना की एक ऐसी किताब के रूप में है जो केवल ज्ञान का विस्तार भर नहीं करती बल्कि खुद आलोचना की पद्धति, दृष्टि और मूल्यबोध का प्रशिक्षण देती है। अपने बौद्धिक दायित्व को महसूस करने वाले ऐसे लेखकों के लिए जिन्होंने सीखना अभी बन्द नहीं किया है, 'सामना' एक बदल देने वाली किताब हो सकती है – मेरा अपना अनुभव यही कहता है।

अपनी इस प्रिय किताब में मुझे दो कमियाँ भी महसूस होती हैं।

'सामना' किसी एक दौर में लिखे गए लेखों का संकलन नहीं है। वीर भारतजी ने चालीस वर्षों के दौरान पत्र-पत्रिकाओं में जो कुछ लिखा उन्हीं में से कुछ को चुनकर इस संकलन में शामिल किया है। जाहिर है कि इस संकलन का ऐतिहासिक महत्व भी है। इस संग्रह के समर्पण में उन्होंने लिखा है "1950-60 के दशक के भुला दिये गए कथाकार कमल जोशी की स्मृति को, जिनकी कहानियों पर लिखकर मैंने आलोचना लिखने की शुरुआत की थी।" इस समर्पण के बावजूद वह पहला लेख इस संकलन में नहीं है। उस लेख का इस संकलन में होना दो दृष्टियों से जरूरी लगता है। एक तो 'भुला दिये गए कथाकार कमल जोशी' को न भुलाए जाने के लिए। और दूसरा खुद एक आलोचक की निर्माण प्रक्रिया को ज्यादा गहराई से समझने में पाठकों की मदद करने के लिए। निःसंदेह पहले लेख में बहुत सी कमजोरियाँ हो सकती हैं लेकिन इससे उसका ऐतिहासिक महत्व कम नहीं होता। वीर भारतजी ने भूमिका में यह भी लिखा है कि इस संकलन के लिए रचनाओं को "चुनते हुए मेरा सामना अपने अतीत से भी हुआ। चालीस बरस पहले मैं जैसी आलोचना लिख रहा था जाहिर है उसमें कई कमियाँ और खामियाँ थी, इस संकलन में उन्हें छिपाने की कोशिश नहीं की गई।" एक बड़े विद्वान की यह स्वीकारोक्ति बहुत मूल्यवान है लेकिन पाठकों के लिहाज से यह स्वीकारोक्ति पर्याप्त नहीं है। जो बात उनकी दृष्टि में सहज ही 'जाहिर है' वह खुद मेरे लिये बहुत बड़ी उलझन बनी रही है। क्या ही अच्छा न होता कि अपनी आलोचना दृष्टि और पद्धति पर विकास की एक संक्षिप्त-सी समीक्षा – अपनी ही आलोचना की आलोचना – भी वे इस संकलन में शामिल कर देते। आलोचना की पद्धति, दृष्टि और मूल्यबोध का प्रशिक्षण देने वाली इस किताब को इससे और पूर्णता मिलेगी। उम्मीद करता हूँ कि किताब के अगले संस्करणों में इस अनुरोध पर भी ध्यान दिया जाएगा।



‘शामना’ : ‘देखना है जोर कितना बाजू-ए...’

साधु न चलै जमाति !

■ सूरज बहादुर थापा

हिन्दी जगत में आज प्रो. वीर भारत तलवार बहुत मजबूती के साथ विश्वसनीय आलोचना के पर्याय बन चुके हैं। आलोचना की विश्वसनीयता पर समय-समय पर सवाल उठते रहे हैं। इसका कारण यह रहा है कि हिन्दी आलोचना कभी प्रतिबद्धता के नाम पर, कभी सांप्रदायिक या धार्मिक पूर्वाग्रहों के नाम पर, कभी जाति-क्षेत्र व वैचारिक गोलबंदी के कारण और कभी व्यक्ति विशेष के प्रति अंधभक्ति के निमित्त अक्सर अपने निष्कर्षों में विचलित और प्रदूषित होती रही है, अपने मूल गुणधर्म से भटकती रही है। प्रो. तलवार जैसे बहुत कम आलोचक हिन्दी जगत में हैं, जिन्होंने आलोचना के मूल गुणधर्म को कसकर पकड़ रखा है, जिसके फलस्वरूप उनकी एक आश्चर्यकारी विश्वसनीय छवि कायम हो सकी है। यहाँ आलोचना के उस मूल गुणधर्म को स्पष्ट कर लेना उचित होगा, जो उसकी विश्वसनीयता को कायम रखता है। आलोचना की विश्वसनीयता कायम होती है आलोचना की उस मूलदृष्टि से जिसके आधार पर वह लिखी जाती है। अगर आलोचना वस्तुपरक और वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्वाग्रह निरपेक्ष पर सत्य सापेक्ष होगी तो उसकी विश्वसनीयता स्वतः कायम हो जाएगी। वैचारिक प्रतिबद्धता मात्र से आलोचना पूर्वाग्रही नहीं हो जाती है। उसमें गड़बड़ियाँ तभी आती हैं, जब उसकी पद्धति वैज्ञानिक चेतना संपन्न न हो। एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि आलोचना को अनिवार्य रूप से लोकतांत्रिक, उदारवादी और सामाजिक न्याय की अवधारणा पर आधारित मानवतावादी होना चाहिए। इस संबंध में आलोचना आलोचक से उत्कट ईमानदारी की माँग करती है। आलोचना के संबंध में परस्पर विरोधी बातें कही जाती हैं। एक ओर यह कहा जाता है कि आलोचक एक असफल रचनाकार होता है तो दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि आलोचना भी रचना होती है। मेरा मानना है कि जब एक आलोचक मानव-मुक्ति और सामाजिक न्याय के उदारवादी लोकतांत्रिक चेतना के आख्यान को रचने में असफल होता है तो वह एक असफल रचनाकार बन जाता है और जब उसकी आलोचना दृष्टि वैज्ञानिक चेतना संपन्न होकर वस्तुपरक पद्धति से उपर्युक्त आख्यान को रचती है, तब उसकी आलोचना रचनात्मकता के शीर्ष पर पहुँच जाती है। प्रो. तलवार का पूरा आलोचना कर्म रचनात्मकता के इसी शीर्षस्थ बिंदु पर अवस्थित है। अगर आलोचना का अभीष्ट जातिवाद, नस्लवाद, सांप्रदायिकता, वर्चस्ववाद जैसे मानव विरोधी उद्देश्यों की स्थापना करना है, तो वह जो कुछ भी हो आलोचना नहीं हो सकती।

हिन्दी आलोचना की दुर्गति की ओर संकेत करते हुए प्रो. तलवार लिखते हैं – “अकादमिक संस्थानों से जुड़े रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह जैसे कुछ एक बड़े आलोचक ही हैं जिन्होंने अपनी आलोचना को शोधपरक बनाया। हिंदी का औसत आलोचक शोध और आलोचना के संबंध को बिल्कुल नहीं समझता। वे शोध के प्रति ऐसी धारणा रखते हैं, मानो यह कोई अलग अनुशासन, अलग विधा या कोई अलग काम हो, जिसका आलोचना से कोई लेना-देना नहीं है। इसी समझ के तहत ये इसे सिर्फ पी-एच. डी. करने वालों का काम समझते हैं। कहने की जरूरत नहीं कि यह शोध के प्रति निहायत गलत दृष्टि है, जिसकी वजह से खुद हिंदी आलोचना भी पिछड़ेपन का शिकार है। शोध भी आखिरकार आलोचना ही है। शोध चीजों को नए परिप्रेक्ष्य में देखना है, नई दृष्टि से नई व्याख्या करना है। महत्वपूर्ण आलोचना भी यही काम करती है। नागेंद्र का यह कहना बिल्कुल सही है कि अच्छी आलोचना अच्छा शोध भी होती है और अच्छा शोध एक अच्छी आलोचना होती है। रामचंद्र शुक्ल की लिखी पद्मावत की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी की हिंदी साहित्य की

भूमिका, रामविलास शर्मा का लंबा निबंध 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी भाषा की विकास परंपरा' और धर्मवीर की कबीर : नई सदी में आलोचना और शोध के परस्पर अभिन्न संबंध की सबसे बेहतरीन मिसालें हैं। अकादमिक संस्थानों की तरह हिंदी आलोचना में भी शोध संबंधी धारणा को बदलने की जरूरत है।" ('सामना' - वीर भारत तलवार, पृ. 265)

वास्तव में हिन्दी आलोचना जगत की इन विडंबनाओं के मूल को उन्होंने बड़ी गहराई से पकड़ा है। वे बड़े साहस के साथ दो ठूक शब्दों में लिखते हैं - "जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय सहित सभी विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों में काम करने वाले हिंदी के बुद्धिजीवी अपने लेखन में सामंतवाद की चाहे जितनी आलोचना कर लें, अपने विभागों में वे जनतंत्र को कभी पनपने नहीं देते। हिंदी विभागों में सबसे बड़ी कमी जनतांत्रिक मूल्यों और जनतांत्रिक कार्यप्रणाली की है। इसकी बुनियादी वजह हिंदी भाषी क्षेत्र के बुद्धिजीवियों की सामान्य पृष्ठभूमि है, वह सामाजिक परिवेश है जिसमें पितृसत्तात्मक परिवार के सामंती मूल्यों और परंपराओं का बोलबाला अब भी काफी हद तक कायम है। इस पृष्ठभूमि से आए हिंदी के बुद्धिजीवी अपने लेखन में जनतंत्र की बातें करते हैं, लेकिन उनकी कार्यप्रणाली, उनका आचरण सामंती संस्कारों में पगा होता है।" ('सामना' - वीर भारत तलवार, पृ. 260) इसका यह भयानक परिणाम हुआ कि - "आज अकादमिक दुनिया में रिश्तों का ऐसा रूप उभरकर आया है जो जितना व्यावसायिक है उतना ही वीभत्स और क्रूर भी। यहाँ बुद्धिजीवी एक-दूसरे की टाँग खींचने में व्यस्त हैं। हो सके तो वे एक-दूसरे का गला घोटने को भी तैयार हैं। अपने सहकर्मियों को परेशान करना, उनके खिलाफ दुष्प्रचार चलाना और षड्यंत्र रचना आम बात हो गई है। गिरोह बनाकर अपने निकृष्ट स्वार्थों की पूर्ति के लिए हर तरह का गलत काम करते हैं और जो भी उनकी राह में रूकावट डालता है, उसके खिलाफ सामूहिक मोर्चा खोल देते हैं। इस अकादमिक संस्कृति में अपना काम नियमपूर्वक और ईमानदारी से करने वाला व्यक्ति अकेला पड़ जाता है।" ('सामना' - वीर भारत तलवार, पृ. 267, 268)

ऐसी भयावह स्थिति से निपटने के लिए होना क्या चाहिए? वे लिखते हैं - "तीन कार्यों में उसकी भूमिका महत्वपूर्ण हो सकती है -

1. वे ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न महत्वपूर्ण धाराओं के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन-अध्यापन करके उनके विकास की अगली संभावनाओं को खोल सकते हैं।
2. स्वस्थ परंपराओं और प्रगतिशील नए मूल्यों को नई पीढ़ी तक पहुँचाने का काम कर सकते हैं।
3. समाज, साहित्य और संस्कृति के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर शोधपरक अध्ययन-लेखन कर सकते हैं।" ('सामना' - वीर भारत तलवार, पृ. 269)

स्पष्ट है कि वे 'शोधपरक अध्ययन लेखन' पर जोर देते हैं। सिर्फ जोर नहीं देते, स्वयं के लिए भी यही कसौटी निर्धारित करते हैं और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यही 'शोधपरक अध्ययन-लेखन' उनकी विश्वसनीयता का मूलाधार है। प्रो. तलवार की इस आलोचना दृष्टि या पद्धति को हम हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में उनकी विशिष्ट देन के रूप में रेखांकित कर सकते हैं। उनकी इस विशिष्ट शैली को हम उनकी संपादित पुस्तक 'सामना' के लेखों में आसानी से देख-परख सकते हैं जिसके संबंध में उन्होंने लिखा है कि 'पिछले चालीस सालों में पत्र-पत्रिकाओं में मैंने जो कुछ लिखा है, उनमें से कुछ को चुनकर यहाँ संकलित कर दिया है।' (भूमिका - 'सामना') एक तरह से सामना को संक्षेप में उनके लेखन के प्रतिनिधि स्वरूप के रूप में देखा जा सकता है।

आलोचक वीर भारत तलवार का मूल्यांकन करते हुए हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक कृष्णदत्त पालीवाल लिखते हैं - "उनकी आलोचना पद्धति वस्तुनिष्ठ और विश्लेषण में चिन्तन प्रधान रही है। उनका शोधकार्य 'किसान, राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्द' (1990) 'प्रेमाश्रम' पर केन्द्रित रहा। जगह-जगह उन्होंने रामविलास शर्मा की स्थापनाओं का विरोध किया है। उनका यह कार्य हिन्दी आलोचना की एक बड़ी उपलब्धि है क्योंकि इसमें आलोचना की एक नयी राह का जोखिम उठाकर अन्वेषण किया गया है। कुछ समय बाद उन्होंने 'राष्ट्रीय

नवजागरण और साहित्य' 1993 पुस्तक में कृतिकारों और कृतियों पर राष्ट्रीय नवजागरण के सन्दर्भ में 'रस्साकशी' गहरा-सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया, जैसे 'परीक्षा गुरु' के साथ नारी मुक्ति आन्दोलन में 'स्त्री दर्पण' पत्रिका की भूमिका पर विचार करते हुए 'सेवासदन' पर बनी फिल्म पर ध्यान केन्द्रित किया-कराया। वे रामविलास की पुस्तक 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज' की विस्तृत समीक्षा के साथ स्वामी दयानन्द के 'सत्यार्थ प्रकाश' के अन्तःसूत्रों का नया पाठ-विमर्श प्रस्तुत करते हैं। उनकी पुस्तक 'सामना-रामविलास शर्मा की विवेचन पद्धति और मार्क्सवाद तथा अन्य निबन्ध' 2005 में आती है। यह आलोचना पुस्तक कथाकार कमल जोशी को स्मृति की समर्पित है। इसमें आलोचनात्मक लेखों के साथ इण्टरव्यू, यात्रा-संस्मरण भी शामिल हैं। मूल्यांकन के लिए हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, निर्मल वर्मा, हरिशंकर परसाई तथा प्रेमचन्द की जीवनी को लेकर विचार किया है। वीर भारत तलवार की आलोचना दृष्टि से पाठक को बहुत कुछ मिलता है। वे इस समय के प्रतिनिधि प्रबुद्ध आलोचकों में अग्रणी कहे जा सकते हैं। हिन्दी की समसामयिक आलोचना को ऐसा दृष्टि सम्पन्न आलोचक मुश्किल से ही मिलेगा।" (हिन्दी आलोचना: समकालीन परिदृश्य - कृष्णदत्त पालीवाल, पृ0 109, 110)

प्रो. तलवार की चिन्तन प्रधान और वस्तुनिष्ठ आलोचना पद्धति के बारे में हम चर्चा कर चुके हैं। अब हमें उन बिंदुओं की भी चर्चा कर लेनी चाहिए, जिस ओर पालीवाल जी संकेत कर गए हैं। पहली बात यह है कि वह कौन सी 'दृष्टि सम्पन्नता' है जो उन्हें मुश्किल से प्राप्त होने वाले दुर्लभ आलोचकों की श्रेणी में ला खड़ा करता है? और दूसरी बात यह कि इससे जो 'पाठक को बहुत कुछ मिलता है', वह क्या है?

वास्तविकता यह है कि प्रो. तलवार के पास वह अद्भुत अन्तर्दृष्टि है जिससे वे हिन्दी साहित्य और समाज में पूर्व प्रचलित धारणाओं और वैचारिक स्थापनाओं की शक्ति व सीमाओं को एक दूरदृष्टा की भाँति देख लेते हैं। आ. शुक्ल आलोचना के लिए जिस 'सूक्ष्म पर्यावलोकनी' दृष्टि की अनिवार्यता की बात करते हैं, वह दृष्टि उनमें बहुत गहराई से समाहित है। उन्हें हिन्दी आलोचना का 'मि. क्लीन' कहा जा सकता है, क्योंकि वे जटिल से जटिल विचार प्रणालियों और अवधारणाओं का इतनी साफगोई से विश्लेषण कर देते हैं कि कहीं किसी प्रकार की उलझन या भ्रम की स्थिति नहीं रह जाती, पूरा प्रकरण सहज और स्पष्ट हो जाता है। इसके लिए वे वैचारिक रूप से समान-धर्मा लेखकों से भी वस्तुपरक ढंग से टकराते हैं और वैचारिक घेरे के बाहर से ही संघर्ष नहीं करते अपितु 'घर' के अंदर की गड़बड़ियों की मरम्मत कर 'घर' को सही करने का भी महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। इस संदर्भ में वे 'एकला चलो रे!' की नीति अपनाते हैं। अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता और तद्जन्य यथार्थ दृष्टि के लिए वे कभी भी कोई समझौता करने को बिल्कुल तैयार नहीं होते। वे किसी सिद्धांत, विचार या विचारक विशेष के ढुलमुल पिछलग्गू कभी नहीं रहे। अपने तथ्यपरक विश्लेषणों और ठोस तर्कों से प्राप्त निष्कर्षों के बीच वे किसी को भी आने नहीं देते, चाहे वह अपनी विचारधारा के भीतर का हो या बाहर का। उनकी आलोचना का जो मूल स्वभाव है, उस पर कबीर का यह कथन पूरी तरह से चरितार्थ होता है -

सिंहों की लहड्डें नहिं, हंसों की नहिं पाँति।

लालन की नहिं बोरियां, साधु न चलै जमाति॥

प्रमाण स्वरूप अगर पालीवाल जी के शब्दों में कहें तो "जगह-जगह उन्होंने रामविलास शर्मा की स्थापनाओं का विरोध किया है। उनका यह कार्य हिन्दी आलोचना की एक बड़ी उपलब्धि है क्योंकि इसमें आलोचना की एक नयी राह का जोखिम उठाकर अन्वेषण किया गया है।" (हिन्दी आलोचना : समकालीन परिदृश्य - कृष्णदत्त पालीवाल, पृ. 110) 'सामना' में चार बड़े लेख रामविलास शर्मा जी पर हैं। इनमें प्रो. तलवार जी ने रामविलास जी से टकराते हुए पूरे तथ्यों और प्रमाणों के साथ कई मौलिक स्थापनाएँ की हैं, जिससे उनकी उस दृष्टि सम्पन्नता का पता चलता है, जो पाठकों को 'बहुत कुछ' प्रदान करता है और वे मुश्किल से प्राप्त होने वाले आलोचकों की श्रेणी में आ जाते हैं। 'मार्क्सवाद-1' में उन्होंने रामविलास जी की उस धारणा की विस्तृत समीक्षा की है, जहाँ रामविलास जी ने स्थापित किया है कि मार्क्सवाद की स्थापना में आधुनिक पश्चिमी यूरोप

की वह भूमिका नहीं, जो पिछड़े हुए समाजों की है। उसका प्रत्युत्तर देते हुए प्रो. तलवार ने लिखा है – “अगर सचमुच ऐसा होता तो मार्क्सवाद का जन्म भारत, अफगानिस्तान या ईरान में होता या फिर अफ्रीका में। मार्क्स और एंगेल्स इन देशों में न होकर जर्मनी में हुए। जिस पूँजीवाद का विश्लेषण करके उन्होंने मार्क्सवाद की स्थापना की, वह पूँजीवाद इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी का था। जिस समाजवादी विचारधारा की वैज्ञानिक परिणति मार्क्सवाद को बताया जाता है, वह समाजवादी विचारधारा सेंट साइमन, फूरिए, ओवेन और प्रूथो आदि से जुड़ी हुई पश्चिमी यूरोप के देशों में पचास सालों से विकसित हो रही थी। समाजवाद को जिस सर्वहारा वर्ग की विचारधारा मार्क्स बता रहे थे, वह सर्वहारा वर्ग इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी में था। अपने सिद्धान्तों को व्यावहारिक राजनीतिक संघर्ष से जोड़ने के लिए उन्होंने जिस इंटरनेशनल की स्थापना की, वह पश्चिमी यूरोप की पार्टियों और गुप्तों से बना था। पिछड़े हुए देशों में, यहाँ तक कि यूरोप के भी पिछड़े हुए स्लाव देशों में मार्क्सवाद अपने जन्म के दशकों बाद पहुँचा और एशिया में आधी शताब्दी बाद। 19वीं सदी के उत्तरार्ध में इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी में चल रहे मजदूर वर्ग के आन्दोलनों के बीच मार्क्सवाद एक सजीव तत्त्व की तरह जन्मा और विकसित हुआ था। एशिया के भारत, चीन, ईरान और तुर्की जैसे देशों में 20वीं सदी के प्रारम्भिक दो दशकों तक सामाजिक-राजनीतिक रंगमंच पर मजदूर वर्ग के आन्दोलनों का नहीं, बल्कि उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलनों का बोलबाला रहा जिनका नेतृत्व पूँजीपति वर्ग या शिक्षित शहरी मध्यमवर्ग के हाथों में था। मार्क्सवाद को जन्म देना तो दूर रहा, राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व कर रहे ये वर्ग अपने उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष को भी सफलतापूर्वक चलाने के लिए किसी सुसंगत राजनीतिक दर्शन को जन्म न दे सके।” (‘सामना’ – वीर भारत तलवार, पृ. 26)

ठीक इसी प्रकार रामविलास जी की इस धारणा का कि वैज्ञानिक भौतिकवाद का असली संबंध प्राचीन यूनानी दर्शन से था, का खंडन करते हुए वे लिखते हैं – “इस तरह 15वीं सदी के उत्तरार्ध के बाद, अगले चार सौ सालों में वे अनुसंधान हुए जिनके बिना वैज्ञानिक भौतिकवाद संभव न था; जिनके बिना प्राचीन यूनानी अपनी सही किंतु सरल और आदिम धारणा से प्रकृति के चित्र का सामान्य स्वरूप तो पेश कर सकते थे, लेकिन उसकी तफसीलों को, उनके अंतःसंबंधों को, समझा नहीं सकते थे। एक तरह से 19वीं सदी के वैज्ञानिक भौतिकवाद का प्राचीन यूनानी दर्शन से वैसा ही संबंध था, जैसा वैज्ञानिक समाजवाद का प्राचीन आदिम साम्यवाद से। मार्क्सवाद के शिक्षकों ने कहा कि मार्क्सवाद मानव समाज के अब तक के समूचे ज्ञान-विज्ञान की परंपरा के श्रेष्ठ तत्त्वों और समस्त मानवतावादी परंपरा का स्वाभाविक उत्तराधिकारी है। यह बात सामान्य रूप से सही है। लेकिन अगर कोई इसका अर्थ यह सिद्ध करने में लगाता है कि इसलिए मार्क्सवाद और उसके दर्शन का यूरोप में पूँजीवाद के अभ्युदय और विकास से उतना संबंध नहीं है, जितना प्राक् पूँजीवादी विकास से-तो यह मार्क्सवाद और उसके दर्शन के विकास की एकांगी और भ्रामक व्याख्या होगी।” (‘सामना’ – वीर भारत तलवार, पृ. 36) ‘मार्क्सवाद-2’ में उन्होंने रामविलास जी की उस स्थापना का खंडन किया है, जहाँ रामविलास जी मार्क्सवादी दर्शन को हेगेल के बजाय कांट के दर्शन के नजदीक बताते हैं। प्रो. तलवार की स्पष्ट मान्यता है कि –

1. “द्वंद्वात्मक दर्शन का बिकना द्वंद्ववाद के बिना न हो सकता था।” (‘सामना’ – वीर भारत तलवार, पृ. 44)
2. “हेगेलीय दर्शन मार्क्सवाद के विकास का स्रोत नहीं था, पर उसके विकास की पूर्व शर्त जरूर था। हेगेल ने उस मूल प्रश्न को उपस्थित कर दिया था, जिसे लेकर मार्क्स-एंगेल्स आगे बढ़े।” (‘सामना’ – वीर भारत तलवार, पृ. 45)
3. “मार्क्सवाद का जो संबंध हेगेलीय दर्शन से था, वह कांट के दर्शन से न था। लेकिन रामविलास जी ने हेगेल के बजाय कांट को मार्क्स-एंगेल्स के अधिक निकट दिखाने के लिए कांट के दार्शनिक पक्ष के बजाय उनके राजनीतिक पक्ष को उछाला।” (सामना – वीर भारत तलवार, पृ. 47)
4. “मूल बात यह है कि द्वंद्ववाद का जो बुनियादी ढाँचा हेगेल के यहाँ था, वही मार्क्स-एंगेल्स और लेनिन के यहाँ भी मिलता है।” (‘सामना’ – वीर भारत तलवार, पृ. 69)

‘मार्क्सवाद-3’ में प्रो. तलवार अत्यंत प्रामाणिक समीक्षा से यह स्थापित करते हैं कि - “प्राचीन रोम में व्यापारिक पूँजी का विकास दिखाकर उसे आधुनिक पूँजीवाद के सर्वाधिक निकट दिखाने के लिए रामविलासजी ने कितना कुछ लिखा है और यह सब मार्क्स के नाम पर लिखा। लेकिन इस मामले में मार्क्स की धारणाएँ न केवल उनसे भिन्न, बल्कि उल्टी भी हैं।” (‘सामना’ - वीर भारत तलवार, पृ. 94)

“व्यापारिक पूँजी के विकास से पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति का जन्म होता है या हो सकता है - इस भ्रांत धारणा का जन्म, मार्क्स के मुताबिक, इसलिए हुआ क्योंकि आधुनिक यूरोप में पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली से पहले वाणिज्य और व्यापारिक पूँजी ने काफी विकास किया था और ये दोनों ही आधुनिक यूरोप में सामंती उत्पादन-प्रणाली से पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली में संक्रमण को बढ़ावा देने वाले मूल तत्वों में एक है।” (‘सामना’ - वीर भारत तलवार, पृ. 95)

‘मार्क्सवाद-2’ में प्रो. तलवार निष्कर्ष देते हुए लिखते हैं - “रामविलास शर्मा की विवेचन पद्धति ऐसी है कि वे किसी घटना की बहुत सारी बातों में से किसी एक बात पर इतना जोर देते हैं कि उस एक के महत्व के आगे बाकी सबका महत्व विसर्जित हो जाता है। उसी एक बात की दृष्टि से सारी घटना को देखा जाने लगता है; बाकी सारी बातें इसी दृष्टिबिंदु के लिए समर्थन जुटाने या उसके साथ तालमेल बैठाने भर के लिए रह जाती हैं। उसी एक बात की पटरी पर सारा विवेचन दौड़ने लगता है और उसी एक बात की ईंट पर स्थापनाओं का पूरा महल खड़ा कर लिया जाता है। पूँजीवादी क्रांति द्वारा सामंतवाद विरोधी क्रांति के काम पूर नहीं हुए-इतिहास की कई बातों में से यह भी एक ऐसी ही बात है जिसने रामविलासजी के राजनीतिक विवेचन को विशेष रूप से प्रभावित कर रखा है और राजनीतिक इतिहास की बहुत-सारी बातों की उनकी व्याख्या इसी एक बात की दृष्टि से नियंत्रित होती है। इसी एक बात पर जोर देने के कारण उन्होंने नई जनवादी क्रांति को सिर्फ सामंतवाद विरोधी अधूरे कामों को पूरा करने तक सीमित कर दिया और वह किन ऐतिहासिक परिस्थितियों की देन है, इसे भुला दिया।” (‘सामना’ - वीर भारत तलवार, पृ. 98-99) मार्क्सवादी आलोचना के भीष्म पितामह रामविलास शर्मा जी को ‘ज्ञान’ और ‘सत्य’ के महाभारत में बिना किसी ‘शिखंडी’ की सहायता के इस प्रकार सीधे-सीधे धराशायी करना आलोचना की त्रुटियों के प्रति उनके अदम्य अस्वीकार के साहस को दिखलाता है। उनके इस कृत्य के पीछे विरोध के लिए विरोध की भावना नहीं है। वस्तुतः वह चीजों को उसकी संश्लिष्ट समग्रता में देखने के हिमायती रहे हैं ताकि पाठकों को सत्य मिल सके, अर्धसत्य नहीं।

इसी प्रकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि के बहाने उन्होंने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की जो विवेचना की है, वह अत्यंत मौलिक और सारगर्भित है। वे लिखते हैं - “द्विवेदी जी का सबसे बड़ा अंतर्विरोध वहीं है जहाँ उनका सबसे मौलिक योगदान है। उन्होंने सबकुछ को स्वीकार करके चलने का अपार साहस दिखाने वाले कबीर को क्रांतिकारी कहा। उनके कबीर समन्वयकारी नहीं थे। समस्त बाह्याचारों के जंजालों और संस्कारों का विध्वंस करने वाले क्रांतिकारी थे। समझौता उनका रास्ता नहीं था। इस मूल्यांकन की तर्ज पर द्विवेदी जी को भी ऐसा ही अपार साहसी बतलाया जाता है। पर वस्तुस्थिति क्या है? वस्तुस्थिति यह है कि ऊँच-नीच वाले वर्णाश्रम धर्म पर टिके समाज को नष्ट करने की जरूरत पर जोर देने वाले द्विवेदी जी एक वर्णाश्रम धर्म समर्थक कवि का सामना होते ही अपनी स्थिति से पीछे हट जाते हैं।” (‘सामना’ - वीर भारत तलवार, पृ. 18) यहाँ वे नामवर जी से भी टकराते हैं। उन्होंने लिखा है - “द्विवेदी जी के लोकधर्म की तुलना नामवरजी ने ग्राम्शी की सबाल्टर्न संबंधी दृष्टि से की है जिसमें उत्पीड़ित वर्गों का लोकधर्म जनविद्रोह की विचारधारा के रूप में दिखाई देता है। वास्तव में द्विवेदीजी की लोकमत की धारणा को बहुत सावधानी से समझने की जरूरत है। द्विवेदीजी लोकमत को आलोचनात्मक दृष्टि से देखते थे और लोकधर्म को ज्यों का त्यों शास्त्र का विकल्प नहीं समझते थे, जैसा कि नामवरजी ने मान लिया है। गलत कहा हो या सही, पर लोकधर्म को उन्होंने कभी-कभी जो निकृष्ट कहा है, वह सिर्फ संस्कारवश नहीं कहा। लोकधर्म में निहित कुछ तत्वों को वे साफ तौर पर निकृष्ट समझते थे और उनकी यह धारणा लगातार बनी रही।” (‘सामना’ - वीर भारत तलवार, पृ. 15)

साहित्य और कला से एक आलोचक की क्या अपेक्षाएँ होती हैं? इन अपेक्षाओं की प्रकृति से ही किसी आलोचक की आलोचना दृष्टि का पता चलता है। निर्मल वर्मा के सन्दर्भ में प्रो. तलवार गंभीर टिप्पणी करते हैं – “असली सवाल तो यह है कि कला का मूल धर्म क्या है? क्या उसका मूल धर्म सभ्यता के ऊपरी आवरण और जटिलता को अंदर तक भेदकर, छद्म चेतना को नष्ट कर वस्तु-सत्य को मूर्त करना नहीं है? क्या उसका मूल धर्म सत्ता और प्रतिष्ठानों द्वारा सच्चाई के विरूपीकरण और रहस्यीकरण को भेदकर सच को उजागर कर देना नहीं है? अथवा उसका मूल धर्म सैकड़ों परदों से ढँकी सच्चाई पर एक और परदा-कला और रहस्य का-डाल देना है? बेशक, यह काम लेखक अपनी रचना के कलात्मक मूल्य की बलि देकर नहीं करता और वस्तु-सत्य को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा के विशिष्ट प्रयोग, कल्पना और रहस्यात्मकता का भी सहारा लेता है; पर, सहारा ही लेता है, सत्य के ऊपर कला, काव्य और रहस्य की प्रतिष्ठा नहीं करता। कहानी सिर्फ यथार्थ का चित्रण कर देने से नहीं बनती। यथार्थ से ऊपर भी उठना पड़ता है। पर, यह ऊपर उठना यथार्थ के सारतत्व को, उसके सत्य को, प्रकट करने के लिए ही होता है। जब भी कला के तत्वों को वस्तु-सत्य के उद्घाटन या संप्रेषण का माध्यम न मानकर उन्हें ही वस्तु-सत्य की जगह प्रतिष्ठित किया जाएगा, हम कलावाद की ही दिशा में आगे बढ़ेंगे।” (‘सामना’ – वीर भारत तलवार, पृ. 157)

प्रेमचंद, हरिशंकर परसाई आदि पर लिखते हुए प्रो. तलवार ने अपने वस्तुपरक विवेचन के द्वारा हिन्दी आलोचना को एक खास दिशा प्रदान की है। वे हिन्दी की पूर्वस्थापित और समकालीन धारणाओं की निरंतर समीक्षा करते चलते हैं और उसे कूप-मंडूकता से उबारते हुए लोकोतांत्रिक, उदारवादी, समतावादी जीवन मूल्यों और सिद्धांतों से संबद्ध करते रहने का भगीरथ प्रयास करते हैं।

हिन्दी नवजागरण संबंधी जो विचार प्रो. तलवार ने अपने आलोचना-कर्म में किया है, वह एक उपलब्धि है। ‘रस्साकशी’ शीर्षक पुस्तक इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने जो स्थापनाएँ कीं, वे खासी विवादास्पद रहीं और हिन्दी जगत में बड़ी खलबल मची। पर तर्क, तथ्य और प्रामाणिक विवेचन से स्थापित उनकी मान्यताएँ अपनी जगह अडिग हैं। उन्होंने हिन्दी नवजागरण के मूल चरित्र पर प्रकाश डालते हुए भारतेन्दु प्रभृति नवजागरण के अग्रदूतों पर सवाल खड़े किए हैं। अकाट्य प्रमाणों से उन्होंने हिन्दी नवजागरण की कमियों और त्रुटियों का पर्दाफाश किया है। “हिन्दी नवजागरण: अध्ययन की समस्याएँ” शीर्षक लेख में वे प्रश्न उठाते हैं कि “अगर पूरे भारतीय नवजागरण के संदर्भ में तो इस बात पर ध्यान गए बिना नहीं रहता कि हिन्दी नवजागरण ने वर्ण व्यवस्था और जातिप्रथा को कोई गंभीर चुनौती नहीं दी। इसका कारण क्या है? जिस हिन्दी प्रदेश के भक्ति आंदोलन में इतने सारे निर्गुण संत निचली जातियों से आए, वहाँ नवजागरण में इसकी परंपरा क्यों नहीं मिलती?” (‘सामना’ – वीर भारत तलवार, पृ. 257)

इसी प्रकार का एक प्रश्न द्रष्टव्य है – “हिन्दी नवजागरण के अध्ययन में सांप्रदायिकता के सवाल पर कभी गंभीरता से विचार नहीं किया गया। आज हिन्दी प्रदेश सांप्रदायिक विचारधारा का गढ़ बना हुआ है और यह आज ही नहीं, काफी दिनों से, राष्ट्रीय आंदोलन के समय से ही बना हुआ है।” (‘सामना’ – वीर भारत तलवार, पृ. 256)

उन्होंने इसी लेख के अंत में नवजागरण संबंधी सात महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं। जिनसे उनकी हिन्दी साहित्य और समाज की गहरी समझ का पता चलता है।

इन सभी चीजों के अतिरिक्त स्त्री विमर्श, दलित विमर्श और विशेष कर आदिवासी विमर्श को लेकर उनकी जो लेखकीय प्रतिबद्धता है, उससे हिन्दी आलोचना और विचार जगत को निःसंदेह एक नई दृष्टि मिलती है। धर्मवीर संपादित ‘सीमंतनी उपदेश’ की बात हो या ताराबाई शिंदे की ‘स्त्री-पुरुष तुलना’ के अनुवाद में निहित उनकी टिप्पणी, स्त्री विषयक उनकी संवेदनशीलता और वैचारिक पक्षपथरता उनके चिंतन में सर्वत्र बड़ी शक्ति के साथ स्पष्ट झलकती है। स्त्री विमर्श और दलित विमर्श को प्रोत्साहन और बढ़ावा देने में उनकी अग्रणी भूमिका

रही है। मेरे ख्याल से वे उन विरले प्रारंभिक मार्क्सवादी विचारकों में से हैं, जिन्होंने न केवल इन विमर्शों को अपना समर्थन दिया अपितु उसके दर्शन और अवधारणाओं के निर्माण में भी अपना सार्थक योगदान दिया है। 'राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य' शीर्षक पुस्तक में उनका एक अध्याय है - "स्त्री-मुक्ति आन्दोलन का आरम्भ: 'स्त्री-दर्पण' पत्रिका।" यह अध्याय मेरी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि करता है। स्त्रियों का आन्दोलन स्त्रियों द्वारा, हिन्दी प्रदेश में स्त्री-आन्दोलन, स्त्रियों के सवाल, स्त्रियों की चेतना, बाल विवाह और विधवाओं का प्रश्न, स्त्री शिक्षा, स्त्री आन्दोलन के समर्थन के आधार प्रभृति बिंदुओं पर विस्तृत रूप से चर्चा करके उन्होंने हिन्दी के स्त्री-विमर्श को निःसंदेह एक ठोस और साफ दिशा प्रदान की है। प्रो. तलवार पुरुषों द्वारा स्त्रियों के उद्धार के लिए चलाए गए आंदोलनों में फर्क करते हैं। उनके अनुसार पुरुष सुधारक पितृसत्तात्मक ढाँचे में सुधार लाए बिना स्त्रियों की दशा में कुछ सुधार लाना चाहते थे पर स्त्रियों की दृष्टि में सवाल उनके अधिकारों का था, न कि उद्धार का। प्रो. तलवार 'स्त्री-दर्पण' पत्रिका को हिन्दी प्रदेश में स्त्री-आन्दोलन की सबसे मुख्य पत्रिका मानते हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि स्त्रियों की समस्याओं को एक आन्दोलनकारी ढंग से, इतनी गम्भीरता और गहराई से, उठाने वाली 20वीं सदी के प्रारंभ में कोई दूसरी न थी। हिन्दी प्रदेश और साहित्य में स्त्री आन्दोलन का स्वरूप कैसा था? और उसे कैसा होना चाहिए? इस संबंध में यहाँ अभिव्यक्त उनकी उदारवादी, समतावादी, लोकतांत्रिक सामाजिक दृष्टि से एक आलोचक के रूप में उनकी स्वस्थ और न्यायपसंद आलोचना दृष्टि का साफ-साफ पता चलता है। ताराबाई शिंदे की अनूदित पुस्तक 'स्त्री-पुरुष तुलना' में उनका एक लेख "19वीं सदी में स्त्री-चेतना और ताराबाई शिंदे" भी एक अत्यंत महत्वपूर्ण लेख है।

आदिवासी समाज के लिए प्रो. तलवार ने बहुत लंबे समय उनके बीच रहकर उनके साथ संघर्षों की लंबी पारी खेली है। हिन्दी के आदिवासी विमर्श में उनका नाम अग्रणी है। इस संबंध में उनके लेखन और कार्यों का अलग से विस्तृत विश्लेषण करने की आवश्यकता है। आदिवासी जीवन की समस्याओं का जो गहरा और यथार्थपरक अनुभव उनके पास है, वह दुर्लभ है। आज भी इस विषय पर वे सक्रिय रूप से लेखन करते रहते हैं। अभी-अभी 'समयांतर' पत्रिका के जून 2017 के अंक में उनका अत्यंत महत्वपूर्ण लेख 'झारखंड में नेतृत्व का संकट' प्रकाशित हुआ है। यह आदिवासी मुद्दों पर उनकी सजगता, सक्रियता और प्रतिबद्धता का प्रमाण है।

प्रो. वीर भारत तलवार सच्चे अर्थों में जनवादी आलोचक हैं, जिनकी आलोचना दृष्टि सामाजिक न्याय के मानवतावादी मूल्यों और आदर्शों पर आधारित है। उनकी दृष्टि वस्तुपरक और वैज्ञानिक चेतना संपन्न है। सबसे बड़ी चीज है उनकी वह ईमानदारी जो किसी भी कीमत पर सच्चाई का साथ नहीं छोड़ती। यही कारण है कि उनके निर्णय और निष्कर्ष बड़े कड़वे होते हैं, जिनको हिन्दी का सुविधावादी मौकापरस्त समाज सहजता और शीघ्रता से पचा नहीं पाता। स्त्री, दलित, आदिवासी, किसान, मजदूर, गरीब-समाज के सभी वंचित और शोषित वर्ग की मुक्ति और उत्थान के लिए उन्होंने जातिवादी सामंती मूल्यों के खिलाफ लेखन के साथ-साथ व्यावहारिक जीवन में भी सदा कड़ा संघर्ष किया है। यही संघर्ष की भावना उनके आलोचना कर्म के मूल में है। इस कार्य के लिए उन्होंने तमाम विषम परिस्थितियों के बावजूद यह देखना मुनासिब नहीं समझा कि संघर्ष पथ पर कोई उनके साथ है या नहीं। वे अपना रास्ता स्वयं निकालते चलते हैं, जिस पर बिना कोई समझौता किए वे चट्टान की भाँति अडिग हैं। उनके जीवन और आलोचना कर्म से यही प्रतिध्वनि सुनाई देती है कि -

दुनिया क्या कहती कहने दे,
तू अपनी मस्ती रहने दे।
हँस हँस काँटों पर धर पग तल,
तू अपनी धुन के पीछे चल।।



नजरिया : 'बात वो कह ऐ इश्क, कि शुनकः शब कायल हों कोई न माने'

आलोचना दृष्टि

■ पल्लवी प्रकाश

वीरभारत तलवार हिंदी अकादमिक जगत के एक प्रसिद्ध बुद्धिजीवी हैं। कई दशकों से एक शिक्षक, आलोचक और प्रखर वक्ता के रूप में वे ख्यात रहे हैं। प्रो. तलवार के आलोचना कर्म का क्षेत्र अत्यंत व्यापक रहा है जिसके अंतर्गत प्रेमचंद, किसान और राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन, भारतेंदु युग और हिंदी नवजागरण, आदिवासी-विमर्श, स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श पर विस्तृत विवेचन किया गया है।

हिंदी नवजागरण और भारतेंदु हरिश्चंद्र का उसमें योगदान को वीरभारत तलवार ने आलोचनात्मक दृष्टि से देखा है और स्थापित मान्यताओं का विरोध किया है। भारतीय नवजागरण और हिंदी नवजागरण के फर्क को उन्होंने स्पष्ट किया है। वे मानते हैं कि हिंदी नवजागरण एक भ्रामक शब्द है दरअसल वह ब्राह्मोसमाज और खासकर आर्यसमाज के धार्मिक सुधारों के खिलाफ, उनकी प्रतिक्रिया में हुआ, सनातनी बुद्धिजीवियों का आन्दोलन था, जिसमें प्रायः हिंदी के सभी बड़े लेखकों और संपादकों ने बढ़ कर हिस्सा लिया और कुछ सुधारों का उन्होंने सीमित रूप से समर्थन भी किया। जबकि भारतीय नवजागरण मुख्यतः धर्म और समाज सुधार का आन्दोलन था। हिंदी नवजागरण के नेता न केवल धर्म के पारम्परिक स्वरूप में बुनियादी सुधारों का विरोध करते थे, बल्कि स्त्री-प्रश्न पर उनका नजरिया पिछड़ा हुआ और दुविधाग्रस्त था। आर्य समाज या ब्राह्मोसमाज की तरह उन्होंने स्त्री शिक्षा का उत्साहपूर्ण आन्दोलन कभी नहीं चलाया था। बालविवाह का विरोध करते हुए भी इसके खिलाफ कोई प्रभावशाली प्रचार नहीं चलाया। विधवा-विवाह के प्रश्न पर भी, एक-आध अपवाद को छोड़ कर या तो वे इसके विरोधी रहे या दुविधा-ग्रस्त रहे। उन्होंने स्त्री-चेतना के किसी नए आधार को भी प्रोत्साहित नहीं किया। यही कारण है कि 19वीं सदी के हिंदी नवजागरण में स्त्री-चेतना की कोई महत्वपूर्ण लेखिका उस दौर में नहीं हुई।

हिंदी नवजागरण के अग्रदूतों में से एक, भारतेंदु की सामाजिक-धार्मिक सुधारवादी दृष्टि की भी प्रो. तलवार ने कड़ी आलोचना की है। प्रो. तलवार के अनुसार भारतेंदु बाल विवाह के विरोधी थे। लेकिन बाल विवाह का विरोध उन्होंने सिर्फ लड़कों के हानि-लाभ के प्रसंग में उठाया। इसके सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों का कभी विवेचन नहीं किया। भारतेंदु ने खुद अपनी बेटी का ब्याह 11-12 साल की उम्र में किया।

1873-74 में भारतेंदु ने वैष्णव मंदिरों में चलने वाले धार्मिक भ्रष्टाचार और श्रद्धालु स्त्रियों के साथ वैष्णव गुरुओं के अनैतिक आचरण को निशाना बना कर टिप्पणियाँ लिखीं। इसी समय उन्होंने 'प्रेमजोगिनी' नाटक लिख कर उसमें भी इन मुद्दों को उठाया। 2 सितम्बर, 1872 के 'कविवचन सुधा' की "गुरु और महंत" टिप्पणी में वैष्णव पुजारियों के अनैतिक आचरण की आलोचना और भी खुल कर की थी। "मंदिर क्या होते हैं मानो स्त्रियों की खान हैं, जैसी चाहिए, लीजिये। जिस दिन कोई उत्सव

आदि होता है उस दिन ये महंत और गुरु सज-धजकर पुतले से बनकर चंवर लेकर खड़े-खड़े स्त्रियों को घूरते हैं। “सेवकों में अनेक दूत पास खड़े रहते हैं। जो नेत्र में जँची, उनसे भुगतान होने लगा। दूतों ने उपदेश दिया कि श्री महाराज से मिल कर जन्म क्यों नहीं कृतार्थ करती.... जो सीधी थी, वह तो आ गयी, और जो पतिव्रता थी, वह बलात्कार से ली गयी वा उन्ने दर्शन छोड़ दिया।”

डॉ. वीरभारत तलवार के अनुसार, इस आलोचना के पीछे बम्बई के महाराजा लाइबेल केस का असर बोल रहा था। इस केस के द्वारा वल्लभ संप्रदाय के गुरुओं द्वारा स्त्रियों के शोषण की भयावह तस्वीर सामने आई। भारतेंदु वैष्णव धर्म में घुस आई बुराइयों को दूर भगाना चाहते थे, पर वे वैष्णव धर्म में किसी बुनियादी परिवर्तन के लिए तैयार नहीं थे। गुरुओं से वे चरित्रवान बनने की अपील करते रहे, लेकिन उनके निरंकुश विशेषाधिकारों के सवालों को छुआ तक नहीं। उन्होंने गुरुओं से ज्यादा श्रद्धालुओं को दोषी ठहराया, कि वे ऐसे गुरुओं के पास जाते ही क्यों हैं, क्या उन्हें अपने घर का रुपया और स्त्रियाँ भारी पड़ रही हैं। डॉ. वीर भारत तलवार के अनुसार, यह नजरिया कुछ इसी तरह का था कि कॉलेज जाती लड़कियों को अगर गुंडे छेड़ें तो उन लड़कियों की पढ़ाई ही बंद करा दी जाए। जब भारतेंदु वैष्णव गुरुओं की सैद्धान्तिक स्थिति को चुनौती दिए बिना उनके दुराचरण की निंदा कर रहे थे और उससे भी ज्यादा भक्तों की मूर्खता की आलोचना कर रहे थे तब उनका स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण कुछ वैसा ही था जैसा कि कॉलेज जाती लड़कियों से रस्ते में लफंगे छेड़खानी करें तो उन लड़कियों की पढ़ाई बंद करा दी जाए। गुरु की हैसियत को चुनौती देना तो दूर भारतेंदु ने उसे पूरी मान्यता दी। भारतेंदु की सुधार चेतना स्वामी दयानंद सरस्वती के बरक्स बिल्कुल विपरीत थी जिन्होंने धार्मिक भ्रष्टाचार और दुराचरण की बुनियाद पर चोट करते हुए गुरु की हैसियत से इसे चुनौती दी थी। उनका मानना है कि भारतेंदु के स्त्री सम्बन्ध उनके सुधारक रूप के सतहीपन को और भी स्पष्ट करते हैं। “उनकी पत्नी अनपढ़ और कुरूप थी, उससे भारतेंदु का मन नहीं मिलता था, इस आधार पर मल्लिका के साथ उनके संबंधों को उचित ठहराया जाता है जिसे उन्होंने धर्मपूर्वक अपनाने का दावा किया था। लेकिन ठाकुर किशन सिंह की लड़की, जो मुसलमान और वेश्या आलीजान बन गयी थी, जिसे भारतेंदु ने “शुद्ध” करके हिन्दू माधवी बनाया और अलग घर में रखवाया- उसे तो धर्मपूर्वक अपनाने का दावा भी नहीं मिलता? “जब समय-सुविधा मिलती, चले जाते।” (रस्साकशी, पृष्ठ -255) इसी प्रकार धर्मपूर्वक अपनाई गयी मल्लिका के भी भूखों मरने की नौबत आ जाती है। प्रो. तलवार कहते हैं, “महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि एक लेखक या सुधारक के रूप में भारतेंदु ने अपने स्त्री-संबंधों से क्या किसी ऐसे अनुभव-सत्य को उपलब्ध किया जिसे सामाजिक बदलावों के लिए उन्होंने सार्थक पाया हो?..... भारतेंदु के लेखन में हमें ऐसा कुछ नहीं मिलता जिससे कहा जा सके कि अपने स्त्री-संबंधों से उन्होंने ऐसा अनुभव-सत्य हासिल किया था जिससे स्त्री-पुरुष संबंधों में बदलाव के लिए या सामाजिक-पारिवारिक व्यवस्था में सुधार के लिए कोई सैद्धांतिक निष्कर्ष निकल सके...(वही, पृष्ठ-255-256)

प्रो. तलवार के अनुसार आज जो सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, साम्प्रदायिक, धार्मिक फंडामेंटलिज्म, मुस्लिम अलगाववाद और हिंदी-उर्दू विवाद- ये सब समस्याएँ हमारे सामने मुँह बाएँ खड़ी हैं, इन सबका जन्म 19वीं सदी में नवजागरण के दौर में हुआ था, अतः इनकी जड़ों तक पहुँच कर इनका समाधान करने के लिए हर बार नवजागरण के चरित्र को जाँचना-परखना होगा, नवजागरण की यही प्रासंगिकता होगी। साथ ही, जब आज के दौर में बात-बात पर धार्मिक भावनाओं के आहत होने का शोर मचा कर किसी भी तरह की धार्मिक आलोचना को असंभव बना दिया जाता है - नवजागरण की यह मूल्यवान विरासत, अपने धर्म के प्रति बुद्धि-विवेकसम्मत आलोचना का निर्भीक स्वर-19वीं

सदी के मुकाबले आज और भी ज्यादा जरूरी हो गया है।

आज शहरी भद्रवर्गीय नवजागरण की बजाय दलितों और मेहनतकशों की दृष्टि से नवजागरण लाने की जरूरत है, खासकर औद्योगिक मजदूर वर्ग और देहात के गरीब किसानों में। ऐसा नवजागरण जो साधारण जन की सृजनशीलता और व्यक्तित्व को उन्मुक्त कर दे।

प्रो. तलवार उन छद्म मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों में से नहीं हैं जिनके सिद्धांत और व्यवहार में फर्क होता है। झारखंड के आदिवासियों के बीच उन्होंने एक लम्बा समय गुजारा है और आदिवासियों की समस्याओं और उसके संभावित समाधान पर भी गहराई से बात की है। प्रो. तलवार के शब्दों में, “हिंदी में जो सबसे नया विमर्श और सबसे कमजोर और थोड़ा सा मुश्किल विमर्श है, वह आदिवासी विमर्श है।” प्रो. तलवार के अनुसार आदिवासियों द्वारा आदिवासियों पर लिखे गए उपन्यासों की संख्या बमुश्किल पाँच-दस होगी और आदिवासियों पर जो दूसरे लोगों द्वारा उपन्यास लिखे गए हैं वे अधिकतर रिसर्च करने वाले लोग ही पढ़ते हैं। ये उपन्यास प्रायः आदिवासी विरोधी हैं। भारतीय भाषाओं में भी आदिवासियों पर जो उपन्यास लिखे गए हैं उनके बारे में हिंदी समाज को जानकारी नहीं है। हिंदी में आदिवासी विमर्श की कमजोर स्थिति की वजह यह है कि जो लोग ये विमर्श कर रहे हैं वे लोग प्रायः आदिवासियों के बीच में नहीं रह रहे हैं। अतः उनका विवेचन सतही है। किसी आदिवासी की मानसिक बनावट उसमें कहीं नहीं मिलेगी। इसके अलावे आदिवासी विमर्श के नाम पर वामपंथियों द्वारा केवल विस्थापन का ही प्रश्न उठाया जा रहा है क्योंकि वामपंथियों को बहुराष्ट्रीय कंपनियों से नफरत है। वरना आदिवासियों की जमीन तो पिछले डेढ़ सौ सालों से जा रही है, कानून का पालन नहीं किये जाने की वजह से। आदिवासी विमर्श के बहुत सारे मुद्दे, जो अभी ठीक तरह से उठाये नहीं गए हैं, वे हैं आदिवासियों की भाषा, धर्म और संस्कृति का सवाल। धर्म के प्रश्न को राम दयाल मुंडा ने उठाया था। उनका कहना था कि भारत सरकार की जनगणना में आदिवासियों का धर्म अन्य लिखा जाता है अगर वे हिन्दू, मुस्लिम, सिख या ईसाई नहीं हुए तो। प्रश्न यह उठता है कि आदिवासियों का अपना कोई धर्म है या नहीं या फिर उनका खुद के धर्म पर कोई विश्वास है भी या नहीं? क्या वह धर्म को लेकर हीन भाव से ग्रस्त हैं?

प्रो. तलवार आगे कहते हैं कि महाराष्ट्र, जहाँ कि आज तक आठ आदिवासी सम्मलेन हो चुके हैं, वहाँ भी ज्यादातर आदिवासी मराठी भाषा में अपना साहित्य लिख रहे हैं, बहुत कम हैं जिन्होंने आदिवासी भाषा में अपना साहित्य लिखा है और जो लिखा वह भी बहुत कम लेखकों ने लिखा। इसके विपरीत झारखंड में, जहाँ संथालियों का विश्व संथाली सम्मेलन होता है, संथाली भाषा के कम से कम 500 प्रकाशन आते हैं और संथालियों ने अपनी भाषा में जितना साहित्य रचा है, उतना पूरे भारत के आदिवासियों ने मिल कर भी नहीं रचा।

प्रो. तलवार के अनुसार आदिवासी समाज की जो एक बहुत बड़ी समस्या है वह है शिक्षित लोगों की अपने समाज और संस्कृति के प्रति हीन भावना। पढ़े-लिखे आदिवासी प्रायः अंग्रेजी का प्रयोग करते हैं, लेकिन शायद ही कभी अपनी भाषाओं का। आदिवासी विमर्श में एकाध प्रतिशत जरूर ऐसे लोगों का है जो अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति उदासीन नहीं लेकिन सामान्य आदिवासी की भावना हीन भावना है। एक आत्म सम्मान का आन्दोलन, जो अम्बेडकर ने चलाया दलितों के लिए, वह आदिवासियों के लिए भी अपेक्षित है।

प्रो. वीर भारत तलवार ने स्त्री-विमर्श को भारत के सबसे दयनीय विमर्शों में से एक माना है। उनके अनुसार दलित तथा आदिवासी विमर्श किसी वैश्विक आन्दोलन या विचारधारा का हिस्सा नहीं बन पाया। लेकिन स्त्री विमर्श एक वैश्विक विचारधारा है। विडम्बना यह है कि हिंदी में जो स्त्री विमर्श

चल रहा है उसका वैश्विक विचारधारा से कोई लेना देना नहीं। पश्चिम में नारीवादी आन्दोलन का एक लम्बा इतिहास रहा है। वहाँ स्त्रियों ने मताधिकार के लिए आन्दोलन किया और उस अधिकार को लड़ कर हासिल किया। इसलिए वहाँ स्त्री के अधिकार की चेतना बिलकुल नीचे तक गयी है। लेकिन भारत में स्थिति बिलकुल इसके उलट थी। यहाँ 1918 में कांग्रेस ने एक बैठक बुलाई जिसमें स्त्रियों को मतदान का अधिकार दिए जाने का प्रस्ताव पारित किया गया और मदन मोहन मालवीय को छोड़ कर सबने उसका समर्थन किया और वह पारित हो गया। यहाँ किसी स्त्री में यह चेतना जगाने की जरूरत ही नहीं पड़ी कि तुम्हें मताधिकार हासिल करने के लिए लड़ना है। यही वजह है कि स्त्री विमर्श की यहाँ कोई चेतना विकसित नहीं हो पायी। पश्चिम में स्त्री विमर्श की इतनी महत्वपूर्ण सैद्धांतिकी का विकास हुआ।

इसी प्रकार प्रो. तलवार यह बताते हैं कि पश्चिम में जिस प्रकार *Beyond The Fragments*, जोकि यूरोपियन मार्क्सवादी Sheila Rowbotham की किताब है, में जिस प्रारूप आन्दोलन की बात की गयी है जिन्होंने यह बताया है कि समाजवाद के आने की स्थिति में स्त्री और पुरुषों के सम्बन्ध किस प्रकार के होंगे, उस तरह की कोई चर्चा नहीं मिलती हिंदी के स्त्री विमर्श में। प्रो. तलवार आगे कहते हैं कि हिंदी के स्त्री-विमर्श में उन बुनियादी सवालों को नहीं उठाया गया है जो स्त्री की स्थिति को हमारे समाज में निर्धारित और नियंत्रित करते हैं। प्रो. तलवार कहते हैं कि परिवार, शिक्षा प्रणाली, राज्य, कानून, धर्म, कलाएँ, मीडिया, आदि संस्थाएँ जो स्त्री को बनाती हैं और उसकी स्थिति तय करती हैं, उनकी कोई चेतना हमें हिंदी के स्त्री विमर्श में नहीं दिख पड़ती।

मर्दवाद एक बहुत बड़ा प्रश्न है स्त्री-विमर्श का, लेकिन इसे हिंदी के स्त्री-विमर्श में किस तरह देखा गया है, इसे प्रो. तलवार ने उठाया है। रोहिणी अग्रवाल ने तसलीमा नसरीन की एक कविता की बहुत प्रशंसा की है, जो कुछ इस प्रकार है- कि ये जो पुरुष हैं ना, स्त्रियों को खरीद कर लाते हैं, घर में उसका मनमाना इस्तेमाल करते हैं और उसके बाद लात मार कर भगा देते हैं उसको, मेरी भी बड़ी इच्छा होती है कि ठीक इसी तरह किसी लड़के को खरीद कर लाऊँ, उसका उपभोग करने के बाद उसे रौंद कर लात मार कर भगाते हुए कहूँ भाग साले। यह कविता एक नारीवादी ने लिखी है और दूसरी नारीवादी ने इसकी आलोचना की है। रोहिणी अग्रवाल कहती हैं कि क्या आग उगलती कविता है, सचमुच फायरगर्ल हैं तसलीमा। अब तो उल्टा खेल खेलने का समय आ गया है। प्रो. तलवार कहते हैं यह कविता स्त्री-शोषण के सवाल पर एक त्वरित आवेगपूर्ण प्रतिक्रिया के सिवाय कुछ नहीं, क्योंकि तसलीमा जिस तरह के लड़के को खरीद कर लाने की बात कहती है आखिर वह किस तरह का लड़का होगा, क्योंकि हमें आपको तो खरीद नहीं पाएँगी वे। तो वह किसी दलित आदिवासी गरीब घर के लड़के को लायेंगी। यह निश्चित ही नारीवाद ना होकर एक त्वरित प्रतिक्रिया है लेकिन इस त्वरित प्रतिक्रिया में भी आप मर्दवाद को उसी तरह आत्मसात कर रही हैं जिसमें वह स्त्री शरीर के उपभोग के बाद उसे लात मार कर भगा देता है। मर्द को मुक्त समझना और उसके जैसा बनने की कोशिश करना मर्दवाद नहीं। मर्दवाद एक घृणित चीज है और स्त्री-पुरुष का विभाजन एक मिथ्या विभाजन, जाति-विभाजन की तरह।

प्रो. तलवार कहते हैं कि स्त्रीत्व की धारणा भी उतनी ही बेबुनियाद है जिसके अंतर्गत यह मान लिया गया है कि स्त्री के अन्दर करुणा, ममता और बलिदान जैसी भावनाएँ स्वाभाविक रूप से भरी होती हैं। इस प्रकार से स्त्री से उसकी स्वाभाविक आकांक्षाओं को, उसकी मनुष्यता को और उसकी प्रकृति को छीन लिया जाता है। इसकी वजह यह है कि यह संस्कृति की लड़ाई है और इसका समाधान तभी निकलेगा जब तक आप इसे विचाराधारात्मक संघर्ष के रूप में नहीं चलायेंगे। स्त्री-विमर्श पूरे

समाज के लोकतांत्रिक रूपांतरण और समाजवाद की भी बुनियादी लड़ाई है और अगर वह इस सवाल का सामना नहीं करता तो वह संकीर्ण रह जाएगा।

दलित विमर्श को प्रो. तलवार सबसे कारगर और प्रभावी विमर्श मानते हैं। इस विमर्श ने जाति के प्रश्न को हमारे सामने इस तरह उठाया जिसे कोई नजरअंदाज नहीं कर सकता। दलित जाति का प्रश्न आधुनिकता की कसौटी बन चुका है। जाति प्रथा आज खत्म नहीं हुई, मगर खत्म होने के कगार पर है और यह हिंदी के दलित विमर्श की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसी प्रकार दलित विमर्श ने जिस एक नए प्रश्न को उठाया, वह था धर्म की आलोचना का प्रश्न, जिसका श्रेय अम्बेडकर को दिया जा सकता है। धर्म की आलोचना करने वाले आज तक नास्तिक कहलाते थे और वेदों में नास्तिकता सबसे बड़ा पाप मानी गयी है।

दलित साहित्य ने जो एक और महत्वपूर्ण काम हिंदी साहित्य में किया, वह था पूर्वनिर्धारित साहित्यिक परम्पराओं पर प्रश्नचिन्ह लगाना, जो द्विजों द्वारा बनायी गयी थीं, जिनमें साहित्यकारों, कवियों और लेखकों की जगहें तय थीं। सबसे ज्यादा तिलमिलाहट आलोचकों को इस बात से हुई कि सवाल ऐसी भाषा में खड़े किये गए कि लोग तिलमिला उठे और जब उनसे जवाब नहीं देते बना तो वे खीज गए कि यह तो गाली-गलौज की भाषा है। जो काम मार्क्सवादी आलोचकों को करना चाहिए था और जिसमें वो चूक गए थे उन सवालों को दलित साहित्यकारों और आलोचकों ने सामने ला खड़ा कर दिया। दलित विमर्श के कारण हिंदी में आज दलित लेखकों की एक स्थिति बनी है जो पहले नहीं थी। दलित साहित्य का इतना बड़ा बाजार मौजूद है आज हमारे बीच, यह दलित विमर्श की सबसे बड़ी सफलता है। दलित साहित्य में कविता-कहानी का तो विकास हो रहा है, लेकिन दलित आलोचना का उतना विकास नहीं हो रहा। इसकी वजह ये है कि हमारे पास दलित साहित्य को निर्धारित करने वाले मापदंड नहीं हैं।

प्रो. तलवार आगे कहते हैं कि देश की बाकी स्थितियों और विश्व में हो रहे परिवर्तनों को ले कर दलित विमर्श का कोई दृष्टिकोण होगा या नहीं, यह प्रश्न अभी तक अनुत्तरित है। अतः जाति और वर्ग के प्रश्न के समाधान और भारत में सामाजिक परिवर्तन के लिए मार्क्सवाद और अम्बेडकर तथा ज्योतिबा फुले जैसे विचारकों की विचारधाराओं का समन्वय अत्यंत आवश्यक है।

आधुनिक युग के हिंदी साहित्य में भारतीय नवजागरण, आदिवासी विमर्श, दलित विमर्श और स्त्री विमर्श को नए सिरे से विवेचित और विश्लेषित कर उसकी प्रासंगिकता को रेखांकित करने के लिए प्रो. तलवार के आलोचनात्मक अवदान की जितनी भी सराहना की जाए, कम है।



सूखा पत्ता हमारे जीवन में

इधर मैंने एक उपन्यास पढ़ा है जो रह-रह कर मेरे दिमाग में घूमता रहता है और खुद मेरे जीवन की पुरानी यादों को जगा देता है। उपन्यास है तो बहुत पहले का छपा हुआ लेकिन पढ़ा मैंने अब है। यह है अमरकांत का उपन्यास 'सूखा पत्ता'। 1959 में छपा यह उपन्यास हिन्दी में अपने ढंग का अकेला उपन्यास है जिसमें किशोर जीवन की मानसिक उथल-पुथल का अद्भुत एवं प्रभावशाली चित्रण हुआ है। हिन्दी में अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' में बालपन और किशोरवय के मनोवैज्ञानिक चित्रण की अक्सर तारीफ की जाती है। निर्मल वर्मा की कुछ कहानियां भी इस दृष्टि से सराहनीय हैं लेकिन अमरकांत जिस दुनिया का यथार्थ सामने लाते हैं वह इनसे बिल्कुल अलग है। बलिया जैसे एक छोटे शहर में स्कूली छात्रों की मानसिकता कैसी होती है, यहां जो लड़का सबसे दबंग होता है, बल्कि गुंडा होता है वह सभी छात्रों की नजर में हीरो होता है, उनका आदर्श होता है। हथियार रखना और हथियार चलाना उनके जीवन की एक बड़ी महत्वाकांक्षा बन जाती है। दो चार लड़के आपस में मिल कर एक गुप्त क्रांतिकारी संगठन बना डालते हैं और संगठन के वास्ते धन इकट्ठा करने के लिए सबसे पहले पास के बनिह के गोदाम से खाली बोरा का एक गट्टर चुराते हैं। भय निकालने के लिए ये रात को शहर के सुनसान हिस्सों और शमशान की यात्रा करते हैं लेकिन बाद में इन्हीं लड़कों में से कुछ आगे की पढ़ाई के लिए दूसरे शहर में चले जाते हैं, किसी के पिता का तबादला दूसरे शहर में हो जाता है या किसी का परिवार किसी दूसरे मोहल्ले में चला जाता है। इसी के साथ उन सबका क्रांतिकारी जीवन भी पीछे जाता है। किशोरवय की यह मानसिकता और उनके संकल्प उन सूखे पत्तों की तरह लगते हैं जिन्हें हवा आसानी से अपने साथ उड़ा ले जाती है, कभी इधर तो कभी-उधर।

हिन्दी में इस तरह का कोई दूसरा उपन्यास नहीं मिलता है। इसे पढ़कर उन सबको अपने बचपन की याद आ जाना स्वाभाविक है जो सांसारिक लीक से कुछ हटकर चलना चाहते थे। इसे पढ़कर मुझे भी अपने लड़कपन की याद आई जब मैं शहर के गुंडों को अपना आदर्श समझता था। सिनेमा की टिकटें ब्लैक करने वालों को देख कर हौसला बांधते थे कि हम भी बड़ी हिम्मत से दो का चार, दो का चार कहते हुए एक दिन इसी तक टिकट ब्लैक करके दिखाएंगे और तो और अमीरों को लूटकर गरीबों में धन बांट देने वाले सुल्ताना सिंह जैसा डाकू बनने की महत्वाकांक्षा इतनी जोरों से सिर पर सवार हुई थी कि इसके लिए अपने एक आदिवासी साथी के साथ मिलकर एक गुप्त योजना बनाई कि हम दोनों भागकर बंबई चले जाएंगे।

बंबई भागने के लिए धन की जरूरत पर सोचा गया कि चोरी-डकैती का अभ्यास घर से ही शुरू किया जाए। मैं अपने फुफेरे भाई के घर गया और वहां से उसकी घड़ी चुरा लाया। मैंने समझा

कि इसका पता कभी किसी को नहीं चलेगा क्योंकि घड़ी चुराते समय यहां कोई मौजूद नहीं था लेकिन अभी 24 घंटे भी नहीं बीते थे कि वह भाई मुझे चोर समझ कर पहुंच गया और बहुत कड़ाई के साथ मुझसे पेश आया। मेरे हाथ-पांव फूल गये अपना अपराध कबूलते हुए मैंने वह घड़ी अपने आदिवासी साथी से लेकर भाई को वापस कर दी। इसके बाद तो बंबई भागने और डाकू बन कर समाज में क्रांति लाने की सारी योजना पर ही पानी फिर गया। अमरकांत का 'सूखा पत्ता' पढ़कर लगा कि यह मेरे जैसे न जाने कितने लोगों की जिंदगी का ऐतिहासिक दस्तावेज है।

कॉलम : अध्ययन-प्रसंग, 'सहारा समय', मार्च 2003, दिल्ली,

[प्रस्तुति : सुभाष चंद्र मोर्य]

यादगाः अध्यापन : ‘लोचन श्रनैत उघारिया’ बनाम ‘शायः तो वो अध्छा है पः...’

एक अपराजेय योद्धा

■ अंजय कुमार

डॉ० वीर भारत तलवार पर कुछ लिखने से पहले यादों की सुरम्य वादियों में 22 वर्ष पहले लौटना होगा। बात है 1995 की, जब मैं सत्र 1995-1997 में हिन्दी विषय से स्नातकोत्तर (M.A., Hindi) करने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के भारतीय भाषा केन्द्र गया। वहीं अगस्त 1995 से अप्रैल 1996 तक तलवार जी से दो पत्र, पहला – ‘हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास’ एवं दूसरा – ‘हिन्दी उपन्यास’, अध्ययन करने का अवसर मिला।

एक वर्ष तक प्रत्यक्ष कक्षा में उनसे पढ़ते हुए और ज.ने.वि. के भारतीय भाषा केन्द्र में 6 वर्ष उनसे परोक्ष सम्पर्क के आधार पर ही उनके व्यक्तित्व के मूल्यांकन का दुस्साहस कर रहा हूँ इसलिए यह दावा नहीं करूँगा कि जो मैं लिख रहा हूँ वह तलवार जी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का मूल्यांकन है, क्योंकि मैंने उनका शिक्षक वाला रूप ही देखा है। उनके 70 वर्षों के जीवन में उम्र, परिस्थिति एवं समय के अनुरूप उनमें तरह-तरह के बदलाव हुए होंगे लेकिन उन 6 वर्षों में मैंने उन्हें जिस रूप में देखा, जाना, परखा उसके आधार पर ही उनके व्यक्तित्व के कुछ पहलुओं पर प्रकाश डालने का प्रयास करूँगा इसलिए इसमें सम्पूर्णता का अभाव होगा, फिर उनको देखने का मेरा अपना नजरिया भी है जिसमें बहुत सी खामियाँ होंगी। खैर

जैसे प्याज में कई परतें होती हैं वैसे ही हर व्यक्ति के व्यक्तित्व के कई पहलू होते हैं, जब मैं तलवार जी पर लिखने बैठा तो मुझे लगा कि मैं एक तूफान को बाँधने की कोशिश कर रहा हूँ। मैं किस पर लिखूँ ... अपने गुरु तलवार जी पर, झारखण्ड समर्थक एक क्रांतिकारी कार्यकर्ता पर, साहित्य के ईमानदार शोधार्थी पर, हिन्दी के एक प्रतिबद्ध प्राध्यापक पर, भारतेन्दु युग एवं हिन्दी नवजागरण के खोजी एवं विद्वान समालोचक पर या एक स्वतंत्र साहित्यकार पर। तलवार जी का व्यक्तित्व इन सारी परिधियों को अपने व्यक्तित्व में समेटे हुए है।

तलवार जी का व्यक्तित्व परस्पर विरोधी भावों का समुच्चय है। उनके बाह्य एवं आंतरिक व्यक्तित्व में बहुत से ऐसे तत्त्व हैं जो एक दूसरे के विरोधी हैं। उनके व्यक्तित्व में इन्हीं विरुद्धों के सामंजस्य के कारण जबरदस्त आकर्षण मौजूद है जो चुम्बक की तरह लोगों को अपनी ओर खींचता है। सामान्य अवस्था में उनका बाहरी रूप जिस सुदर्शन व्यक्तित्व के साथ उनके पारस रूप को हमलोगों के समक्ष सत्यम-शिवम-सुंदरम के दर्शन कराता है वहीं अन्यायी एवं अत्याचारी की ललकार सुनकर वह तनकर पर्वत की भाँति खड़ा हो जाता है। उनकी उस अपराजेय योद्धा की मुद्रा में चील की दृष्टि, शेर सा साहस एवं चीते जैसी फुर्ती को देखा जा सकता है जो अपने शत्रु पर आक्रमण करने के लिए सदैव तत्पर रहता है।

सामान्यतः हर इंसान चाहता है कि उसका जीवन सुख, सुविधा, समृद्धि एवं सफलता से परिपूर्ण हो, लेकिन तलवार जी के जीवन पर दृष्टिपात करेंगे तो पाएँगे कि उन्होंने अपने जीवन-संघर्ष का जो कटौतीला रास्ता चुना वह बीहड़ एवं भयंकर वन के दुर्गम-पथरीले रास्ते से गुजरता हुआ जे.एन. यू. तक पहुँचा था। इस्पात-नगरी जमशेदपुर से जो जीवन प्रारम्भ हुआ वह बनारस हिंदू विश्वविद्यालय

से होता हुआ सहजता से हिन्दी प्राध्यापक की नौकरी तक जा सकता था और आराम से अपने परिवार के साथ सुखी जीवन का लुत्फ उठाते हुए साहित्य साधना के समंदर में लीन हो सकता था, लेकिन तब वीर भारत तलवार नाम सार्थक कैसे होता? फिर उन सपनों का क्या होता जो तलवार जी को सोने नहीं देते, उस क्रांतिकारी चेतना का क्या होता जो उन्हें सदैव बेचैन किए रहते हैं। 'देशभक्ति' और 'क्रांतिकारी चेतना' उनके व्यक्तित्व के वे पहलू हैं जिसकी चर्चा के बिना उनका व्यक्तित्व अधूरा है। झारखण्ड की धरती से अपार स्नेह और वहाँ के लोगों से गहरा लगाव उनकी देशभक्ति का जीवंत प्रमाण है और उनके हक के लिए सतत संघर्ष करना उनकी क्रांतिकारी चेतना का स्पष्ट सबूत। अपने जीवन के 10 सबसे महत्वपूर्ण वर्ष झारखण्ड आन्दोलन के लिए कुर्बान कर देना, अलग झारखण्ड राज्य के लिए पैम्फलेट (प्रपत्र) लिखना, उसके समर्थन में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन-प्रकाशन करना उनके आन्दोलनकारी, इंकलाबी और साहित्यिक स्वभाव को रेखांकित करता है।

दरअसल डॉ. तलवार का विश्वास किनारे बैठकर तमाशा देखने पर कभी नहीं रहा, इसलिए वे सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में झारखण्ड आंदोलन के पैरोकार रहे हैं। उपेक्षित आदिवासियों, वंचित दलितों, शोषित स्त्रियों, गरीब किसानों एवं परेशान आम जनता की सक्रिय पक्षधरता उन्हें एक सामान्य शिक्षक से महान अध्यापक की भूमिका में खड़ा कर देती है। डॉ. तलवार पलायनवादी नहीं हैं। समझौता करना उनकी आदत नहीं, चुप रहना उनका स्वभाव नहीं और संघर्ष से बच कर खिसक जाना उनकी फितरत नहीं। कुरुक्षेत्र के मैदान में अभिमन्यु की तरह अकेले पिल पड़ना उनके खून में है। कवि श्रीकांत वर्मा के शब्दों में कहें तो - वे 'बचने' वाले साहित्यकार नहीं, 'रचने' वाले साहित्यकार हैं

“चाहता तो बच सकता था / मगर कैसे बच सकता था
जो बचेगा / कैसे रचेगा।”

जैसे पृथ्वी के दो ध्रुव हैं वैसे ही डॉ. तलवार का व्यक्तित्व इन दो ध्रुवों के बीच गतिशील रहा है - 'पढ़ाकू' एवं 'लड़ाकू'। दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि सम्पूरक रहे हैं। 'संघर्ष' और 'शोध' उनके जीवन का स्थाई भाव है। पढ़ते-पढ़ते झारखण्ड आन्दोलन की ओर प्रवृत्त हुए और जब स्वार्थी राजनीति से मोहभंग हुआ तो पुनः जे.एन.यू. से अपनी पढ़ाई पूरी कर अध्यापकी का रास्ता अपनाया। अन्याय, अत्याचार, अज्ञान एवं साम्प्रदायिकता के खिलाफ उनका मोर्चा सदा खुला हुआ है।

जब मैंने उनको 1995 में पहली बार देखा तब उनकी उम्र लगभग 48 वर्ष की रही होगी। कहते हैं उम्र की मार से कोई बच नहीं सकता लेकिन यहाँ यह अपवाद साबित हुआ; उम्र की मार ने 'तलवार' की धार को कुंद नहीं किया था बल्कि और तेज कर दिया था। वही साँचे में ढला खूबसूरत कसरती बदन, वही तेज-तर्रार चमक भरी पैनी निगाहें जो नजर मिलते ही सामने वाले के जिगर को चाक कर दे। पहली बार मिलने पर भी जो अपनी छाप छोड़ जाए; आप डॉ. तलवार से एक बार मिलकर उनको भूल नहीं सकते। मैंने डॉ. तलवार को कभी निराश-हताश या उदास नहीं देखा। आग और इस्पात से बना हुआ उनका व्यक्तित्व मुझे सदैव ऊर्जा और कर्म से लबरेज ही नजर आया। कवि कंदारनाथ अग्रवाल की एक कविता 'वीरांगना' डॉ. तलवार के व्यक्तित्व को बखूबी प्रतिबिम्बित करती है-

“मैंने उसको / जब-जब देखा, /लोहा देखा,
लोहा जैसा / तपते देखा, / गलते देखा / ढलते देखा,
मैंने उसको /गोली जैसा, / चलते देखा !”²

तलवार जी निराला और यशपाल की परम्परा के वारिस हैं जो टूटना तो जानता है पर झुकना

नहीं।

जहाँ तक एक शिक्षक, एक अध्यापक एवं गुरु की भूमिका का सवाल है तलवार जी सबमें बेमिसाल हैं। ईमानदार, सत्यनिष्ठ, कठोर परिश्रमी, सकारात्मक अनुशासन के समर्थक, समय के पाबंद, लोकतांत्रिक मूल्यों के हिमायती, प्रगतिशील विचारधारा के संरक्षक, सर्वहारा के साथी डॉ. तलवार को गुरु के रूप में पाकर कोई भी गर्व कर सकता है।

जे.एन.यू. का पहला सत्र (जुलाई-दिसंबर 1995) हमलोगों के लिए बड़ा उतार-चढ़ाव एवं कशमकश भरा रहा। वहाँ पढ़ाई का तरीका एकदम अलग है। विषय और पाठ तो एक आधार है बहस शुरू करने का। एक बार चर्चा शुरू हुई तो वह किस दिशा में पहुँचेगी और कहाँ-कहाँ की सैर कर लौटेगी सोचना भी अकल्पनीय है। आधुनिक सोच के साथ मुठभेड़, नई विचारधाराओं के बीच बहस, राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं से सामना और विभिन्न विषयों के गहन अध्ययन का दबाव; किसी भी नए छात्र की नींद उड़ा सकते हैं। हमलोगों की भी यही हालत थी। डॉ. तलवार और डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने जब कुम्हार की तरह गूँथना शुरू किया तो सबकी मिट्टी - हाय! हाय! कर उठी। पहले का पढ़ा हुआ व्यर्थ, जाना हुआ बेकार - सबके सामने अपनी पहचान का संकट उत्पन्न हो गया। फिर शुरू हुई नई पढ़ाई। रात-रात भर जाग कर पढ़ना, पूर्वाह्न में क्लास, शाम को बहस और दिन-रात साहित्य एवं संसार की तमाम उलझनों से वास्ता। लेकिन अब पीछे मुड़ कर देखता हूँ तो लगता है ज्ञान के गवाक्ष खोलने का वही स्वर्णकाल था। साँस लेने की फुर्सत नहीं - आज टेस्ट है तो कल सेमिनार। पढ़ो, समझो, गुनो और लिखो, लिखते जाओ - फिर सामना करो अपने सहपाठियों का जो आपकी धज्जियाँ उड़ाने के लिए तैयार बैठे हैं। मजाल है कि आप आसानी से इस आग से गुजर जाएँ। सामने डॉ. वीर भारत तलवार हों या डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल, तरह-तरह के हथियारों के हमले से अपने आप को बचाना और झेलना ही तो 'तैयार' होना है जीवन के युद्ध से सामना करने के लिए। कबीर की भाषा में कहें तो इन 'कुम्हारों' और अपनी भाषा में कहूँ तो इन 'लुहारों' ने कितना ठोंका-पीटा, कितना सहारा दिया यह जे.एन.यू. के उस दौर के छात्र-गण ही बताएँगे लेकिन उसका सुपरिणाम आज उन सबकी लेखनी है जो साहित्य को नई दिशा देने में लगी हुई है और जिसकी धमक से रचना एवं आलोचना की नई फसल लहलहा रही है।

जहाँ डॉ. अग्रवाल की प्रकृति पद्य की ओर थी वहीं डॉ. तलवार की गद्य की ओर। एक भक्तिकाल का दीवाना था तो दूसरा आधुनिक काल का अध्येता। डॉ. अग्रवाल के चंचल, जिज्ञासु एवं सांस्कृतिक सोच ने जहाँ हमें साहित्य को प्रश्नाकुलता एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में देखने-समझने की ओर प्रेरित किया तो डॉ. तलवार ने गहन अध्ययन, ईमानदार लेखन एवं नए-नए शोध की संभावना की ओर हमें अग्रसर किया।

डॉ. तलवार पूरी तैयारी से कक्षा-व्याख्यान देते थे लेकिन वह एकतरफा नहीं होता था। बीच-बीच में प्रश्न, फिर उत्तर ढूँढने का प्रयास, सबको टटोलना और तर्क एवं तथ्य से निष्कर्ष तक पहुँचना। उसके लिए तलवार जी गहन-अध्ययन, नए शोध एवं प्रमाण सहित सही निष्कर्ष के साथ कक्षा में उपस्थित होते। विषय से सम्बन्धित सूक्ष्म से सूक्ष्म जानकारी एकत्र कर, विभिन्न विद्वानों, आलोचकों के मतव्यों के आलोक में वे विषय का सूक्ष्म एवं विस्तृत विश्लेषण करते। वे छात्रों को सोचने के लिए विवश अवश्य करते थे लेकिन सही दिशा की ओर संकेत भी करते थे। विषयान्तर कर देना, तर्क-वितर्क में अनावश्यक अधिक समय बर्बाद करना, छात्र-छात्राओं को दुविधा के मझधार में छोड़ देना; उनकी आदत नहीं। वे एक कुशल नाविक की तरह छात्र रूपी यात्रियों को विषय रूपी दरिया की सैर कराकर सबको मंजिल तक पहुँचाकर ही दम लेते थे। लेकिन उन्होंने कभी अपना मत

किसी पर थोपा नहीं। वे विरोधी विचारधारा का भी स्वागत करते थे; हाँ, वे ठोस एवं प्रामाणिकता से सही तर्क के साथ रखे गए हों। वे स्वभाव से ही लोकतांत्रिक हैं। व्यक्ति की गरिमा की रक्षा एवं भारतीय संविधान के अनुरूप आचरण का सम्मान वे सदैव करते रहे हैं।

डॉ. तलवार समय के पाबन्द अध्यापक रहे हैं। स्वयं वे इसका सख्ती से पालन करते थे और चाहते थे कि उनके विद्यार्थीगण भी इसका अनुपालन करें। प्रतिदिन उनकी कक्षा सुबह 9.45 पर प्रारम्भ हो जाती थी; कक्षा-व्याख्यान आरम्भ होने के बाद कक्षा का प्रवेश द्वार बंद कर दिया जाता था, जो विलम्ब से आते वे कक्षा-व्याख्यान से वंचित रह जाते। जो इस कड़े नियम की चक्की में पिसता वह पीठ पीछे तलवार जी की बुराई भी करता था लेकिन एक शिक्षक के रूप में यह कड़ाई उनकी पढ़ाई का ही हिस्सा थी। डॉ. तलवार इस संबंध में कोई बहाना सुनना पसंद नहीं करते थे। कभी-कभी लगता था कि यह सब थोड़ा अति हो गया; डॉ. साहब को थोड़ा उदार होना चाहिए लेकिन 22 वर्षों के अपने जीवन-अनुभव से यह सीख मिली कि दरअसल वे हमें जीवन संघर्ष के लिए तैयार कर रहे थे जहाँ विलम्ब होने का मतलब है असफल हो जाना और डॉ. तलवार अपने किसी छात्र को कहीं भी असफल देखना नहीं चाहते थे। जो इस 'सबक' से 'सबक' नहीं ले सके वे आज जरूर पश्चाताप कर रहे होंगे। समय की पाबन्दी से जुड़े दो किस्से हैं जिनमें डॉ. तलवार का व्यक्तित्व प्रतिबिंबित होता है। डॉ. तलवार ने हिन्दी भाषा वाले पत्र का टेस्ट लिया। जितना समय दिया उतने समय में जिन लोगों ने उत्तर-पत्र जमा कर दिया उसका मूल्यांकन ठीक से किया। बार-बार चेतावनी देने पर भी मेरे एक सहपाठी ने उनके कमरे में विलम्ब से वह पत्र जमा किया। डॉ. तलवार ने उसे चिन्हित कर रख लिया। जब कॉपी जँची और सबको दिखाई गई तो मेरे सहपाठी को लगा कि देर से देने के कारण उनके कम अंक आए। डॉ. तलवार ने सभी छात्रों से कहा कि जो भी छात्र अपने पत्र के विषय में चर्चा करना चाहते हैं उनके कमरे में बारी - बारी से आकर अपना भ्रम दूर कर सकते हैं। सहपाठी महोदय गए और उन्होंने बातचीत के क्रम में डॉ. तलवार से कहा कि आपने पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर मुझे कम अंक प्रदान किया है जबकि डॉ. तलवार ने उनकी अन्य कमियों को इसका कारण बताया परन्तु मेरे साथी संतुष्ट नहीं हुए।

एक घटना और है, मेरे बैच से 3 बैच बाद, यानि 1998-2000 सत्र की। डॉ. तलवार ने देर से आने पर एक छात्र को कक्षा में प्रवेश करने से रोका तो वह नाराज हो गया। एक दिन जब डॉ. तलवार कुछ मिनट विलम्ब से कक्षा पहुँचे तो उसने जिरह करते हुए कहा कि कायदे से तो आज क्लास नहीं चलनी चाहिए; आपको भी कक्षा में प्रवेश करने का अधिकार नहीं। डॉ. तलवार ने उस दिन कक्षा नहीं ली; कक्षा स्थगित हो गई।

डॉ. तलवार सिर्फ समय के ही पाबन्द नहीं थे बल्कि वे सकारात्मक अनुशासन के समर्थक प्राध्यापक भी थे। वे चाहते तो समय की पाबन्दी तोड़ सकते थे, ढीले-ढाले ढंग से भी कक्षा का संचालन कर सकते थे, कोई कभी भी आता-जाता उनको क्या फर्क पड़ता लेकिन क्या पढ़ाई में समय की पाबन्दी आवश्यक नहीं? अनुशासनहीन अध्ययन से क्या लाभ ? डॉ. तलवार केवल साहित्य पढ़ा कर अपनी जिम्मेदारी से बरी नहीं होना चाहते थे बल्कि वे हमारा चरित्र-निर्माण भी करना चाहते थे इसलिए एक सच्चे संगतराश (मूर्तिकार) की भाँति अनुशासन की छेनी और नियम-कानून का हथौड़ा चलाते रहते थे। आज भी कभी देर होने लगती है तो लगता है दो घूरती आँखें पीछा कर रही हैं। 17 वर्षों की विविध नौकरी में आज तक विलम्ब से कभी नहीं पहुँचा - क्या यह डॉ. तलवार की सफलता नहीं?

कभी-कभी लगता है कि डॉ. तलवार को अध्यापक नहीं प्रशासक (I.A.S.) होना चाहिए था। वही अफसरों वाला रोबीला स्वभाव, नियम-कानून के प्रति वही निष्ठा, मिजाज में वही अक्खड़ता,

चाल में वही स्वाभिमान, निर्णय सुनाने में वही आदेशात्मकता और फैसले पर अटल रहने वाली वही दृढ़ता। विचार और सिद्धांत के प्रति प्रतिबद्धता ने ही उनको एक कड़ा अध्यापक बना दिया था। इसी संदर्भ में एक घटना याद आती है। संयोग से मेरे वही सहपाठी सत्रांत परीक्षा में फिर डॉ. तलवार के शिकार बन गए। कक्षा में सत्रांत परीक्षा चल रही थी, डॉ. तलवार निरीक्षण कर रहे थे। 3 घंटे का समय मिला था। मेरे मित्र लघुशंका के बहाने टॉयलेट में गए और एक पुर्जे में लिखे बिंदुओं को देखने लगे। डॉ. तलवार की छठी इंद्रिय ने उन्हें सचेत किया होगा, वे एकाएक उसी टॉयलेट में गए। वहाँ उन्होंने मेरे सहपाठी को पुर्जा पढ़ते हुए देख लिया। उस जगह पर उन्होंने उन्हें कुछ नहीं कहा लेकिन जब वे कक्षा में आए तो डॉ. तलवार ने उनसे वह पुर्जा माँगा और उन्हें परीक्षा अवधि में पुर्जा देखने-पढ़ने के जुर्म में परीक्षा से निष्कासित कर दिया। डॉ. तलवार चाहते तो उन्हें छोड़ भी सकते थे लेकिन वही तो उनके व्यक्तित्व में नहीं है। जो गलत उनको सामने दिखा उसे निरीक्षक की हैसियत से उन्होंने दंडित करने का प्रयास किया। उन्होंने मेरे सहपाठी को ही नहीं हम सबको भी यह सबक दी कि गलत करने का अंजाम गलत ही होता है, उसकी बड़ी कीमत चुकानी होती है, आप हर जगह चालाकी और चतुराई करके बच नहीं सकते। डॉ. तलवार में झूठ, बेईमानी, धोखा, चालाकी, आलस्य एवं अकर्मण्यता के प्रति घोर नफरत के भाव को सर्वत्र देखा जा सकता है। जहाँ इस तरह की नकारात्मक प्रवृत्तियाँ उन्हें दिखती हैं उनकी क्रोधाग्नि भड़क उठती है, उनके नथुने फड़कने लगते हैं और उस समय वे दुर्वासा और परशुराम बन जाते हैं।

गोदान पढ़ाते वक्त डॉ. तलवार का एक नया रूप हमलोगों के सामने आया। होरी की मार्मिक कथा का विश्लेषण वे जिस संवेदनशीलता एवं भावुकता से करते थे वह एक अद्भुत दृश्य उपस्थित करता था। हमलोगों ने पहली बार देखा फौलाद मोम की तरह पिघल रहा है। गोदान के मार्मिक स्थल पर डॉ. तलवार का दिल भर आया था, अश्रुपूरित नेत्रों और रूंधे गले से उन्होंने व्याख्यान पूरा किया था। लगता था कि तलवार जी ने अपनी आत्मा की गहराई से होरी को ममत्व दिया है। पराकाष्ठा उस दिन हो गई जब होरी अपनी छोटी बेटी को अधेड़ उम्र के महतो के हाथों बेच देता है। अपने नए होने वाले दामाद से रुपए लेकर वह अपनी जमीन बचाता है। प्रेमचंद की पंक्ति को दुहराते हुए डॉ. तलवार रो पड़े थे- “आज तीस साल तक जीवन से लड़ते रहने के बाद वह परास्त हुआ है और ऐसा परास्त हुआ है कि मानो उसको नगर के द्वार पर खड़ा कर दिया गया है और जो आता है, उसके मुँह पर थूक देता है।”

डॉ. तलवार न कवि हैं, न कविता के आशिक लेकिन जिस मार्मिकता से उन्होंने गोदान की संवेदना को हमलोगों के हृदय तक संचारित किया वह अनुपम था, अद्वितीय था। कविता में रस होता है, उसमें हृदय स्वतः रम जाता है लेकिन गद्य की मार्मिकता तक तलवार जी ने ही पहली बार पहुँचाया, ऐसे अन्यतम प्राध्यापक पाकर हम अपने आपको सौभाग्यशाली मानते रहे हैं। ‘मैला-आँचल’ और ‘झूठा सच’ जैसे उपन्यास उनसे पढ़कर हमलोग सचमुच धन्य हो गए।

प्रेमचंद की भूरि-भूरि प्रशंसा करने वाले तलवार जी जब प्रेमचंद की आलोचना करने पर उतारू हुए तो विश्वास करना मुश्किल हो गया कि ये वही तलवार जी हैं; गोदान पढ़ाते वक्त जिनकी आंखें डबडबा गई थीं। इससे पता चलता है कि तलवार जी के व्यक्तित्व में भावुकता और यथार्थ बोध का गहरा संतुलन मौजूद है। जहाँ सहृदयता की आवश्यकता है वहाँ उनकी हृदय द्रवित हो उठता है और जहाँ समालोचना की प्रामाणिकता का सवाल है वहाँ यथार्थ की जमीन पर ही वे आलोचना की फसल उगाते हैं। जिसने उनके व्यक्तित्व का सिर्फ एक पहलू देखा है वह उनको पूरी तरह समझ नहीं पाएगा कि उस नारियल में भी बहुत मिठास है।

तलवार जी सदैव हमलोगों के सामने एक गंभीर शिक्षक के ही रूप में उपस्थित हुए। हँसी मजाक, हास्य-व्यंग्य एवं चुहलबाजी से वे सदैव दूर रहे। किसी बात ने उनको गुदगुदाया तो वे मुस्करा कर आगे बढ़ गए लेकिन उनका व्यक्तित्व मजाकिया एवं हँसोड़ नहीं है। उनके व्यक्तित्व में बनावटीपन या नाटकीयता का सर्वथा अभाव है। बनारस में रहकर भी उनमें बनारसीपन नहीं आया। बैठकबाजी करना, दरबार लगाना, छात्रों से दोस्ताना व्यवहार कर उन्हें मुँहलगू बनाना, किसी का चरित्र हनन-करना, निंदा-रस में शामिल होना एवं चापलूस संस्कृति का पालन-पोषण करना डॉ. तलवार की प्रवृत्ति नहीं, इसलिए कोई उनका अति प्रिय शिष्य रहा हो यह मैंने नहीं सुना। कई विश्वविद्यालयों में बड़े-बड़े प्रोफेसर अपने अधीन एम.फिल., पी-एच.डी. करने वाले छात्रों से अपने सभी तरह के कार्य करवाते रहे हैं, ऐसा संज्ञान में सदैव आता रहा है लेकिन डॉ. तलवार इसके अपवाद हैं। कभी किसी छात्र ने उनकी चापलूसी करने का प्रयास किया तो उसे मुँह की ही खानी पड़ी। डॉ. तलवार ने “किचेन कैबिनेट कल्चर” को कभी सम्पोषित नहीं किया।

यही कारण है कि डॉ. तलवार अकेले हैं। मित्र बनाने एवं मित्रता निभाने के लिए जितना समय बर्बाद किया जाता है शायद उनको पसन्द नहीं। मित्रता के लिए समान स्वभाव का भी होना आवश्यक है और आज के इस स्वार्थी एवं चालाक संस्कृति में वैसा ‘खरा’ इंसान मिलना भी दुर्लभ है। यह मेरा अनुमान है, हो सकता है उनके कई मित्र हों पर मैं हमराज मित्र की बात कर रहा हूँ साहित्यिक साथी की नहीं।

डॉ. तलवार की एक सबसे बड़ी विशेषता है – आत्ममुग्धता का अभाव। डॉ. तलवार ने कभी हमलोगों के सामने अपनी महानता का डंका नहीं पीटा। विशिष्ट लोगों से अपनी पहचान की धौंस नहीं जमायी। आत्मश्लाघा और आत्मप्रशंसा से दूर तलवार जी महानता का बोझ ढोन वाले इंसान नहीं; सहजता और सरलता के साथ अपने पथ पर आगे बढ़ने वाले इंसान हैं। डॉ. तलवार मितभाषी व्यक्ति हैं, अधिक बोलना और फालतू बोलना उनकी प्रकृति नहीं इसलिए उनकी कथनी – करनी में भेद नहीं। सोच समझकर; नाप-तोल कर बोलते हैं और जितना बोलते हैं उतना पूरा करने का प्रयास करते हैं।

अच्छे अध्यापक के अतिरिक्त उनमें कई विशिष्टताएँ हैं जिनकी चर्चा के बिना उनका मूल्यांकन पूरा नहीं हो पाएगा यहाँ मैं उन विशेषताओं की ओर मात्र इशारा करके अपनी बात पूरी करना चाहूँगा।

अध्यापकी के अलावा उन्हें दो ही चीजों का नशा है – ‘पढ़ने’ और ‘लिखने’ का। उन्होंने अपने अध्ययन का क्षेत्र चुन लिया है – भारतेन्दु-युग, हिन्दी नवजागरण, डॉ. रामविलास शर्मा का लेखन, प्रेमचंद का साहित्य तथा झारखण्ड की धरती एवं यहाँ के लोग। डॉ. तलवार निरंतर अध्ययनशील व्यक्ति हैं और ईमानदार आलोचक के लिए यह एक जरूरी शर्त भी है।

विविध मुद्दों पर पढ़ना, सामग्री इकट्ठा करना, विचार करना, निष्कर्ष पर पहुँचना, पठनीय एवं प्रभावशाली भाषा में लिखना और हिन्दी साहित्य को अमूल्य ग्रंथ देना; उनकी मूल प्रवृत्ति है। डॉ. तलवार की पुस्तकें उनके विस्तृत अध्ययन के प्रमाण हैं और उनका लेखन उम्दा लेखन की गारण्टी।

जहाँ तक आलोचना का प्रश्न है डॉ. तलवार नई पीढ़ी के प्रखर प्रगतिशील आलोचक हैं। प्रामाणिकता उनके लेखन की प्रमुख विशेषता है। डॉ. तलवार बहुत छान-बीन कर, गहन विश्लेषण कर, सही तर्क और सटीक प्रमाण देकर ही अपनी समालोचना प्रस्तुत करते हैं इसलिए उनके लेखन को हल्के में नहीं उड़ाया जा सकता। आज के संदर्भ में; अतीत के लेखन के माध्यम से प्रगतिशीलता को उजागर करना और सामन्तवादी शोषण पर प्रहार करना उनके आलोचना कर्म की सार्थकता है। मार्क्सवादी आलोचना की खामियों को सामने लाकर भी उन्होंने एक बड़ा काम किया है। इस संदर्भ

में यह कहना है कि वे डॉ. नामवर सिंह के शिष्य अवश्य हैं किन्तु हैं वे डॉ. रामविलास शर्मा की परम्परा के आलोचक। डॉ. रामविलास शर्मा से टकराने का साहस अगर किसी में था तो वह डॉ. वीर भारत तलवार में ही था वह भी उस समय जब वे आलोचना के 'भीष्म पितामह' की भूमिका में थे। यही निडरता तलवार जी की सबसे बड़ी ताकत है। आचार्य शुक्ल के मुद्दे पर डॉ. रामविलास जी से भिड़ने वाले डॉ. तलवार, शर्मा जी के बड़े प्रशंसक भी हैं लेकिन जे.एन.यू. की वही परम्परा है "प्लेटो और अरस्तू" वाली। गुरु की भी बात यदि सही न लगे तो उसकी समालोचना करके साहित्य की स्वस्थ परम्परा को आगे बढ़ाने की। जे.एन.यू. में उन्होंने अपने कमरे में सिर्फ डॉ. रामविलास शर्मा की ही तस्वीर लगा रखी थी। मिर्जा गालिब होते तो कहते -

उसी को देख कर जीते हैं जिस काफिर पे दम निकले।

डॉ. तलवार सिर्फ हंगामा खड़ा करने के लिए नहीं लिखते। वे चाहते हैं कि समाज, साहित्य और देश की सूरत बदले। शोषित और पीड़ित जनता की पीड़ा समाप्त हो और वे उन्नति करें इसलिए उनकी प्रतिबद्धता सर्वहारा के प्रति है, उनका सम्पूर्ण प्रयास परिवर्तनकारी समाज के लिए ही है।

इतनी विशेषताएँ होने पर भी डॉ. तलवार का व्यक्तित्व सर्वथा निर्दोष नहीं है। तुनक मिजाजी और अति क्रोध उनके व्यक्तित्व को नकारात्मक बनाते हैं। छोटी-छोटी बातों में रक्तचाप बढ़ा लेना एवं एक सीमा से अधिक क्रोध को पालना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। शायद उम्र के इस पड़ाव में डॉ. तलवार ने उन खामियों पर विजय पायी हो।

अपने पढ़ाने की नायाब शैली के कारण वे सदैव अपने छात्र-छात्राओं के दिलों पर राज करते रहेंगे और अपने उत्कृष्ट लेखन के लिए हिन्दी साहित्य में सदैव उन्हें एक साहित्यिक तपस्वी एवं महान कर्मयोगी की तरह याद किया जाएगा। जिस महफिल में बेजोड़ अध्यापकों की चर्चा होगी उनका जिक्र अवश्य आएगा। वे स्वस्थ रहें, शतायु हों और प्रसन्नचित्त होकर हिन्दी साहित्य को बेहतरीन पुस्तकें देते रहें यही हमलोगों की हार्दिक शुभकामना है।

संदर्भ :

1. स्रोत - प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल पेपरबैक्स, सम्पादक - विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, चौथी आवृत्ति- 2014, हवन, श्रीकांत वर्मा, (मगध) 1979, पृ. सं.-120
2. प्रतिनिधि कविताएँ : केदारनाथ अग्रवाल, सम्पादक - अशोक त्रिपाठी, राजकमल पेपर बैक्स, दूसरी आवृत्ति - 2013 पृ.सं. - 43



यादगार अध्यापन : ‘लोचन शर्मा उद्यारिया’ बनाम ‘शायर तो वो अच्छा है पर...’

जे. एन. यू. में

■ अरविंद दास

वर्ष 1992 मैंने दसवीं पास की। उसी साल मेरे बड़े भाई, नवीन, ने हिंदी साहित्य में एम.ए. करने के लिए अपना नामांकन जे.एन.यू. में करवाया था। छुट्टियों में घर आने पर उन्होंने जे.एन.यू. की बहुत सी बातों के अलावा वहाँ पर पढ़ाई गई कहानियों की चर्चा की थी। वीर भारत तलवार उन्हें कहानियाँ पढ़ाते थे। उन्होंने बताया था कि ‘तलवारजी जब कहानी पढ़ाते हैं, उनके चेहरे पर रसोद्रेक स्पष्ट देखा जा सकता है। कहानी पढ़ाते समय उनका चेहरा सुर्ख हो जाता है। वे कभी भावुक, कभी आह्लादित तो कभी आवेशित हो उठते हैं।’

एक शिक्षक के रूप में तलवारजी से यह मेरी पहली पहचान थी।

दस साल बाद वर्ष 2002 में जे.एन.यू. में एम.फिल में जब दाखिला लिया, भाई साहब की बातें अनायास याद हो आईं। मैंने तलवारजी से अनुमति लेकर एम.ए. के छात्रों के संग कथा-साहित्य की कक्षाएँ कीं।

तलवारजी जब कहानी पढ़ाते थे तो पूरी नेम-टेम और नियम-निष्ठा के साथ। कहानी पढ़ाते समय वे इस बात का विशेष खयाल रखते कि हमारी रुचि पाठ में आद्योपांत बनी रहे। विशेषकर नई कहानी पढ़ाते समय वे कहानीकारों के छुए-अनछुए प्रसंगों की चर्चा करते चलते। व्यक्तिगत संस्मरण भी इसमें शामिल रहता। लेकिन इसके बाद वे हठात कहानी पढ़ाने नहीं लग जाते। कहानीकार की अन्य कहानियों के ताने-बाने से उस कहानी तक पहुँचते, फिर उसके बरक्स कहानी की व्याख्या करते। फिर भी तलवारजी इस बात को स्वीकार करते कि कहानी कैसे और कहाँ से बताई जाए, उनके लिए हमेशा एक सवाल रहा है। कहानी पढ़ाते समय वे अपने पहनावे का भी खासा ध्यान रखते। कहानी अगर प्रेम कहानी हुई तो उनका पहनावा वैसा नहीं होता, जैसा अन्य कहानी पढ़ाते समय। ‘कफन’ और ‘रसप्रिया’ के लिए अलग-अलग पहनावा। वे कहते कि कहानी जीवन का एक टुकड़ा है।

प्रसंगवश, यहाँ पर एक कहानी ‘कोसी का घटवार’ की चर्चा कर रहा हूँ, जिसे हमने तलवारजी से कक्षा के दौरान पढ़ा-समझा था। अद्भुत प्रेम कहानी है यह। सच है कि जैसी प्रेम कहानी नई कहानी के दौर में लिखी गई वैसी कहानी हिन्दी साहित्य में दुर्लभ हैं। हाँ! ‘उसने कहा था’ एक अपवाद कही जाएगी। इस प्रेम में वाचालता नहीं है। पूरी कहानी में प्रेम जैसा कोई शब्द नहीं है। पर स्थायी भाव के रूप में वह पूरी कहानी में व्याप्त है। इस प्रेम में ईर्ष्या नहीं है। द्वेष नहीं है। कोई प्रतिशोध नहीं है। यह कहानी पढ़ने-सुनने वालों को देर तक कचोटती रहती है।

कहानी के पाठ और आलोचना के बाद सवालों का दौर शुरू हो जाता। छात्रों के सवालों के जवाब आमतौर पर तलवारजी सीधे नहीं देते। ढूँढ़ो! खोजो! पता लगाओ! उनका प्रिय जुमला होता था। इस कहानी में एक प्रसंग है – ‘गुसाई ने गौर से लछमा के मुख की ओर देखा। वर्षों पहले ज्वार और तूफान का वहाँ कोई चिह्न नहीं था।’ यह पूछने पर कि लछमा के चेहरे पर विगत प्रेम प्रसंग की कोई छाप न हो, कोई छाया न उभरे, कोई हलचल न दिखे... यह कैसे संभव है ? अगर प्रेम सच्चा है तो वर्षों बाद भी, एक सीमा में रह कर ही सही, फूटगा जरूर। कितना ही सामाजिक मान-मर्यादाओं में बँध कर रहे आदमी। तलवारजी का जवाब था– मैं इस सवाल का जवाब नहीं दूँगा, बेहतर है कहानी के लेखक शेखर जोशी हिन्दी विभाग बुलाये जाएँ और उनसे ही यह सवाल

किया जाए।

एम.फिल और पीएच.डी. के लिए जब शोध निर्देशक के रूप में मैंने तलवारजी को चुना तो सीनियरों और सहपाठियों ने बताया कि तलवारजी के साथ काम करना दुष्कर है। तलवारजी बहुत तंग करते हैं। उनके साथ काम करके आप किसी भी परीक्षा की तैयारी नहीं कर सकते। वगैरह, वगैरह।

पर मैं उनकी प्रतिबद्धता और उनके लोकतांत्रिक चरित्र का हमेशा कायल रहा। एक शिक्षक, गाइड और आलोचक के रूप में वो हमेशा प्रश्न पूछने के लिए हमें प्रेरित करते रहे। क्लास के अंदर और बाहर भी। तलवारजी ने न सिर्फ मेरी शोध प्रगति पर लगातार नजर रखी, बल्कि समय से पूरा करवाया। एक बार मैंने कहा कि 'सर, मेरे मन में कुछ सवाल हैं, मैं आपसे मिलना चाहता हूँ, कब आऊँ?' मुस्कराते हुए तलवार जी ने कहा कि 'आजकल तो शोधार्थियों के मन में कोई सवाल ही नहीं उठते...कल आ जाना।'

एक बार पता नहीं क्यों मैं तलवारजी से अपनी पीएच.डी. को लेकर उलझ पड़ा। तलवारजी ने अपने स्वभाव के अनुकूल बहुत शांत स्वर में कहा: 'ऐसा है न अरविंद कि यदि तुम्हें लगता है कि तुम्हारा सुपरवाइजर तुमसे ठीक से पेश नहीं आ रहा है तो तुम मेरे खिलाफ कहीं पर भी जा सकते हो। यूनिवर्सिटी में बहुत सारे फोरम हैं।' मेरे चेहरे का रंग उड़ गया। मैंने माफी माँगते हुए कहा कि 'सर, ऐसा तो मैंने कुछ नहीं कहा है।' उन्होंने कहा- 'नहीं, नहीं, ऐसा कुछ मत सोचो। मैं बस यह कह रहा हूँ कि यह तुम्हारा डेमोक्रेटिक राइट है।' तलवारजी जैसे शिक्षकों की वजह से ही जे.एन.यू की लोकतांत्रिक छवि आज भी कायम है।

तलवार जी जैसा जीवन बहुत कम लोगों को मिल पाता है। कुछ महीने पहले एक इंटरव्यू के सिलसिले में जब इतिहासकार रामचंद्र गुहा से मुलाकात हुई और चर्चा चली तो उन्होंने याद किया कि तलवारजी जब 'झारखंड वार्ता' और 'शालपत्र' का संपादन कर रहे थे तब उनसे मिलने वे झारखंड गए थे। वे एक राजनीतिक कार्यकर्ता रहे। लंबे समय तक झारखंड के आदिवासियों के बीच काम किया। अलग झारखंड राज्य बनाने के लिए चले आंदोलन के दौरान रोचक शैली में कई पुस्तिका लिखी, जो काफी चर्चित रही। 'फिलहाल', 'झारखंड वार्ता' और 'शालपत्र' का सफल संपादन किया। फिर जे.एन.यू. में छात्रों के चहेते अध्यापक बने। एक आलोचक-अध्येता-शोधार्थी के रूप में तलवारजी के काम का मूल्यांकन अभी बाकी है। मुझे लगता है कि तलवारजी की शोध पुस्तक 'रस्साकशी' अंग्रेजी में आई होती तो उसका reception ज्यादा विवेक सम्मत होता। हिंदी जगत ने उसका मूल्यांकन कम, अपना राग-द्वेष ज्यादा जोड़ दिया है।

तलवार जी संगीत और सिनेमा के बेहद शौकीन हैं। उनके साथ कई फिल्में देखने, संगीत समारोह में जाने का मुझे मौका मिला। और हाँ, तलवारजी के हाथों का बना खाना भी हमने कई बार खाया है।

तलवारजी उस समय भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान (Indian Institute of Advanced Studies) शिमला में फेलो थे। जे.एन.यू. में खबर आई कि तलवारजी को जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय ने पद absentia प्रोफेसरशिप ऑफर किया है। मैं घबराया, तलवारजी को फोन किया 'सर, आप जब चले जाएँगे तो मैं किसके साथ पीएच.डी. करूँगा।' तलवारजी ने मुस्कराते हुए कहा कि 'जे.एन.यू. छोड़ कर कहाँ जाऊँगा. ...।' वर्ष 2014 में जेएनयू ने तलवार जी को विदाई दी, पर जैसा कि उन्होंने कहा था वे जेएनयू छोड़ कर कहीं गए नहीं। पिछले दिनों जब उन्हें जेएनयू के पिक पैलेस के सामने, आजादी चौक पर भारतीय राष्ट्रवाद विषय पर छात्रों को संबोधित करते हुए सुना तो ऐसा लगा कि जैसे फिर से हम उनकी कक्षा में बैठे हैं...।



डॉ. तलवार : मेरी निगाह में

■ धर्मनारायण यादव (डी. एन. यादव)

बात 1999 की है। इलाहाबाद के इविंग क्रिश्चियन कॉलेज में पढाई करते हुए हिंदी के जिन दो महारथियों के नाम से मेरा परिचय हुआ था, उनमें एक थे - प्रो. नामवर सिंह और दूसरे प्रो. मैनेजर पांडेय। मेरे मन में इन दोनों विद्वानों से पढ़ने और कुछ सीखने की अदम्य इच्छा थी। इसी अदम्य इच्छा के साथ जब मैं जे. एन. यू. पहुँचा तो पाया कि प्रो. नामवर सिंह सेवानिवृत्त हो चुके हैं। बहुत निराश हुआ। लगा कि सारी मेहनत अकारथ गयी। प्रवेश परीक्षा में प्रथम स्थान लाना, दिल्ली तक की दौड़ लगाना और ‘हिंदी’ पढ़ने के लिए इतनी फजीहत करना-सब निरर्थक हो गया। इतनी हिन्दी तो मैं इलाहाबाद में ही पढ़ लेता। वहाँ तो चारों ओर हिन्दी ही हिन्दी है। अनगिनत ‘विद्वान’ मिल जायेंगे जो ‘हिन्दी का कुटीर-उद्योग’ चला रहे हैं। कहना सूरदास का कि जो चीज सुलभ हो, उसके लिए हठयोग करने की जरूरत ही क्या है। कोई ‘दुर्मति’ ही ऐसा करेगा- ‘परम गंग कौ छड़ि पियासो, दुर्मति कूप खनावै।’ कौन नहीं जानता कि इलाहाबाद में सिर्फ गंगा ही नहीं बहती, हिंदी की गंगा भी बहती है। और परम गंग की तरह यह हिंदी भी कम ‘परम’ नहीं है। संस्कृत के नखरों और अदाओं वाली हिन्दी इलाहाबादी छात्रों और शिक्षकों को अपने मोह-पाश में ऐसे बाँधती है कि ता-उम्र वे इस जकड़न की खुमारी में रहते हैं। मैं भी था, और खूब था।

तो, अब क्या किया जाये। सपने बिखर रहे थे। पता करने पर जानकारी मिली कि प्रो. मैनेजर पांडेय अभी हैं। थोड़ी ढाढ़स सी बैंधी। लेकिन, ये डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल, डॉ. वीर भारत तलवार, डॉ. गोबिंद प्रसाद आदि कौन हैं? कभी इनके बारे में कुछ सुना-जाना नहीं था। डॉ. वीर भारत तलवार का तो नाम ही मुझे काफी भारी-भरकम और रोचक लगता था। उनके नाम से उनकी ऐसी छवि उभरती थी कि ज्ञान के बोझ से कराहते-हाँफते कोई ‘पोंगा-पंथी’ किस्म के व्यक्ति होंगे। कहाँ आ फँसा। प्रवेश लेते समय ये बातें मन को रौंदे दे रही थीं। एक बार तो मैंने मन भी बना लिया था कि नहीं लेते प्रवेश। लौट चलते हैं। काफी सोच-विचार और जे एन यू का महत्त्व दूसरों से सुन-सुनकर अंततः मन को मना लिया। प्रवेश ले लिया। अब मैं जे एन यू में था, पर अभी भी जे एन यू का नहीं था। उलझन बरकार थी। पता नहीं, क्या होगा। निर्णय सही है या गलत! जे. एन. यू. के ‘एडमिन ब्लॉक’ तक तो यही उधेड़-बुन थी। उधेड़-बुन लिए लिए ही आ पहुँचा- हिंदी भाषा और साहित्य के उस महान केंद्र में जिसे किवदंती पुरुष प्रो. नामवर सिंह ने रचा, गढ़ा, सँवारा और निखारा था। इसी केंद्र में बहुत ही जल्दी मेरा उनसे साक्षत्कार होने वाला था, जिन्होंने जीवन को बदल कर रख दिया।

मुझे याद है। और याद इतनी चटख है कि मैं उसे अब भी छू सकता हूँ। उसका हर रंग और हर रेशा वैसा का वैसा ही चमकदार है। हाथ में एक फॉर्म लिए मैं एक कमरे में पहुँचता हूँ। देखता हूँ कि सामने एक व्यक्ति कुर्सी पर विराजमान हैं। उम्र पचास के आस-पास। रंग गोरा। चेहरा लंबा। चेहरे पर एक प्रकार की दृढ़ता और शालीनता। ऐसा लगता था कि जैसे इन्हें किसी भी चीज की कोई जल्दी नहीं है। रंग और चेहरा - इस बात की घोषणा कर रहे थे कि इनका सम्बन्ध पछाही भारत से है। अपने इलाहाबाद-कौशाम्बी में ऐसे लोग कम दिखते हैं। उन्हें देखकर, थोड़े संकोच और थोड़े भय के साथ मैं अंदर आने की इजाजत माँगने लगा। इजाजत माँगते

ही उनकी दृष्टि बहुत ही धीमी गति और खोजी लय से मेरी ओर मुड़ी। आँखों में मुझे गहरा अनुभव और बच्चों जैसी मासूमियत - एक साथ दिखी। आँखें मुझे तौल तो रही थीं, स्नेहासिक्त भी कर रही थीं। मैं कुछ पल के लिए बुत बना खड़ा रहा। कुछ खोजकर उनकी आँखें जब सम पर आयीं तो होठों पर एक हल्की सी मुस्कान नाचने लगी। सहारा देती-सी। वे समझ गए थे कि बालक झिझक रहा है और जिस काम के लिए आया है, उसे कह पाने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहा है। उनकी हल्की-सी मुस्कान से मैं थोड़ा सहज हुआ तो बोला- 'स्सर.. इस पर साइन...।' पूरा कह भी न पाया था कि उन्होंने कागज हाथ में लेते हुए कहा- 'गलत।' मैं पूछता कि क्या गलत है, इससे पहले ही वे बोल पड़े- 'ऐसे फॉर्म को अधूरा लेकर आना, गलत बात है।' और फिर बहुत ही स्थिरता के साथ उन्होंने उसे पूरा करने के लिए कहा। एक- एक वर्तनी और एक-एक कॉमा-बिंदु को ध्यान से देखकर उन्होंने साइन किये। पूरे इत्मीनान के बाद मुझे सौंपा। एक दृष्टि डाली। होठों पर फिर एक हल्की मुस्कान जैसे कह रही हो कि सीख जाओगे। घबराओ नहीं।

पहली मुलाकात में ही मैं समझ गया था कि हम छात्रों का पाला एक 'अदभुत' व्यक्ति से पड़ने वाला है। ऐसे अदभुत व्यक्ति से जो हमारे कॉमा-बिंदु को भी बख्शने वाले नहीं हैं। और ये व्यक्ति थे डॉ वीर भारत तलवार।

डॉ तलवार से उस पहली मुलाकात ने मुझे आश्वस्त भी मिली थी। मेरे मन में विश्वास जगा कि जिस संस्थान के शिक्षक एक मामूली से फॉर्म को भरवाने में इतने संजीदा हों, शिक्षण के प्रति उनका समर्पण तो और भी संजीदा होगा। किसी भी कार्य के प्रति डॉ तलवार की गंभीरता, तल्लीनता और समर्पण अतुलनीय है। उनके संपर्क में आया हर व्यक्ति उनकी इस विशेषता से प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता। वे जितना शब्दों से प्रभावित करते हैं उससे कहीं ज्यादा अपनी कार्यशैली से।

वे दिन भी आ गए। पढ़ाई शुरू हुई। कहीं और ऐसा होता है कि नहीं-मुझे मालूम नहीं। लेकिन, जे एन यू में तो होता है। यहाँ के प्रोफेसर परिचय होने के ठीक दूसरे दिन से नाम से संबोधित करने लगते हैं। यह दिखलाता है कि जे एन यू के प्रोफेसर अपने छात्रों को लेकर कितने संवेदनशील होते हैं। लगभग चौबीस छात्रों की हमारी 'क्लास' डॉ तलवार के लिए हस्तामलक होती थी। पूरी क्लास का नाम जुबान पर।

भाषा सीखना और भाषा के सत्व को पहचानना -दोनों अलग चीजें हैं। इस बात का अहसास मुझे एक घटना से हुआ। हाँ, मैं उसे घटना ही कहूँगा। जे एन यू में हर हफ्ते 'क्लास टेस्ट' होते थे। अब भी होते होंगे। हमारा पहला 'क्लास टेस्ट' हुआ। डॉ तलवार एक-एक छात्र को अपने चैम्बर में बुला रहे थे। सभी की धुकधुकी बढ़ी हुई थी। एक हफ्ते में ही हम जान गए थे कि डॉ तलवार हैं कौन! सहमते-डरते अंदर जाने वाला हर छात्र जब बाहर निकलता तो उसके चेहरे पर घबराहट कम और कुछ नया सीख लेने का आत्म-विश्वास ज्यादा दिखता था। मेरी भी बारी आई। मैं उन दिनों अपने भाषा-ज्ञान और संस्कृतबहुला हिंदी को लेकर खुमारी में रहता था। चैम्बर में पहुँचा। डॉ तलवार ने धीमी और दृढ़ आवाज में कहा- 'बैठो।' बैठ गया। उन्होंने एक नजर दौड़ाई। कुछ सोचा। और फिर वैसी ही सधी आवाज में कहा- 'तुम्हें हिन्दी लिखनी आती ही नहीं। यह कैसी भाषा लिखते हो तुम।' मैंने ये कैसे शब्द सुने। लगा कि ये शब्द नहीं थे। साक्षात बम थे। जिस बात पर मैं इतना इतरा रहा था, जिसे मैं अपनी सबसे बड़ी पूँजी समझ रहा था, उसे एक झटके से नेस्तनाबूद होते देख मैं स्तब्ध रह गया। यह क्या कह रहे हैं ये। मुझे तो पहले से अजीब लग रहे थे, आज विश्वास हो गया है कि सचमुच ये 'अजीब' ही हैं। थोड़ा हटके। बड़ी तिलमिलाहट हुई। लगा टूट पड़ूँ और चिल्लाकर कहूँ कि आपको भाषा की समझ है या नहीं। मेरे भाषा-ज्ञान और उससे निर्मित अहंकार के चमकदार महल में उन्होंने 'डाइनामाइट' लगा दिया था। सब धसकता जा रहा था। सोच ही रहा था कि वे फिर बोले- 'तुम हिंदी की बजाय संस्कृत लिखते हो। तुम्हें हिंदी की रवानगी और उसकी आत्मा की पहचान ही नहीं है।' बात तो सच थी। मुझे संस्कृत बहुला हिंदी में अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए इलाहाबाद में खूब वाह-वाही मिलती थी। मुझे क्या पता था कि यह वाह-वाही मुझे यह दिन भी दिखाएगी। उद्धत था। यह जानते हुए भी कि डॉ. तलवार एक गहरी बात कह रहे हैं, अपनी-अपनी

करने लगा। बोला-‘सर, इसमें क्या गलत है। इसी तरह की हिंदी तो नामवर सिंह भी लिखते हैं।’ इस बात को सुनकर डॉ तलवार किस मुद्रा में आ गए, इसका वर्णन करना आसान नहीं। गौरवर्णी मुख बिल्कुल लाल पड़ गया। तमतमाते हुए बोले- ‘अच्छा। तो नामवर सिंह ऐसे ही संस्कृत टूँस टूँस कर हिंदी लिखते हैं। तुम नामवर सिंह हो।’ कॉपी मेरे सामने रखते हुए कहा-‘देखो, गौर से देखो। इन शब्दों की जगह पर अगर तुम हिंदी या उर्दू के इन शब्दों को रखते तो भाषा में कितनी खानगी और साफगोई आती। कहकर देखो।’ देखता क्या हूँ कि लगभग आठ नौ पेज की उस कॉपी को डॉ तलवार ने रंग रखा है। संस्कृत के बोझिल शब्दों पर जैसे हमला कर रखा हो। सारी कॉपी लहलुहान थी। मैं खामोश। क्या बोलूँ।

लेकिन, अब स्थिर था। भाषा-ज्ञान से उपजे अहंकार का चमकदार महल ध्वस्त हो चुका था। सारा गुबार भी थम चुका था। जमीन सपाट और तैयार हो चुकी थी। डॉ तलवार ने उस तैयार जमीन पर भाषा-बोध का एक नया बिरवा रोपा। उन्होंने समझाया कि ‘हिन्दी का अपना मिजाज है। उसकी अपनी लय और गति है। उसका अपना शब्दकोश और व्याकरण है। हिन्दी संस्कृत की चेरी नहीं है। उसके साथ जबरदस्ती क्यों करते हो। उर्दू के पांच प्रतिशत शब्दों के साथ हिन्दी अपनी गति पकड़ती है।’

इस बात के बाद और क्या लिखूँ। किसी ने आज तक इस तरह से समझाया और जगाया न था। पहली बार हिंदी के मूल रूप से परिचय हुआ। मेरे लिए वह दिन और दिन का वह क्षण नए भाषा-बोध का अतुलनीय क्षण था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कहूँ तो शिव धनुष की तरह सारी बनी-बनाई धारणाएँ खण्ड-खण्ड हो गईं।

भाषा के प्रति डॉ तलवार की संवेदनशीलता अप्रतिम रही है। कहानी-उपन्यास पढ़ाते समय वे सोये हुए हर शब्द में ऐसी आग भरते हैं कि श्रोता के मस्तिष्क में नए नए विचारों और भावों की रोशनी ही रोशनी फैल जाती है। कहानी या उपन्यास का हर शब्द अपने साथ मानवीय संवेदना का एक मार्मिक चित्र लेकर आता है, इसे डॉ तलवार से बेहतर और कौन दिखला सकता है। एक प्रसंग याद आ रहा है। डॉ तलवार ‘मैला-आँचल’ पढ़ा रहे थे। बिल्कुल तन्मय। उपन्यास में पिरोये गये मानव-सम्बन्धों और उनमें अंतर्निहित भावधारा की पहचान करते, विन्यस्त विचारधारा और उसके संकेतों को उभारते हुए डॉ. तलवार की नजर एक शब्द पर पड़ी। शब्द था-‘जिन्दाबाद।’ डॉ तलवार की क्लास में संवाद और प्रश्नाकुलता के लिए पूरी जगह होती थी। हमारे एक साथी-अनूप बिरथरे (आजकल झारखण्ड के किसी जिले में पुलिस अधीक्षक हैं) ने राय रखी कि उपन्यास में ‘जिन्दाबाद’ शब्द में सिर्फ जिन्दाबाद का अर्थ निहित नहीं है बल्कि उसमें आमजन द्वारा शोषकों को जिन्दा बाध जैसा क्रूर और आततायी कहा गया है। बात आई गयी हो गई। सब भूल भी गये। लेकिन, लगभग एक हफ्ते बाद, क्लास में डॉ तलवार प्रवेश करते ही सबसे पहले यह कहते हैं कि ‘उस दिन अनूप ने जो कहा था, उस पर विचार करने से बात सही लगती है।’ साफ था कि डॉ तलवार ने न केवल एक हफ्ते तक उस विषय पर चिंतन-मनन किया बल्कि अपने छात्र को उसका श्रेय देने में भी संकोच नहीं किया। ऐसी बौद्धिक ईमानदारी और निरहंकार भाव कम ही देखने को मिलता है।

डॉ तलवार की शिक्षण शैली पर और भी लोग लिखेंगे। मैं भी कहे बिना रह नहीं पा रहा हूँ। शिक्षण में शिक्षक का व्यक्तित्व और मूल्यों के प्रति उसकी निष्ठा का गहरा असर होता है। शिक्षक की भाषा, वक्तव्य, तर्कणा, निष्कर्ष और उसकी भंगिमा तक में उसके व्यक्तित्व की गहरी छाप होती है। डॉ तलवार के सभी छात्र इस बात की तस्दीक करेंगे कि जैसी उनकी जीवनशैली है ठीक उसी प्रकार की उनकी शिक्षण शैली। कोई हड़बड़ी या बड़बोलापन नहीं। वे सब कुछ को अच्छी तरह से जाँच-परखकर, हर पक्ष से जूझकर, विचारों की आग में खूब तपाकर अपने निष्कर्ष को सबके सामने रखते हैं। डॉ तलवार सच्चे अर्थों में जनवादी शोधार्थी और शिक्षक हैं। उनके जीवन यात्रा से परिचित लोग जानते हैं कि उनके जीवन का एक बहुत बड़ा हिस्सा झारखण्ड के आदिवासियों के बीच बीता है। जमीन से गहराई से जुड़े होने के कारण डॉ तलवार भाषा और साहित्य को जनोन्मुखी

दृष्टिकोण से मूल्यांकित करने के पक्षधर हैं। यह उनकी विशिष्टता कही जाएगी कि वे भारतीय समाज की समस्याओं से निपटने का रास्ता ठेठ भारतीय मुहावरे में और भारतीय साहित्य में खोजते हैं। उनके लेखन, भाषण और शिक्षण में विदेशी विद्वानों या अज्ञात/अल्पज्ञात पुस्तकों के उद्धरण बहुत कम मिलेंगे। एक तरह से वे जगाते हैं, आक्रान्त नहीं करते।

कहानी और उपन्यास में कविता जैसी सांद्र अनुभूति और सामाजिक विज्ञान जैसी ज्ञानोपलब्धि सम्भव है क्या? बिल्कुल, सम्भव है यदि आपके सामने शिक्षक हों- डॉ तलवार। जिस समय डॉ तलवार के व्याख्यान शुरू होते हैं, कमरे में मन्त्र-मुग्धता छा जाती है। धीरे-धीरे वे एक ऐसा लोक रचते हैं जिसमें कहानी या उपन्यास के सभी पात्र बतियाते से नजर आने लगते हैं।

‘गोदान’ का होरी सजीव हो उठता है। क्या कोई इतना एकाकार हो सकता है कि पढ़ाते-पढ़ाते खुद होरी बन जाए और बेटी को बूढ़े के हाथों बेचने से जुड़े प्रसंग में फफक-फफक कर रोने लगे। डॉ तलवार में इस बिलखते होरी को हमने कई-कई बार देखा। तांत्रिक लोगों द्वारा शव को साधने अर्थात् पुनर्जीवित करने की बातें सुनी जाती हैं। झूठ ही होगा। लेकिन, सोये हुए शब्दों को या निर्जीव पन्नों से पात्रों को जीवंत होते देखना हो तो डॉ तलवार की क्लास देखनी चाहिए। और शायद, यही अनुभूति पाने के लिए छात्रों में उनकी क्लास को लेकर मारा-मारी रहती थी। कई बार ऐसा भी देखने को मिला है कि अर्धे उम्र के पुराने छात्र आपके बगल में बैठे क्लास कर रहे हैं। उनका कहना था कि वे डॉ तलवार से पढ़ने का अवसर नहीं पा सके थे, अब उसकी क्षतिपूर्ति कर रहे हैं।

कहानी और उपन्यास में काव्यानुभूति पैदा कर देने का अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि डॉ तलवार में सिर्फ अश्रुगलित भावुकता ही है। उपन्यास और कहानी की साहित्यिकता का सम्मान करते हुए उसमें से समाज और मनुष्यता के लिए समाजविज्ञानियों की तरह सिद्धांत या संकेत को रेखांकित करना सुकर नहीं होता। लेकिन, डॉ तलवार की अपनी गहरी शोधपरक दृष्टि से, उपन्यासों और कहानियों से समाज और मनुष्यता के लिए मिलने वाले संकेतों को बार-बार रेखांकित करते हैं। उनकी सभी पुस्तकों और व्याख्याओं में इसके विपुल प्रमाण उपलब्ध हैं। न जाने कितनी बातें हैं जो डॉ तलवार से हमने सीखने की कोशिश की है। सबका जिक्र सम्भव नहीं है। लेकिन, उनके व्यक्तित्व के एक बेहद सुंदर पक्ष की चर्चा जरूरी है। डॉ. तलवार दबे-कुचले, आदिवासियों, स्त्रियों और अल्पसंख्यकों को लेकर अत्यंत संवेदनशील रहते हैं। इनके लिए उनमें अथाह सहानुभूति भी मिलती है। डॉ तलवार इनके पक्ष में बड़ी मुखरता से खड़े होते रहे हैं। 2000 में मैंने अपने साथियों के साथ ‘उदीषा’ नाम से एक सांस्कृतिक मंच का गठन किया था। डॉ. तलवार से हमने निवेदन किया था कि वे इस मंच के ‘सलाहकार’ बनना स्वीकार करें। डॉ तलवार ने न केवल अपनी स्वीकृति दी अपितु कई कार्यक्रमों में मुख्य-वक्ता के रूप में सहभागी बने।

डॉ तलवार के व्यक्तित्व को भारवि के शब्दों में ‘नारिकेलफलसम्मितम्’ कहा जा सकता है। नारियल के समान ऊपर से अत्यंत सख्त और अंदर से कोमल। मूल्य, सिद्धांत और नियमों को लेकर उनकी दृढ़ता देखने लायक है। कई बार ऐसा हुआ है कि सेमिनार या टर्म पेपर में दस-पाँच मिनट की देरी करने वाले छात्रों को काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ा था।

एक छात्रा से जुड़ा एक रोचक प्रसंग याद आ रहा है। उस छात्रा को न जाने कैसे भ्रम हो गया था कि यदि वह श्रीमती तलवार जी से पुत्री के समान नाता जोड़ लेगी तो डॉ तलवार जी परीक्षा या पेपर में ठीक नंबर दे देंगे। वह गाहे-ब-गाहे इसे कहती भी रहती थी-‘तलवार सर, मुझे बहुत मानते हैं। मैडम तो बिल्कुल बेटी मानती हैं।’ ये बातें सुनकर अन्य छात्र थोड़ा घबराते थे। विश्वविद्यालयों में इस तरह की चापलूसी आम बात है। लेकिन, डॉ तलवार को समझने में छात्रा ने भारी भूल की थी। डॉ तलवार द्वारा मूल्यांकित पेपरों के नंबर सभी के सामने थे। वह दृश्य देखने लायक था। उस छात्रा के आँसू और डॉ तलवार के लिए कठोर शब्द थमने का नाम नहीं ले रहे थे। पता चला कि डॉ तलवार के पेपर में छात्रा को बहुत कम नंबर मिले हैं। कोई नरमी नहीं। नियम सबके

लिए बराबर हैं। मूल्यहीनता के इस दौर में यह प्रेरणादायी बात है।

राजनीति वर्तमान समय का युगधर्म है। विश्वविद्यालय इससे अछूते कैसे रह सकते हैं। डॉ. तलवार एक ईमानदार बुद्धिजीवी हैं। सिद्धांतों से जरा-सा भी न डिगने वाले। उनके जैसे व्यक्ति के लिए हमारा समय थोड़ा क्रूर है। विश्वविद्यालयी राजनीति से डॉ तलवार को भी जूझना पड़ा। हम छात्रों को सारी बातों की सच्चाई का ज्ञान नहीं है। लेकिन, बहुत कुछ इधर-उधर से सूँघ ही लेते थे। भारतीय भाषा केंद्र में न जाने किस बात को लेकर डॉ तलवार के विरुद्ध जबरदस्त मोर्चाबंदी हुई। इस मोर्चाबंदी में छात्र भी बढ़-चढ़कर हिस्सा ले रहे थे। छात्रों को अपना भविष्य उस पाले में सुरक्षित दिखा जो डॉ तलवार का विरोधी था। छात्र जानते थे कि डॉ तलवार जैसे सिद्धान्तवादी व्यक्ति उनके लिए ज्यादा उपयोगी नहीं सिद्ध होंगे। नौकरी के लिए सिफारिश हो या ऊँची पहुँच वाले सम्बन्ध के लिए रास्ता तैयार करने का मसला हो- डॉ तलवार से कोई मदद नहीं मिलेगी। एक बात और भी थी। डॉ तलवार शोधार्थी से अपने मानकों के अनुसार शोध कराते थे। शोध को इतनी गम्भीरता से निभा पाने की हिम्मत बहुत कम छात्रों में दिखती थी। यह वह दौर था जिसमें जे एन यू के छात्रों में शोध-कार्य को हाशिये का काम मानने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी थी। लोक सेवा (सिविल सर्विस) की ओर रुझान चरम पर पहुँच चुका था। ऐसी स्थिति में डॉ तलवार उनके लिए अस्वीकार्य थे। क्या यह दुखद आश्चर्य की बात नहीं है कि गंभीर शोध के लिए जिन्हें प्रो. नामवर सिंह तक सराहते हैं, उनके साथ छात्र शोध करने से कतराने लगें। हुआ यही। उस साल एक-दो को छोड़कर सभी छात्रों ने डॉ तलवार का लगभग 'बायकॉट' किया। मैंने भी डॉ. तलवार के नाम की अपेक्षा प्रो. मैनेजर पांडेय का नाम बढ़ा मानते हुए, डॉ तलवार से किनाराकशी कर ली। उस समय मुझे यह भ्रम था कि बड़े नाम वाले शिक्षक के साथ शोध करने से शोध अपने आप 'बड़ा' हो जाता है। ऐसे ही उठापटक के दौर की एक शाम मेरी आँखों में ज्यों की त्यों जिंदा है। जे एन यू के कमल कम्प्लेक्स (के.सी.) से मैं और प्रिय मित्र सागर आ रहे थे। सामने से डॉ. तलवार सपत्नीक दिखे। मिले तो नमस्ते हुई। डॉ. तलवार पर कोई खास असर न था, लेकिन मैडम ने क्षोभ मिश्रित वेदना के साथ जाहिर किया कि तुम जैसे छात्र भी इस राजनीति में? हमारे पास कोई खास उत्तर न था। थोड़ा बहुत हकलाए और गले से गों गों की आवाज करके रह गए।

आवाज तो निकली नहीं, लेकिन, समय का वह क्षण अपराध-बोध की बर्फ बनकर सीने में उतर गया। आज लगता है कि हमें अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर डॉ तलवार के मूल्यों और सिद्धान्तों के पक्ष में खड़ा होना चाहिए था! उनकी शिक्षा की यही गुरु-दक्षिणा होती। लेकिन, वह हम कर न सके। ऐसा अक्सर होता है। फ़ैसले की घड़ी में हमारे बुलन्द स्वरो को लकवा मार जाता है और हम अजीब-सी आवाज में गों गों करने लगते हैं। ऐसे ही तो आज सारा देश भी गों गों कर रहा है। जो गों गों नहीं करते वे हुआँ हुआँ में लगे हैं। साफ़ स्वर जो मस्तिष्क के सारे जाले साफ़ कर दे, निकलते ही नहीं।

जहाँ तक मुझे याद है डॉ तलवार ने किसी पत्रिका में भारतीय भाषा केंद्र की इस मोर्चाबंदी पर एक लेख भी लिखा था। लेख में उन्होंने काफी वेदना के साथ अपनी चिंता जाहिर की थी। बहस और विवाद कितना भी तीखा क्यों न हो, डॉ तलवार को हमने कभी भी अमर्यादित होते नहीं देखा। प्रो. नामवर सिंह और डॉ राम विलास शर्मा के कई निष्कर्षों से घोर असहमति जताते हुये भी डॉ तलवार उनके प्रति गहरा सम्मान रखते हैं। एक बार क्लास में, सेमिनार चल रहा था। आगरे के एक छात्र ने अपना सेमिनार पेपर पढ़ना शुरू किया। उद्धरण देते हुए प्रो. नामवर सिंह को कई बार 'नाम्बर सिंह' कहा। डॉ. तलवार आग-बबूला हो उठे- 'यह नाम्बर नाम्बर क्या लगा रखा है। सम्मान सहित नाम क्यों नहीं लेते। वे हमारे भी गुरु हैं।' गुरु के सम्मान में गुस्ताखी होने पर उनका वह क्रोध अविस्मरणीय था।

जे. एन. यू. में अपने जोरदार हास्य-व्यंग्य के लिए प्रो. मैनेजर पाण्डेय का कोई सानी नहीं है। लेकिन, मैं तो डॉ तलवार के व्यंग्य को भूल नहीं पा रहा हूँ। मुझे याद नहीं है कि कब और किसने मेरे नाम के विस्तार से दुःखी होकर, उसे मनोनुकूल संक्षिप्त कर लिया। लोगों ने डी एन यादव कहना शुरू किया तो गाहे-ब-गाहे मैं

उसे किसी पत्र, पेपर या पोस्टर पर भी दर्ज कर देता था। डॉ तलवार किसी सेमिनार पेपर में यही नाम देखकर बेसाख्ता हँसे। हँसकर बोले- डी एन यादव तुम आर सी शुक्ल को भी जानते हो। पी सी और एस पी का कुछ पढ़ा है या नहीं? मैं चकरा गया कि ये कौन हैं। बाद में उन्होंने ही बताया कि तुम्हारे तर्ज पर रामचन्द्र शुक्ल-आर सी शुक्ल हुए, प्रेमचन्द -पी सी और यशपाल -एस. पी। शायद, हिंदी नामों का ऐसा संक्षिप्तीकरण उन्हें अनुचित लगता रहा होगा।

लौटता हूँ, फिर वहीं। प्रो. नामवर सिंह की सेवानिवृत्ति की सूचना से उस समय मेरा निराश होना कुछ हद तक भले ही ठीक रहा हो, आज ऐसा नहीं लगता। जे एन यू में चार साल गुजारने और डॉ. तलवार सहित अन्य गुरुजनों से शिक्षा प्राप्त करने के बाद लगा कि जे एन यू में न आते तो इस जीवन का कोई अर्थ न निकलता। अंत में, मेरी अपील है कि डॉ तलवार से सुपरिचित और उनके साथ समुचित न्याय कर सकने का माद्दा रखने वाले किसी अध्यवसायी द्वारा डॉ तलवार की जीवनी लिखी जानी चाहिए। मेरा विश्वास है कि ऐसे महान शोधार्थी, विश्वसनीय आलोचक, श्रेष्ठ शिक्षक और अनुकरणीय व्यक्तित्व से बृहत्तर समाज को बहुत कुछ सीखने और अपनाने को मिलेगा।



प्रगतिशील और तार्किक दृष्टि

■ नीलांबुज सिंह

16 अगस्त, 2004 का दिन था। मैं पहली क्लास करने जे एन यू के ‘स्कूल ऑफ लैंग्वेज’ की बड़ी सी इमारत की तरफ बेतहाशा जा रहा था। उत्सुकता, घबराहट और न जाने कितने ही ऐसे भावों के साथ। यूँ तो प्रवेश 27 जुलाई को ही हो गया था, लेकिन कोई एक जरूरी कागज (शायद माइग्रेशन सर्टिफिकेट) नहीं ला सका था तो मुझे कुछ दिन की मोहलत जे.एन.यू. प्रशासन की तरफ से मिली थी। वही लेकर 16 की सुबह ही छात्रसंघ के ऑफिस (टेफ्ला) के ऊपर वाले हाल में सामान टिका कर सेंटर की तरफ भागा। टेफ्ला से वहाँ तक का रास्ता भी कई बार पूछना पड़ा था। पहली क्लास उर्दू की थी, जो शुरू हो चुकी थी। मैंने हकलाते-से हुए अंदर आने को पूछा। सभी साथी देखने लगे। (वैसे मैं खासा दर्शनीय भी हुआ करता था तब !) मैं पीछे जा के बैठ गया। जहीर सर उर्दू पढ़ा रहे थे। उनके जाने के बाद थोड़ा सबसे ‘परिचय’ हुआ। तभी किसी ने घोषणा की कि- ‘तलवार सर आ रहे हैं’। सब मुस्तैद हो गए जैसे जंग पर जाना हो। मैं अपने सभी अध्यापकों में सिर्फ तलवार सर और देवेन्द्र चौबे सर को जानता था। पत्रिकाओं में इनके लेख पढ़े थे। तभी हंस के दलित-विशेषांक (अगस्त, 2004) में तलवार सर का एक जबरदस्त लेख पढ़ा था- ‘दलित पत्रकारिता : नई कसौटी, नए सवाल’। तो मैं बहुत उत्सुक था। तभी अमरीश पुरी जैसा दिखने वाला एक शख्स कक्षा में दाखिल हुआ। खल्वाट चमकीला माथा, गंभीर मंथर गति, हिंदी फिल्मों के विलेन्स जैसी कठोरता चेहरे पर... । सब चुप...। सर ने अपना परिचय दिया और हमारा परिचय पूछा। फिर वे ‘हिंदी भाषा का इतिहास’ पढ़ाने लगे। उस पूरे एक घंटे हम विद्यार्थी मानो सम्मोहित होकर उन्हें सुनते रहे। पहली कक्षा में ही उनसे सवाल पूछने का दुस्साहस तो हमारे सबसे दुस्साहसी मित्र सौरभ द्विवेदी भी न दिखा सके, मैं तो खैर यूँ भी आक्रान्त था। कक्षा के बाद ही शायद सभी साथियों ने राहत की साँस ली। सब उनकी ही बातें कर रहे थे।

मुझे याद है माही हॉस्टल, जहाँ बाद में मुझे कमरा मिल गया था, में ही रहने वाले हमारे प्रिय सीनियर सर्वेश मौर्य ने मुझसे कहा था कि तलवार सर जो ग्रेड देंगे, वही तुम्हारी सही पहचान कराएँगे हमसे। इस बात में अन्य अध्यापकों की अवमानना नहीं बल्कि तलवार जी की गंभीर मूल्यांकन पद्धति की तारीफ भी छिपी थी। बाद में पहले ‘क्लास टेस्ट’ में जब मुझे ‘बी प्लस’ मिला तो सर्वेश जी ने मुझे फौरन औसत बुद्धि मानकर सहिष्णुता भी दिखाई थी। हालाँकि, सेमेस्टर के अंत तक मैं ‘तलवार ए माइनस’ जैसे प्रतिष्ठित ग्रेड तक पहुँच गया था। सिर्फ अमिष को ही दुर्लभ ‘ए ओनली’ ग्रेड मिले और ए प्लस तो किसी ने खैर सोचा भी नहीं था।

उसके बाद वे इतने डरावने नहीं रहे। वो ‘गोदान’, ‘त्यागपत्र’ और ‘वाणभट्ट की आत्मकथा’ पढ़ाते हुए उनका भावुक होकर बातचीत करना और बाद में सघन विश्लेषण, हिन्दी भाषा और दकनी हिन्दी पढ़ाते हुए उनका तार्किक अंदाज ! सबसे बड़ी बात, विद्यार्थियों की सुनना और उन्हें सवाल पूछने के लिए उत्साहित करना। उनके सेमिनार पेपर के लिए ही हमें सबसे ज्यादा मेहनत करनी पड़ती थी, क्योंकि हमें खुद उनकी स्थापनाओं पर भी सवाल उठाने की छूट मिली हुई थी उनकी तरफ से।

धीरे-धीरे उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचय और भी गहरा हुआ। उनकी जो सबसे पहली किताब मैंने पढ़ी, वह थी - ‘रस्साकशी’। हिंदी नवजागरण के नए सन्दर्भों और प्रस्थान-बिन्दुओं से परिचित कराती इस किताब को तब मैंने ‘जेरोक्स’ करा के रख लिया था, क्योंकि किताब खरीदने से महीने भर का लिमिटेड बजट बिगड़ जाता-सा

लगा। इस किताब में तलवार जी ने रामविलास शर्मा द्वारा स्थापित कई अवधारणाओं पर सवाल उठाए थे – भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण के बहाने। तलवार जी ने शोधपूर्वक राजा शिवप्रसाद सिंह ‘सितारे-हिन्द’ को भारतेंदु के बरक्स हिंदी नवजागरण का अगुआ सिद्ध किया है। फिर उनकी किताब ‘सामना’ पढ़ी जिसमें उनके प्रखर आलोचकीय रूप से मुकम्मल परिचय हुआ। हमने उनसे ही पहली बार ये सीखा कि अपने अग्रजों, वरिष्ठों और स्थापितों को भी सवालों के घेरे में लाने से मत डरो। जब वह ‘वाणभट्ट की आत्मकथा’ पढ़ते थे तो इस उद्धरण को जोर देकर अवश्य पढ़ते थे –

“सत्य के लिए किसी से भी नहीं डरना। गुरु से भी नहीं, लोक से भी नहीं... मन्त्र से भी नहीं”।

इसकी व्याख्या शायद उनके अध्यापकीय आदर्शों के बहुत निकट है। हर स्थापित मान्यता को चुनौती देने का साहस हमें उनसे ही प्राप्त हुआ सबसे पहले। यूँ तो भारतीय भाषा केंद्र का हर शिक्षक शायद नामवर जी, केदार जी और मैनेजर पांडेय जी द्वारा स्थापित इन मूल्यों के लिए ही जाना जाता है लेकिन मेरा परिचय तो पहली बार तलवार जी की कक्षाओं, टर्म और सेमिनार पेपरों में ही इनसे हुआ।

आप जे एन यू में रहें और देश-दुनिया की राजनीतिक हलचल से अनजान रहें, ऐसा अमूमन नहीं हो सकता। निर्लिप्त और तटस्थ माने जाने वाले, यू.पी.एस.सी. की तैयारी करने वाले भी कम से कम मेस की टेबल पर इससे बच नहीं सकते। मैं बलिया के कुँवर सिंह पी जी कॉलेज में स्नातक की पढ़ाई के दौरान ही वामपंथी राजनीति में आ गया था। कॉमरेड मानवेन्द्र ने एस.एफ.आई. से हमें जोड़ा था और इससे जुड़ने की वजह थी ‘छात्र संघर्ष’ पत्रिका जिसकी वार्षिक सदस्यता मैंने ली थी। इसी में भुवनेश्वर की प्रसिद्ध कहानी ‘भेड़िये’ मैंने पढ़ी थी। तो जे.एन.यू. में भी मैंने अपनी प्रतिबद्धता बनाए रखी। तलवार सर के बारे में हमारे कई सीनियरों के विचार अलग-अलग थे। कई लोग तो उनकी कठोरता के किस्से सुनाते हुए कहते थे कि तलवार सर रेडिकल लेफ्ट वाले छात्र समूह ‘आइसा’ से सहानुभूति रखते हैं। हम भी हमेशा उन्हें ‘आइसा’ द्वारा आयोजित गोष्ठियों में ही सुना करते थे। लेकिन मेरे मन में कभी यह बात नहीं आई कि हमारे अकादमिक मूल्यांकन में हमारी राजनीतिक प्रतिबद्धता कभी तलवार सर के आड़े आई हो !

एम.ए. के चारों सेमेस्टर में शायद ही मेरी कभी तलवार सर से अनौपचारिक कोई बातचीत हुई हो। हाँ, तीसरे सेमेस्टर में जब अपने फिटनेस फ़िज़ मित्र कौशल कुमार ‘मधुकर’ की बातों में आकर मेरे जैसा परम आलसी सुबह उठकर स्टेडियम जाने लगा था, उन दिनों कैम्पस की रिंग रोड पर अक्सर तलवार सर से मुलाकात होती थी लेकिन मामला कभी सुबह के अभिवादन से आगे न बढ़ा। तलवार सर की फिटनेस भी निश्चित रूप से सुबह की इन सैरों से ही नहीं बल्कि, बचपन से की गयी उनकी कठोर परिश्रम की आदतों का ही परिणाम होगी, ऐसा मेरा अनुमान है।

एम.ए. का परीक्षा परिणाम जब आया तो आशा के अनुरूप ही साथी अमिष वर्मा ने टॉप किया और इन पंक्तियों के लेखक का दूसरा स्थान आया। असली बात तो इसके बाद की है। एम.फिल की प्रवेश परीक्षा के परिणाम आये और लिखित परीक्षा में ही अमिष का नाम नहीं था। और भी एकाध मित्र थे। हमारा पूरा बैच सकते में... सभी सीनियर भी सन्न। अध्यापकों की प्रतिक्रियाओं के प्रति तो मेरा कोई ज्ञान या रुझान नहीं था। मेरे लिए बहुत दुखद आश्चर्य जैसी थी यह घटना। खैर जैसे तैसे इससे उबर कर मैंने मौखिकी परीक्षा दी और परिणाम जब घोषित हुए तो फिर से एक बार मायूसी ने घेरा हमारे बैच को। मेरा और कुछ और मित्रों का नाम अंतिम सूची में न था। मैं हताशा में मुस्करा रहा था और वही कहीं बैठ शीतांशु और चन्दन की सात्वनापूर्ण बातें सुन रहा था कि अचानक फोन आया अमिष का और आवाज आई तलवार सर की। उनके शब्द आज भी कानों में गूँजते हैं। उन्होंने मुझे दिलासा दी। यह मेरे लिए बहुत बड़ी बात थी। अमिष वाली दुर्घटना के बाद यूँ तो इस तरह की घटना का का ज्यादा असर नहीं हुआ मुझ पर लेकिन तलवार सर के उदार रूप के दर्शन होना जरूर एक नयी घटना थी मेरे लिए।

एम.फिल. में बाद में हम सब (निष्काषित या असफल) लोगों को दिल्ली विश्वविद्यालय में दाखिला मिल गया लेकिन जैसा कि प्रोफेसर मैनेजर पाण्डेय कहा करते थे (कुछ लोगों को कैँसर और एड्स होता है और

कुछ को जे.एन.यू.), हम लोगों को एक बीमारी हो चुकी थी जिसका नाम था 'जे.एन.यू'. परिणामस्वरूप कभी न ये कैम्पस छूटा, न मित्र और न हमारे अध्यापक।

पी-एच.डी. में जब दाखिला लेने की बात आई तो मैंने और अमिष ने अपनी बीमारी को पुख्ता घोषित करने के उद्देश्य से जे.एन.यू. का भी फॉर्म भर दिया। संयोग से उन दिनों तलवार सर ही भा. भा. केंद्र के अध्यक्ष थे और मुझे बताया गया था कि डाइरेक्ट पी-एच. डी. में सिर्फ एक ही सीट होगी। अमिष के साथ मैं तलवार सर से मिलने भी गया था अपने शोध-प्रस्ताव (बाल साहित्य से सम्बंधित) के साथ, जिसकी सर ने तारीफ भी की थी लेकिन यह बात भी कही कि सीट तो सिर्फ एक है, फिर भी साक्षात्कार जरूर दो। यह बात उन्होंने ऐसे कहा कि मैं बुरी तरह डर गया। मेरे जेहन में तलवार सर की घोषित पक्षधरता और अपनी प्रतिबद्धता, सीनियरों के किस्से, ये सब एक साथ घूम गए। फिर भी मैंने कहा कि सर मैं यहाँ के मानकों पर खरा उतरने की कोशिश ही कर सकता हूँ, इससे अधिक नहीं बोला जा सका। मैं जानता था कि हर तरह से अमिष मुझसे ज्यादा योग्य हैं और मैं मानता भी था कि अगर एक ही सीट है तो वह अमिष को ही मिलनी चाहिए।

जब परिणाम घोषित हुए तो सबसे ज्यादा आश्चर्य हुआ कि न सिर्फ अमिष का बल्कि मेरा भी चयन हो गया था। संभवतः बाल-साहित्य वाले शोध का प्रस्ताव का ही असर था जिस पर लगभग 20 मिनट पूरे पैसल ने सवालात किये थे। तलवार सर ने भी कुछ सवाल किए थे और मुझे लगा कि मेरे जवाबों से वे संतुष्ट थे।

दुबारा दाखिले के बाद तलवार सर से बातचीत कुछ ज्यादा होने लगी। एक दिन अमिष ने ही मुझे कहा कि तलवार सर को नजीर अकबराबादी पर कुछ लिखना है और उन्हें नजीर ग्रंथावली चाहिए जो कहीं मिल नहीं रही थी। मैंने एम.फिल. में नजीर पर काम किया था और अमिष की ही नजीर ग्रंथावली मेरे पास थी, लेकिन उसे मैं बलिया में छोड़ आया था। नयी ग्रंथावली मैंने अपने लिए ली थी हालिया पुस्तक मेले से। वो लेकर, अमिष के साथ मैं नर्मदा कॉम्प्लेक्स वाले उनके आवास पर गया था। पहली बार। सर ने किताब ली, मूल्य भी चुका दिया हाथों-हाथ (सच कहूँ तो इसकी तो अपेक्षा भी मुझे नहीं थी!)। यह उनकी व्यक्तिगत खूबियों में से एक है, ये मुझे अमिष ने बताया। शोधार्थियों/विद्यार्थियों से झोला उठवाने वाले प्रोफेसरों से अलग रहे हैं तलवार सर।

उनकी कक्षाएँ ही नहीं, उनसे की गई हर बातचीत हमारे लिए एकेडमिक, साहित्यिक और सामाजिक संस्कार हैं। जे एन यू में लगभग हर मुद्दे पर उनको और गुरुवर प्रोफेसर पुरुषोत्तम अग्रवाल को अंग्रेजी के विद्वानों के साथ सुनना, हम घोर अंग्रेजी-भीरु हिन्दी पट्टी के लोगों में जो भाव जगाता था, वो अनिर्वचनीय है।

तलवार सर की प्रतिष्ठा अकादमिक जगत में एक शोधपूर्ण दृष्टि वाले आलोचक, एक जमीनी कार्यकर्ता और एक प्रखर वक्ता की है। उनके विद्यार्थी इस बात की पुष्टि करेंगे कि वे एक अद्भुत अध्यापक भी हैं। एक अध्यापक, जो अपनी सम्पूर्ण प्रतिबद्धताओं के साथ आपको असहमति की छूट ही नहीं देता बल्कि असहमत होने की चुनौती देकर प्रोत्साहित भी करता है।

उनके बारे में सब कुछ सुनहला ही नहीं है। अंतर्विरोध और सीमाएँ, सबकी होती हैं और उनकी भी हैं। कई बार उनकी अत्यधिक कठोरता कुछ विद्यार्थियों को आतंकित भी कर देती थीं। कई बार वह कुछ खास विद्यार्थियों पर ज्यादा 'ध्यान' देते थे जो कई लोगों को नागवार गुजरता था। लेकिन उनके आलोचक भी उनकी गहरी और पैनी दृष्टि की तारीफ करते हैं जो उन्होंने कठिन अध्ययन-अध्यापन से हासिल की है। आदिवासियों के बीच तो उन्होंने जमीनी काम किया है झारखंड में। दलित-विमर्श को लेकर अपने वरिष्ठ आलोचकों नामवर सिंह और मैनेजर पाण्डेय से ज्यादा प्रगतिशील और तार्किक दृष्टि उनके पास है।

तलवार सर लगातार शोध और आलोचना के क्षेत्र में सक्रिय हैं और उनकी हर पुस्तक का अब अकादमिक जगत इंतजार करता है, क्योंकि हर बार वह कुछ नया विमर्श और नयी चुनौती लेकर उपस्थित होते हैं। उनकी यह उपस्थिति सदैव बनी रहे ऐसी हम सबकी शुभकामना है।



संक्षिप्त मुलाकातों के कुछ एहसास

■ संजीव चंदन

वीरभारत तलवार हिन्दी आलोचना में एक कल्ट की तरह तब तक स्थापित हो चुके थे, ख़ासकर नवजागरण काल के लिए विमर्श की धारा मोड़ देने वाली उनकी किताब ‘रस्साकशी’ आ चुकी थी। स्त्री अध्ययन से तब मैं एम.ए. कर रहा था। बनता हुआ विश्वविद्यालय था – महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय – विषय के नियमित शिक्षक नहीं थे। इसके नुकसान थे तो लाभ भी यह था कि हम दिल्ली आते थे कुछ दिनों, कुछ हफ्तों के लिए, जहाँ अलग-अलग विषयों के विशेषज्ञ हमें पढ़ाते थे। उन दिनों कुछ कक्षाएँ जेएनयू में भी हुई थीं, मसलन कुमकुम राय और वीर भारत जी की। जेएनयू के कुछ शिक्षक हमारे लिए दक्षिण दिल्ली के एक एनजीओ में क्लास की की गई व्यवस्था के तहत वहाँ पढ़ाने आते थे, जैसे जेएनयू से ही मेरी जॉन आदि।

तो पहली बार उनसे मिलना हुआ या कहें उनसे पढ़ना हुआ जेएनयू के एक क्लासरूम में जहाँ उन्होंने स्त्रीवादी दृष्टि से नवजागरण पढ़ाया। व्यक्तिव से गंभीर तलवार जी संभवतः ऐसे ही अन्य क्लास भी लेते होंगे, विषय और अध्यापन की उष्मा तथा व्यक्तिव की गंभीरता के बायप्रोडक्ट की तरह क्लासरूम की शांति से बना माहौल। यह माहौल जेएनयू के ही प्रोफेसर उनके आलोचक मित्र मैनेजर पाण्डेय की कक्षाओं से एकदम अलग था, जो बाद के दिनों में हम वर्धा में ही महसूस सके – एक चुटीला अंदाज! और उस माहौल से भी भिन्न जो उनके वरिष्ठ सहकर्मी नामवर सिंह के व्याख्यानों में होता रहा है, विषय और व्यक्तिव का ओज और आतंक, जो नामवर जी की सुपर स्टार छवि से भी बनता है, लेकिन इन तीन सर्वकालिक आलोचकों में एक ख़ास फर्क जरूर दिखा, वह यह कि नामवर सिंह स्त्रीविमर्श से ही बहुत इत्तेफाक नहीं रखते, जबकि वीर भारत तलवार और मैनेजर पाण्डेय इस विमर्श के न सिर्फ पक्षधर रहे हैं बल्कि इसे समृद्ध भी करते रहे हैं।

खैर, इस क्लास के कुछ महीने बाद हम, मेरा एक साथी संदीप सपकाले और मैं तलवार जी के घर भी उनसे मिलने पहुँचे। स्त्रीकाल का प्रकाशन हमने शुरू किया था। पहला अंक आया था, उसे ही लेकर हम उनसे मिलने पहुँचे। तब वे जेएनयू में ही रहते थे। घर पर भी अनुशासन और गंभीरता का आतंक सा महसूस किया उन्होंने। ठीक-ठाक देर तक उनसे बातचीत हुई, लेकिन शिष्ट आचरण की गुरु गंभीरता के साथ। उन्होंने हमसे पूछा – ‘खीर खाओगे’। हम झिझके। उन्होंने बहुत ही गंभीर आवाज में कहा, ‘खाओ !’ फिर वे वहाँ से उठ गये। जबतक आये तबतक उनके साथ खीर की कटोरियाँ भी आ गई थीं। उनका फिर आदेश था – ‘खाओ’। इस कहने में आग्रह से ज्यादा आदेश सा महसूस करते हुए, हमलोग शुरू हो गये। यह उनका अपना अंदाज था। हम बाहर आकर ख़ूब हँसे इस अंदाज पर।

मेरे कई मित्र उनके शोध विद्यार्थी रहे हैं। उनपर भी तलवार जी के व्यक्तिव का यह पक्ष हावी रहता था, ऐसा लगता कि वे सबसे ज्यादा डरे उनसे ही रहते हैं। वे उतने ही गंभीर शोध-विशेषज्ञ

के रूप में समादृत भी थे। विद्यार्थियों से मेहनत करवाते। यही कारण है कि उनके कई शोधार्थी आज हिन्दी साहित्य की युवा आलोचना में महत्वपूर्ण काम कर रहे हैं।

उनसे बहुत मिलने-जुलने का कभी भी सिलसिला नहीं रहा, लेकिन कई मित्र बताते रहे कि वे मेरे द्वारा संपादित पत्रिका 'स्त्रीकाल' के प्रसंग में पूछते रहे हैं और मेरे बारे में भी। साथी प्रमोद रंजन ने भी कहा कि तलवार जी आपको याद कर रहे थे। लेकिन जबतक मैं दिल्ली रहने आया, दक्षिण दिल्ली की ओर वे वैशाली रहने चले गये। इस कारण संयोग नहीं बन पा रहा था। एक-आध बार फोन पर बात हुई जरूर, खासकर प्रेमकुमार मणि की किताब 'चिन्तन के जनसरोकार' का फ्लैप लिखने के लिए।

तलवार जी उसी अपार्टमेंट में रहते हैं, जहाँ अर्चना वर्मा रहती हैं। अर्चना जी के ऊपर वाले फ्लोर पर। हमलोग स्त्रीकाल द्वारा सावित्री बाई फुले सम्मान के निर्णय के लिए अर्चना जी के यहाँ इकट्ठे हुए। सुधा आरोड़ा, जो उस वक्त निर्णायक मंडल में भी थीं, उनसे मिलने गईं, साथ में मेरी हमसफर मनीषा भी। तलवार जी खुद उन्हें छोड़ने नीचे आए। सुधा आरोड़ा ने कहा वे तुमसे मिलना चाहते थे, इसलिए हमें छोड़ने नीचे आये। यह मेरे लिए सम्मान का विषय था। तब उनसे आत्मीय बात हुई। गाम्भीर्य तो वही, लेकिन लगा कि इस बार थोड़े मित्रवत थे वे- प्राप्ते तु षोडस वर्षे पुत्रं मित्र वदाचरेत ! ख्वाहिश है तलवार जी के साथ एक लम्बी औपचारिक बात की जाये, साहित्य, समय और समकालीन विमर्श पर। संभवतः जल्द ही।



यादगाः अध्यापन : ‘लोचन श्रुत उधारिया’ बनाम ‘शायः तो वो श्रुछा है पः...’

‘दिल ही तो है, न संग-ओ-खिश्त, दर्द से भर न आए क्यों...’

■ सुचिता वर्मा

उस समय मैं एम. फिल. की पढ़ाई कर रही थी, 2000 में. प्रो. वीर भारत तलवार से विशेष अनुमति प्राप्त करने के बाद एम.ए. की उनकी कक्षाओं में बैठने का अवसर मिला। ‘गोदान’ पढ़ाते हुए उनकी भावुकता हतप्रभ कर देती थी। होरी का धनिया से एक संवाद कि, “साठ तक पहुँचने की नौबत न आने पाएगी धनिया! इसके पहले ही चल देंगे।” इस वाक्य पर ठहर गया पूरा व्याख्यान। ‘गोदान’ की समस्या, होरी की सामाजिक पृष्ठभूमि आदि पर उनके बौद्धिक व्याख्यान को साँस बाँधकर सुननेवाले विद्यार्थी सन्न रह गये उनकी भावुकता देखकर। गौरवर्णी पूरा चेहरा तमतमाकर लाल... आँखें सजल और कंठ अवरूद्ध। ऐसा व्याख्यान हमने पहले कभी नहीं सुना। पूरी कक्षा सन्नाटे में। चार-पाँच मिनट बाद चेहरे और आवाज को संयत करते हुए तलवार जी कक्षा से बाहर। हमने पहली बार जाना कि कुछ कारुणिक प्रसंगों की व्याख्या शब्दों के परे होती है। तलवार जी के चेहरे का तनाव और मौन एक अर्थवान व्याख्यान में तब्दील हो जाया करता है। होरी-धनिया के जीवन के अभाव की जैसी गहरी व्याख्या इस सन्नाटे ने की वह दुर्लभ थी। कई-कई दिनों तक यह व्याख्यान उद्बलित करता रहता। बेचैनी ऐसी कि व्यवस्था से भिड़ने को नौजवान छात्र आतुर हो जाते। रूढ़ियाँ-बेड़ियाँ तोड़ने के लिए लालायित छात्र-छात्राएँ बार-बार पाठ को पढ़ते और बहस करते। अध्यापन का यह कौशल निःसंदेह एकमात्र अध्यापक प्रो. वीर भारत तलवार के पास है। अत्यंत सरल-सीधी भाषा में अपनी बात को प्रस्तुत करनेवाले तलवार जी के व्याख्यान में ‘आँखिन देखी’ का बड़ा महत्त्व है। ध्यान दें तो उनके लेखन, भाषण और व्याख्यान में महज आँकड़े या कोरे ज्ञान का आतंक नहीं होता। जिस निर्भीकता और कोमलता के साथ यहाँ तथ्यों का विश्लेषण होता है, वही संवेदनात्मक ज्ञान की पहचान है।

ज्ञानात्मक संवेदना के स्तर पर भी वीर भारत तलवार बेहद सजग हैं। भावुकता के बावजूद किसी बात के आग्रही नहीं होते हैं वे। अंदाज से निष्कर्ष निकालनेवाला स्वभाव उनका नहीं है। प्रेमचंद के लेखन के कायल तलवार जी ने साफ-साफ बताया था कि प्रेमचंद अपनी रचनाओं में जितने प्रगतिशील हैं, व्यक्तिगत जीवन में नहीं। यह भी बताया कि प्रेमचंद गरीब नहीं थे। उस जमाने में वे एक प्रेस के मालिक थे और अच्छा-खासा बैंक बैलेंस था उनके पास। इन सब बातों का प्रमाण दे-देकर वे विद्यार्थियों को लगातार रचने में लगे रहते थे। रचना और रचनाकार की वैयक्तिकता को अलग-अलग करके देखने-समझने की दृष्टि का विकास करना उनकी अध्यापन शैली की खूबी है।

महज पुस्तकें पढ़कर तलवार जी ने गरीबी और अशिक्षा को नहीं समझा है; बल्कि उनके बीच रहकर उन्होंने उनके जीवन को जिया है, तब समझा है। होलटाइमर एक्टिविस्ट के रूप में इन्होंने आदिवासियों की जिंदगी को भरपूर जिया है। इसीलिए वे साफ-साफ कहा करते थे कि बेहतरीन और

कुशल रचनाकार होने के लिए गरीब होना जरूरी नहीं है, जैसी कि आम धारणा बना ली गयी है। गरीबी तो रचनाशीलता को नष्ट कर देती है। निश्चिन्त मन और शांत चित्त से कालजयी रचनाएँ संभव होती हैं। भौतिक अभाव रचनाकार को तोड़-मरोड़कर नष्ट कर देती है

‘मैला आँचल’ में डॉ. प्रशांत और कमली का प्रसंग हो या ‘पंचलाइट’, ‘तीसरी कसम’ या ‘कोसी का घटवार’ जैसी कहानियाँ – प्रेम के अलग-अलग शेड्स को तलवार जी बेहद बारीकी से प्रस्तुत करते। पूरा क्लास कभी खिलखिलाहटों से सराबोर हो जाता, कभी रोमानियत से लबरेज, तो कभी चक्की के खसर-खसर की आवाज के साथ शोक से सन्न! एक अलग रोमांच होता था तलवार जी के क्लास का, जिसमें थ्रिल भी होता था और हॉरर भी, इन्टरटेन्मेंट भी (कभी-कभी) और गहन वैचारिक गम्भीरता भी। और सबके ऊपर अनुशासन!

तलवार जी को फोटोग्राफी का बहुत शौक रहा है। भारतीय भाषा केंद्र के उनके चैंबर में उनकी पसंदीदा तस्वीरें लगी थीं। उन तस्वीरों के बारे में बड़ी खुशी के साथ बताया था कि ये तस्वीरें उन्होंने ही खींची हैं। देविका रानी की एक तस्वीर भी उनके कमरे में लगी थी जो उन्हें बेहद प्रिय थीं। चुन-चुनकर गाने सुनते हैं तलवार जी। सुना है कि वे न केवल सुनते हैं, बल्कि गाते भी हैं। कुछ खुशनसीबों ने सुना है उनका गाना। गाते हुए भी उनकी वही दशा हो जाती है जो ‘गोदान’ पढ़ाते हुए होती थी! ‘हाल’ की अवस्था में पहुँच जाते हैं वे ! गाते-गाते बेदम हो जाते हैं, बेखबर हो जाते हैं, सुननेवाले को साँस में डालकर मुग्ध कर लेते हैं।

ज्ञान और संवेदना के द्विधात्मक सम्बन्ध को धारण करनेवाले व्यक्तित्व का नाम है डॉ. वीर भारत तलवार!



व्यक्तित्व : ‘अभय बैठे उवाला मुखियों पर अपना मंत्र जगाते हैं’

आत्मविस्तार यह बेकार नहीं जाएगा

(प्रोफेसर वीर भारत तलवार की जिंदगी का सफरनामा)

■ अभिषेक कुमार यादव

लड़ना और लिखना अलग अलग नहीं होता। जो लड़ नहीं सकते, वे लिख नहीं सकते और उन्हीं के लिखने में धार होती है जो लड़ने की हिम्मत रखते हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं क्योंकि दोनों ही कुछ रचते हैं। प्रोफेसर तलवार का व्यक्तित्व इन दोनों से मिलकर बना है। उनके व्यक्तित्व के इन दोनों पहलुओं ने मिलकर एक समूचे इंसान को सिरजा है। अकादमिक बोध की उनकी धार को जिन्दगी और समाज के अन्तरंग रंगों ने पैना किया है तो जिन्दगी और समाज को हर कठिन वक्त में उनके अकादमिक बोध ने रास्ता दिखाया है। शायद इसीलिए उनके व्यक्तित्व में एक जिद्दी प्रतिबद्ध इन्सान भी है और एक लगातार गतिमान, खुद का विस्तार करता जाने वाला इन्सान भी। झारखण्ड का यह शानदार एक्टिविस्ट, नक्सलबाड़ी के दौर से गुजरते हुए प्रेमचंद के साथ राष्ट्रवाद की बहस को समझते-समझाते, भारतेंदु के नवजागरण की समझ से रसाकशी करते हुए रामविलास शर्मा की ‘अपनी’ मार्क्सवादी समझ का सामना भी करता है, तो बीच में ही आर्यसमाजियों से महर्षि दयानंद के विचारों पर भी दो-दो हाथ कर लेता है। केवल सच को जानना बड़ी बात नहीं है, सच को कहना बड़ी बात है और बहुत हिम्मत चाहिए सच कहने के लिए। प्रोफेसर तलवार ने यह सच जाना भी, कहा भी और उसके लिए बहुत कुछ सहा भी।

झारखण्ड के जमशेदपुर में एक सामान्य मजदूर परिवार में जन्में प्रोफेसर तलवार का बचपन साधारण था। (साधारण इस अर्थ में कि सामान्य नागरिकों जैसा न कि ‘अवतारी पुरुषों’ जैसा जिनके पाँव पालने में ही दिखने लगते हैं)। शुरूआती पढ़ाई-लिखाई जमशेदपुर में ही हुई। बचपन में अपने घर के आसपास के पहाड़ों को जैसे अपनी स्मृति में संजो लिया है उन्होंने। अरुणाचल प्रदेश के अपने प्रवास के दौरान बहुधा वे जमशेदपुर के उन पहाड़ों को याद करते रहे। सोचता हूँ कि जैसे वे पहाड़ उनके व्यक्तित्व का आत्मीय हिस्सा हो गए हैं वैसे ही उन पहाड़ों में पहाड़ों जैसा जीवन जीने वाले आदिवासियों से भी उनका अस्तित्व एकमेक हो गया है। शायद यहीं से उस वीर भारत तलवार के जन्म की रूपरेखा बनी जिसे बाद के वक्त में झारखण्ड आन्दोलन और आदिवासियों के हक की लड़ाई का एक प्रमुख रणनीतिकार और योद्धा बनना था।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ने पहुँचे युवा तलवार का साबका नए विचारों से हुआ। पूरी दुनिया में वह वक्त उथल-पुथल का वक्त था। राजनीतिक व्यवस्थाओं, सामाजिक संरचनाओं, जड़ हो चुके विचार-दर्शनों के महान परिवर्तन के दौर में नौजवान हुए तलवार पर इस सबका असर होना ही था, सो हुआ। कम्युनिस्ट आन्दोलन के और मार्क्सवादी विचार दर्शन के नजदीक आते हुए उन्होंने महान नक्सलबाड़ी आन्दोलन से प्रेरणा भी प्राप्त की और बदलाव के उस संघर्ष में शामिल भी हुए। बहुत बाद में एक बार उन्होंने मुझसे पूछा था कि ‘क्या तुम लोगों का संगठन अभी भी अपने विद्यार्थी काडर को काम करने गाँवों में भेजता है?’ मैंने कहा कि ‘हाँ...कभी कभी’। उन्होंने कहा कि हमारे लिए तो ये जरूरी था कि आप गाँवों में जाकर लोगों के साथ रहें और खुद को भी आन्दोलन की कठिन राहों के लिए तैयार करें और लोगों को भी गोलबंद करें।’ तो इस तरह से बन रहे थे

प्रोफेसर तलवार।

नक्सलबाड़ी के हमवार होने के दौर में अपने संगठन एन.एल.डी.एफ. (नेशनल लिबरेशन एंड डेमोक्रेटिक फ्रंट, यह फ्रंट नक्सलबाड़ी आन्दोलन की ही उपज था लेकिन कामरेड चारु मजूमदार की राजनीतिक लाइन से असहमत था) के कहने पर वे रिसर्च छोड़कर बिहार चले गए पत्रिका निकालने। बिहार में अपने विस्तार के लिए संगठन की योजना थी और इस योजना को एक पत्रिका के माध्यम से पूरा करने की जिम्मेदारी नौजवान तलवार पर थी। उन दिनों की अपनी मनःस्थिति के बारे में वे स्वयं लिखते हैं “कुछ अरसा पहले मैंने रेजिस देब्रे की एक किताब ‘रेवोल्यूशन विदिन रेवोल्यूशन’ पढ़ी थी। उस किताब ने मुझे गहराई से प्रभावित किया। उसे पढ़कर मेरे अन्दर एक कम्युनिस्ट बनने की भावना पैदा हुई। मैं अपने लिए एक होलटाइमर की जिन्दगी चुनने की बात सोचने लगा। इसी समय बंगाल के साथियों का बुलावा आया – रिसर्च छोड़कर बिहार चले आओ, पत्रिका निकालनी है। रेजिस देब्रे की किताब का असर ऐसा था कि मुझे फैसला लेने में कोई दुविधा नहीं हुई। रिसर्च के लिए यू.जी.सी. की नयी-नयी मिली स्कालरशिप को छोड़कर और रिसर्च को अलविदा कहकर मैं पटना चला आया।”

...और इस तरह 5 फरवरी 1972 से फिलहाल का सफर शुरू हुआ। यह पत्रिका बाद के दिनों में अपने विषयगत कलेवर के कारण वामपंथी आन्दोलन के प्रति प्रतिबद्धता, उसमें आये संकीर्णतावाद के प्रतिकार और देश-दुनिया में चल रहे तमाम जनवादी-लोकतान्त्रिक आन्दोलनों का प्रतीक बन गयी। इस क्रम में बिहार और उसके बाहर के भी बहुत सारे लोग जो जनवादी आन्दोलनों में रुचि रखते थे, से नौजवान तलवार का साबका हुआ। संगठन का प्रभाव तो बढ़ा ही साथ ही नौजवान तलवार को भी बहुत कुछ सीखने को मिला। “फिलहाल को निकालने के सिलसिले में ही मैंने हिंदी भाषा के उस पंडिताऊ रूप से मुक्ति पाई जो पिछले कई सालों से मैंने स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय में हिंदी साहित्य पढ़ते हुए सीखी थी”² कॉमरेड ए.के. राय की यूनियन में काम करते-करते और राजनीतिक परचे और हैण्डबिल लिखते-लिखते उनकी भाषा भी आम लोगों की भाषा तक पहुँची और जिन्दगी भी। गजब के प्यार, प्रतिबद्धता और जुनून से भरे उन दिनों को उन्होंने बहुत शिद्दत से याद किया है, “आमतौर पर हममें से हर एक को राजनीतिक आधार के साथ-साथ अपना आर्थिक आधार भी खुद ही बनाना पड़ता था....इसलिए ‘फिलहाल’ निकालते समय मैं हमेशा पैसे बचाने की कोशिश करता...जो खर्च मुझे अपने लिए मिलता था, उसमें से एक समय के खाने के लिए एक या सवा रुपया निकलता था...लेकिन पटना शहर में एक रुपये में भरपेट खाना नहीं मिलता था। हम हमेशा ऐसे होटलों की खोज में रहते जहाँ कम पैसे में पर्याप्त खाना मिलता हो”³ तो वे ‘फिलहाल’ के दिन थे...एक बड़े उद्देश्य के लिए जीने के दिन थे...एक नयी दुनिया के सपने देखने के दिन थे...जिद्दी दिन थे, लेकिन उतने ही ऊर्जावान। ‘फिलहाल’ की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि इसने अपने समय में चल रहे संघर्षों से केवल बौद्धिकता का रिश्ता नहीं बनाया बल्कि वह सीधे-सीधे जीवंत तरीके से उनसे जुड़ी। इसके सबसे बड़े प्रमाण पत्रिका में छपने वाले वे लेख हैं जिनका लेखक ‘एक मजदूर कार्यकर्ता’ या ‘एक मजदूर साथी’ है। पत्रिका ने अपनी पक्षधरता भी साबित कर दी थी और पहुँच भी।

अप्रैल 1974 में ‘फिलहाल’ बंद हो गयी। या यूँ कहें कि बंद कर दी गयी। ‘फिलहाल’ जिस काम के लिए शुरू हुई थी वह उद्देश्य कुछ हद तक पूरा होता दिख रहा था। छोटानागपुर के इलाके में राजनीतिक संपर्क बन चुके थे और संगठन के कहने पर नौजवान तलवार जनता के बीच बुनियादी काम करने चले गए। क्योंकि “हमारा मकसद एक लोकप्रिय पत्रिका का यशस्वी और प्रभावशाली संपादक बनकर प्रतिष्ठित होना नहीं था। हमारी भावना तो कम्युनिस्ट बनने की थी, एक नया मनुष्य बनने की थी। इसकी राह वही थी जो हमने ‘फिलहाल’ बंद करके चुनी थी।”⁴

बचपन के देखे और जाने हुए वे पहाड़ और उसके लोग फिर खींच लाए उनको। आदिवासियों के आन्दोलनों के साथ उनके जीवन के एक नए मोड़ की शुरुआत हुई। धीरे-धीरे ही सही लेकिन एक नयी दुनिया खुलने लगी थी उनके भीतर। आदिवासी, झारखण्ड, औद्योगिक विकास का धिनौना चेहरा, सदियों से चलने वाला शोषण, एक अलग राष्ट्रीयता का मसला ये सब कुछ बचपन से होते हुए जवानी तक देखा सुना था उन्होंने लेकिन

आत्मसातीकरण की प्रक्रिया में उन्होंने इसके सबसे जटिलतम स्वरूप को देखा और जाना कि आदिवासी समाज जो सदियों से अपने आंतरिक सामाजिक लोकतंत्र को जीता आ रहा है उसने इस तथाकथित मुख्यधारा की राजनीतिक संरचना और संस्कृति में कितना कुछ खो दिया है।

राँची आने के रास्ते में जो सबसे मजबूत संबल था वह था- कॉमरेड ए.के. रॉय की यूनियन में काम करने का अनुभव। वहाँ काम करते-करते औद्योगिक मजदूरों के आन्दोलनों से सीखने को तो मिला ही था, साथ ही आसपास के रहवासियों को जोड़कर कैसे आन्दोलन का आधार व्यापक किया जाय तथा उसे उसकी अपनी विशिष्टता के साथ ही बड़े उद्देश्यों के साथ भी जोड़ा जाय, इसकी शुरुआती ट्रेनिंग भी वहीं हुई थी। यह ट्रेनिंग झारखण्ड आन्दोलन के दिनों में खूब काम आई जब एक विशिष्ट राष्ट्रीयता के प्रश्न पर एक व्यापक गोलबंदी करनी पड़ी। राँची में नए सहयोगी भी मिले और सिखाने वाले भी....प्रोफेसर दिनेश्वर प्रसाद, शिबू सोरेन, विनोद बिहारी महतो, फादर कामिल बुल्के, सागू मुंडा, निर्मल मिंज, मनमोहन पाठक, बी. पी. केशरी, एन.ई. होरो, देवेन्द्र मांझी, बहादुर उराँव जैसे कई जुझारू और सच्चे दिल वाले साथी और प्रेरणास्रोत। यहीं राँची के मानरेसा हाउस में फादर पी. पोनेट से थोड़ी बहुत मुंडारी सीखी। चाहते थे कि कहीं ऐसी जगह रहने का इंतजाम हो जाए जहाँ आदिवासियों से खूब घुलना-मिलना हो जाए, अभिन्न रूप से। और यह हुआ जोजोहातु में। मुंडा लोगों का गाँव। गाँव के बच्चों को पढ़ाने-लिखाने के साथ ही लोगों को दवा भी देने लगे। सो 'जोजोहातु के डॉक्टर' हो गए। जोजोहातु में ही वह नया मनुष्य पूरी तरह निर्मित हो पाया जो काफी अरसे से निर्माण की प्रक्रिया से गुजर रहा था। खूब मेले देखे, नाच देखा, हाट-बाजार देखा, सैल रकब और डोम्बारी (वह पहाड़ी जहाँ बिरसा मुंडा के अनुयायियों ने अंग्रेजी फौज से लड़ाई लड़ी थी और शहीद हुए) की यात्रा की और जाना जिन्दगी को भी और ये भी जाना कि एक सरल सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था और सामूहिक संस्कृति की विरासत कैसे धीरे-धीरे मरने को अभिशप्त की जा रही है।

बाद में मनमोहन पाठक के साथ मिलकर 'शालपत्र' पत्रिका निकाली। पत्रिका में आदिवासी रचनाकारों की आदिवासी और क्षेत्रीय भाषाओं में लिखी गयीं रचनाएँ छपीं। फिर झारखण्ड आन्दोलन से नजदीकी बढ़ने लगी। शिबू सोरेन से भी आत्मीयता हुई जो उस जमाने के बहुत कद्दावर आदिवासी नेता थे। 'झारखण्ड वार्ता' पत्रिका निकाली और उसमें 'झारखण्ड क्या, क्यों और कैसे' लेख लिखा जिसमें झारखण्ड की एक अलग राज्य के रूप में माँग को एक सही दार्शनिक आधार दिया गया था। इसी क्रम में झारखण्ड पार्टी से नजदीकी हुई और उसके मुखिया ई.एन. होरो से मिलकर जी-जान से अलग झारखण्ड राज्य के आन्दोलन की भूमिका बनाई। फिर शुरू हुआ कार्यकर्ताओं को राजनीतिक प्रशिक्षण देने का सिलसिला... पार्टी में नई जान आ गयी। सीधी कार्यवाही का एलान हुआ। जंगल आन्दोलन शुरू हो गया। पूरे झारखण्ड में एक नई राजनीतिक चेतना और नई राजनीतिक स्थिति ने जन्म लिया। इस आन्दोलन के सैकड़ों नायकों में से एक, एक के भीतर भरे सैकड़ों नायकों जैसे यानी नौजवान तलवार की तरफ से झारखण्ड की माँग करने वाली पार्टियों का एक संयुक्त मोर्चा बनाने का सुझाव दिया गया। उनकी अध्यक्षता में ही 1978 में 'संयुक्त झारखण्ड मोर्चा' की स्थापना हुई। मोर्चे ने कई तरह की पहलकदमियाँ लीं लेकिन जल्दी ही इसमें शामिल लोगों के अहंकार और महत्वाकांक्षा ने इसे बिखेर दिया।

अब एक पहलकदमी युवा तलवार की तरफ से हुई 'झारखण्ड बुद्धिजीवी सम्मलेन' के रूप में। निर्मल मिंज के साथ मिलकर 1978 में ही आयोजित किए गए इस कार्यक्रम को भारी सफलता मिली। सफलता इस अर्थ में कि इसमें झारखण्ड के आदिवासी- गैर आदिवासी नेताओं तक ने अपने परचे पढ़े। झारखण्ड के बुद्धिजीवियों का यह सबसे बड़ा सम्मलेन था। सम्मलेन ने झारखंडी स्त्रियों के सवाल को भी अलग से उठाया और उसके लिए एक अलग समिति का गठन किया गया।

1979-1980 में 'संयुक्त झारखण्ड मोर्चा' के बिखर जाने से यह दुर्दम्य एक्टिविस्ट बहुत निराश हो गया। लेकिन पढ़ाई बीच में छोड़कर एक बेहतर मनुष्य बनने की चाहत में इस एक्टिविस्ट ने बहुत साहसिक और संघर्षपूर्ण यात्रा की थी और इस यात्रा ने उन्हें निराश नहीं किया। वह मंजिल तो पाई ही। 1980 के बाद धीरे-धीरे

सक्रिय राजनीतिक भूमिका छोड़कर पढ़ाई-लिखाई का काम करने 1981 में दिल्ली चले आये। छूटा रिसर्च पूरा किया और जनेवि में अध्यापकी शुरू की। लेकिन न तो आन्दोलनों से नाता टूटा और न ही झारखण्ड से। असल में यह रिश्ता ही ऐसा है कि 'जहाँ में कैस जिंदा है तो लैला मर नहीं सकती'।

दिल्ली आने के बाद से लगातार झारखंडी साहित्य और संस्कृति के सवाल पर सक्रिय रहे प्रोफेसर तलवार। संथाली भाषा को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल करने की मुहिम में अगले मोर्चे पर रहे। 2008 में 'झारखण्ड के आदिवासियों के बीच-एक एक्टिविस्ट के नोट्स' के नाम से उनके झारखण्ड आन्दोलन के दिनों के लिखे लेख-दस्तावेज प्रकाशित हुए। प्रेमचंद के साहित्य और किसान आन्दोलन को केंद्र में रखकर रिसर्च किया था। बाद में आधुनिक काल में निर्मित हो रही राष्ट्रीय चेतना और हिंदी पढ़ी और हिंदी साहित्य में उसके स्वरूप की व्याख्या प्रोफेसर तलवार ने 'रस्साकशी' और 'राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य' में की। उस समय की रस्साकशी की अधिकांश आलोचकों ने अनदेखी की है- संभवतः जानबूझकर, क्योंकि इससे कई बड़ी मूर्तियों के ढह जाने का डर था। हिंदी नवजागरण के अंतर्विरोधों को चिन्हित करने के साथ ही उन्होंने नवजागरणकालीन एक महत्वपूर्ण सामाजिक आन्दोलन आर्य समाज और उसके मुखिया दयानन्द सरस्वती के अंतर्विरोधों को भी सामने रखा और इसके लिए काफी लानत-मलामत भी सही। नक्सलबाड़ी के आन्दोलन और फिलहाल के जमाने की सामग्री को 'नक्सलबाड़ी के दौर में' के रूप में सम्पादित किया।

असल में जिस आलोचक प्रोफेसर तलवार को हम जानते हैं वह इतनी लम्बी प्रक्रिया के उत्पाद हैं। इतनी रगड़म-रगड़ाई के बीच जिस आलोचक का जन्म हो रहा था वह कोई 'ललित निबंध' नहीं लिख सकता था न ही दीवार की तरफ मुँह करके उकड़ूँ बैठकर आलोचना लिख सकता था। जिंदगी और उसके चौतरफा संघर्षों से निर्मित इस आलोचक की आलोचना में उन पहाड़ों के पथरीलेपन का असर होना था जिन पर बसी छोटी-छोटी बस्तियों में शोषण और अन्याय की बड़ी-बड़ी इबारतें लिखी गई थीं, उसमें उन औद्योगिक मजदूरों की बजबजाती बसाहट की तकलीफ होनी थी जो विकास की अंधी दौड़ में 'गर्वपूर्ण देशभक्ति के नशे' में कुचले जा रहे हैं, उस मजबूर किसान की 'मरजाद' में फंसी गर्दन की अकुलाहट होनी थी जिसकी 'अन्नदाता-महादाता की महानता' की प्रशंसा में कागद कारे किये जा रहे थे और वो अपनी गर्दन बचाने के लिए बलबलाये जा रहा था, उन दलितों-आदिवासियों-औरतों-कमजोरों को हाँफते हुए मैदान के बीचोबीच चले आना था जिन्हें सदियों से अंधेरे बजबजाते दड़बों में बंद किया गया था। यानी कि इस आलोचक की आलोचना खुली हवा की तरह होनी थी जिसमें बल भर सांस ली जा सके। और वक्त ने वक्त की अदालत में गवाही दी कि ऐसा ही हुआ...ऐसा ही हुआ...

संदर्भ :

1. नक्सल बाड़ी के दौर में- प्रोफेसर वीर भारत तलवार (संपादक), अनामिका प्रकाशन, 2007, पृष्ठ- 17
2. वही, पृष्ठ- 26
3. वही, पृष्ठ- 22
4. वही, पृष्ठ- 34



व्यक्तित्व : ‘अभय बैठ ज्वालामुखियों पर अपना मंत्र जगाते हैं’

हिंदी के एक्टिविस्ट आलोचक

■ अमिष वर्मा

प्रो. तलवार मेरे गुरु हैं। जे.एन.यू. में एम.ए. की कक्षा में तलवार जी का व्याख्यान सचमुच हमें ‘हाल’ की स्थिति में पहुँचा देता था। बहुत ही ईमानदारी और जिम्मेदारी के साथ कहना चाहता हूँ कि ऐसे शिक्षक विरले ही होते हैं। एम.ए. के दिनों में हम सब उनके अध्यापन से चमत्कृत होने की ही स्थिति में थे। हालाँकि, इतनी बात तो तब भी समझता था कि अध्यापन की इस जबर्दस्त प्रभावशाली शैली के पीछे कितनी तैयारी होगी, लेकिन बाद के दिनों में उनके लेखन को बार-बार पढ़ते हुए और निरंतर उनके सान्निध्य का सौभाग्य प्राप्त होने के कारण उनके बौद्धिक व्यक्तित्व की निर्मिति के बहुत से पहलुओं को जानने का अवसर मिला। तलवार जी की बौद्धिकता महज किताबी नहीं है। वे एक सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता और झारखंड के आदिवासियों के संघर्षों में सक्रिय भागीदारी का अनुभव लेकर आए थे। जनता के बीच काम करने के इस अनुभव ने उनके बौद्धिक व्यक्तित्व की निर्मिति में बहुत बड़ी भूमिका अदा की। एक्टिविज्म के अपने गहरे अनुभव से ही तलवार जी ने ‘शास्त्रीयता’ की सीमा को पहचाना, जिसका असर उनकी अध्यापन-शैली पर भी रहा और आलोचना-कर्म पर भी। तलवार जी के लेखन से गुजरते हुए यह बात साफ मालूम पड़ती है।

ग्राम्शी जिस आवयविक बुद्धिजीवी (ऑर्गेनिक इंटेलैक्चुअल) की बात करते हैं, वही प्रो. तलवार का आदर्श है। बौद्धिकता यदि सामाजिकता से शून्य हो या अगर उसकी सामाजिक उपयोगिता सुनिश्चित न हो सके, तो ऐसी बौद्धिकता दरअसल कोरा भाववाद है, बौद्धिक विलास है। यही कारण है कि प्रो. तलवार ऐसी सामाजिकता से शून्य बौद्धिकता को छोड़कर एक सक्रिय कार्यकर्ता का जीवन चुनना पसंद करते हैं। दिसंबर 1969 में अपने प्रिय शिक्षक को लिखे एक पत्र में प्रो. तलवार लिखते हैं- “जीवन भर बुद्धिजीवी बने रहना ठीक नहीं है, किसी एक विचारधारा को कसकर पकड़ कर कार्यक्षेत्र में उतर जाना ही अच्छा है।”

और सचमुच कुछ ही समय बाद 1970 में प्रो. तलवार बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से अपना रिसर्च छोड़कर एक सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता के जीवन में प्रवेश कर जाते हैं। सक्रिय राजनीतिक जीवन के अनुभवों ने प्रो. तलवार को एक आवयविक बुद्धिजीवी के रूप में ढाला। तलवार जी खुद अपने अनुभव बताते हैं- “मैंने गरीबी का वर्णन बहुत बार पढ़ा था। ... लेकिन जब फिलहाल के लिए रिपोर्ट लेने के सिलसिले में मजदूरों की बस्तियों में जाने का मौका हाथ आया और वहाँ रहा, उनसे बातचीत की, तो उस वर्ग की जिंदगी की वास्तविकताओं का पता चला जिसके बारे में बुद्धिजीवियों की दुनिया में इतनी बड़ी-बड़ी बातें होती हैं। ... इसके साथ ही मेरा यह विश्वास भी दृढ़ हुआ है कि... जो भी हमारे देश की वास्तविक समस्याओं को जानना चाहता है, हमारे देश की मेहनतकश जनता को प्यार करता है, उसके जीवन की वास्तविक परिस्थितियों को समझना चाहता है और उसका हल निकालना चाहता है- ऐसे सब व्यक्तियों को मेहनतकश जनता के बीच जाना होगा, वहाँ जाकर रहना होगा, वास्तविकता को प्रत्यक्ष रूप से देखना होगा और वैज्ञानिक ढंग से उसे समझना होगा।”

जनता के बीच जाकर उनके जीवन की वास्तविकताओं और समस्याओं को नजदीक से समझना और फिर उस जीवन से संबंधित साहित्य के मूल्यांकन के टूल्स विकसित करना- यह आलोचना पद्धति है प्रो. तलवार की जो उन्हें हिंदी के अन्य आलोचकों से अलग एक एक्टिविस्ट आलोचक की पहचान देती है। झारखंड के

आदिवासियों के बीच लंबे समय तक काम करने और उनके संघर्षों में लगातार उनके साथ रहने के कारण आदिवासी समाज एवं संस्कृति को और आदिवासी समाज के सत्य को गहराई से समझने का अवसर प्रो. तलवार को मिला। इसका बहुत गहरा असर तलवार जी के आलोचकीय व्यक्तित्व के निर्माण पर दिखाई पड़ता है। दरअसल प्रो. तलवार यहीं से आदिवासी समाज को देखने-समझने की दृष्टि अर्जित करते हैं। आदिवासियों का इतना लंबा और सक्रिय सान्निध्य ही प्रोफेसर तलवार को हिंदी में आदिवासी समाज, संस्कृति और साहित्य के सबसे गंभीर और प्रामाणिक अध्येता के रूप में प्रतिष्ठित करता है। प्रो. तलवार जब आदिवासियों के जीवन को केंद्र में रखकर लिखे गए उपन्यासों की आलोचना करते हैं तब उनकी अनुभवी दृष्टि रचना की उन तमाम विसंगतियों को एक झटके में पकड़ लेती है, जो लेखक की आदिवासी समाज की सतही, आधी-अधूरी अथवा पूर्वग्रहपूर्ण समझ के कारण पैदा हुई है। बांग्ला की बहुचर्चित और प्रतिष्ठित लेखिका महाश्वेता देवी को 'आदिवासी समाज की सीमित और सतही जानकारी के बल पर अपना नाम कमानेवाली लेखिका'³ कहने का बौद्धिक साहस प्रोफेसर तलवार जैसा आदिवासी समाज के सत्य को पहचानने वाला एक्टिविस्ट आलोचक ही कर सकता है। महाश्वेता देवी के संबंध में तलवार जी की टिप्पणी है- "बांग्ला की महाश्वेता देवी का हाल यह है कि वे आदिवासी समाज का जितना ही अधिक चित्रण करती हैं, उतनी ही अधिक गलतियाँ करती हैं। ...उनके उपन्यासों में किसी भी आदिवासी गाँव का सही नाम या सही उच्चारण नहीं मिलता।"⁴

हिंदी में आदिवासियों के जीवन को आधार बनाकर लिखा गया एक उपन्यास है 'वनलक्ष्मी'। 'वनलक्ष्मी' उपन्यास के लेखक योगेंद्र नाथ सिन्हा की भी प्रोफेसर तलवार बहुत ही कड़े शब्दों में आलोचना करते हैं। उपन्यासकार एक आदिवासी स्त्री- बुधनी को इस रूप में चित्रित करता है कि उसे (बुधनी को) अपने आदिवासी समाज के गाँवों के बीच अपना सौंदर्य नष्ट होता हुआ दिखता है और बाहरी लोगों- 'दिकु'- के बीच ही उसे अपनापन और अपने सौंदर्य की सार्थकता दिखती है। किसी भी आदिवासी समाज को भीतर से जानने वाला व्यक्ति, यदि वह पूर्वग्रहग्रस्त न हो, आदिवासी स्त्री की भावनाओं को इस रूप में चित्रित कर ही नहीं सकता। यह आदिवासी समाज का चरित्र है ही नहीं। प्रोफेसर तलवार आदिवासी इलाकों में लंबे समय तक एक एक्टिविस्ट के रूप में काम करते रहने के अपने अनुभव से आदिवासी समाज और संस्कृति को बहुत ही बारीकी से पहचानते हैं। यह एक्टिविज्म ही प्रोफेसर तलवार को वह आत्मबल और बौद्धिक प्रखरता प्रदान करता है, जिसके बूते वह 'वनलक्ष्मी' उपन्यास के लेखक की कड़ी आलोचना करते हैं और 'वनलक्ष्मी' उपन्यास में आदिवासी समाज के चित्रण को 'केवल मूर्खतापूर्ण और दुष्ट कल्पना जन्य चित्रण'⁵ कहते हैं। उपन्यासकार योगेंद्र नाथ सिन्हा की आदिवासियों के प्रति दृष्टि की बिल्कुल ठीक आलोचना करते हुए प्रोफेसर तलवार अपने एक अन्य लेख में भी लिखते हैं- "आदिवासियों का चित्रण करने वाली यह सबसे घटिया किस्म की दृष्टि है जिसमें आप अपनी जातिप्रथा से ग्रस्त ब्राह्मणवादी संस्कृति और उसके मूल्यबोध को पैमाना बनाकर आदिवासियों का उद्धार करने की इच्छा रखते हैं।"⁶

प्रोफेसर तलवार की आलोचना-भाषा और भाषा संबंधी मान्यताओं पर भी अलग से बात करने की जरूरत है। तलवार जी की भाषा-दृष्टि के निर्माण में भी उनके एक्टिविस्ट जीवन की बहुत बड़ी भूमिका रही है। एक एक्टिविस्ट का लक्ष्य हमेशा यही होता है कि उसकी बात ज्यादा-से-ज्यादा लोगों द्वारा ठीक-ठीक समझी जाए। भाषा की संप्रेषणीयता एक सामाजिक कार्यकर्ता के लिए बहुत बड़ी चुनौती है। इसके लिए जरूरी है कि आप भाषा के पंडितारूपन से मुक्त होकर आम बोलचाल की भाषा का व्यवहार करें। तलवार जी ने अपने सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता के जीवन में इस बात को व्यावहारिक तौर पर समझा। अपनी किताब 'नक्सलबाड़ी के दौर में' की भूमिका में तलवार जी ने लिखा है- "फिलहाल निकालने के सिलसिले में ही मैंने हिंदी भाषा के उस पंडिताऊ रूप से मुक्ति पाई जो पिछले कई सालों से मैंने स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय में हिंदी साहित्य पढ़ते हुए सीखी थी। पंडिताऊ हिंदी से छुटकारा अपने आप नहीं मिला। इसके लिए सजग रहकर बराबर जूझना पड़ा। जूझने की जरूरत सबसे ज्यादा ए.के. राय की यूनिन में कोयला खदान अंचल में जाने से पड़ती थी। वहाँ पहुँचते ही मुझे हैंडबिल, पेंफलेट वगैरह लिखने के काम में लगा दिया जाता था। आम सभा, विरोध प्रदर्शन या किसी

मारपीट-हत्या को लेकर लिखे जाने वाले इन हैंडबिलों को खदान मजदूरों के लिए बहुत आसान और चलती भाषा में लिखना होता था। मैं बार-बार लिखकर अपने लिखे को काटता। इसी रास्ते से चलकर मैं किताबों की हिंदी से निकल कर किसी हद तक आम लोगों की हिंदी तक पहुँचा।”

तलवार जी का पूरा लेखन भाषा के इस पंडिताऊपन से मुक्त है। कहीं कोई उलझाव नहीं, कहीं किसी बात को गोलमोल घुमाकर कहने की कोशिश नहीं, बिल्कुल सीधी-सटीक बात, जिसे समझने में पाठक को जरा-सी भी मशक्कत करने की जरूरत नहीं। भाषा की ऐसी स्पष्टता विचारों की स्पष्टता के बिना संभव नहीं। दरअसल ऐसी ही भाषा आलोचना की भाषा का आदर्श होनी चाहिए।

भाषा संबंधी उपर्युक्त दृष्टि का तलवार जी के लेखन और चिंतन पर गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। उन्नीसवीं सदी के ‘हिंदी नवजागरण’ (जिसे तलवार जी ‘हिंदू नवजागरण’ मानते हैं) पर लिखी गई उनकी सर्वाधिक चर्चित किताब ‘रस्साकशी’ की बुनियाद में तलवार जी की यही भाषा-दृष्टि है, जो उन्होंने खदान मजदूरों के बीच काम करते हुए अर्जित की थी। रामविलास जी जैसे आलोचक हिंदी प्रदेश के जिस नवजागरण को ‘हिंदी नवजागरण’ के रूप में स्थापित कर चुके थे, उसे ‘हिंदू नवजागरण’ के रूप में देख पाने की दृष्टि प्रोफेसर तलवार को उनकी उसी भाषा-दृष्टि से मिलती है। अपनी इसी स्पष्ट भाषा-दृष्टि के आधार पर तलवार जी निर्मल वर्मा की कथा-भाषा की भी बिल्कुल सटीक आलोचना करते हैं। तलवार जी की खासियत है कि वे किसी रचना या रचनाकार की आलोचना करते हुए साहित्य और समाज के अंतर्संबंध को कभी अनदेखा नहीं करते। भाषा की सामाजिकता का भी वे हमेशा ध्यान रखते हैं। यही कारण है कि रचनाकार का वाग्जाल उन्हें जरा भी आकर्षित नहीं करता और वह उसकी कड़ी आलोचना करते हैं। निर्मल वर्मा की ‘काव्यात्मक’ कथा-भाषा की आलोचना करते हुए प्रोफेसर तलवार लिखते हैं- “काव्यात्मक भाषा लिखते हुए निर्मल अक्सर जुनून में आ जाते हैं, जैसे कोई लेखक भाषा के घने जंगल में दौड़ता चला जाए और यह भूल जाए कि उसे पहुँचना कहाँ है, रुकना कहाँ है। इस जुनून में आकर निर्मल एक के बाद एक शब्दों को पकड़ते चलते हैं, लेकिन जिस वस्तु का बोध कराना है, उसे भूल जाते हैं।”⁸

निर्मल वर्मा की कहानियों पर लिखे अपने सुदीर्घ और सुचिंतित लेख में प्रोफेसर तलवार कथा-भाषा पर बड़ी ही बारीकी से विचार करते हैं और इसी क्रम में कथा-भाषा के संदर्भ में उनकी सैद्धांतिक मान्यताएँ भी स्पष्ट होती हैं। कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं-

◆ “काव्यात्मक भाषा, कल्पना का चमत्कार, रहस्यात्मकता तथा ऐसे ही दूसरे कला-तत्त्व जब किसी वस्तु या भाव-सत्य को संप्रेषित करने या उसे रूपायित करने का माध्यम न रहकर स्वयं ही प्रधान हो उठते हैं, तो वे अपना मूल्य और सौंदर्य भी खोने लगते हैं।”⁹

◆ “जब भी कला के तत्वों को वस्तु-सत्य के उद्घाटन या संप्रेषण का माध्यम न मान कर उन्हें ही वस्तु-सत्य की जगह प्रतिष्ठित किया जाएगा, हम कलावाद की ही दिशा में आगे बढ़ेंगे।”¹⁰

◆ “भाषा में उपमाएँ दो तरह से आती हैं; एक, यथार्थबोध से, दूसरे, कल्पना से। कल्पना से उपमाएँ अधिकतर बनावटी होती हैं और उनका उद्देश्य चमत्कार दिखाना होता है। लेखक में चमत्कार-वृत्ति जितनी ही अधिक होगी, उपमाओं की खोज में वह उतना ही कल्पना से अधिक काम लेगा।”¹¹

◆ “उपमाएँ यथार्थ को कलात्मक ढंग से ग्रहण करने की लेखक की अपनी विशिष्ट प्रवृत्ति को दर्शाती हैं। इन उपमाओं से लेखक न सिर्फ यथार्थ के बोध को प्रखर करता है, बल्कि इन्हीं उपमाओं के जरिए वह एक छोटे से ब्योरे के यथार्थ को भी, उसके सार तत्व को निचोड़कर, कलात्मक ढंग से पुनर्गठित करता है।”¹²

◆ “अगर उपमाएँ किसी वस्तु, स्थिति या भाव के स्वरूप को और स्पष्ट नहीं करतीं, उसकी अनुभूति या बोध को तीव्र नहीं बनातीं, तो वे सिर्फ वाग्जाल हैं।”¹³

हम देख सकते हैं कि कथा-भाषा संबंधी तलवार जी की उपर्युक्त मान्यताओं में सर्वाधिक जोर भाषा

के माध्यम से वस्तु-सत्य के संप्रेषण पर है। कला के तमाम दूसरे तत्व वहीं तक स्वीकार्य हैं, जहाँ तक वे वस्तु-सत्य के संप्रेषण को तीव्र या स्पष्ट करने में सहायक हैं। जाहिर है प्रोफेसर तलवार भाषा के कलावाद को नकारते हैं और भाषा के जनवाद का समर्थन करते हैं।

भाषा की संप्रेषणीयता को लेकर प्रोफेसर तलवार की सजगता उनके अन्य लेखों में भी दिखाई पड़ती है। उनके लिए किसी भी रचना की सार्थकता की एक महत्वपूर्ण कसौटी है उसकी भाषा। उनका मानना है कि “जिस आलोचना में रचना की भाषा पर विचार न किया जाए, उसको अधूरी समझना चाहिए।”¹⁴ यह अकारण नहीं है कि प्रोफेसर तलवार ने जिस किसी भी रचना और रचनाकार पर लिखा है, उसकी भाषा की पड़ताल जरूर की है। संजीव के महत्वपूर्ण और बहुचर्चित उपन्यास ‘धार’ की विषय-वस्तु को पसंद करने के बावजूद उसकी भाषा की तलवार जी निर्मम आलोचना करते हैं, लेकिन उदाहरण दे-देकर, हवा-हवाई नहीं। बीसियों उदाहरण देकर प्रोफेसर तलवार अपनी बात कहते हैं कि “इस भाषा में न संप्रेषणीयता है, न अभिव्यक्ति का सौंदर्य। इसमें सिर्फ व्याकरण की तोड़-मरोड़ है। ...भाषा के ऐसे प्रयोग से गद्य में वैसी ही चमक पैदा होती है जैसे धूप में शीशे को तिरछा करके चमकाने से पैदा होती है। इस चमक से हमें चीजों को साफ देखने में सहायता नहीं मिलती, उल्टे इसकी चकाचौंध से आँखें मिचने लगती हैं।”¹⁵

प्रोफेसर तलवार के आलोचना-कर्म की एक बहुत बड़ी विशेषता है शोधपरकता। यह उन्हें एक अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक आलोचक की पहचान देती है। तलवार जी के पूरे लेखन को देखने पर यह बात साफ तौर पर कही जा सकती है कि उनकी तर्क पद्धति और अपनी बात को एकाधिक प्रमाणों के साथ ठोस तरीके से रखने की शैली अद्वितीय है। हिंदी के बहुत कम आलोचकों के लेखन में यह शैली दिखाई पड़ती है। आमतौर पर हिंदी में आलोचकों द्वारा अपने लिखे को आप्त वाक्य मानने की ही परंपरा रही है जिसे किसी प्रमाण से पुष्ट करने की जरूरत नहीं है। यह अकारण नहीं है कि ऐसे तमाम ‘दिग्गज आलोचकों’ के लेखन में सारे संदर्भ मौखिक और स्मृति आधारित मिलते हैं, जिन्हें ढूँढ़कर क्रॉस चेक कर पाना लगभग असंभव होता है। यह दरअसल आलोचना के नाम पर एक किस्म की फतवेबाजी है। लेकिन दिलचस्प बात है कि हिंदी आलोचना के ‘धुरंधरों’ ने इसी शैली को उत्कृष्ट आलोचना की शैली के रूप में मान्यता दी हुई है। यदि कोई आलोचक ठीक-ठीक संदर्भों को उद्धृत करते हुए ठोस तरीके से अपनी बात रखता है तो उसे आलोचक के बजाए शोधकर्ता कहकर उसे तथाकथित आलोचकों के ‘क्लब’ से बाहर रखा जाता है। हिंदी आलोचकों की इस प्रवृत्ति से हिंदी आलोचना का नुकसान हुआ है और उसमें अराजकता बढ़ी है। ऐसे में प्रोफेसर तलवार का आलोचना-कर्म आश्वस्त करता है, हौसला देता है।

तलवार जी ने 2001 में ‘समयांतर’ पत्रिका में एक लेख लिखा था जो अब उनकी किताब ‘सामना’ में संकलित है- ‘अकादमिक संस्थानों में हिंदी बुद्धिजीवी’। यह लेख काफी चर्चित हुआ। अपने इस लेख में हिंदी आलोचना के पिछड़ेपन की ओर संकेत करते हुए प्रोफेसर तलवार ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि “हिंदी का औसत आलोचक शोध और आलोचना के संबंध को बिल्कुल नहीं समझता। वे शोध के प्रति ऐसी धारणा रखते हैं मानो यह कोई अलग अनुशासन, अलग विधा या कोई अलग काम हो जिसका आलोचना से कोई लेना-देना नहीं है। ...कहने की जरूरत नहीं कि यह शोध के प्रति निहायत गलत दृष्टि है जिसकी वजह से खुद हिंदी आलोचना भी पिछड़ेपन का शिकार है। शोध भी आखिरकार आलोचना ही है। ...अकादमिक संस्थानों की तरह हिंदी आलोचना में भी शोध संबंधी धारणा को बदलने की जरूरत है।”¹⁶

तलवार जी ने अपने आलोचना-कर्म के जरिए शोध और आलोचना के फासले को कम किया। उनका लेखन इस धारणा को पुष्ट करता है कि एक बेहतरिनी आलोचना को अनिवार्यतः शोधपरक होना चाहिए। उनकी शैली यही है। वे कोई भी आलोचना ठोस तर्क और प्रमाणों के साथ करते हैं और इन प्रमाणों को जुटाने के लिए गंभीर शोध करते हैं। यह अकारण नहीं है कि ‘हिंदी नवजागरण’ पर लिखी उनकी बहुचर्चित किताब ‘रस्साकशी’ से हिंदी के तमाम ‘दिग्गज आलोचकों’ को तिलमिलाहट तो हुई, लेकिन कोई भी उनकी स्थापनाओं का तार्किक

और प्रामाणिक खंडन न कर सका। तलवार जी की यही शोधपरक शैली उन्हें एक प्रामाणिक आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

तलवार जी के व्यक्तित्व में रचा-बसा एक्टिविज्म उन्हें विशुद्ध पाठवादी आलोचक होने से बचाता है। यह एक्टिविज्म ही उन्हें रचना के साथ-साथ उस समाज को समझने के लिए प्रेरित करता है, जिसमें रचना पैदा होती है। यह एक्टिविज्म ही उन्हें आलोचना का 'चेयरपर्सन' (बंद कमरे में कुर्सी पर बैठकर आलोचना लिखने वाले) बनने से बचाता है और उन्हें एक 'यायावर आलोचक' के रूप में गढ़ता है। इधर पिछले कुछ वर्षों से प्रोफेसर तलवार ने पूर्वोत्तर के आदिवासी समाज और साहित्य का अध्ययन करना शुरू किया है। इसके लिए पिछले कुछ वर्षों में कई बार उन्होंने पूर्वोत्तर की यात्रा की। सौभाग्य से कई यात्राओं में मुझे उनके साथ रहने का अवसर मिला। उन यात्राओं में साहित्य और समाज के संबंधों का विश्लेषण करने वाली तलवार जी की सूक्ष्म दृष्टि को और भी नजदीक से देखने और उससे सीखने का मौका मिला। पूर्वोत्तर के अलग-अलग आदिवासी गाँवों में जाना, वहाँ के लोगों से मिलना, उनके बीच दो-एक दिन समय बिताना, खाना-पीना और उनकी समस्याओं को समझना, इसके अलावा पूर्वोत्तर के साहित्यकारों-बुद्धिजीवियों से मिलना, उनके सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक सरोकारों को समझना और फिर अन्य प्रामाणिक स्रोतों से उनकी पुष्टि करना - यह शैली है प्रोफेसर तलवार के अध्ययन की, जिसका मैं व्यक्तिगत रूप से साक्षी रहा हूँ और जिसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। इधर तलवार जी के कुछ लेख 'तद्भव' और 'समयांतर' पत्रिकाओं में छपे हैं, जिनमें पूर्वोत्तर के आदिवासी समाज के उनके अध्ययन की झलक दिखलाई पड़ती है।

संदर्भ :

1. वीर भारत तलवार (संपा.), नक्सलबाड़ी के दौर में, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, 2007, पृष्ठ- 640
2. वही, पृष्ठ- 629
3. वीर भारत तलवार, झारखंड के आदिवासियों के बीच, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ- 455
4. वही, पृष्ठ- 437
5. वही, पृष्ठ- 429
6. वीर भारत तलवार, आदिवासी और आदिवासी साहित्य की अवधारणा (लेख), तद्भव-34, संपादक-अखिलेश, दिल्ली, पृष्ठ- 43
7. नक्सलबाड़ी के दौर में, पृष्ठ- 27
8. वीर भारत तलवार, सामना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ- 128
9. वही, पृष्ठ- 156
10. वही, पृष्ठ- 157
11. वही, पृष्ठ- 131
12. वही, पृष्ठ- 131
13. वही, पृष्ठ- 131
14. झारखंड के आदिवासियों के बीच, पृष्ठ- 442
15. वही, पृष्ठ- 443
16. सामना, पृष्ठ- 265



हाहाकार कहाँ से पड़्या

■ बृजेश यादव

शुरू यहीं से करें कि प्रोफेसर तलवार से ‘गोदान’ उपन्यास पढ़ते हुए हमने जाना कि होरीराम महतो जिन उसूलों को सिर माथे धरकर छोटे किसान जीवन की छोटी-मामूली खुशियाँ तलाश करता रहा, वही उसूल उसे तिल तिल तड़पकर मरने की दिशा में ले गए। इन उसूलों (मर्यादा, इज्जत, प्रतिष्ठा, परोपकार, क्षमा, दया, संयम, त्याग वगैरह) की संस्थाएँ काम कर रही हैं ‘गोदान’ के समाज में-धर्म है, जाति है, परिवार है, विवाह है, पुरोहिती है, जमींदारी है इत्यादि। प्रेमचंद के उपन्यास में आया है सब। शोषण-दमन का पक्ष है ही। तलवार जी के दृष्टिमान अध्यापक की विशेषता यह रही कि - उन्होंने हमें यह दिखा दिया कि जिसे वह कर्तव्य मानकर कर रहा है / कर रही है, उस काम को करने में उसी की मनुष्यता का हनन हुआ जा रहा है। यानी यह समाज जिन मूल्यों के आधार पर संचालित है, वे उसूल व्यक्ति को आत्मघात की दिशा में ढकेल रहे हैं। ‘गोदान’ के समाज का मूल्यतंत्र होरी व धनिया को जिस विचित्र फँसान में डाल रहा है, वह वैल्यू सिस्टम जिन संस्थाओं से पोषित है, उन संस्थाओं का रेशा रेशा उजाड़कर रख देता था वह अध्यापक हम लोगों की नंगी आंखों के सामने। यह औपनिवेशिक कृषि तंत्र है जो ‘गोदान’ का खलनायक है - पुरोहिती व जमींदारी के कंधों पर सवार- जिसने रूपा को बेचने की हद तक मजबूर करके होरी को मरणांतक पीड़ा पहुँचाई।

आत्मघात में जुटे हुए चरित्र को देखना-यह हमारी सामाजिक आत्मा की छवि है, अपनी हर गतिविधि में इन-इक्विलिटी प्रोड्यूस कर रहे सोशल सिस्टम की यह सबसे विहंगम छवि है। लेखक के रूप में प्रेमचंद ने जो अ-दिखित देखा, प्रोफेसर तलवार के अध्यापक ने हम सबको वही दिखा दिया। विहंगम इसलिए कि यहाँ से ‘फ्युडल माइंड’ का ऑपरेशन देखा जा सकता है यानी सामंती मूल्य-तंत्र की पूँजीवादी कारस्तानी देखी जा सकती है। इस तथ्य को हम रेखांकित करना चाहते हैं कि अपने ही पतन के जश्न में शरीक होने की बेबसी को, पीछे बढ़ने की जिद में मगरूर होने के हाहाकार को यानी सामाजिक संरचना की कार्यवाही के हॉरर की हकीकत को जन मन से एकाकार हुए बगैर नहीं समझा जा सकता। इस बेबसी और इस हाहाकार के अनुभव व संवेदना को ज्ञानात्मक धरातल पर ठीक ठीक पहुँचाने का मतलब वंचना की निर्मिति की सच्चाइयों का साक्षात्कार करना है।

यह तलवार जी का एक्टिविस्ट है जो मजदूरों के बीच जाकर वह दृष्टि अर्जित कर सका - जो वीर भारत को होरी-धनिया की आत्मघाती फँसान की वास्तविकता ‘देखने’ की दिशा में ले गई। यहाँ से सिस्टम की समस्या और बदलाव की जरूरत व गंभीरता का जो रूप सामने आया वह हमारे अध्यापक को न केवल सबसे अलग करता गया बल्कि विशिष्ट बनाता गया। यह वैचारिक प्रखरता, घटित की तह तक गतिमान राजनैतिक बोध की स्पष्टता से आती है जिसने एक्टिविस्ट को त्रिकालदर्शी आत्मविश्वास दिया, अकायमान ओज दिया, मनमोहक वक्तृता दी, जरूरतों व इच्छाओं की मिथ्या चेतना से खबरदार रहने और सत्य व न्याय के लिए अड़ जाने, लड़ जाने की अनमोल दबंगई दी। वैचारिक सफाई के स्तर पर हिंदी में अभी दूसरा कौन स्कॉलर है जिसका नाम वीर भारत के साथ लिया जा सके, आप देख लीजिए। कहने को ऊपर ऊपर की दूसरी बहुत सी बातें हैं पर व्यक्ति

के शोषण दमन और उसकी सामाजिक अवस्थिति को रचना के विचारधारात्मक आभरण से अधिक नहीं समझना चाहिए, मुख्य चीज वे मूल्य हैं जिन सिद्धांतों के आधार पर वह चरित्र दिए गए संदर्भ की दुनिया में एक्ट (क्रिया-व्यापार) कर रहा है।

चरित्र की सतह ही रचना की गंभीरता है। चरित्र की शिनाख्त होने के बाद ही किसी विचारक व लेखक की रचना-यात्रा शुरू होती है – वह आगे कहाँ तक जाएगा, यही देखना होता है समीक्षक को, मूल्यांकन होता रहता है। व्यक्ति की सतह पर जरूरतों व मजबूरियों की मड़िया में छपकोरिया मारने वाले मिथ्या चेतना के शिकार लोग प्रभुत्वशाली विचारधारा के कैरियर हैं – हिंदी के तथाकथित ‘नायकों’ और ‘महानायकों’ की प्रतिष्ठित उछलकूद और सफल लीपापोती उनकी वैचारिक दृष्टिहीनता, सामाजिक क्षुद्रता व चारित्रिक निम्नता से अधिक कुछ नहीं है।

चरित्र की पहचान कोई एक ठहरी हुई स्थिति नहीं है कि एकबार देव का ‘दर्शन’ कर लिया गया, फिर उसी का जाप किये रहिये – ऐसा नहीं हो सकता। वह चरित्र चूँकि हर संदर्भ में गतिमान है इसलिए किसी भी संदर्भ में सामाजिक आत्मा की गति की तलाश हर मोड़ पर अ-देखा दिखा देगी, नई व्याख्या पेश कर देगी, नया विश्लेषण हाजिर कर देगी। हमारी सामाजिक आत्मा के आत्मघात के हाहाकार की हकीकत के निकटतर चलते जाने की कोशिश में ही कोई लेखक व रचनाकार विकसित होता है। इस प्रक्रिया में समूचा जीवन खर्च हो सकता है। किसी भी विचलन की स्थिति में दृष्टि की वह चमक धुँधली हो सकती है जो किसी को चार्वाक, किसी को भरतमुनि, किसी को सरहपाद, किसी को कबीर, किसी को मुक्तिबोध और किसी को ‘विद्रोही’ बनाती है। यह बड़ी कतार है जिसमें शामिल होने की तलब वीर भारत को अकेला करती चली गई है। आप अपने सत्य के प्रति ईमानदार हो जाएँगे तो अकेले हो जाएँगे – यह हिंदी से बढ़कर हमारे मध्यदेश का सच है। सांप्रदायिक चेतना का संवहन कर रही हिंदी जबान की संकुचित होती जा रही दुनिया में सही वही है जिसे विपक्षियों के संग पक्षी भी यानी सब मिलकर गलत ठहरा दें – प्रोफेसर तलवार की भूमिका को यहाँ से देखिएगा तब उस सच्चे क्रांतिकारी की वास्तविक छवि सामने आएगी जिसने अपने हिस्से का पहरा जागने में भरहीँ कोई कसर बाकी नहीं रहने दी है।

इसी हाहाकार के लिए कहा गया है—

कविता सोनर जबर बनइब्या
पत्ती फूल सिंगार सजइब्या
पीड़ा दरद भूख पहिरइब्या
बेबस हौं पिय कइसय देखइब्या
हाहाकार कहाँ से पइब्या ...

वैल्यू सिस्टम की बात हमारे कब्जे में अटक गई। मैं समझता हूँ यही वह जमीन है जहाँ तक पहुँचाकर वे हम लोगों को चकनाचूर कर देते थे, अपने वैचारिक प्रतिपक्षी को भी निहत्था कर देते थे। तलवार जी के अध्यापक का रुतबा यहाँ से देखना चाहिए कि एबीवीपी के लोग भी यह मानने को विवश हो जाते कि भेद के भौतिक आधार पर टिके इस ब्राह्मणवादी जातिवादी सामाजिक तंत्र को ध्वस्त किये बगैर कोई विकल्प नहीं है क्योंकि इस सिस्टम के लाभार्थी पुरोहित व जमींदार भी इसके चक्रांत के दूसरे सिरे पर उलझे हुए हैं।

वैल्यू सिस्टम की बात कितनी महत्वपूर्ण है और सामाजिक गतिकी को समझने के लिए इसकी कार्यवाही को समझना कितना जरूरी है – यह सब आगे चलकर पी.एचडी. के दौरान कुछ और साफ हुआ। वैल्यू सिस्टम की बात करना उन नीतियों, उन सिद्धांतों की बात करना है, उस मेटड की बात करना है जिनकी बुनियाद पर हमारा यह सोशल सिस्टम काम कर रहा है। वैल्यू सिस्टम को ऑपरेट होते हुए देखना, चरित्र का, ऐतिहासिक चेतना का क्रिया-व्यापार देखना है, जिसे यथार्थ भी कह सकते हैं। यह प्रॉपर्टी रिलेशन की ही बात है जिसे संस्कृति

की सतह पर भाषिक व्यवस्था में व विचार तंत्र में भी पकड़ा जा सकता है।

यहाँ दो सवाल उठाकर हम इस बात को और साफ करना चाहते हैं -

भुवनेश्वर ने प्रेमचंद के इंतकाल की खबर सुनकर बमुश्किल एक पैराग्राफ की टिप्पणी में जब यह लिखा कि भविष्य का साहित्य इतिहास इस पूरे दौर में से प्रेमचंद को ले लेगा और बाकी सबको इत्मीनान से छोड़ देगा - तो यह बात कहते समय भुवनेश्वर, प्रेमचंद की रचनात्मकता में ऐसी क्या चीज देख रहे थे जो 'ऑल टाइम ट्रुथ' की तरह पाई जा रही है! आज भी! एक सवाल यह है।

दूसरा सवाल यह है कि मार्क्स-एंगेल्स की थीसिस में वह क्या चीज है कि दर्शनशास्त्र से विज्ञान, राजनीतिशास्त्र से लेकर समाजशास्त्र तक सभी विषयों में उसे पढ़ा जाना लगभग अनिवार्य-सा हो गया है? उन्होंने क्या देख लिया, ऐसा क्या बता दिया कि आप किसी भी विषय की तरफ से आइए - 'मोड ऑफ प्रोडक्शन' व 'प्रॉपर्टी रिलेशन' को देखे बगैर उस संदर्भ का सच आपके कब्जे में आने से रहा। कहना चाहिए कि सिस्टम को ऑरपेट करते हुए देखने में सफल हो गए दोनों, मेथेंड पहचान गए इसलिए पद्धति का सच बोल गए। समाज का सिस्टम जिन सिद्धांतों, जिन नीतियों के आधार पर काम कर रहा है, प्रॉपर्टी के रिलेशन जिन मूल्यों, जिन उसूलों के आधार पर काम कर रहे हैं - इसकी शिनाख्त कर गए दोनों, इसलिए बाद में विकसित हर विषय के लिए अनिवार्य हो गए।

एक्टिविस्ट-विचारक-स्कॉलर-आलोचक एक ही आसन पर चमकते हुए ललाट लेकर बैठे हैं तब इतनी वैचारिक कड़ाई और यह दुर्लभ राजनीतिक सफाई संभव-साकार हो सकी है। आलोचना की 'पॉजिटिव निगेशन' की यह पद्धति लम्बे समय तक होलटाइमर रहे एक मार्क्सवादी के विचार में सीझकर जितने धारदार रूप में तलवारजी के चिंतन में मौजूद है, उसे हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना की एक मूल्यवान उपलब्धि मानना चाहिए। इस पद्धति की विशेषताएँ पहचानकर, यकीन मानिये हम लोग मालामाल हो गए, हमारे पास बातों का खजाना खुल गया।

इतना वेग, इतना प्रवाह, इतनी चोट मुश्किल है कि किसी की वक्तृता में मिल सके। कोई पलक नहीं झपका सकता था, इतना बाँधा हुआ होता था तलवार जी का लेक्चर! दरवाजे की सिटकनी चढ़ने से पहले लपककर पहुँचना पड़ता था। पहले एक नोटबुक देते। तारीख डालकर जब तक सारे विद्यार्थी अपना अपना नाम लिखते तब तक वे साथ लाई गई अध्यापन सामग्री को उलट पलट लेते। फिर एक खखार के साथ जो सम्भाषण शुरू होता उसकी तुलना कविता कला या गीत संगीत की किसी भी उत्कृष्टतम प्रस्तुति से की जा सकती है। आँखें डबाडब भर आई हैं, कनपटी से कपार तक चेहरा पूरा लाल हो गया है, आवाज भाव का मेड़ उपरौंछती जा रही है, सबकी 'सी-सी सटाक' हुई पड़ी है और धनिया, कुन्ती व मृणाल का हजार साल का लहलुहान इतिहास है कि अपवर्चितों की बेबसी का प्रवक्ता धाराप्रवाह गाँजे चला जा रहा है ('आए बेनुला कै चढ़वइया चेहरा पे गाँजि दे तरुवार')। न एकौ वार कम, न एककव वाक्य ज्यादा। लगता कि मानो एक एक शब्द पहंटकर आते हों अच्छी तरह। उन्हें यह मालूम रहता था कि क्या कहना है, इसलिए उन्हें हमेशा विषय पर रहना रहता था - यूँ कि हम खुद उस दुर्गति के साझीदार-जिम्मेदार ठहर जाते। निहत्थे हो जाते। समझिए कि तलवार जी को एक घंटा सुनकर चकनाचूर हो जाते हम। यह ज्ञानात्मक सामूहिक दृष्टि की स्पष्टता थी, मार्क्सवादी विचार की ताकत थी जो निजी संपत्ति-केन्द्रित व्यवस्था के मिथ्याचार को दिलद्वर की तरह खदेड़कर शत्रु-मित्र साफ करती चली जाती थी। उठकर चलने से पहले पूछते 'है कोई सवाल?' और फिर अघाये हुए बाध की तरह जीभ लपकाते हुए मुस्कराते निकल जाते। वही एक क्लास है जिसकी याद आती है तो जेएनयू में फिर से दाखिला लेने को मन लपकता है।

भविष्य में सर्वहारा के नए प्रबोधन और पुनर्जागरण के प्रयास जब संगठित होंगे तो जब पीड़ितों वंचितों का पक्ष सामने आएगा तो उस आत्मघात को दुरुस्त करने का सवाल भी सामने आएगा जो भेदभाव के मूल्य-तंत्र से पोषित है। सृजन के स्तर पर कहें तो किसी रचना को घटनाक्रम की सच्चाई व उत्पादन संबंधों के किन्हीं तथ्यता

व सत्यता में भी देखा जा सकता है लेकिन किसी रचना का ठाकुरद्वारा वह मूल्यतंत्र है जिससे चरित्र के क्रिया-व्यापार नियंत्रित-संचालित हो रहे हैं। जबान का गड़बड़झाला और रीतियों, रिवाजों, कर्मकांडों, मान्यताओं की विचारधारात्मक हचर पचर पीछे छोड़ प्रक्रिया की जगह पर्सन की दिशा में उलझती जा रही ऐतिहासिक चेतना की आत्मघाती दुर्गति को देखना यथार्थ का साक्षात्कार करना है। अन्याय के वैधीकरण की दिशा में ढकेल रहे प्रभुत्वशाली कॉमन सेंस को, आत्मघात के तर्क जुटाने में मुब्तिला अर्द्ध-सामंती आलोचनात्मक बोध को करेक्ट करने के प्रयास भविष्य में जब तेज होंगे तो 'ऑल टाइम टूथ' की पहचान के लिए जिस दृष्टि की जरूरत पड़ेगी तब कई दूसरे साथियों के साथ वीर भारत तलवार की ओर भी निहारना पड़ेगा।

हमारे पक्ष को ठीक से देख लीजिए - हम उस दृष्टि के मुरीद हैं जो दिए गए संदर्भ में घटित हो रही फाइट का, प्रक्रिया का पीछा किया चाहती है। स्ट्रक्चर को देखने लग जाना-यही अपने आपमें बड़ी बात है पर उसकी अगली बात है स्ट्रक्चर को ऑपरेट करते हुए, अँधेरा, अन्याय प्रोड्यूस करते हुए देखने लग जाना। हीनता, निष्ठा, पतन पैदा कर रहे सिस्टम में 'सेवा' कर रहे 'होनहार' की दशा-दुर्दशा का ख्याल कीजिएगा तो उन नीतियों, उन पद्धतियों या उस मेथड की ओर देखना होगा जो प्रॉपटी रिलेशन के रास्ते हमारे लाइफ प्रोसेस को निगमित नियंत्रित कर रहे हैं।

संक्षेप में यह कि शोषण-उत्पीड़न को समाजशास्त्रीय व मनोवैज्ञानिक उखाड़ पछाड़ से निकालकर यथार्थ की जमीन पर समझने की जरूरत जब खड़ी होगी तो यह दिखाना होगा कि वैचारिक स्तर पर, पीड़ित की तरफ से, दमन की प्रक्रिया कहां कैसे घटित हो रही है। अपवंचित का पक्ष, वंचित से आगे इसीलिए है कि वह अपने ही सबऑर्डिनेशन को सेलिब्रेट कर रहा है - भूख, भय, हिंसा, हत्या और छुआछूत का शिकार तो वह है ही। इस सतह से देखा जाएगा तो सर्वहारा के पुनर्जागरण की कठिनाई व चुनौती का और इस जातिवादी सिस्टम को ध्वस्त कर देने की जरूरत ज़ियादा सफाई से समझी जा सकेगी।

सामंतवाद और औपनिवेशिक तंत्र के पीड़ित की दुर्दशा को आइडेंटिटी की सतही उछलकूद से आगे बढ़कर उसकी वास्तविक समस्याओं के साथ देखने के लिए, 'आगे बढ़ने' के पूँजीवादी चक्रांत में उलझने की बेबसी के स्रोतों की शिनाख्त के लिए, वंचित की व्याख्या को मनोविज्ञान व समाजशास्त्र के अनैतिहासिक विश्लेषण से बाहर निकालने के लिए, अनुभव व अस्मिता की व्यवस्थित व्याख्या के लिए हिंदी आलोचना के भक्तिमय आधार को व्यापक किए जाने की जरूरत है। इसके लिए दास्य भाव की आलोचना को कटघरे में खड़ा करना होगा, भक्ति को जागरण मानने से इनकार करना होगा (रामविलास शर्मा स्कूल के सभी विद्यार्थी आज भी भक्ति को जागरण मान रहे हैं जिसमें अपने सारे मतभेद के बावजूद तलवार जी भी हैं!), संयम-त्याग के 'महान' मूल्य तंत्र को वर्गीय दृष्टि से देखना होगा यानी राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की सीमाओं को पहचानकर इतिहास बोध का नया कैनन खड़ा करना होगा। इस कैनन की निर्मिति के लिए गजानन माधव मुक्तिबोध और राजेन्द्र यादव के साथ वीर भारत तलवार की आलोचना दृष्टि से हम भविष्य की रौशनी ग्रहण कर सकते हैं।

'रस्साकशी' में शिवप्रसाद सितारेहिंद को खड़ा करके भक्ति केन्द्रित आलोचना के 'हिन्दी हिन्दू बोध' पर जैसी करारी चोट उन्होंने की है, उसकी धमक मार्क्सवादी साथियों के ठाकुरद्वारे तक गये बिना मानी नहीं है। यह इतिहास में हस्तक्षेप है। यह एक वामपंथी आलोचक के किरदार का निर्वाह है। 'रस्साकशी' में आप भविष्य की उस आलोचना के बीज-तत्व देख सकते हैं जो प्रोसेस और पर्सन के द्वंद्व का टकराव के, फाइट के बिंदु पर पीछा कर रही है - जहाँ से वस्तु के परिवर्तनशील सत्य को या उस संदर्भ के 'ऑल टाइम टूथ' को ज़ियादा नजदीक से देखा जा सकता है। 'हिन्दी-हिन्दू बोध' की समस्या यह है कि वह इन-इक्विलिटी के प्रोडक्शन सिस्टम को देखना नहीं चाहता या देखकर भी उसे डिफेंड करना चाहता है - कई बार अनजाने भी। इस उद्देश्य के तहत वह तरह तरह की लीलाचारी पैतरेबाजी करता रह रहा है। 19वीं सदी के पश्चिमोत्तर प्रांत में धर्म और समाज-सुधार की वास्तविक कोशिशें जिस प्रकार 'हिंदी आंदोलन' में ले जाकर सिकोड़ दी गई और फिर साम्प्रदायिकता के 'लिपटिस'

उगाये गये – अगर आप सामंती दृष्टिहीनता से पीड़ित वंचित समुदाय के सच्चे हितैषी हैं तो – यहाँ से देखिए कि वर्गीय एकता की दिशा में बढ़ने की कोशिशों को साम्प्रदायिकता जिस प्रकार कुचलती चली आ रही है, वह इतिहास के किसी भी विद्यार्थी की चिंता का बिन्दु है।

‘रस्साकशी’ में साम्प्रदायिकता की नटई पकड़ने से हिन्दी आलोचना के ‘हिन्दी हिन्दू बोध’ की भगई खुल गई है इसीलिए वीर भारत का ‘गुनाह’ अ-सहनीय है और ऐतिहासिक है।

आखिरी बात यह कि प्रशस्ति-गायन हमारे उद्देश्य में नहीं हो सकता। असल में हम आलोचना की वह डगर देख रहे हैं जहाँ-जहाँ ढेबरी में तेल डाला गया है, आग बरी है, धुआँ उठा है, अहरा चढ़ा है; जहाँ जहाँ भय और क्रोध को भूख के बिन्दु पर जी लिया गया है; दृष्टि और विचार जहाँ जहाँ टकरा गये हैं वहाँ वहाँ हमारा पहरा है। हम अपने से पहले वाले साथी के बारे में बताना चाह रहे थे आपको। वे भक्ति को जागरण मानने से इनकार करने की दिशा में बढ़ेंगे तो नवजागरण की थीसिस में नए सवाल खड़े होंगे। वे स्वस्थ रहें, कवि विद्रोही के शब्दों में हम उन्हें यह आश्वासन देना चाहते हैं कि –

हम कमेरों की भी क्या कोई जात है
हम कमाने के खाने का परचार ले
अपना परचम लिये अपना मेला लिये
आखिरी फ़ैसले के लिए जाएंगे
अपनी महफिल लिये अपना डेरा लिए
उधर, उस तरफ
जालिमों की तरफ
उनसे कहने कि गर्दन झुकाओ चलो
अब गुनाहों को अपने कबूलो चलो
दोस्तो! उस घड़ी के लिए अब चलो
और अभी से चलो उस खुशी के लिए
जिसकी खातिर लड़ाई ये छेड़ी गई
जो चली जाएगी अंत के अंत तक
हम गुलामी की अंतिम हदों तक लड़ेंगे।

भुवनेश्वर की बात याद आती है तो तलवार जी का बढ़ता अकेलापन देखकर मन भारी हो जाता है। यहाँ आप अपने सत्य के साथ अडिग हो जाएँगे तो अकेले पड़ जाएँगे। यहाँ असफल होने में ही सफल होना है। यहाँ जीते जी महत्वपूर्ण होने का मतलब निरर्थक हो जाना है। पर यह लड़ाई थम नहीं सकती।



‘छोटे-से जीवन की कैसे बड़ी कथाएँ आज कहूँ..’

वीर भारत तलवार : एक परिचय

20 सितंबर 1948 को जमशेदपुर (झारखंड) में लोहे के कारखाने में कार्यरत एक शिक्षित मजदूर परिवार में जन्म। मां का नाम लाजवंती, जालंधर जिले के छोटे से शहर नूर महल की निवासी। पिता का नाम रलाराम तलवार, लुधियाना शहर से सटे गांव डेल्लों के निवासी, एक पटवारी के बेटे। रलाराम लाहौर से विज्ञान की पढ़ाई (पैबण) करके जमशेदपुर में बने नए लोहे के कारखाने टाटा आयरन एंड स्टील कम्पनी (जैब) में 1924 में काम करने आ गए और यहीं बस गए। 1953 में पिता की मृत्यु और 1990 में मां की मृत्यु। लोअर प्राइमरी से लेकर बी.ए. तक की पढ़ाई जमशेदपुर में ही हुई।

जमशेदपुर को ऑरपेटिव कालेज, जमशेदपुर से 1967 में हिंदी में बी.ए. ऑनर्स। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से 1970 में हिंदी में एम.ए.। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से 1984 में पीएच.डी.

पीएच.डी. का विषय- **प्रेमाश्रम और अवध का किसान आंदोलन**

मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होकर कम्युनिस्ट आंदोलन से जुड़े और 1970 का पूरा दशक पटना, धनबाद-बोकारो और रांची-सिंहभूम में एक पूर्णकालिक कार्यकर्ता के रूप में काम किया। झारखंड अलग राज्य के आंदोलन में आगे बढ़कर हिस्सा लिया। अलग राज्य आंदोलन के प्रमुख सिद्धांतकारों में एक।

1978 में रांची में बड़े पैमाने पर **झारखंड बुद्धिजीवी सम्मलेन** का आयोजन किया। झारखंड बुद्धिजीवी परिषद् के पहले महासचिव चुने गए।

1984 से 1989 तक दिल्ली विश्वविद्यालय के अंगरत जाकिर हुसेन कालेज, सत्यवती कालेज (ईवनिंग) और देशबंधु कालेज (ईवनिंग) में अस्थायी तौर पर पढ़ाया। जनवरी 1990 से जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केंद्र में स्थायी नियुक्ति हुई। अगले 24 वर्षों तक जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केंद्र में अध्यापन कार्य किया यहीं से 30 सितम्बर, 2013 को प्रोफेसर के पद से रिटायर।

विशेष रुचि के विषय-

हिंदी भाषा और उसके विकास की समस्याएं, शोध पद्धति और तुलनात्मक भारतीय साहित्य, हिंदी आलोचना, हिंदी कथा साहित्य, प्रेमचंद, 19वीं सदी का बंगला-मराठी नवजागरण और हिंदी प्रदेश तथा दलित, आदिवासी और स्त्री विमर्श।

तीन पत्रिकाओं का संपादन-प्रकाशन किया

1. फिलहाल. 1972-77, पटने से (राजनीतिक-आर्थिक विषयों का पाक्षिक पत्र)
2. झारखंड वार्ता- 1977-79, धनबाद (आदिवासी राजनीतिक आंदोलनों का मुखपत्र)
3. शालपत्र. 1977-79, रांची से (आदिवासी समाज, संस्कृति और साहित्य का त्रैमासिक पत्र)

सम्मान

1. झारखंड के आदिवासियों के बीच सामाजिक-राजनीतिक कामों के लिए आदिवासी संगठन बिरसा मेमोरियल सोसायटी द्वारा 1989 में झारखंड के सर्वोच्च सम्मान **भगवान बिरसा पुरस्कार** से सम्मानित और 2003 में आजसू द्वारा **झारखंड रत्न** की उपाधि से विभूषित।

2. मई 2006 में जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय (नई दिल्ली) द्वारा प्रोफेसर पद के लिए

आमंत्रण मिला, जिसे विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया।

प्रकाशन

1. किसान, राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद: 1918-22; नॉर्दन बुक सेंटर, दिल्ली, 1990 और फिर वाणी प्रकाशन से 2007,
2. राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य: कुछ प्रसंग, कुछ प्रवृत्तियाँ, सरस्वती पुस्तक भंडार, दिल्ली, 1993.
3. हिन्दी नवजागरण की विचारधारा: सत्यार्थप्रकाश: समालोचना का एक प्रयास; भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला, 2001.
4. रस्साकशी: 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत; सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 2002.
5. राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद: प्रतिनिधि संकलन (संपादित); नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, दिल्ली, 2004.
6. सामना: रामविलास शर्मा की विवेचन पद्धति और मार्क्सवाद तथा अन्य निबंध; वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2005.
7. राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद (मोनोग्राफ); साहित्य अकादमी, दिल्ली, 2005.
8. नक्सलबाड़ी के दौर में (संपादित); अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2007.
9. झारखंड के आदिवासियों के बीच: एक एक्टीविस्ट के नोट्स; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2008.
10. झारखंड आंदोलन के दस्तावेज, खंड एक (संपादित); नवारुण प्रकाशन, वसुंधरा, गाजियाबाद, 2017

कुछ महत्वपूर्ण लेख एवं शोध पत्र

1. श्रद्धाराम फिल्लौरी: प्रति-नवजागरण का चरित्र और महत्व; कसौटी, अंक- 13, 2003, पटना।
2. प्रेमचंद और सबाल्टर्न अध्ययन; इन्द्रप्रस्थ भारती, जुलाई-सितंबर, 1991, दिल्ली
3. अछूतोद्धार आंदोलन और सवर्ण हिन्दू; पहल, जुलाई-सितंबर, 1993, जबलपुर
4. हिंदी भाषा विज्ञान की दूसरी परंपरा; पहल, जून-अगस्त 1991, जबलपुर
5. कबीर पर कब्जे की लड़ाई; पल-प्रतिपल, अक्टूबर-दिसम्बर, 1997, पंचकूला
6. दलित, अंग्रेजी और हिंदी; हंस, जुलाई, 2003, दिल्ली
7. दलित पत्रकारिता: नई कसौटी, नए सवाल; हंस, अगस्त, 2004, दिल्ली
8. जैनेन्द्र: स्त्री, प्रेम और विवाह; नया ज्ञानोदय, जुलाई, 2008, दिल्ली
9. राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचंद; पहल, अंक-90, जबलपुर
10. बगावत और वफादारी: 1857 और सैयद अहमद; कथा, अंक-12, अक्टूबर, 2007, इलाहाबाद
11. नाम में क्या रखा है? रेनेसां, नवजागरण और ब्रिटिश ओरिएंटलिज्म? तद्भव, 2010 लखनऊ
12. महाराष्ट्रीय नवजागरण में निरंतरता; तद्भव, अक्टूबर 2012, लखनऊ
13. रामविलास शर्मा: नज़दीकियाँ और दूरियाँ (व्याख्यान); कथा, 2012 इलाहाबाद
14. लोक साहित्य के अध्ययन के सवाल; हंस, 2014 दिल्ली

किताबों में अध्याय

1. यथार्थ का सौन्दर्य: जल टूटता हुआ
डॉ. नित्यानंद तिवारी और डॉ. ज्ञानचंद गुप्त द्वारा संपादित रचनाकार रामदरश मिश्र में शामिल निबंध;
राधा पब्लिकेशन, 1990, दिल्ली
2. Feminist Consciousness in Women's Journals in Hindi

कुमकुम शांगरी और सुदेश वैद द्वारा संपादित Recasting Women: Essays in Colonial History में शामिल निबंध, काली फॉर वुमेन, 1989, दिल्ली

3. सूखा और निर्मल वर्मा

डॉ. प्रेम सिंह द्वारा संपादित निर्मल वर्मा: सृजन और संदर्भ में शामिल निबंध, फिफ्थ डायमेंशन पब्लिकेशन, 1989, दिल्ली

4. दलित आलोचना की कसौटी

राजकिशोर द्वारा संपादित कबीर की खोज में शामिल निबंध, वाणी प्रकाशन, 2001 दिल्ली

5. दलित साहित्य की अवधारणा

चमनलाल द्वारा संपादित दलित और अश्वेत साहित्य में शामिल निबंध, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, 2001, शिमला

6. बजरंग बली, गोमांस और आदिवासी

अभय कुमार दूबे द्वारा संपादित सांप्रदायिकता के स्रोत में शामिल निबंध, विनय प्रकाशन, 1993, दिल्ली

7. स्वायत्ता के लिए आदिवासियों को लम्बी लड़ाई लड़नी है

हरिवंश द्वारा संपादित झारखंड: दिसुम मुक्तिगाथा और सृजन के सपने में शामिल निबंध राजकमल, 2002, दिल्ली

(इसके अलावा पचासों छोटे-बड़े लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित)

प्रकाशित कहानियाँ

1. घर; कहानी, 1964, इलाहबाद
2. विक्षिप्त; नई कहानियाँ, 1967, दिल्ली
3. झूठे क्षणों का भय; नई धारा, 1967, पटना
4. रौताइन; नई धारा, 1969, पटना
5. कनेर के फूल; नई कहानियाँ, 1968, दिल्ली
6. बहुअई पठिअई मूढ़; राष्ट्रवाणी, 1970, पुणे

व्याख्यान: ब्लॉग पर

1. भारतीय राष्ट्र की पुनर्व्याख्या और आदिवासी; <https://tirchhispelling.wordpress.com>
2. मर्दवाद से छुटकारा पाना एक बड़ी सांस्कृतिक लड़ाई है;
<https://tirchhispelling.wordpress.com>
फिलहाल जे.एन.यू. के भारतीय भाषा केंद्र से 30 सितंबर 2013 को प्रोफेसर पद से रिटायर होकर दिल्ली के पास इंदिरापुरम (गाजियाबाद) में निवास।

पता- जे 804, हाइबर्ड, निहो स्कॉटिश गार्डन, अहिंसाखंड- , इंदिरापुरम-201014 (गाजियाबाद), उ.प्र.

ईमेल- virbharattalwar@gmail.com

मोबाइल - 919560857548

[प्रस्तुति : सुचिता वर्मा]

‘छोटे-से जीवन की कैसे बड़ी कथाएँ आज कहूँ..’

रचनाओं की सूची और प्रकाशन वर्ष

शीर्षक	पत्रिका	वर्ष-अंक
1. यशपाल से एक मुलाकात (इंटरव्यू)	संज्ञा	1996
2. परम्परा से जुटे हुए (सन् 60 के बाद की कहानियों पर)	संज्ञा	1965
3. व्यंग्य कहाँ से आता है!	व्यंग्य	1973
4. रौताइन (कहानी)	नई धारा	जन-फरवरी 1969
5. विक्षिप्त (कहानी)	नई कहानियाँ	1967
6. उत्पल दत्त से एक बातचीत	समारंभ	1972
7. अनुभव की ईमानदारी और लेखक	विनिमय	1972
8. पलामू के बँधुआ मजदूर	शालपत्र	1977
9. रेड इंडियंस: अमेरिकी इतिहास का एक गायब अध्याय	शालपत्र	1977
10. मुंडारी पोएट्री इन पर्सपेक्टिव	न्यू रिपब्लिक	अगस्त 1979
11. महान संथाल विद्रोह : 1885-86,	सिंहभूमि एकता	जनवरी 1982
12. झारखण्ड क्या, क्यों और कैसे	झारखण्ड वार्ता	फरवरी 1978
13. झारखण्ड: स्वायत्तता का अधिकार	झारखण्ड वार्ता	जून 78
14. झारखण्ड विरोधियों की एकता	झारखण्ड टाइम्स	सितंबर 70
15. सदान विकास परिषद : विकास का कौन-सा रास्ता	"	नवंबर 78
16. आदिवासी प्रगति के शिकार	मेहनत	जून 79
17. “बाबू साहब की इच्छा थी कि उसपर हमदोनों का नाम रहे”	जनसत्ता	30.9.84
18. वाम लेखक संगठनों का विभाजन	कतार	1990
19. पहाड़ : जनांदोलन में ज्ञान की भूमिका	हंस	मई-जून 1990
20. पृथक्तावाद सिर्फ बहाना है	जनसत्ता	25-8-84
21. रहबर बनने की राह (रहबर की आत्मकथा)	जनसत्ता	16-8-87
22. पहाड़: किसान आंदोलन पहाड़ी ऊँचाइयाँ	हंस	नवंबर 87
23. सूखा और निर्मल वर्मा	हंस	जून-जुलाई 89
24. पिछड़े हुए समाज और पिछड़ा हुआ मार्क्सवाद	आलोचना	अप्रैल-जून 89
25. झारखण्ड आंदोलन : चुनाव बहिष्कार का मुद्दा	साँचा	मई 1989
25. सर्वेश्वर के रचना-संसार की याद	जनसत्ता	16-9-84
26. भगत सिंह क्रांतिकारी आतंकवाद की आखिरी कड़ी	हंस	अप्रैल 87
27. प्रेमचंद की जीवनी का सवाल	कतार	जुलाई-दिसंबर 88
28. सफर हाशमी की हत्या के बाद	कतार	जनवरी मार्च 89
29. गोदान का ट्रेजिक रूप	आलोचना	अप्रैल-जून 90
30. नए विचार का साँचा	जनसत्ता	12-3-89
31. टकराहट और संघर्ष की पहचान	जनसत्ता	8-5-88
32. निर्मल वर्मा की कहानियों का सौंदर्यशास्त्र और समाजशास्त्र	आलोचना	जुलाई सितंबर 89
33. राष्ट्रीय आंदोलन और वर्गीय प्रश्न	साँचा	अक्टूबर 1988
34. प्रेमचंद-शरतचंद्र विवाद 1922-23	आलोचना	अप्रैल-जून 1984

35. छोटानागपुर संधालपरगना में बड़े बाँध का विकल्प	झारखण्ड दर्शन	1988-90
36. क्रिस्टोफर किंग : वन लैवेज टू स्क्रिप्ट The Indian Economic and social History review		1996
37. Misreading premchand "		1991
38. मीजो संघर्ष की की गाथा	वर्तमान साहित्य	सितंबर '99
39. एक जरूरी अनुवाद (अन्याय कोई परंपरा नहीं)		
40. सबाल्टर्न अध्ययन दृष्टि और प्रेमचंद	इंद्रप्रस्थ भारती	जुलाई-सितंबर 1991
41. इंटरव्यू : वामपंथी लेखक संगठनों की मौजूदा स्थिति	कला-1	जनवरी 1999
42. हरिशंकर परसाई पर कुछ नोट्स	इंद्रप्रस्थ भारती	जनवरी 1993
43. दलित साहित्य की अवधारणा	वर्तमान साहित्य	मई-जून 1998
44. दलित कविता : कँवल भारती	पल-प्रतिपल	जुलाई-दिसंबर 1996
45. एक नए ढंग की पत्रिका	विपाशा	नवंबर-दिसंबर 1995
46. हजारी प्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि	इंद्रप्रस्थ भारती	अप्रैल-जून 1992
47. अछूतोद्धर आंदोलन और सवर्ण हिन्दू	पहल 48	सितंबर दिसंबर 1993
48. आक्रोश की जगह अवसाद और खिन्नता	समय चेतना	मार्च 86
49. अच्छी लड़की कौन है?	"	दिसंबर 95
50. उत्पल दत्त: एक राजनीतिक याद	पुरुष	
51. उत्पल दत्त से पहली मुलाकात	"	
52. हिन्दी नवजागरण के अध्ययन का सवाल	पुरुष	सितंबर 93
53. पर्यावरण का सवाल और सामाजिक क्रांति	"	मार्च 93
54. केवल धार	कथा-7	अक्टूबर 92
55. दलित और गाँधीजी: पुनर्व्याख्या के प्रयास की जाँच	पहल 54	
56. हिन्दी भाषा विज्ञान की दूसरी परंपरा	पहल-42	1991
57. कबीर पर कब्जे की लड़ाई	पल प्रतिपल	अक्टूबर-दिसंबर 1997
58. बातें जो कही नहीं जाती	समय चेतना	जून 96
59. अतिरिक्त नैतिकता का बोझ (लौट आ ओ धार)	आजकल	दिसंबर 95
60. प्रगति के शिकार आदिवासी	वर्तमान साहित्य	अप्रैल-जून 1997
61. अंतर्विरोध बुनियादी थे (गाँधी और अंबेडकर)	समय चेतना	अगस्त 95
62. आडवाणी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर	आवाज	27.5.92
63. पक्षधरता का कोई नियम नहीं (लेखक बनाम एक्टिविस्ट)	राष्ट्रीय सहारा	28.7.2002
64. पुरस्कार वापस ले लिया जाए	राष्ट्रीय सहारा	27.7.2003
65. दलित साहित्य के बढ़ते कदम	युद्धरत आम आदमी	अक्टूबर-दिसम्बर 2002
66. राजनीतिक कार्यकर्ता का जीवन ज्यादा पसंद (इंटरव्यू)	राष्ट्रीय सहारा	2.2.03
67. रामविलास शर्मा का व्यापारिक पूँजीवाद	आलोचना	अप्रैल-जून 2001
68. दलित अँग्रेज और हिन्दी	हंस	जुलाई 2003
69. चेखव की कहानियाँ	अक्षर पर्व	
70. ये भ्रम है कि आदिवासी समाज बहुत पिछड़ा है (इंटरव्यू)	दस्तक	2008
71. प्रति नवजागरण का चरित्र और महत्त्व-	कसौटी-13	2003

[प्रस्तुति : राजीव रंजन गिरि]

‘छोटे-से जीवन की कैसे बड़ी कथाएँ आज कहूँ..’

भगवान बिरसा मुंडा पुरस्कार (1987-88) : एक दस्तावेज़

बिरसा मेमोरियल सोसाइटी द्वारा 1987-88 में पुरस्कृत होने वाले महानुभावों के परिचय।

समग्र आदिवासी समुदाय के सर्वतोमुखी विकास के लिए बिरसा मेमोरियल सोसाइटी गत 28 वर्षों से सेवारत है। पिछले दो वर्षों से इसने अपने लोगों में प्रगतिशील कर्म-निष्ठा और उच्चतर सारस्वत चेतना जाग्रत करने के उद्देश्य से अपने इतिहास-पुरुषों की स्मृति में “भगवान बिरसा पुरस्कार” और “गुरु गोमके पं. रघुनाथ मुर्मू पुरस्कार” की एक नयी योजना शुरू की है। ये पुरस्कार ऐसे विशिष्ट मनस्वियों को प्रदान किये जाते हैं जिनके महत् अवदानों से आदिवासी समाज समृद्ध और गौरवान्वित होता है।

इस वर्ष “भगवान बिरसा पुरस्कार” आदिवासियों के परम शुभैषी बिरसा मुण्डा के उज्ज्वल व्यक्तित्व और कृतित्व के प्रखर, बहुमुखी प्रतिभा के धनी और अद्वितीय मानवीय गुणों से सम्पन्न डा. वीर भारत तलवार को और “गुरु गोमके पं. रघुनाथ मुर्मू पुरस्कार” आदिवासी भाषा-साहित्य-संस्कृति के अप्रतिम साधक लेखक, चिंतक एवं उन्नायक फादर जॉन जे. डोनी, एस.जे. को प्रदान कर बिरसा मेमोरियल सोसाइटी अपूर्व गौरव और उल्लास का अनुभव कर रही है। यह एक विरल संयोग ही है कि ये दोनों महानुभाव एक साथ हमारे बीच उपस्थित हैं।

डॉ. वीर भारत तलवार

डा. वीर भारत तलवार का जन्म जमशेदपुर के समीपवर्ती एक ‘हो’ गांव खास महल” में 20 सितम्बर सन् 1948 ई. को हुआ। जहाँ इनके पिता का निर्मित मकान आज भी ‘तलवार बिल्डिंग’ के नाम से है।

इनके पिता जी लाहौर से विज्ञान पढ़कर 1924 ई. को टाटा कारखाना में काम करने आए। यह देश का प्रथम इस्पात कारखाना था। उन दिनों इस्पात कारखाने में काम करने के लिए कुशल मजदूर बहुत कम थे। इस कारखाने में अंग्रेज, रूसी और यहूदी मजदूर तक काम करते थे। जमशेदपुर शहर के आसपास हाथी, भालू बहुत होते थे। उनके पिताजी ने खासमहल में रहना पसन्द किया। उन्होंने वहाँ रहकर ‘हो भाषा’ अच्छी तरह सीख ली थी और वे बोलते भी थे।

डा. वीर भारत तलवार ने सन् 1963 ई. को बिहार माध्यमिक परीक्षा बोर्ड से हायर सेकेण्डरी की परीक्षा ‘प्रथम श्रेणी’ में उत्तीर्ण की। तत्पश्चात् इन्होंने बी.ए. (ऑनर्स) हिन्दी की परीक्षा सन् 1967 ई. को ‘द्वितीय श्रेणी’ में रांची विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण की। एम.ए. (हिन्दी) की परीक्षा इन्होंने सन् 1970 ई. में बी.एच.यू. से पास की। पी.एच.डी. (हिन्दी) की उपाधि उनको जे.एन.यू. (नई दिल्ली) से सन् 1984 ई. को मिली। इनके शोध का विषय ‘प्रेमाश्रम’ और अवध का किसान आन्दोलन’ था।

सन् 1967 ई. में इन्होंने एक साल के लिए पढ़ाई छोड़ दी। इसी बीच इन्होंने ईट भट्टी में काम करने वाले ‘हो’ मजदूरों और टोकरियाँ बनाने वाले ‘माहली’ जाति के लोगों की दुर्दशा देखी। अपने मित्रों के साथ उनकी सहायतार्थ वे पहुँच गये। उनके बच्चों के लिए विद्यालय और बड़े-बूढ़ों के लिए रात्रि-प्रौढ़ पाठशाला तथा बांस उद्योग चलाया। इतना ही नहीं, उनके स्वास्थ्य के लिए इन्होंने दवा आदि का भी प्रबन्ध किया।

सन् 1970 ई. में बी.एच.यू. से एम.ए. की उपाधि लेने के पश्चात् दस वर्षों तक पढ़ाई छोड़कर इन्होंने सामाजिक, राजनैतिक आन्दोलन में भाग लिया। धनबाद, बोकारो के मजदूरों को संगठित करने में इन्होंने मदद

की तथा रांची जिले के डोम्बरी पहाड़ के निकट जोजोहातु-गांव में रहकर मुण्डारी लोक कथाओं का अध्ययन किया और मुण्डारी भाषा सीखी। शीबू सोरेन के टुण्डी इलाके में हुए क्रांतिकारी किसान आन्दोलन का भी इन्होंने अध्ययन किया।

झारखण्ड पार्टी के साथ मिलकर झारखण्ड के विभिन्न क्षेत्रों में झारखण्ड आन्दोलन के कार्यकर्ताओं को राजनैतिक रूप से शिक्षित करने के लिए इन्होंने राजनैतिक क्लास लिया। सन् 1978 ई. में पहली बार नौ राजनैतिक दलों को एक साथ लाकर झारखण्ड संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए इन्होंने पहलकदमी की और संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए आदिवासी भवन (करनडीह) में हुए सम्मेलन की अध्यक्षता की।

सन् 1978 ई. में जब आर.एस.एस. समर्थक, रांची विश्वविद्यालय के उपकुलपति, एन.एन. नड्डा ने आदिवासी तथा क्षेत्रीय भाषाओं के विभाग में होने वाले शिक्षकों की नियुक्तियों के लिए हिन्दी में एम.ए. होने की शर्त बनाकर विज्ञापन दिया तब तेज बारिश में भींगते हुए सैकड़ों आदिवासी छात्र-छात्राओं को लेकर डा. वीर भारत तलवार ने रांची की सड़कों से जुलूस लेकर उप-कुलपति के सामने विरोध प्रकट किया। जिसके फलस्वरूप उप-कुलपति को विज्ञापन वापस लेना पड़ा और आदिवासी शिक्षकों के लिए आदिवासी भाषा-साहित्य के ज्ञान का ही होना शर्त के रूप में मानना पड़ा। शायद रांची में पहली बार भाषा के नाम पर यह पहला जुलूस था।

इन्होंने झारखण्ड की विभिन्न भाषाओं तथा मुंडारी, कुरमाली, उरांव, खोरठा आदि के लेखकों-साहित्यकारों को झारखण्ड बुद्धिजीवी परिषद के मंच पर संगठित करने का प्रयास किया।

कोल्हान इलाके में “गोनोड प्रथा” के विकृत रूप के खिलाफ इन्होंने आवाज उठाई। इन्होंने लेख लिखा जिनका अनुवाद ‘हो भाषा’ में हुआ। कहीं-कहीं आन्दोलन खड़ा करने की भी इन्होंने कोशिश की। इन्होंने हमेशा झारखण्ड आन्दोलन में समझौतावाद का विरोध किया और एक लड़ाकू आन्दोलन को खड़ा करने की कोशिश भी की तथा सीताराम शास्त्री के साथ मिलकर झारखण्ड आन्दोलन को एक सैद्धान्तिक विचारधारात्मक रूप प्रदान करने का सफल-सफल प्रयास किया।

झारखण्ड नेताओं के झारखण्ड के लिए संघर्ष को आगे बढ़ाने से ज्यादा एम.पी. और एम.एल.ए. बनने के लिए सिर्फ चुनाव पर ध्यान टिकाने के खेमे से क्षुब्ध और निराश होकर वे झारखण्ड से अलग हो गये, लेकिन आंदोलन से अलग नहीं हुए। दिल्ली जाने के बाद भी चाईबासा से प्रकाशित ‘सिंहभूमि एकता’ में बराबर लेख लिखते रहे।

इनके अब तक हिन्दी में प्रकाशित लेख निम्नलिखित हैं- संताली हूल, पलामू का बन्धुवा मजदूर, प्रेमचन्द-शरतचन्द्र वाद-विवाद, हिन्दी प्रदेश में समाजवादी चेतना का प्रसार, राष्ट्रीय आन्दोलन और रामचन्द्र शुक्ल, शाल-पत्र, तथा झारखण्ड वार्ता आदि।

इन्होंने अस्थायी शिक्षक के रूप में हिन्दी विभाग में गोसेनर कॉलेज, राँची में 6-1-79 से 16-4-80 तक, तथा जाकिर हुसैन कॉलेज, दिल्ली में 10-1-1985 से 31-10-1985 तक काम किया। फिलहाल देशबन्धु कॉलेज (EVN), कालकजी, दिल्ली में हिन्दी विभाग में कार्यरत हैं।

आदिवासियों के प्रति आपकी निःस्वार्थ सेवा स्मरणीय है। हमें आपसे और भी अनेक आशाएँ हैं। ‘भगवान बिरसा पुरस्कार’ के माध्यम से हम आपको अपनी अशेष श्रद्धा और शुभकानाएँ अर्पित करते हैं।



चित्रशाला

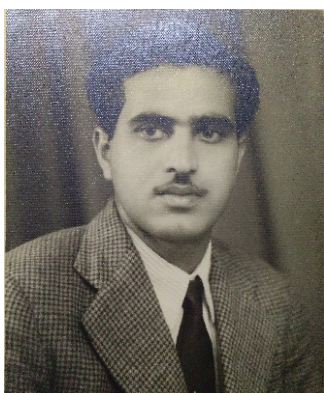
1. माँ, बड़े भाई, भाभी, मंझले भाई और युवक वीर भारत तलवार



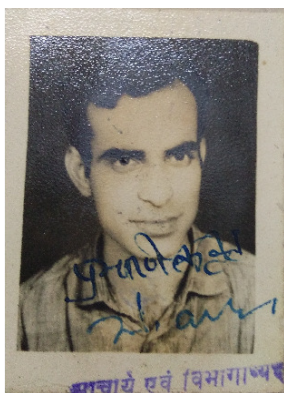
माँ लाजवंती तलवार



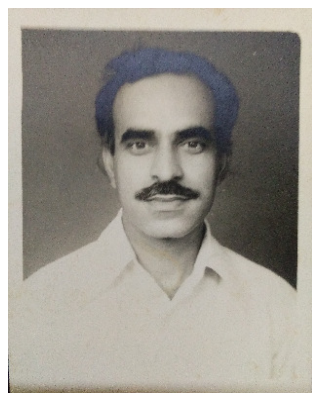
बड़े भाई साहब और भाभी



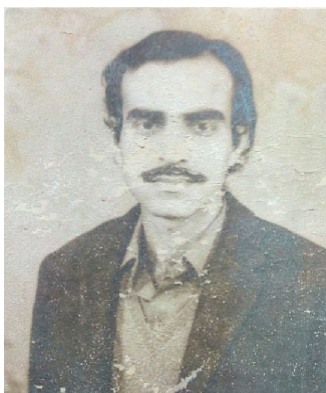
मंझले भाई साहब बलराम
तलवार



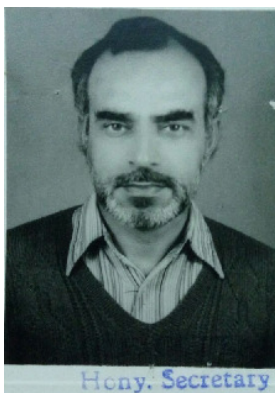
बी.एच.यू. में एम.ए. के दौरान,
1970



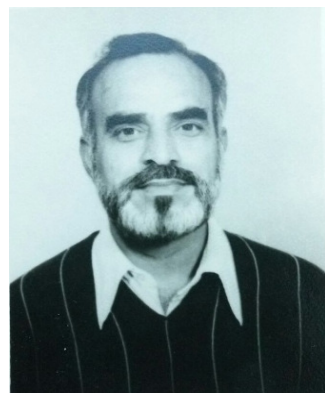
जेएनयू में पीएचडी के दौरान,
1982



युवा काल में वीर भारत (क)



युवा काल में वीर भारत (ख)



युवा काल में वीर भारत (ग)

2. 'ट्राइबल' एवं आदिवासियों के बीच



एक आदी ट्राइबल के घर में, अरुणाचल प्रदेश



एक आदी ट्राइबल के गाँव में, अरुणाचल प्रदेश में



एक आदी ट्राइबल के घर में अभिषेक यादव के साथ,
अरुणाचल प्रदेश



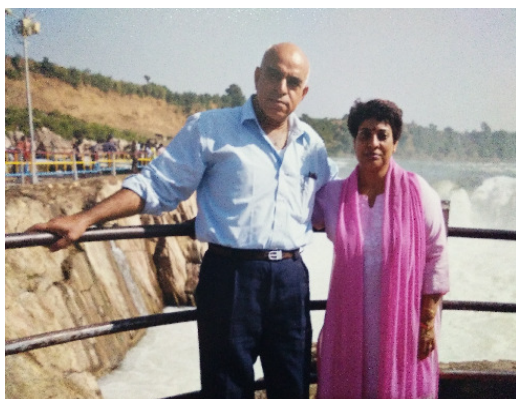
एक आपातानी ट्राइबल वृद्धा के साथ, जीरो गाँव,
दिबांग, अरुणाचल प्रदेश



एक निशी ट्राइबल परिवार के साथ, दिबांग क्षेत्र,
अरुणाचल प्रदेश



किन्नौर (हिमाचल प्रदेश) की सांगला घाटी के
अंतिम गाँव छितकुल में



जबलपुर के पास नर्मदा में भेड़घाट (धुआंधार) में



जोजोहातु गाँव 40 वर्ष बाद दुबारा आने पर पुराने साथियों के साथ, जिला खूंटी, झारखंड



झारखंडी बुद्धिजीवी एवं एक्टिविस्ट प्रेमचंद मुर्मू और उनकी पत्नी सोरेन के साथ



रामदयाल मुंडा के साथ



शिलांग के खासी आदिवासियों के पवित्र वन के सामने, मेघालय



स्टीमर से शरणार्थी चकमा आदिवासियों की बस्ती की ओर जाते हुए, त्रिपुरा



एक आदी ट्राइबल गाँव

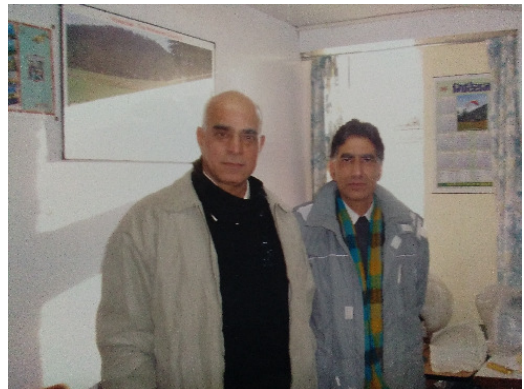


डॉ. प्रेम सिंह और एक स्थानीय किन्नोरी स्त्री के साथ, रिकांगपियो (किन्नौर) में, हिमाचल प्रदेश

3. हिंदी विद्वानों व रचनाकारों के साथ



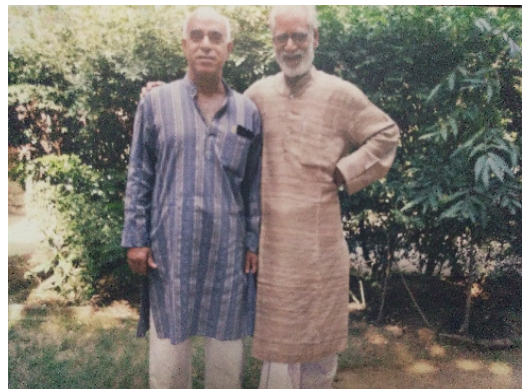
कथाकार अमरकांत जी के साथ उनके घर में, इलाहाबाद



कथाकार एस.आर. हरनोट के साथ, शिमला में



नामवर जी के साथ, जेएनयू में



काशीनाथ सिंह के साथ जेएनयू में



कृष्णा सोबती के साथ उच्च अध्ययन संस्थान,
शिमला में



कृष्णा सोबती के साथ उच्च अध्ययन संस्थान,
शिमला में



चिंतक और कथाकार प्रेमकुमार मणि के साथ



नामवर सिंह और काशीनाथ सिंह के साथ, जेएनयू में



हरिराम मीणा और अरावली उद्घोष के संपादक पथिक
वर्मा के साथ उदयपुर



प्रो. निर्मला जैन के साथ, जेएनयू में



रवीन्द्र कालिया और मैनेजर पांडेय के साथ



सुधीरचंद्र और गीतांजलिश्री के साथ, शिमला



ममता और रवीन्द्र कालिया के साथ



कथाकार शेखर जोशी और आलोचक विजयेन्द्र नारायण सिंह के साथ, मुजफ्फरपुर में

5. गैर हिंदी विद्वानों व रचनाकारों के साथ



खड़िया साहित्यकार और अखड़ा संपादक वंदना टेटे के साथ



धनबाद कोयलरी कामगार यूनियन के नेता रामलाल और अपने उपन्यासकार मित्र मनमोहन पाठक के साथ, धनबाद



प्रसिद्ध नागपुरी कवि शारदा प्रसाद शर्मा के साथ,
गुमला



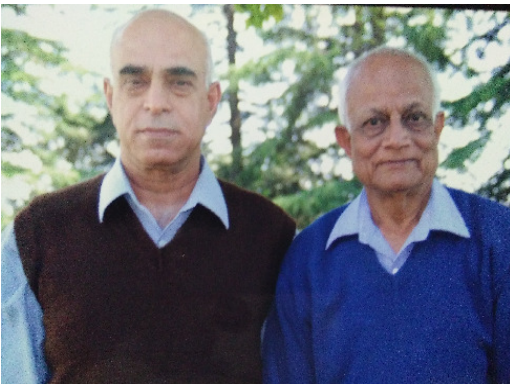
प्रसिद्ध मानवविज्ञानी और इतिहासकार डॉ. कुमार सुरेश
के साथ शिमला में



प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. धीरूभाई शेठ के साथ,
शिमला



मशहूर मराठी कवि, आलोचक और उपन्यासकार
भालचंद नेमाडे के साथ, शिमला में



वैज्ञानिक डॉ. मोहन राम के साथ शिमला में



साहित्य अकादमी के भाषा सम्मान से सम्मानित कुड़ख
(उरांव) आदिवासी भाषा के साहित्यकार डॉ. निर्मल
मिंज के साथ



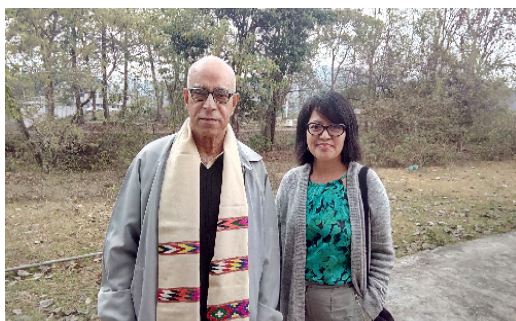
मशहूर पत्रकार अनिल चमड़िया और उनकी पत्नी के साथ, दोईमुख



मुंडारी भाषा के प्रसिद्ध लेखक मंगल मुंडा के साथ उन्हीं के घर में, खूटी झारखंड

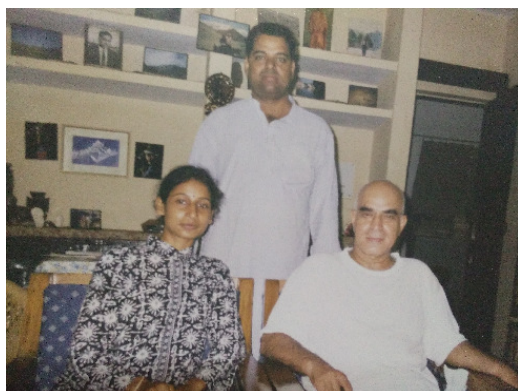


झारखंड आंदोलन के साथी और प्रसिद्ध नागपुरी साहित्यकार डॉ. बी.पी. केसरी के साथ, राँची



निशी ट्राइबल साहित्यकार एवं विश्वविद्यालय अध्यापिका डॉ. जोराम यालाम नाबाम के साथ, दोईमुख

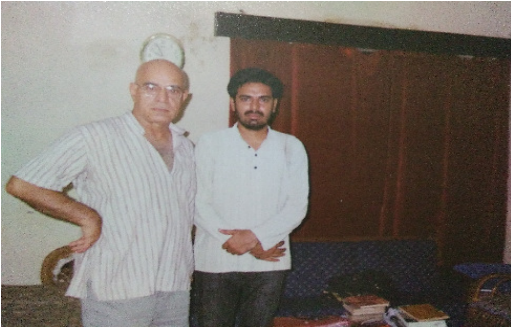
6. जे.एन.यू. के छात्र और वीर भारत तलवार



कमलेश वर्मा एवं सुचिता वर्मा के साथ



अपने शोध छात्रों के साथ



केदार मीणा के साथ

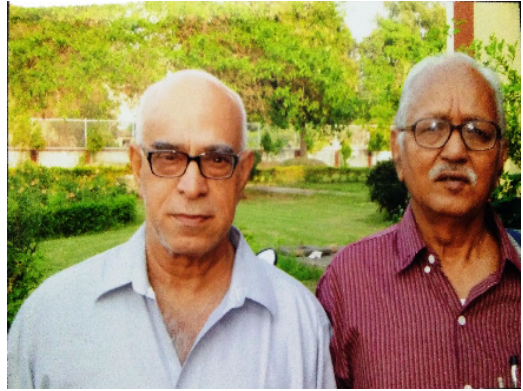


गंगा सहाय मीणा और उनकी पत्नी के साथ

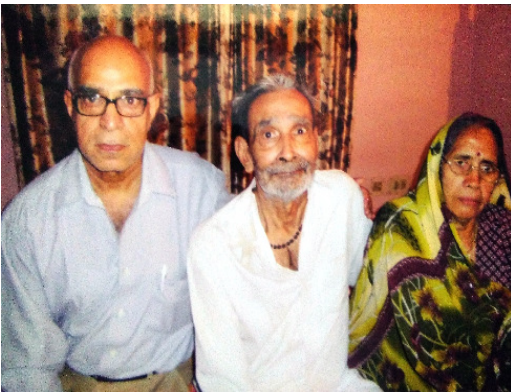
7. मित्रों के साथ



बचपन के दोस्त तुलसी राव, हनुमंत राव और उनकी पत्नी विजयलक्ष्मी के साथ डिमना लेक पर, जमशेदपुर



बी.एच.यू. में अपने घनिष्ठ मित्र और सहपाठी वाचस्पति उपाध्याय के साथ



बीएचयू में अपने पुराने मित्र और राजनीतिक कार्यकर्ता प्रो. रामनारायण शुक्ल और उनकी पत्नी के साथ



राँची के मित्र मृण्मय राय के साथ, 1984

8. श्रद्धेय शिक्षक



अपने कॉलेज के श्रद्धेय शिक्षक डॉ. एन. के. सिंह के साथ, जमशेदपुर



कॉलेज के अपने प्रिय शिक्षक डॉ. सत्यदेव ओझा के चित्र के साथ, जमशेदपुर

9. यात्रा पर (स्वदेश)



पत्नी के साथ कोणार्क के मंदिर में



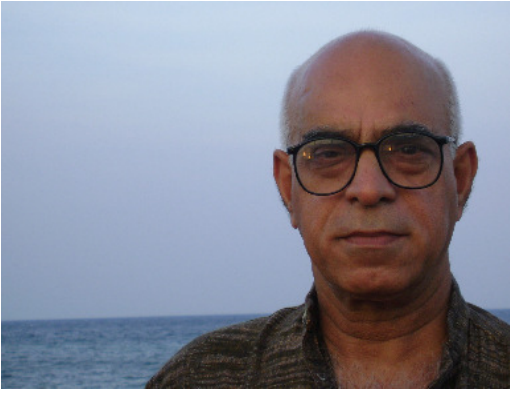
पत्नी के साथ बर्फीले हिमालय में, वातिल, जिला स्पिति, हिमाचल प्रदेश



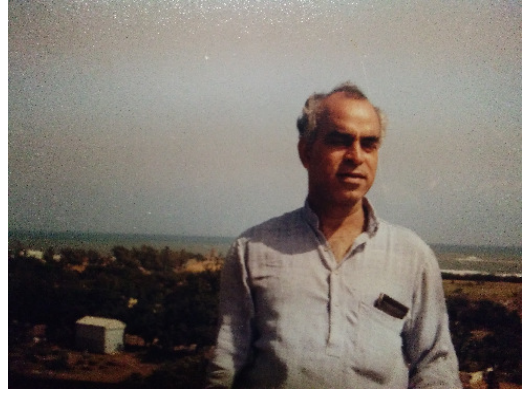
पत्नी के साथ शिमला के जंगलों में घूमते हुए



पुरी के समुद्र तट पर



पोर्टब्लेयर में, अंदमान



महाबलीपुरम के समुद्र तट पर



मिजोरम और वर्मा के सीमा तट पर



मिजोरम के एक ऊँचे पर्वत शिखर पर



मिजोरम विश्वविद्यालय, हिंदी विभाग के विद्यार्थियों के साथ



मुन्नार के चाय बगान में, केरल



राजीव गाँधी विश्वविद्यालय के छात्राओं के साथ,
दोईमुख



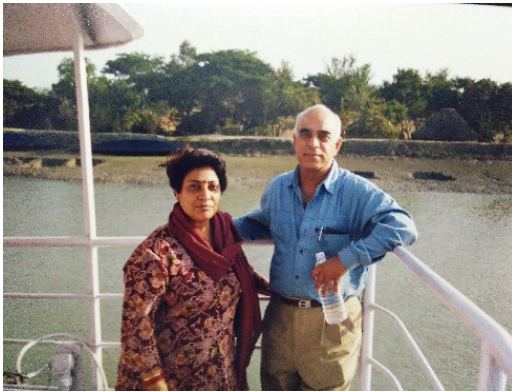
राजीव गाँधी विश्वविद्यालय के शोध छात्राओं एवं
शिक्षकों के साथ, दोईमुख



लखनऊ में सूरज थापा और रीता के साथ



शिमला की बर्फबारी में



सुंदर वन की यात्रा में पानी के जहाज पर



मिर्जा लेखक डा. एल. खियंगते के घर में, आइजोल

10. यात्रा पर (विदेश)



पीसा की मीनार के सामने, रोम (इटली)



पेरिस में एफिल टावर के पास



पोप के वेटिकन सिटी के चर्च में



पोप के वेटिकन सिटी चर्च में, इटली



प्राचीन रोमन स्टेडियम के सामने, जहाँ आभिजात्य वर्ग के मनोरंजन के लिए दासों को हिंसक पशुओं से लड़ाया जाता था।



बासिलिका डी सन मार्का गिरजाघर के सामने, वेनिस, इटली



यूरोप के सर्वोच्च शिखर जंगफ्राउ पर्वत की चोटी पर,
स्विटजरलैंड



स्विटजरलैंड के बर्फीले पहाड़ माउंट तितलिस की चोटी
पर पत्नी के साथ

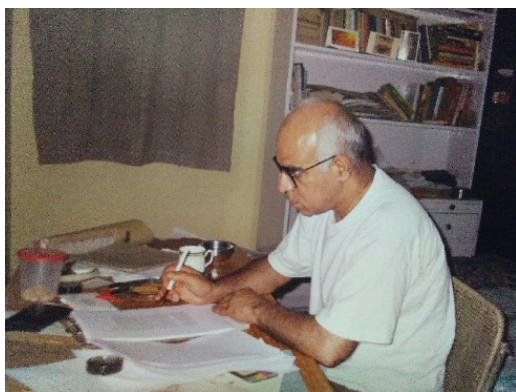


स्विटजरलैंड के बर्फीले पहाड़ माउंट तितलिस की चोटी
पर

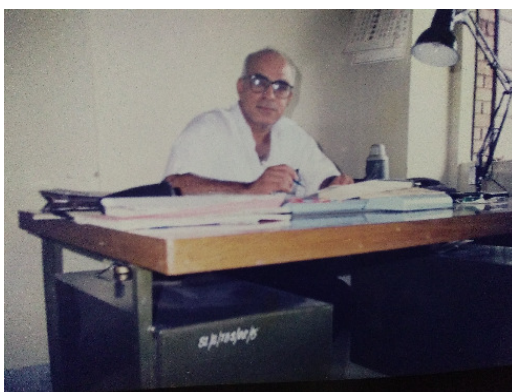


स्विटजरलैंड के शहर लुसर्न के बीचोबीच सुंदर, विशाल
झील के तट पर

11. चिंतन के पल



नर्मदा कॉम्पलेक्स, जे.एन.यू के अपने घर में



भारतीय भाषा केन्द्र के अपने कमरे में

12. चिंतन की अभिव्यक्ति



‘रस्साकशी’ लिखते हुए



जे.एन.यू. में व्याख्यान देते हुए

13. चिंतन की व्यावहारिकता : क्रांति का दायित्व



एन. ई. होरो और अन्य आदिवासियों के साथ मिलकर झारखंड अलग राज्य की माँग के लिए धरना

14. सम्मान प्राप्ति



भगवान बिरसा पुरस्कार तथा गुरु गोमके पं० रघुनाथ मुर्मू पुरस्कार प्राप्त करने वाले डॉ० बिरसा मण्डल तलवार एवं फादर जोन डीनी तथा समारोह के मुख्य अतिथि डॉ० रामदयाल मुंडा। फोटो-रत्न।

बिरसा मेमो. सोसायटी का पुरस्कार वितरण

कलकत्ता, 28 मार्च 2017।
जर्मनी में बिरसा मेमो. सोसायटी के ओर से पुरस्कार वितरण समारोह आयोजित किया गया जिसमें "भारत रत्न" के स्थापक डॉ० बीर भारत तलवार को भगवान बिरसा पुरस्कार तथा फादर जोन डीनी को गुरु गोमके पं० रघुनाथ मुर्मू पुरस्कार से सम्मानित किया गया। समारोह की अध्यक्षता करनवीर शर्मा तलवार तलवार मेमोरियल सोसायटी के अध्यक्ष डॉ० बीर भारत तलवार ने की। समारोह के मुख्य अतिथि

राष्ट्रीय कैबिनेटालय के जनजातीय भाषा विभाग के निदेशक डॉ० रामदयाल मुंडा ने पुरस्कार वितरणाधी ने सम्मानित किया। भगवान बिरसा पुरस्कार के स्थापक डॉ० बीर भारत तलवार ने अपने वक्तव्य में भगवान बिरसा देवे चरणदास स्वामी के नाम को पुरस्कार वितरण पर अपना हर्ष व्यक्त किया। गुरु गोमके पं० रघुनाथ मुर्मू पुरस्कार पात्रकले फादर जोन डीनी ने अपना हर्ष व्यक्त करते हुए कहा कि वे शीवजीवन आदिवासी समाज के उत्थान के लिए कार्य करते रहेंगे।

भगवान बिरसा पुरस्कार तथा गुरु गोमके पं० रघुनाथ मुर्मू पुरस्कार प्राप्त करते हुए; साथ में हैं फादर जोन डीनी तथा समारोह के मुख्य अतिथि डॉ० रामदयाल मुंडा ।



झारखंड रत्न का प्रशस्ति पत्र

‘मुकाबिल हो तोप तो शख्ती निकालो’

‘फिलहाल’, ‘झारखंड वार्ता’ और ‘शालपत्र’ के मुखपृष्ठ

फिलहाल

वर्ष : १, अंक : ७
५ अप्रैल, १९७२
पाक्षिक पत्र, कीमत : ३० पैसे

अन्य पृष्ठों पर

बिहार में चुनाव :

चुनाव : यह किसके लिए है ?
श्री रामवृक्ष सिंह २

कविता :

शक
आनंद मोहन प्रसाद ४

उत्पीड़ित जातियों की बुनिया :

टुंडी का संघाल-बिद्रोह
हरदेवेन्द्रनाथ सिरका ५

कम्युनिस्ट और मजदूर वर्ग
ए० के० भा ८

विचार मंच १०

साहित्य :

हिन्दी की दो नई पत्रिकाएं
मंगाराम १४

सलाहकार मंडल

उत्पल दत्त, विपिन चंद्र, प्रधान हरिशंकर प्रसाद,
रणधीर सिंह, नामवर सिंह, रामलखन शुक्ल ।

संपादक

बीर भारत ललवार

यह अंक

● इसबार, हाल में हुए विधान सभाओं के लिए चुनाव में, बिहार के ग्रामीण इलाकों में हजारों लोगों ने सामुहिक रूप से चुनाव का बहिष्कार किया । एक तरफ सरकार और राजनीतिक दलों द्वारा बालिग-मताधिकार के महत्व का खूब प्रचार किया गया, दूसरी ओर लोगों ने और भी अधिक संख्या में, कारण बताता हुए, सामुहिक रूप से चुनाव का बहिष्कार किया । श्री रामवृक्ष सिंह ने ‘चुनाव : यह किसके लिए है’ शीर्षक में बहिष्कार के विभिन्न समाचारों को संकलित किया है । मतदाताओं ने मतदान का बहिष्कार करने के कई दिलचस्प कारण भी बतावाए हैं ।

● हरदेवेन्द्र नाथ ने आदिवासी जाति का गैर-आदिवासी जातियों द्वारा शोषण और उत्पीड़न का चित्र खींचते हुए इस शोषण के विरोध में आदिवासियों के एक क्रांतिकारी-संघर्ष, जो किसी पार्टी और राजनीतिक विचारधारा के अनुसार नहीं हुआ था, का सजीव वर्णन किया है । कार्यरत शासक के २५ वर्षों के बाद भी आदिवासियों की समस्याओं में कोई बुनियादी-परिवर्तन नहीं आया । इस प्रकार के जातीय प्रश्नों को किस प्रकार हल किया जाए ? — इसी प्रश्न को हरदेवेन्द्र नाथ ने अपने लेख में उठाया है । पाठक इसपर विचार करें ।

● ‘विचार मंच’ में ‘अमरीकी और रूसी ‘सहायता’ जैसे प्रश्न पर कई विद्वानों ने अपने विचार रखे । एक कारखाने के मजदूरों ने सम्पादक के नाम एक चिट्ठी लिखकर पूछा था ‘हम लोगों से सहानुभूति रखनेवाले आप बुद्धिजीवी लोग क्या हम मजदूरों के सवालों पर भी विचार करेंगे ?’ सम्पादक ने उत्तर दिया था, ‘‘ फिलहाल इसी काम के लिए है ।’’

मजदूरों ने, हिन्दुस्तान के इतिहास में शायद पहली बार, खुद अपने स्वयं को देश के सामने रखा है । जनता के सभी पक्षधर बुद्धिजीवियों से ‘फिलहाल’ की अपील है कि वे मजदूरों की इस चिट्ठी को गंभीरतापूर्वक लें, इस घटना के महत्व को समझने की कोशिश करें और चिट्ठी के सम्बन्ध में अपने विचारों को मजदूरों के सामने रखें ।

● ए० के० भा ने अपने महत्वपूर्ण सैदासिक लेख में लिखा है कि कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व अबतक गैर-मजदूरवर्ग के कब्जे में रहा है । मजदूरवर्ग के लोग नेतृत्व में आए और पार्टी को खली कार्रवाइयों में सोषे हिस्सा ले—यह क्रांति की सफलता के लिए अनिवार्य गत है ।

● हिन्दी की दो नई प्रगतिशील पत्रिकाएं, ‘वाम’ और ‘समार्पण’ के बारे में मंगाराम का एक लेख और बम्बई से ‘फिलहाल’ के एक पाठक की कविता भी इस अंक में है ।

● अबसे फिलहाल के प्रकाशन का स्वाद नारायण प्रिन्टर्स, पटना—४ है ।

1972-74 में पटने से प्रकाशित संपादित पाक्षिक पत्रिका ‘फिलहाल’ का मुखपृष्ठ

भारखंड वार्ता

भारखंड आंदोलन का मुख-पत्र

अंक : 2

मार्च, 1978

कीमत : 50 पैसे

- ☐ कोयल-कारो परियोजना : भारखंड की जनता पर एक हमला
- ☐ भारखंड आंदोलन का एक नया पक्ष
- ☐ भारखंड में सर्वे सेटलमेंट की धांधली
- ☐ गोनॉग प्रथा के खिलाफ विद्रोह
- ☐ धनी भारखंड, गरीब भारखंडी

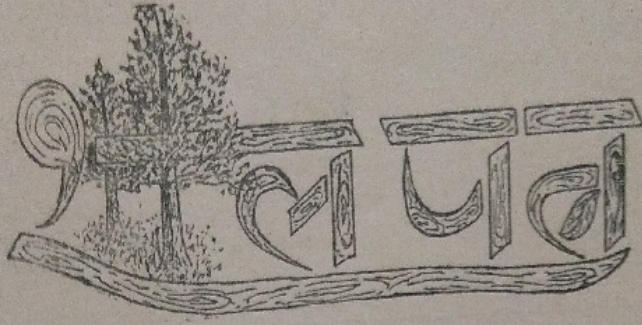
सलाहकार मंडल :

एन० ई० होरो, बिनोद बिहारी महतो, शीबू सोरेन, बागुन सुम्बुई,
डी० सी० मुरमु, देवेन्द्र मांझी

सम्पादक :

वीर भारत तलवार

‘भारखंड वार्ता’, भारखंड आंदोलन का मुखपत्र, 1978



भारखंड प्रदेश की सांस्कृतिक पत्रिका

अंक 3

एक रुपया

‘शलपत्र’, अंक 3, 1977; कवर पेज

शालपत्र

अंक : 3

1977

एक प्रति : एक रुपया

वार्षिक ग्राहक शुल्क : 10 रुपया

सम्पादक

मनमोहन पाठक

वीर भारत तलवार

सम्पर्क

भिस्ती पाड़ा

धनबाद-826001

रचनाओं का क्रम	पृष्ठ सं०	
बिहार की जेलों में औरतें	1	प्रकाशक
आदिवासी संस्कृति : आत्म-पहचान, मूल्य और नियति के कुछ मौलिक प्रश्न वीर भारत तलवार	8	वीर भारत तलवार हिन्दी-विभाग राँची विश्वविद्यालय राँची 834001
नागपुरी भाखा आउर साहित्य के विकास के आंदोलन कर इतिहास प्रफुल्ल कुमार राय	12	
खोरठा में बाल-साहित्य विश्वनाथ प्रसाद नागर	15	
हमारी क्षेत्रीय भाषाओं के संघर्ष की दिशाएँ विश्वेश्वर प्रसाद केसरी	17	मुद्रक
काला आदमी अपनी अस्मिता खोज रहा है	22	महावीर प्रेस
घंसी हुई जमीन पर मनमोहन पाठक	25	भेलूपुर, वाराणसी - 1
मुण्डारी और संस्कृत विश्वेश्वर प्रसाद	31	
टिप्पणियाँ	34	
पी० पीनेट, वीर भारत तलवार मनमोहन पाठक, कुमार सम्भव		
पत्र और प्रतिक्रियाएँ	40	सम्पादकीय कार्यालय भिस्ती पाड़ा धनबाद - 826001

शालपत्र, अंक 3, 1977; अनुक्रम



झारखंड प्रदेश की सांस्कृतिक पत्रिका

- महिला मुक्ति संघर्ष
- ब्राह्मणवाद और झारखंडी संस्कृति
- उरांव जाति की नष्ट हो रही भाषा और संस्कृति
- झारखंड क्षेत्रीय बुद्धिजीवी सम्मेलन में पढ़े गए
निबंध और सम्मेलन की पूरी रिपोर्ट

अंक 5

1 रु० 50 पै०

शालपत्र, अंक 5, 1978; कवर पेज

शालपत्र

अंक : 5
1978

एक प्रति : 1 रु० 50 पै०

वार्षिक ग्राहक शुल्क : 10 रुपया

सम्पादक
मनमोहन पाठक
वीर भारत तलवार

सम्पर्क
भिस्ती पाड़ा
घनबाद-826001

रचनाओं का क्रम	पृष्ठ सं०	
देस नागपुर हम नागपुरी जाइत के शारदा प्रसाद शर्मा	1	प्रकाशक वीर भारत तलवार हिन्दी विभाग राँची विश्वविद्यालय राँची 834001
महिला मुक्ति संघर्ष सुनंदा किर्तने	1	
ब्राह्मणवाद और झारखंडी संस्कृति वीर भारत तलवार	4	
उरांव जाति को नष्ट हो रही भाषा और संस्कृति आयता उरांव	11	
झारखंड के आर्थिक विकास का ढांचा और कार्यक्रम एन० ई० होरो	16	मुद्रक महावीर प्रेस भेलूपुर, वाराणसी-1
झारखंडी समाज के परम्परागत नियम-कानून और आधुनिक कानून व्यवस्था बिनोद बिहारी महतो	24	
झारखंड के समाज, संस्कृत और शिक्षा के विकास का सवाल शीबू सोरेन	26	
झारखंड क्षेत्रीय बुद्धिजीवी सम्मेलन की रिपोर्ट टिप्पणी	29	सम्पादकीय कार्यालय भिस्ती पाड़ा
रोज डेटे	51	घनबाद 826001

शालपत्र, अंक 5, 1978; अनुक्रम

प्रकाशित भाषण : ‘बोल कि लब आजाद है तेरे...’

व्याख्यान:

19 फरवरी 2016, चंडीगढ़ में आयोजित विश्व पंजाबी लेखक सम्मेलन के उद्घाटन सत्र में मुख्य वक्ता के रूप में दिया गया व्याख्यान। (यह भाषण पंजाबी में अनूदित होकर कई पत्र-पत्रिकाओं में छप चुका है। हिंदी में यहाँ पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है)

वर्तमान असहिष्णुता का माहौल और सम्मान वापसी

मैं माफी चाहता हूँ कि इतने बड़े पंजाबी साहित्यकारों के सामने मैं पंजाबी में नहीं बोल रहा हूँ। नब्बे साल से ज्यादा हो गए हम पंजाब में कभी रहे नहीं, झारखंड में ही जिन्दगी बीत गई। हिन्दी में ही पढ़ना-लिखना हुआ, घर में पंजाबी ही बोलते हैं लेकिन किसी सामाजिक या राजनीतिक मुद्दे पर इतनी देर तक मैं पंजाबी बोल नहीं पाउँगा, इसलिए माफी चाहता हूँ। मैं आभारी हूँ केन्द्रीय पंजाबी लेखक सभा, कौमन्त्री पंजाबी इल्म का और पंजाब आर्ट कौंसिल का कि उन्होंने इस विषय पर यहाँ मुझे अपने विचार रखने का मौका दिया।

मित्रो, पिछले डेढ़ पौने दो साल से हमारे देश में जो माहौल पनपा है उसे बताने की जरूरत नहीं है। नरेन्द्र डायोलकर, कॉमरेड पंसारे और कन्नड़ के महान लेखक कलबुर्गी की हत्या के बाद उसका प्रतिवाद करते हुए इस देश में उसका प्रतिवाद सबसे पहले लेखकों, साहित्यकारों ने किया। साहित्य अकादमी नाम की संस्था जिसने कलबुर्गी को सम्मानित किया, उनकी हत्या हो गई और वो खामोश रही। साहित्य अकादमी अपने लेखकों के साथ नहीं खड़ी हो सकी और इस संविधान ने हमको जो अभिव्यक्ति की आजादी दी है उसकी भी आवाज उसने बुलन्द नहीं की। तो हिन्दुस्तान में साहित्यकारों का एक आन्दोलन चल पड़ा साहित्य अकादमी के सम्मान वापस करने का। बयालीस साहित्यकारों ने साहित्य अकादमी के पुरस्कारों को ठुकरा दिया। जिसमें मैं गर्व के साथ कहना चाहता हूँ कि पंजाब सबसे आगे है जिसके दस साहित्यकारों ने इस पुरस्कार को ठुकराया और उनमें से बहुत से यहाँ आज हमारे साथ विराजमान हैं। बाकी राज्यों से भी पुरस्कार लौटाए गए। कुल पचहत्तर पुरस्कार लौटा दिए गए जिनमें से अठारह मराठी के, बारह कन्नड़ के, बारह पंजाबी के, नौ हिन्दी के, चार उर्दू के, चार अंग्रेजी के, दो राजस्थानी, एक बंगला, एक उड़िया और एक कश्मीरी। आप देखिए कि कितनी अलग-अलग भाषाएँ जिनके बीच कोई बातचीत नहीं, कोई आदान-प्रदान नहीं लेकिन इन सबने एक जैसी प्रतिक्रिया, एक जैसा प्रतिरोध किया। खुद साहित्य अकादमी के जो पदाधिकारी थे, उनमें से सात पदाधिकारियों ने इस्तीफा दे दिया। पाँच उन लोगों ने पद्मश्री लौटा दी, जिनका साहित्य लेखन से कोई संबंध नहीं है, एक ने पद्म भूषण लौटाया। लौटाने वालों में नाटक खेलने वाले लोग थे, मराठी का एक प्लेबैक सिंगर था, एक मूर्तिकार था, एक वैज्ञानिक थे जिन्होंने अपना पद्मभूषण लौटा दिया इस तरह के लोगों ने अपना पुरस्कार लौटाया। बंगला के 163 लेखकों-बुद्धिजीवियों ने राष्ट्रपति को पत्र लिखकर इस माहौल का विरोध किया। 53 इतिहासकारों ने जिसमें इरफान हबीब, रोमिला थापर जैसे बड़े-बड़े इतिहासकार हैं उन्होंने संयुक्त बयान दिया इस माहौल के खिलाफ। 73 समाजविज्ञानियों ने इस साम्प्रदायिक उभार के खिलाफ बयान दिया। कनाडा के क्यूबेक सिटी में 75 देशों के लेखकों ने एक बयान देकर हिन्दुस्तान के इन लेखकों के साथ अपनी एकजुटता दिखाई। इन पुरस्कार लौटाने वाले साहित्यकारों का राज्य की ओर से सरकारी मंत्रियों ने, सांसदों ने और कुछ लोगों ने अपमान करने की कोशिश की, कहा कि ये तो बनावटी है। वे सारी की सारी बेबुनियाद बातें थीं, उन्हें दुहराने की जरूरत नहीं है। सवाल है कि एक लेखक कब अपना पुरस्कार वापस लौटा देता है। एक पुरस्कार जो लेखक के लिए मान-सम्मान की बात है, जिसे बड़े प्यार से वो अपने पास रखना

चाहता है उसका गौरव है, उसके साहित्य की मान्यता है राज्य के द्वारा, सरकार के द्वारा, वो उस पुरस्कार को क्यों लौटा देता है?

मित्रो, एक लेखक अपने जीवन के आदर्शों को, अपने मूल्यों को अपनी रचनाओं में उतारता है। इन मूल्यों और आदर्शों के लिए उसके लेखन का सम्मान किया जाता है राज्य की ओर से। लेकिन जब लेखक देखता है कि जिन मूल्यों और आदर्शों के लिए उसे राज्य ने सम्मानित किया उन्हीं मूल्यों की समाज में ऐसी-तैसी हो रही है, उन्हें कुचला जा रहा है और राज्य यह सब देखकर चुप है केवल चुप ही नहीं है, बल्कि ऐसे लोगों को परोक्ष रूप से अपना समर्थन भी दे रहा है तो लेखक बहुत दुविधा में पड़ जाता है। यह तो बहुत पाखंडपूर्ण स्थिति है कि जिस चीज के लिए हमें सम्मानित किया जा रहा है, उन्हीं मूल्यों को कुचला जा रहा है। यह पाखंडपूर्ण स्थिति लेखक को एक नैतिक दुविधा में डाल देती है और ऐसी हालत में उसे सरकार द्वारा मिला सम्मान अपना अपमान लगने लगता है। इसी पंजाब की धरती पर जब जलियां बाग कांड हुआ तो कवियों के कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी नाइट की उपाधि ब्रिटिश सरकार को वापस कर दी। उसे वापस करते हुए उन्होंने जो चिट्ठी लिखी उसमें कहा कि 'यह ऐसा वक्त है जब सम्मान के लिए मिले ये चमचमाते तमगे और बिल्ले हमारी शर्मिंदगी और अपमान को और बढ़ा देते हैं। अब मैं इन तमाम सम्मानों से खुद को अलग करते हुए अपने देशवासियों के साथ खड़ा होना चाहता हूँ।' एक पुरस्कार का लौटाना लेखक के लिए हारे हुए आदमी की बेबसी नहीं है यह एक जागरुक बुद्धिजीवी की मुनासिब कार्रवाई है। वो शब्दों का सर्जक है और अपने सुजे हुए शब्दों का मान रखने के लिए उनके अर्थ की पवित्रता को बनाए रखने के लिए पुरस्कार को लौटा देता है। मैं उन तमाम साहित्यकारों को सलाम करता हूँ जिन्होंने अपने पुरस्कार लौटा कर हम सब के दिलों की आवाज को बुलंद किया है।

मित्रो, आप देख रहे हैं कि इस देश में कैसा डर का माहौल है, कुछ लिखना और उससे भी ज्यादा बोलना खतरे से खाली नहीं लगता। 3 जनवरी को राजस्थान के उदयपुर में दर्शनशास्त्र विभाग में एक सेमिनार हुआ रिलिजियस डॉयलॉग पर। दिल्ली युनिवर्सिटी के रिटायर्ड प्रोफेसर अशोक वोहरा उसमें पेपर पढ़ने गए। प्रोफेसर वोहरा कोई वामपंथी भी नहीं हैं। उनके पेपर में न जाने क्या सुना गया कि वहाँ खड़े एबीवीपी और दूसरे छात्रों ने उनके खिलाफ हंगामा खड़ा कर दिया, उनको भगाया गया वहाँ से। इसके बाद राजस्थान के एजुकेशन मिनिस्टर ने युनिवर्सिटी को खत लिखकर कहा कि इस प्रोफेसर के खिलाफ एफआईआर दर्ज की जाए और उदयपुर के प्रतापनगर थाने में उनके खिलाफ एफआईआर दर्ज की गई। आनन-फानन में युनिवर्सिटी के वाइस चांसलर ने आर्डर निकाल दिया कि आगे से युनिवर्सिटी में कोई भी लेक्चर होगा तो पहले उसकी कॉपी वाइस चांसलर के पास भेजी जाए। चाहे वह लेक्चर बॉयोलॉजी का हो, चाहे हिस्ट्री का हो, चाहे सोशियोलॉजी का हो उनके पास कॉपी भेजी जाएगी और वही बताएँगे कि लेक्चर पढ़ा जाएगा या नहीं। उसी उदयपुर में, उसी राजस्थान युनिवर्सिटी में, उसी दर्शनशास्त्र विभाग में 1 महीने बाद 3 फरवरी को एपिस्टेमोलॉजी ऑफ माइथॉलॉजी एंड साइंस पर मुझे व्याख्यान देने के लिए बुलाया गया, एक बार तो मुझे सोचना पड़ गया कि मैं वहाँ जाऊँ कि क्या करूँ? आज ये माहौल है देश में। आठ दस ऐसे मुद्दे बना लिये गए हैं जिनको उछाल कर किसी को भी अपमानित किया जा सकता है, मारा जा सकता है उसकी हत्या तक की जा सकती है। आप जानते हैं कि गोमांस के नाम पर सिर्फ संदेह करके मारा गया है, पीटा गया है और जान भी ली गई है। अगर आप अपने मन की कुछ बात कहते हैं जैसे शाहरुख खान, आमिर खान तो उनका इलाज करने वाले निकल आए जो बड़े हौसले के साथ कहते हैं कि शाहरुख का इलाज कर दिया अब आमिर का भी कर देंगे। सबसे बड़ी बात है कि ये इलाज करने वाले बिल्कुल बेखौफ घूम रहे हैं उनपर कोई कार्रवाई नहीं हो रही है, राज्य चुप है। सबसे अजीब चीज है कि विचारों के लिए लोगों की हत्याएँ की जा रही हैं। पंसारे हों, नरेन्द्र डामोलकर हों या कलबुर्गी इनकी हत्या इसलिए की गई कि इनके विचार भिन्न थे।

इस देश में ऐसा कभी नहीं था। यहाँ साम्प्रदायिकता रही है, बहुत सारी समस्याएँ रही हैं लेकिन किसी के विचारों

के लिए उसकी हत्या कर दें ऐसा कभी नहीं रहा और विचारों के लिए हत्या सिर्फ लोग ही नहीं करते हैं, कानून के रूप में राज्य भी इसको करने की कोशिश करता है। आज हिंसा फैलाने वाले संगठन हैं ऐसे-ऐसे कि ये कौन हैं इसका कोई पता नहीं लगा सकते। चारों ओर आतंक का माहौल है लेकिन किसी को आप पकड़ नहीं सकते, कोई चेहरा उसका नहीं दिखता। संघ को परिवार कहा जाता है, उस परिवार में कितने सदस्य हैं पता ही नहीं चलता। बजरंग दल, या फलां वाहिनी को हम जानते हैं, लेकिन आज हिन्दू चेतना, हिन्दू स्वाभिमान, सनातन संस्थान न जाने कितने प्रकार के संगठन हैं लेकिन किसी पर कोई जिम्मेदारी नहीं। एक नया संगठन बना है पश्चिमी उत्तर प्रदेश में हिन्दू स्वाभिमान। मुजफ्फर नगर में जहाँ पिछले साल बड़े दंगे हुए-सैकड़ों लोग मारे गए, हजारों लोग तबाह हो गए - वहाँ यह संगठन बना है और उसने एक सेना बनाई है हिन्दू धर्म सेना। उस सेना के बारे में हाल में टाइम्स आफ इंडिया में एक रिपोर्ट आई। इस सेना के नेता बताते हैं कि गाँव-गाँव में उनके अखाड़े चलते हैं और वे सीक्रेट कैम्प चलाते हैं, हथियारों की ट्रेनिंग देते हैं और अब तक उन्होंने 15000 हिन्दू सैनिक तैयार कर लिए हैं। पत्रकार ने जो फोटो ली उसमें एक 8 साल का बच्चा हथियार बंदूक चलाना सीख रहा है। हम लश्करे तैयबा और किसकी-किसकी बात करते हैं, हमारे यहाँ ये सारी तैयारी हो रही है। एक सनातन धर्म संस्थान है जिसके ऊपर कलबुर्गी वगैरह की हत्या का शक है। दिल्ली में अभी जो पुस्तक मेला हुआ उसमें उनको एक बड़ा स्टॉल दिया गया अपनी किताबें वगैरह बेचने के लिए। वहाँ वो इस देश को हिन्दू राष्ट्र बनाने का रोडमैप तैयार करके बैठे थे जिसके लिए लोगों को समझा रहे थे और सहायता माँग रहे थे। उनका कहना है कि वो 1997 से हिन्दू राष्ट्र बनाने की योजना पर चल रहे हैं 2023 में ये पूरा हो जाएगा और 2025 में वो अखंड भारत बना लेंगे।

मित्रो, ये जो अलग-अलग संस्थान हैं, ये किसी एक परिवार के हैं या नहीं क्योंकि किसी पर भी आप इल्जाम लगाएँ तो वो कहते हैं कि यह हमारे संगठन का नहीं है। अगर वह उनके संगठन का निकल भी जाए तो कहेंगे कि ये उसकी व्यक्तिगत राय है। इतने संगठन हैं इन सबके पीछे कोई एक संस्था हो चाहे न हो, लेकिन विचारधारा उनकी एक है और वह विचारधारा है हिन्दू राष्ट्र की विचारधारा। ये जो हिन्दू राष्ट्र की विचारधारा है इसका जन्म हमारे देश में 19वीं सदी में हुआ। जब राष्ट्रवाद का, समाजवाद का जन्म हुआ उसी समय साम्प्रदायिकतावाद और हिन्दू राष्ट्रवाद का भी जन्म हुआ। दयानंद सरस्वती के सत्यार्थ प्रकाश में इसके बीज आपको मिल जाएँगे। वो बड़े सुधारक थे उन्होंने हिन्दू धर्म में सुधार के प्रयास किये लेकिन उनमें कुछ फंडामेंटलिस्ट रुझान बड़े ताकतवर रूप में हैं। उन्होंने हिन्दू राष्ट्र नहीं कहा हिन्दू शब्द के वो खिलाफ थे, आर्य शब्द का समर्थन करते थे। उन्होंने कहा देश तब मजबूत होता है जब एक धर्म हो, एक भाषा हो, एक जाति हो, एक संस्कृति हो और उसका एक राष्ट्र होना चाहिए। इसी विचार को बाद में सावरकर और गोलवलकर ने आगे बढ़ाया। हिन्दू राष्ट्र का इस्तेमाल इन लोगों ने किया। हिन्दू राष्ट्र की विचारधारा एक बेबुनियाद विचारधारा है। एक मिथ्याचेतना है जो चीजों की वास्तविकता को नजरंदाज करके रियलिटी के कंट्राडिक्शन को नजरंदाज करके मनमाने तरीके से सोच और गढ़ ली गई है। इसकी कोई बुनियाद नहीं है, कोई जड़ नहीं है। प्राचीन काल में हिन्दू शब्द नहीं था, जिसे आज हम हिन्दू धर्म के रूप में जानते हैं वह बहुत बाद की चीज है 15वीं-16वीं सदी के आस-पास की चीज। आज इतनी भाषाएँ हैं उस जमाने में तो और ज्यादा भाषाएँ रही होंगी। हिन्दू राष्ट्र का तो कोई सवाल नहीं था और सबसे बड़ी बात यह कि यह विचारधारा पूरी तरह अभारतीय है।

भारत के इतिहास में हिन्दू राष्ट्र जैसी कोई विचारधारा नहीं मिलती। राष्ट्र शब्द का प्रयोग महाभारत और दूसरे ग्रंथों में है, लेकिन राष्ट्र का अर्थ संस्कृत में भूमि के रूप में है। भारत एक राष्ट्र है इसका मतलब होता था कि यह ऐसा भूभाग है जहाँ बहुत सारे लोग रहते हैं। विभिन्न जातियों और समुदायों के सभी लोग उस भारत के रहने वाले थे, क्योंकि वे सभी उस भूमि पर रहते थे। आज के अर्थ में राष्ट्र का इस्तेमाल कभी नहीं होता था। धर्म पर आधारित हिन्दू राष्ट्र जैसी अवधारणा बिल्कुल मध्ययुगीन यूरोप के ईसाई राष्ट्रों से ली गई अवधारणा है। यूरोप में धर्म के आधार पर पोपशाही का सभी राज्यों पर कब्जा होता था और राज्य राष्ट्र भी नहीं होता था, बल्कि

ईसाई धर्म का साम्राज्य होता था। राज्य के ऊपर धर्म की जकड़न के खिलाफ 17वीं शताब्दी से संघर्ष हुआ रेनेसां के दौरान। रिलिजियस नेशनलिज्म के आधार पर खून-खराबा हुआ ईसाई और कैथोलिकों के बीच। जब राजा धर्म बदलता था तो पूरी प्रजा को धर्म बदलने को कहा जाता था और दूसरे धर्मों के लोगों को तरह-तरह की यातनाएँ दी जाती थीं। धर्म पर आधारित इस वहशीपन से, इस धार्मिक राष्ट्रवाद से यूरोप बाहर निकला; उसने रिलिजियस थियोक्रेटिक स्टेट के बदले सेकुलर स्टेट को विकसित किया। इस धार्मिक जकड़न की मुक्ति से ही यूरोप में आधुनिकता आई। जिस मध्ययुगीन बर्बर चीज को यूरोपियन लोग छोड़ चुके उस चीज को हमें सिर पर रखने को कहा जा रहा है। आज दुनिया में कहीं पर भी आपको धर्म के नाम पर राष्ट्र नहीं मिलेगा, यहाँ तक कि मुस्लिम देशों में भी नहीं। कुछ एक देशों में है भी तो आंशिक रूप से है। अगर आज दुनिया में कोई धर्म के नाम पर राष्ट्र बनाना चाहता है मुस्लिम समुदाय में तो वो सिर्फ आईएस है।

मित्रो, धर्म के नाम पर राष्ट्र की जो अवधारणा है इसे बनाने वाले न हिन्दू धर्म को जानते हैं, न धर्म को जानते हैं। वे धर्म का इस्तेमाल कर सकते हैं लेकिन धार्मिक नहीं हैं। उनको पता भी नहीं है कि हिन्दुस्तान में धर्म की क्या स्थिति है। हिन्दुस्तान में एक नहीं सैकड़ों धर्म हैं, सैकड़ों भाषाएँ हैं, सैकड़ों संस्कृतियाँ हैं। ये कोई पानी के बुलबुले नहीं हैं जो हिन्दू राष्ट्र की विचारधारा के सामने खत्म हो जाएँगे। इन सबकी इतिहास में अपनी जड़ें हैं। सिख हों, हिन्दू हों, इस्लाम हों, वैष्णव हों, पंजाबी हों, बंगाली हों या मद्रासी हों इन सबकी अपनी भाषा, अपनी संस्कृति सदियों से है कोई उसको खत्म नहीं कर सकता और न उसको खत्म करने की कोई वजह है। जो लोग हिन्दू राष्ट्र की बात करते हैं वो भारत को बिल्कुल नहीं जानते और उनका स्वप्न, स्वप्न ही रहेगा।

हिन्दुस्तान में स्थिति यह है कि एक ही व्यक्ति एक साथ कई धर्मों को मानता है। पिपुल ऑफ इंडिया नाम से एक बहुत बड़ा प्रोजेक्ट बना एंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया का। उसके डायरेक्टर जनरल थे डॉ. सुरेश कुमार सिंह, आदिवासियों पर भी उन्होंने बहुत काम किया। उन्होंने 45 खंडों में पिपुल ऑफ इंडिया प्रोजेक्ट की रिपोर्ट जमा की उसके धर्म के खंड में वो बताते हैं कि 'भारत में 4635 समुदायों में 35 समुदाय ऐसे हैं जो हिन्दू और इस्लाम दोनों धर्मों को एक साथ मानते हैं, 16 समुदाय ऐसे हैं जो हिन्दू और ईसाई दोनों को एक साथ मानते हैं, 16 और ऐसे हैं जो हिन्दू, इस्लाम और सिख तीनों को एक साथ मानते हैं, 94 समुदाय ऐसे हैं जो ईसाई धर्म और अपना आदिवासी धर्म दोनों का एक साथ पालन करते हैं और इन सबके अलावा 2870000 भारतीय ऐसे हैं जो किसी भी धर्म को नहीं मानते।' तो मित्रों हिन्दू राष्ट्र की ये विचारधारा ऐसी बेबुनियाद विचारधारा है जिसका वास्तविकता से कोई संबंध नहीं और वो कभी भी भारत में बन नहीं सकता, इसके इतिहास में ऐसी कोई चीज कभी नहीं रही है। लेकिन आज इसने जिस तरह सर उठाया है उससे भाषा, साहित्य, संस्कृति तथा अन्य क्षेत्रों में हमारे पूरे समाज को चुनौतियाँ मिली हैं। हमारे समाज का जो ताना बना चला आया है उसको जिस तरह से तोड़ा जा रहा है वो एक बहुत बड़ा खतरा है। हिन्दू राष्ट्र तो नहीं बन सकता है, लेकिन वह समाज में जो तबाही ला रहा है उसपर ध्यान देना जरूरी है।

सबसे पहले तो हम देखते हैं कि शिक्षा के क्षेत्र में इस विचारधारा के अनुसार जो नई शिक्षा नीति बनाई जा रही है उसमें नया कुछ भी नहीं है, प्राचीन ज्ञान को लागू करना ही उनके लिए शिक्षा की नई नीति है। प्राचीन ज्ञान की उनकी समझ क्या है वो तो हम बाद में देखेंगे, लेकिन एक दीनानाथ बत्रा हैं जिनका नाम संघ परिवार के बाहर कल तक कोई नहीं जानता था! आज वो अपनी अजीबो-गरीब शिक्षा नीति के कारण जाने जा रहे हैं, लेकिन हरियाणा सरकार ने उन्हें अपना सलाहकार बना लिया है, शिक्षा का सलाहकार। इसी चंडीगढ़ में नवम्बर महीने में एक सभा हुई थी जिसमें दीनानाथ बत्रा ने कहा कि हम हरियाणा का ही नहीं पूरे देश में शिक्षा का भगवाकरण करेंगे और हरियाणा में 6वीं से 12वीं कक्षाओं के लिए अगले सत्र से गीता को पढ़ना अनिवार्य कर दिया जाएगा। नई नीति के नाम पर इनके पास पहला आइटम है गीता को पढ़ाना और गीता को राष्ट्रीय ग्रंथ तक बताया जा रहा है। गीता क्या है यह जानना हो तो एक बड़े इतिहासकार हैं डी.डी.कोशाम्बी उनकी किताब को

पढ़ा जा सकता है, उसकी कुछ चीजों की चर्चा यहाँ हम करेंगे। राजस्थान में इनकी सरकार है तो राजस्थान के 13 हजार प्राइमरी स्कूलों की लाइब्रेरी में गीता को रखना अनिवार्य कर दिया गया कि लड़के-लड़कियाँ इसको पढ़ें और इससे अपना गाइडेंस लें। महाराष्ट्र में इनकी सरकार बनी तो आँगनवाड़ी के बच्चों के लिए जो स्कूल चलता है वहाँ रामायण और महाभारत को अनिवार्य कर दिया गया। ये कहते हैं कि प्राचीन ज्ञान-विज्ञान पढ़ाएँगे, प्राचीन ज्ञान-विज्ञान की इनकी समझ क्या है? शिव को बताते हैं कि बहुत बड़े इन्वॉयरमेंटलिस्ट थे, कहते हैं कि शंख बजाने से हेल्थ के सारे प्रॉब्लम सॉल्व हो जाते हैं तो प्राचीन ज्ञान-विज्ञान की इनकी समझ इस प्रकार की है। इनकी शिक्षा नीति के कारण हम लोगों के देश की बड़ी प्रतिष्ठित संस्थाओं के डायरेक्टरों ने इस्तीफा दिया है। एनसीआर तथा दिल्ली आईआईटी के डायरेक्टर ने इस्तीफा दे दिया, बम्बई आईआईटी के गवर्नर ने इस्तीफा दे दिया, इतिहास परिषद के डायरेक्टर ने इस्तीफा दे दिया, नेहरू मेमोरियल लाइब्रेरी के डायरेक्टर ने इस्तीफा दे दिया, लम्बी फेहरिस्त है। सबसे खतरनाक है जो यूजीसी कर रही है इस समय, शिक्षा के संबंध में कुछ निर्देश जारी किये गए हैं। विश्वविद्यालयों के परिसरों में सुरक्षा कायम करने के नाम पर मेटल डिटेक्टर लगाया जाना, छात्रों की बायोमेट्रिक हाजिरी लेना, सबको हर वक्त अपना आई कार्ड रखना और हर युनिवर्सिटी में एक थाना बनाना कुल मिलाकर यह कि हर वक्त लड़के-लड़कियों और शिक्षकों पर नजर रखी जा सके। चेन्नई में एक प्राइवेट इंस्टीट्यूशन है श्री साईराम इंजिनियरिंग कॉलेज, ये सारी चीजें सरकार ने वहीं से ली हैं जिसने खुलकर कहा कि कॉरपोरेट के लिए जिस प्रकार फौज में अनुशासन होता है ऐसे ही शिक्षा संस्थानों में अनुशासन की जरूरत है। इनकी नई शिक्षा नीति का सारा मकसद ये है कि विश्वविद्यालयों में जो बहस-मुबाहिसे होती हैं जो आजाद खयाली का माहौल होता है उसको खत्म कर दिया जाए, क्योंकि इन बहस-मुबाहिसे से, इस आजाद खयाली से कॉरपोरेट के लिए काँटे उगते हैं। हमारे देश में तो ऐसे ही गुरु-शिष्य परम्परा रही है कि आजाद खयाली बहुत कम पनपती है, लेकिन जो थोड़ा बहुत स्पेस था और कुछ विश्वविद्यालयों में रहा है उस स्पेस को भी खत्म कर दिया जाए खासकर जेएनयू इसीलिए इनकी आंखों में बहुत गड़ता है। इनको इस सोच से ही नफरत है कि युनिवर्सिटियों में आजाद खयाल पनपे और वहाँ देश, राजनीति, सरकार तथा उद्योगों आदि पर बहसें हों।

इतिहास इस विचारधारा के लोगों का सबसे प्रिय विषय रहा है क्योंकि इनकी सारी विचारधारा अतीत पर ही निर्भर करती है। उस अतीत को जबतक ये अपने रंग में रंगकर दिखा न दें और आपको यकीन न दिला दें कि अतीत ऐसा ही था जैसा ये कह रहे हैं तब तक इनकी हिन्दू राष्ट्र की विचारधारा खड़ी नहीं हो सकती। इतिहास परिषद का अध्यक्ष इन लोगों ने ऐसे व्यक्ति को बना दिया जिसको इतिहास में कोई जानता भी नहीं, उसने आने के साथ यही बयान दिया कि हमको अपने अतीत का इतिहास फिर से लिखना होगा। अतीत के बारे में इनका कुछ विश्वास है, एक धार्मिक मत है जिसे ये इतिहास के रूप में पेश करना चाहते हैं। आज इतिहास लेखन में सबसे बड़ी चुनौती जो है वह यह कि आप तथ्यों पर जोर नहीं दे सकते, आप अथैंटिक सोर्स और ऑर्कियोलॉजी पर जोर नहीं दे सकते जो आम विश्वास लोगों में फैलाया जा रहा है उसके मुताबिक आपको इतिहास लिखना होगा। आज कोई भी इतिहासकार अगर चाहे कि औरंगजेब, शिवाजी, मराठा राज यहाँ तक कि हिन्दुस्तान के स्वाधीनता आन्दोलन पर कोई किताब लिखे तो इन व्यक्तियों या आन्दोलन में जो जटिलता है उसे वह नहीं लिख सकता। उसे या तो स्याह लिखना होगा या सफेद लिखना होगा, इतिहास की जटिलताओं को वह नहीं लिख सकता अगर लिखेगा तो कोई साधू, कोई सन्यासी चला आएगा उसको चुनौती देने के लिए, कोई एमपी उठेगा या गली में भीड़ आ जाएगी उसको हूट करने के लिए, उसकी नौकरी छीन ली जाएगी और जिनका इतिहास से दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं उनकी बात मान ली जाएगी। टीपू सुल्तान पर जो बहस हुई है वह उदाहरण है चीजों को स्याह सफेद में रंगकर पेश करने का।

ऐसा ही खतरनाक हमला साइंस पर किया जा रहा है। ये फंडामेंटलिस्ट लोग साइंस के विरोधी नहीं हैं, साइंस के जो अचीवमेंट हैं, उसके जो औजार हैं उसका तो ये इस्तेमाल करते हैं पर साइंस की जो फिलॉसॉफी

है रेशनलिज्म, रिजनिंग, लॉजिक उससे इनको कोई मतलब नहीं है उसका ये विरोध करते हैं। इसीलिए मॉलिक्युलर बायोलॉजी के जो सबसे बड़े वैज्ञानिक हैं हमारे देश में पी.एम.भार्गव जब उन्होंने अपना पद्मभूषण लौटाया तो अखबार के इंटरव्यू में उन्होंने कहा कि 'द रिजनिंग एंड रेशनलिज्म व्हिच आर द बेडरॉक्स ऑफ साइंस आर अन्डर अटैक। दिस गवर्नमेंट हैज नो रिस्पेक्ट फॉर साइंस... पिपुल विद रेशनलिस्टिक व्युज आर बीइंग किल्ड'। तो आज हमारे समाज में एक ऐसा माहौल है जहाँ आपके तथ्यों और लॉजिक को कोई सुनने को तैयार नहीं है। ये मैं केवल कह नहीं रहा हूँ हमारे देश में हर साल साइंस कांग्रेस होती है। 2015 की विज्ञान कांग्रेस में आकर एक वैज्ञानिक ने कहा कि प्राचीन काल में भारत के पास ऐसे हवाई जहाज थे, ऐसी मिसाइलें थी जिनमें गियर लगे हुए थे और उससे एक द्वीप से दूसरे पर जाते थे। इस साल जो कांग्रेस हुई उसमें एक वैज्ञानिक जो आईएस अफसर भी है जब पेपर पढ़ने आया तो सबसे पहले उसने अपने झोले से शंख निकाला और उसे दो मिनट तक बजाता रहा और फिर उसने कहा कि शंख बजाने से संसार में जो भी गड़बड़ियाँ हैं वो ठीक हो जाती हैं। ये गाँव के किसी स्कूल की बात नहीं बल्कि हमारे देश की विज्ञान कांग्रेस की बात है। खुद हमारे प्रधानमंत्री ने कहा कि गणेश के सिर पर हाथी का जो सूंड है वो बताता है कि प्राचीन भारत में कॉस्मेटिक सर्जरी होती थी।

मित्रो, हिन्दुस्तान में प्राचीन काल में विज्ञान बहुत उन्नत अवस्था में था। हिन्दुस्तान का बड़ा कंट्रीब्यूशन है साइंस में, खासकर मैथमेटिक्स में। शून्य का कांसेप्ट भारत का दिया हुआ है, आर्यभट्ट, शंकराचार्य और ब्रह्मगुप्त जैसे महान वैज्ञानिक हुए भारत में जिनका संसार में कोई सानी नहीं है जिस देश का इतिहास इतना महान है वहाँ ऐसे टुच्चे दावे करने की जरूरत क्या है? संयोग देखिये कि उस महान भारत का इतिहास इनमें से किसी ने नहीं लिखा, उसका इतिहास लिखा गुणाकर मूले ने जो कि कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया के मेंबर थे और डी.डी.कोशाम्बी ने लिखा जो बहुत बड़े वामपंथी इतिहासकार थे और ये लोग इस तरह के दावे कर रहे हैं। ये जो दावे हैं जिनको सुनकर आप हँसे क्योंकि वो हास्यास्पद से लगते हैं, लेकिन मैं आपसे कहना चाहूँगा कि क्या ये सिर्फ हँस के उड़ा देने लायक हैं? क्या केवल इसीलिए हमें इन दावों की उपेक्षा कर देनी चाहिए और इन पर नहीं सोचना चाहिए कि इनका मतलब क्या है क्यों किये जा रहे हैं ऐसे दावे? मैं समझता हूँ कि ये ज्यादा गहरी बात है। ये एक आइडियॉलॉजी के पार्ट एंड पार्सल हैं, उस हिन्दू राष्ट्रवादी विचारधारा के आइडियॉलॉजिकल प्रिमाइस हैं क्योंकि अगर प्राचीन काल में हिन्दू राष्ट्र था तो उसने क्या हासिल किया, क्या उपलब्धियाँ थीं तो ये उपलब्धियाँ थीं। ये बातें सबसे पहले दयानंद सरस्वती के सत्यार्थ प्रकाश में दिखाई देती हैं उन्होंने कहा कि भारत के प्राचीन काल में तरह-तरह की बंदूकें थीं, तोपें थीं, तरह-तरह के अस्त्र थे और वेदों में हर तरह का ज्ञान है, दुनिया भर का ज्ञान, इसलिए जो भी आविष्कार होता है उसको कहते हैं कि वेदों में पहले ही हो चुका था। इसलिए इरफान साहब ने पूछा कि जो आविष्कार अभी हुए नहीं उनमें से कोई दिखा दो तो वो नहीं दिखा पाते हैं और क्यों नहीं दिखा पाते हैं इसका एक जवाब है उनके पास कि वो हम भूल गए। वेदों में जो ज्ञान था उसका अर्थ कैसे डिकोड करना है ये हम भूल गए। ये हिन्दू राष्ट्र की काबिलियत का सवाल है या नाकिबिलियत का कि आप अपने इतने महत्वपूर्ण ग्रंथ का अर्थ लगाना भूल गए।

मित्रो, ये जो आइडियॉलॉजी है जिसने इस तरह का उन्माद पैदा कर दिया है कि कोई रीजन की बात नहीं सुनना चाहता, कोई रेशनल नहीं होना चाहता; ये जो इर्रेशनैलिटी फैलाई जा रही है ये हमारी इकॉनॉमी से कितने दिन अलग रहेगी? कैसे ये उन्माद सही ढंग से चीजों को नहीं देखने देता इसका मैं एक उदाहरण देता हूँ गोमांस का। गोमांस को लेकर उसके संदेह में बहुत से लोगों से मारपीट की गई बहुतों को बेइज्जत किया गया और अब भी किया जाता है। जिन लोगों के पास वैलिड लाइसेंस था गोमांस लाने-ले जाने का वह भी डरकर अपने ट्रकों को खड़े किए हुए हैं कि कहीं हमें संदेह में न पकड़ा जाए। जिस आधार पर भय का ऐसा उन्माद पैदा कर दिया गया है उसके बारे में कुछ फैक्ट एंड फीगर भी देख लीजिए: सबसे पहले तो मैं दयानंद सरस्वती के बारे में बता दूँ कि दयानंद में फंडामेंटलिज्म होने के बावजूद सत्यार्थ प्रकाश में दयानंद ने कहीं नहीं लिखा कि

गाय हमारी माता है या गाय कोई खास पशु है। दयानंद ने सभी पशुओं को समान रूप से माना और कहा कि सभी पशुओं की रक्षा होनी चाहिए क्योंकि ये हमारी इकॉनॉमी के लिए जरूरी हैं। यह एक रेशनल दृष्टिकोण था। लेकिन आज गाय की वह इकॉनॉमी नहीं है जो 19वीं सदी में थी। आज गोवंश से हल चलाने वाले नहीं रह गए सारी जगह मशीनों ने ले ली है यहाँ तक कि आदिवासी इलाकों में भी ट्रैक्टर चलने लगे हैं। आज मवेशियों का मांस चाहे गोमांस हो या दूसरों का मांस हो ये हमारी एक बहुत बड़ी इकॉनॉमी बन चुके हैं। हिन्दुस्तान में बीफ और मीट का 33028 करोड़ का निर्यात हर साल होता है। इसमें से बफैलो मीट 29283 करोड़ का है। दुनिया में बीफ के तीन सबसे बड़े निर्यातक देश हैं भारत, ब्राजील और आस्ट्रेलिया। पिछले डेढ़ साल के अंदर भारत इनमें नम्बर वन पर आ गया है। मवेशियों से जो चमड़ा बनाया जाता है उसका भारत में उत्पादन 12 बिलियन डॉलर का है, भारत चीन के बाद दुनिया में जूतों का सबसे बड़ा निर्यातक देश है और चमड़े के उत्पादन क्षेत्र में 25 लाख मजदूर काम करते हैं जिनमें से ज्यादातर हमारे देश के दलित हैं। यहीं इसकी इकॉनॉमी खत्म नहीं हो जाती है, गाय के मांस से, उसके चमड़े से, उसकी पूँछ से, उसके बाल से, उसकी हड्डियों से हर चीज का इकॉनॉमिक प्रोडक्शन आज होता है। उदाहरण के लिए चमड़े के अलावा गाय के विभिन्न अंगों से आइसक्रीम, स्किन की क्रीम, जिलेटिन, चैविंग गम, साबुन की चर्बी, बटन, बोन चायना, पियानो के की, खाद, फोटोग्राफी की फिल्में, वाल पेपर, सैंड पेपर, कंधी, टूथब्रश, वायलिन के तार और इन सबके अलावा एक सौ ऐसी मेडिसिन हैं जिनमें गाय के अंगों का इस्तेमाल होता है। ये है हमारी गाय की इकॉनॉमी, गाय माँ है कि बाप है कि भाई कि बहन है ये सब छोड़कर अपनी इकॉनॉमी के बारे में जरा रेशनल ढंग से सोचिए। आपने पब्लिक कंजप्शन के खिलाफ इतना उन्माद खड़ा कर दिया लेकिन यही सरकार गोमांस के साथ क्या करती है उसके भी आँकड़े देखिए: के. सी. त्यागी सांसद हैं 12 दिसम्बर को उन्होंने पार्लियामेंट में बताया कि भारत में गोमांस के निर्यात पर 32 साल से कुछ रेस्ट्रिक्शन लगे हुए थे, मोदी सरकार ने 32 साल से चले आ रहे इस रेस्ट्रिक्शन को खत्म कर दिया जिसके कारण भारत दुनिया भर के बीफ निर्यातक देशों में पहले नंबर पर पहुँच गया। उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर में बीजेपी के एक सांसद हैं संगीत सोम, ये जनाब मशहूर हुए क्योंकि मुजफ्फरनगर दंगों के ये दोषी हैं। उनके ऊपर एफआईआर दर्ज है। दादरी में जब बिसाडा में अखलाक की हत्या कर दी गई गोमांस के शक में तो संगीत सोम वहाँ पहुँच गए उन लोगों का साथ देने कि यहाँ गाय की हत्या हुई है। ये संगीत सोम अभी कुछ साल पहले एक ऐसी कंपनी के डायरेक्टर थे जो बीफ निर्यात का ही काम करती है, उसने स्टेटमेंट देकर कहा कि मैं था, लेकिन मैंने रिजाइन कर दिया है। 2013-14 में बीजेपी ने इलेक्शन कमीशन को जो स्टेटमेंट दिया है उसमें चंदे के झोत का जिक्र करते हुए बताया कि ढाई करोड़ रुपया उन्हें बम्बई की एलानासंस कंपनी से मिला। ये कंपनी बीफ निर्यात में भारत की सबसे बड़ी और दुनिया की सबसे बड़ी कंपनियों में से एक है। तो मित्रों हिन्दू राष्ट्रवाद की ये विचारधारा किन लोगों ने पनपाई? 19वीं सदी में आप देखेंगे कि दयानंद बहुत बड़े सुधारक थे, लेकिन उनका अंग्रेज सरकार से बहुत अच्छा संबंध था और उस सरकार से अच्छा संबंध हिन्दुओं के खिलाफ उन्होंने बनाया। उन्होंने लिखा कि हिन्दू धर्म की जो मैंने आलोचना की वह मैं कभी न कर पाता अगर हिन्दुओं की सरकार होती। आप जानते हैं कि हिन्दू लोग दयानंद को कैसे पत्थर मार-मार कर भगाते थे। अंग्रेजों के साथ अच्छा संबंध सावरकर ने भी बनाया, गोलवलकर ने बनाया, आरएसएस ने भी बनाया। इस विचारधारा की बुनियादी बात है कि साम्राज्यवाद ने हमें गुलाम बना रखा है तब भी उसके खिलाफ हमें लड़ना नहीं है, कोई शहादत नहीं देनी है लेकिन सबसे बड़ा राष्ट्रवादी भी खुद को ही बनना है तो सबसे अच्छा तरीका है कि धर्म ही राष्ट्र है। देश के लिए लड़ने-मरने की जरूरत आपको नहीं है, वो बेवकूफ थे जो हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ गए। उनको अपने पड़ोस के किसी मुसलमान को पीटना चाहिए था और धर्म का झंडा बुलंद करना चाहिए था वो सबसे बड़े राष्ट्रवादी हो जाते।

आज स्थिति यह है कि गुंडागर्दी ने देशभक्ति का रूप ले लिया है और अलग राय रखना आपको देशद्रोही और राजद्रोही साबित करने के लिए काफी है। आज एक अलग राय रखना जिसका अधिकार आपको संविधान से मिला है उसके लिए आप पर सेडिशन का चार्ज लगता है। ये सेडिशन विरोधियों के सर कलम कर देने के लिए एलिजाबेथ

के समय ब्रिटेन में चला और इसे ब्रिटिश सरकार गदर के बाद हिन्दुस्तान ले आई, यहाँ के लोगों को कुचलने के लिए। हालाँकि, ये सेडिशन के चार्ज कभी टिक नहीं पाते कोर्ट में। सबको मालूम है सरकार खुद जानती है कि आप कोई भी राय रख सकते हैं, व्यक्त कर सकते हैं, लेकिन जानबूझकर उसके नाम पर देशभक्ति और राजद्रोह की राजनीति की जा रही है। एक हिन्दू संगठन है जिसने शाहरुख की फिल्मों के खिलाफ आन्दोलन चलाया था। उन लोगों ने अखबार में अपीलें छपवाई कि शाहरुख देशद्रोही है उसकी फिल्में न देखकर अपनी देशभक्ति का परिचय दें। इससे आसान तरीका क्या हो सकता है आपको देश के लिए कुछ भी करने की जरूरत नहीं आप देशभक्त हो जाएँगे। ऐसी विचारधारा के पास हमारी समस्याओं का हल क्या है? हमारे देश में जो धर्म का सवाल है, लोकतंत्र का सवाल है, स्त्री प्रश्न है, दलित प्रश्न है, आदिवासियों का सवाल है, सामाजिक न्याय का सवाल है इनके पास क्या हल है इन सवालों का। मित्रों इन सवालों पर हमारे देश के लोगों को शिक्षित किये जाने की जरूरत है, एक-एक मुद्दे पर एक-एक सवाल को लेकर बुकलेट लिखी जानी चाहिए और इनसे पूछना चाहिए कि इनके पास क्या जवाब है। सच्चाई यह है कि हमारा देश जो एक सेकुलर डेमोक्रेटिक देश है, इस देश में सबको समान रूप से लेकर चलने में जो समस्याएँ पैदा होती हैं उनका इनके पास कोई जवाब नहीं है। फंडामेंटलिस्ट वो नहीं है जो इतिहास को वापस लाना चाहता है, ये इतिहास को वापस नहीं लाना चाहते। इनके पास हमारे वर्तमान समाज में पैदा होने वाली समस्याओं का कोई हल नहीं है, इसलिए ये हमें उस सुनहले अतीत की ओर ले जाते हैं, जो कभी था ही नहीं। सुनहला अतीत एक कल्पना है जिसे आज की समस्याओं के जवाब में पेश किया जाता है। जहाँ ये महान अतीत की ओर नहीं ले जा सकते वहाँ क्या करते हैं, मसलन दलित के सवाल पर। क्या प्राचीन भारत में दलित को सिर पर बैठाते थे तो फिर वो झूठ पर उतर आते हैं। आजकल एक राजनीति चला रखी है समरसता की कि हम समाज में दलितों के साथ समरसता बढ़ाएँगे। इस समरसता की सच्चाई क्या है? कितनी समरसता इन्होंने दलितों के साथ की? दलितों को इन्होंने अपना आज्ञाकारी बनाया, समरस नहीं बनाया। रोहित वेमुला, सेन्ट्रल युनिवर्सिटी ऑफ हैदराबाद के जिस दलित विद्यार्थी ने आत्महत्या की वो एक केस है इनकी समरसता को जाँचने का। पार्लियामेंट में 60 सीटें दलितों के लिए आरक्षित हैं, इसमें से 40 सांसद केवल बीजेपी से हैं जिसकी सरकार है यानी पार्लियामेंट के 15 प्रतिशत मेंबर दलित हैं। क्या इन चालीस सांसदों का बीजेपी के दृष्टिकोण पर कोई असर पड़ा, क्या इन 40 सांसदों की कोई आवाज है बीजेपी के अन्दर। रोहित वेमुला की फाँसी पर केन्द्र सरकार के मंत्रियों ने कहा, शिक्षा मंत्री ने कहा कि रोहित वेमुला नक्सलाइट था, टेरेरिस्ट था, कास्टिस्ट था। 40 सांसद जिस पार्टी के दलित समाज से आए हैं उस पार्टी का यह दृष्टिकोण है एक दलित के प्रति! जब पार्टी में ही यह हाल है तो ये समाज में कितनी समरसता लाएँगे?

डॉ. अम्बेडकर के प्रति इनका नजरिया दूसरा उदाहरण है। डॉ. अम्बेडकर की मूर्तियों का ये बड़ा अनावरण कर रहे हैं, इंग्लैंड जा-जा के उनके घर और सारी जगहों पर पट्टे लगा रहे हैं और फोटो खिंचा रहे हैं। डॉ. अम्बेडकर के विचारों के बारे में इनका क्या खयाल है? डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि मैं पैदा हिन्दू हुआ हूँ, लेकिन मरना हिन्दू नहीं चाहता। अम्बेडकर ने कहा कि हिन्दू धर्म जितना अमानवीय और क्रूर दलितों के लिए दूसरा कोई धर्म नहीं है। डॉ. अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म छोड़ दिया। क्या विचार है इनका डॉ. अम्बेडकर के प्रति जिसकी ये बड़ी मूर्तियाँ लगा रहे हैं। मूर्तियों की पूजा करो और उसके विचारों की हत्या करो। डॉ. अम्बेडकर की मूर्ति बना दो मूर्ति कोई नुकसान नहीं करती बड़ी हानि रहित चीज है। विचार नुकसान करते हैं इसलिए डॉ. अम्बेडकर के विचारों पर चुप्पी रखो और सिर्फ चुप्पी ही नहीं एक एक्टिविटी भी है। डॉ. अम्बेडकर के लिटरेचर के 40 वॉल्यूम हैं, जिनके प्रकाशन की जिम्मेदारी अम्बेडकर फाउंडेशन नामक एक संस्था को है, लेकिन उसका कॉपीराइट महाराष्ट्र सरकार का है वो इजाजत देगी तभी छप सकता है। डॉ. अम्बेडकर के जो 22 वॉल्यूम छपे हुए हैं उनमें से सिर्फ 11 वॉल्यूम मिलते हैं। इस बार जो प्रगति मैदान में पुस्तक मेला हुआ दिल्ली में अम्बेडकर फाउंडेशन को जो स्टॉल लगा उसमें बाकी के वॉल्यूम जो 15 साल से गायब है नहीं मिले। ये वो वॉल्यूम हैं जिनमें डॉ. अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म की कड़ी आलोचना की। रिडल ऑफ हिन्दुइज्म, बुद्धिज्म और कास्ट एनिहिलेशन जैसे उनके लेखन को नहीं बेचा

जाता है, नहीं छपा जाता है और 22वें से लेकर 40वें वॉल्युम तक जो किताबें हैं उनको तो आज तक महाराष्ट्र सरकार ने छापने की इजाजत भी नहीं दी। इसलिए जो लोग दलित समरसता की बात कर रहे हैं और अम्बेडकर की मूर्तियाँ बना रहे हैं वे अम्बेडकर के विचारों के दुश्मन हैं और वे उनको मिटा देने की, उनको जमींदोज कर देने की कोशिश कर रहे हैं। मित्रो, ये जो परिस्थितियाँ आज देश में सामने आई हैं इसने हमारे साहित्य और भाषा पर भी बहुत बुरा असर डालना शुरू कर दिया है और डालेंगे, लेकिन सबसे दुखद बात यह है कि ये चुनौती जो सामने आई है जिसमें राजनीतिक स्तर पर भी लड़ाई होनी चाहिए राजनीति के स्तर पर हमें निराशा हो रही है। देश की जो वामपंथी पार्टियाँ हैं, पिछले कई सालों से उन्होंने खुद को अप्रासंगिक बना लिया है जैसे उनकी कोई रिलिवेंस ही नहीं रह गई है। हम कहीं भी उनको जनता की लड़ाई में नहीं देखते, वे पार्लियामेंट में बैठकर कमेंट करते रहते हैं और उसी से वो खुश हैं, मैं पॉलिटिकल पार्टियों की बात कर रहा हूँ, उनके लेखकों या उनके विद्यार्थियों की बात नहीं। आज जेएनयू में अगर स्टुडेंट न खड़े होते तो ये पॉलिटिकल पार्टियाँ आगे आती या न आतीं पता नहीं, ये स्टुडेंट हैं जिन्होंने उनको मजबूर किया। देश की राजनैतिक पार्टियों का जो दृष्टिकोण होना चाहिए जो सक्रियता होनी चाहिए वो पिछले कई सालों से नदारद है।

आप जानते हैं कि पिछली कांग्रेस सरकार युपीए 2 जो बनी थी मनमोहन सिंह की, 10 साल की सरकार रही और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया का उसके साथ एलायंस रहा। उस सरकार में सोनिया गाँधी के सलाहकारों के कहने से एक साम्प्रदायिकता विरोधी कानून का ड्राफ्ट बनाया गया। इस देश में एक सख्त साम्प्रदायिकता विरोधी कानून की बहुत जरूरत है। 7-8 साल तक कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस सरकार के साथ रही लेकिन साम्प्रदायिकता का वो कानून पड़ा रहा। कांग्रेस के साथ एलायंस करने का इनका लॉजिक यही होता है कि साम्प्रदायिकता को रोकने के लिए हमें कांग्रेस के साथ जाना पड़ रहा है। ये लॉजिक देकर ये एलायंस करते हैं लेकिन 7 साल तक साथ रहने के बाद भी क्यों नहीं यह कानून पास कराया? जो बाकी तथाकथित सेकुलर पार्टियाँ हैं वे तो वो पार्टियाँ हैं जिन्होंने समय-समय पर बीजेपी के साथ एलायंस करके सरकार बनाई। कभी उसके विरोध में हो जाती हैं कभी उसके साथ, कोई कमिटमेंट नहीं है। ये इस देश के बुद्धिजीवी हैं, कलाकार हैं, वैज्ञानिक हैं, इतिहासकार हैं जिन्होंने यह आवाज उठाई है और लड़ाई लड़ी है। मुझे लगता है मैंने बहुत समय ले लिया इसलिए मैं कुछ चीजें छोड़ देना चाहता हूँ, लेकिन आज लेखकों के चलते एक माहौल पैदा हुआ है और मैं कहना चाहता हूँ कि हम लड़ेंगे साथी। हम शब्दों के सर्जक हैं हमने शब्द लिख दिये, हो सकता है हमारी हर जबान काट ली जाए पर शब्द कहे जा चुके हैं। हमारे समय में तो हल चलाने वाले बंतसिंह हमारे नायक हैं जिनकी हिम्मत और जुझारूपन से हम कलम चलाने वालों को भी हिम्मत मिलती है। मैं कवियों के कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता से अपनी बात खत्म करना चाहता हूँ। रवीन्द्रनाथ ने सपना देखा था कि जब हमारा देश आजाद हो जाएगा तो हम कैसा समाज बनाएँगे उस समाज की एक कल्पना गीतांजलि की एक कविता में है। उसका भाव यह है -

जहाँ मन भय से मुक्त हो
सिर ऊँचा रहे और ज्ञान बिल्कुल आजाद
जहाँ देश-देश की तंग दीवारों के अन्दर जग बँटा न हो
जहाँ शब्द सच की गहराई से निकलते हों और साहस पूर्णता को प्राप्त हों
जहाँ विवेक की धारा मुर्दा रिवाजों की सूखी रेत के अन्दर न सूख जाए
जहाँ मन आगे, और आगे विचारों और कर्मों के अनन्त विकास तक जाए
ऐसी ही आजादी के लोक में, मेरे पिता! मेरा देश जागे

महाकवि का यह स्वप्न हम सबका स्वप्न है। इसे साकार करने के लिए हम सब मिलकर लड़ेंगे साथी!



लेख

यह लेख बी.ए. में कॉलेज की मैगजीन के लिए लिखा गया था। मैगजीन के संपादक-शिक्षक ने इसे छापने से मना कर दिया, क्योंकि इसमें कॉलेज के प्रिंसिपल पर एक टिप्पणी थी जो उनकी दृष्टि में आपत्तिजनक थी।

नैतिकता के दायरे और मेरे कॉलेज के लड़के-लड़कियाँ

जमशेदपुर जैसे एक छोटे शहर में मेरे कॉलेज के लड़के-लड़कियों के आपसी संबंध अच्छे नहीं हैं। इनमें पारस्परिक संबंधों की धारणा अत्यंत अस्वस्थ, विकृत और एक हद तक कुठित है। इनके संबंधों के यदि मैं कुछ उदाहरण दूँ तो आप मेरी बात पूरी तरह समझ जाएँगे। एक उदाहरण, जोकि इस कॉलेज में बिल्कुल स्पष्ट दिखाई पड़ता है और बहुत आम है, वह यह कि इस कॉलेज में लड़के-लड़कियाँ आपस में बातें करने या मिलने में बहुत संकोच करते हैं। उनका दिल जोरों से धड़कने लग जाता है एक दूसरे से बातें करने समय। या फिर एक झिझक और अस्वाभाविकता उनके चेहरे पर छाई ही रहती है। यह वास्तव में उनके आपसी संबंधों की कुंठा और विकृति की बिल्कुल स्पष्ट अभिव्यक्ति है। विकृति का एक दूसरा उदाहरण यह है कि जहाँ एक लड़का दूसरी लड़की से जरा भी खुलेपन के साथ बात करना शुरू करे कि दूसरे लड़के तरह-तरह की आवाज कसने लगते हैं, 'टोन' करना शुरू कर देते हैं। यह सब ऊपर वाले बरामदे में काफी होता है। यदि कोई लड़का किसी लड़की के साथ दो-तीन दिनों तक बातें करते नजर आए या एक साथ कालेज आए-जाए तो उनके संबंध में कहानियाँ बननी शुरू हो जाती हैं और खुलेआम उन्हें जब भी पाया जाता है उन पर 'टोन' किया जाता है। और यह 'टोन' करना अपमान की सीमा तक पहुँच जाता है।

यह तो हुआ आपस में बातें करने या मिलने की झिझक या घबराहट का उदाहरण। यह उदाहरण इतना व्यापक है कि मैं कहूँ कि एक ही साथ एक ही क्लास में लड़के-लड़कियाँ तीन-तीन साल तक पढ़ जाते हैं, लेकिन तीन साल के बाद भी एक दूसरे से बिल्कुल परिचित नहीं हो पाते।

आपसी संबंधों की अस्वस्थता या कुंठा के दूसरे उदाहरण देखिए। क्लास में पढ़ाई शुरू हो जाती है और लड़के सभी बैठ जाते हैं, फिर लड़कियाँ प्रवेश करती हैं। मानो यदि वह पहले आ जाएँ तो लड़के उन्हें खा जाएँगे। लेकिन मजे की बात तो यह है कि यदि क्लास में सभी कुर्सियाँ या सीटें भर जाएँ या भर गई हैं और लड़कियाँ देर से पहुँचे, तो आप जानते हैं ये क्या करेंगी? इनमें किसी में इतना साहस नहीं होगा कि यह दूसरी क्लास से खाली कुर्सियाँ उठा कर ले आएँ - हालाँकि, घर पर यह चीजें उठाने का काफी काम करती हैं - और न ही इतना साहस होगा कि यह किसी बेंच पर, जिसपर लड़के भी बैठे हैं, थोड़ी सी बची जगह पर बैठ जाएँ। ऐसा करने से तो ये अपवित्र हो जाएँगी। लेकिन इसके उल्टे ये कुछ देर तक दरवाजे के पास अत्यंत दयनीय और संकुचित मुद्रा में खड़ी रहेंगी कि कोई लड़का उठकर इन्हें ही अपनी सीट दे दे या कहीं से कुर्सी ला दे। सच, मुझे उस समय यह पक्की भिखारी लगती हैं। एकदम भिखारियों की तरह खड़ी रहेंगी कि कोई अपनी सीट दे दे। कम से कम मेरी क्लास की लड़कियाँ तो ऐसा ही करती हैं। और मजे की बात तो यह है कि सीट नहीं मिलने पर ये वापस अपनी माँद में अर्थात् कॉमन रूम में चली जाती हैं। जी हाँ, कॉमन रूम इनकी माँद है। ये जबतक कॉलेज में रहती हैं, उसी में घुसी रहती हैं। सिर्फ क्लास के समय उसमें से बाहर निकलती हैं और यदि साथ वाली लड़की

या लड़कियाँ ना आई हों, यह वहाँ से निकलती भी नहीं है। यानी क्लास तक जाने के लिए यदि कोई सहेली ना हो, तो यह उसी माँद में रहती हैं। माँद से बाहर इनकी सीमा कॉमन रूम के सामने के छज्जे तक ही है।

विज्ञान की लड़कियाँ, कला विभाग की लड़कियों की अपेक्षा कुछ समझदार और साहसी दोनों अधिक हैं। लेकिन उनका भी हाल देखिए। प्रयोगशाला में जब ये जाती हैं प्रयोग करने के लिए, तो रसायन प्रयोगशाला में जब तक लड़के अपने उपकरण इत्यादि लेकर वहाँ से हट ना जाएँ यह अपने उपकरण नहीं लेतीं, क्योंकि उनकी उपस्थिति में वहाँ ये उपकरण लें, तो उनके बदन से शायद टकरा जाएँगी। मैं नहीं जानता यदि किसी लड़के के शरीर से किसी लड़की का शरीर टकरा जाए तो कितनी बिजली उत्पन्न होती है। एक बार मैंने देखा कि प्राक् विज्ञान की एक लड़की के कंधे से एक लड़का पुस्तकालय में टकरा गया और तब काफी बिजली उत्पन्न हुई थी और वह सारी उस लड़के पर ही गिरी। लड़कियाँ उसे दे गालियों पर गालियाँ दिए जा रही थीं कि उसकी पवित्रता नष्ट हो गई। अब आप यह जान लीजिए कि किसी भी लड़की की सारी पवित्रता उसके कंधे के ऊपर ही जमा रहती है। और वह पवित्रता इतनी नाजुक होती है कि आप टकराए और वह उड़ गई।

क्लास में भी इन लड़कियों के लिए किसी एक तरफ चार-पाँच बेंचें छोड़ दी जाती हैं और यह रोज इसी पर बैठती हैं। मुझे समझ नहीं आता कि इस प्रकार इन्हें स्वयं से हमेशा अलग रखने पर, दया करने की तरह उनके लिए कुछ बेंचें छोड़ देने पर, इन्हें इस बात से अपना अपमान क्यों नहीं महसूस होता? उल्टे इसे ही अपनी इज्जत का सबूत समझती हैं।

समारोहों में तो यह बात अपने चरम पर पहुँच जाती हैं। कोई भी कार्यक्रम हो, चाहे वह डिबेटिंग सोसाइटी का हो, चाहे किसी परिषद का, चाहे किसी और चीज का; जब सब लड़के बैठ जाएँगे कार्यक्रम लगभग शुरू हो जाएगा उस समय यह पहुँचेंगी इनके लिए छः-सात लाइनें पहले से ही छोड़ कर रखी जाएँगी और इसके बाद भी अगर कुछ लड़कियाँ बच जाती हैं तो हमारे प्रोफेसर के.के. मिश्रा साहब बड़ी शान के साथ एक लाइन से लड़कों को उठवाएँगे और उनकी जगह लड़कियों को सुशोभित करेंगे। जो लड़के उठाए जाते हैं उन्हें तो अपमान का अनुभव होता ही होगा, क्या इन लड़कियों में भी कोई संवेदनशीलता या करुणा नहीं बची है? किसी दूसरे व्यक्ति को उठवाकर उसकी जगह पर खुद बैठ जाना यह लड़कियाँ किस प्रकार पसंद कर लेती हैं? और अन्याय देखिए कि कोई लड़की कार्यक्रम शुरू हो जाने के आधे घंटे भी बाद आए तो, एक घंटे पहले से बैठे हुए लड़के को उठाकर उसे बैठाया जाता है। कैसी शर्म की बात है? क्या ये लड़कियाँ पहले से नहीं आ सकतीं? क्या पहले आने से लड़के इन्हें खा जाते हैं? क्या ये लड़कियाँ अन्य लड़कों की तरह कुछ देर तक खड़ी नहीं रह सकतीं? सच बात तो यह है कि यह जो लड़के-लड़कियों को भाई-बहन कहा जाता है बिल्कुल सफेद झूठ है। अन्यथा यह कैसे हो सकता है कि कोई बहन भाई को उठवा कर उसकी जगह बैठे या भाई खड़ा रहे और बहन बैठे?

दूसरी तरफ लड़कों का यह हाल है कि वह लड़कियों को बुरी तरह छेड़ते हैं। लड़कियों को छेड़ने के लिए उन्होंने इतने गंदे और भद्दे तरीके खोज रखे हैं कि सोचकर लज्जा आती है। यह तो अच्छा हुआ कि भौतिकी प्रयोगशाला अब कैंटीन की तरफ नहीं है। अन्यथा प्रयोगशाला जाते समय इन लड़कियों पर कैंटीन में बैठे लड़के इतने भद्दे ढंग से कमेंट पास करते थे कि देखकर आश्चर्य होता था। मेरे कालेज में छेड़ने के जो तरीके अब इजाद हो गए हैं -उनमें से कुछ तरीके अत्यंत आपत्तिजनक हैं।

मैं यह सब जो उदाहरण दे रहा हूँ, वह सब अत्यंत स्पष्ट और आम है। इन्हें कोई भी व्यक्ति हर रोज देख सकता है। इनके अलावा भी लड़के-लड़कियों के आपसी संबंधों की विकृतियों और कुंठा के सैकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं। लेकिन मैं सिर्फ उदाहरण देने के लिए यह लेख नहीं लिख रहा हूँ। सवाल यह है कि संबंधों की इस विकृति, अस्वस्थता और कुंठा का कारण कौन है? इसकी जिम्मेदारी किस पर है?

दोष केवल इन लड़के-लड़कियों का नहीं है। वास्तव में दोष सारे समाज का है। जिसे हम हिंदू और भारतीय समाज कहते हैं - दोष इस समाज के सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का है। सबसे मूल दोष इस समाज की नैतिक चेतना का है जो कि अत्यंत संकीर्ण और कुंठित है। हमारे समाज की नैतिकता का दायरा इतना संकुचित

है, उसकी नैतिक चेतना इतनी कुंठित है कि इन उदाहरणों के सिवाय उसका और कोई नतीजा नहीं निकल सकता। इस समाज में बचपन से हमें ऊट-पटांग बातें सिखलाई जाती हैं। हममें ढोंग और पाखंड से भरे खोखले संस्कार भरे जाते हैं, और इस तरह हमारी चेतना को बिल्कुल विकृत और कुंठित कर दिया जाता है। हमें कोई भी चीज वैज्ञानिक ढंग से जानने नहीं दी जाती है। सेक्स का संदर्भ इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। जितने भी सेक्सुअल काम हो सकते हैं, हमारे बच्चे वह सब काम करते हैं, लेकिन इनमें से किसी काम के क्या परिणाम होते हैं या यह काम वास्तव में क्या है, यह कोई नहीं जानता है। बच्चे जितने हम लोग पैदा करते हैं उतना कोई देश नहीं करता, लेकिन बच्चे कैसे पैदा किए जाते हैं- इसकी शिक्षा यहाँ कभी नहीं दी जाती। शिक्षा देने की बात तो दूर रही, उसे छुपाने के लिए हर बचकानी कोशिश की जाती है। इस प्रकार सेक्स के प्रति या जीवन की अन्य समस्याओं के प्रति भी यह जो अनभिज्ञता की स्थिति जानबूझ कर रखी जाती है, वही हमारी चेतना को विकृत करती है। लेकिन लड़के-लड़कियों या नारी-पुरुष के आपसी संबंधों की विकृति और कुंठा का कारण केवल सेक्स संबंधी वैज्ञानिक ज्ञान का अभाव ही नहीं है। इस विकृति और कुंठा का मूल हमारी संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की बुनियाद में है।

हिंदू या भारतीय समाज की सामाजिक व्यवस्था की बुनियाद जिस व्यक्ति ने रखी थी, नारी-पुरुष के संबंधों के, आपसी संबंधों की धारणा का जिस व्यक्ति ने प्रतिपादन किया था उसका नाम था मनु। मनु ने सामाजिक व्यवस्था की बुनियाद को रखते हुए नारी-पुरुष के आपसी संबंधों के प्रति यह सिद्धांत बनाया था कि समाज में नारी को पुरुष पर आश्रित रहना चाहिए। नारी अपनी बाल्यावस्था में अपने पिता पर आश्रित होगी, यौवन में नारी अपने पति पर आश्रित होगी और वृद्धावस्था में वह अपने पुत्रों पर आश्रित होगी। गोकि अपने जीवन भर नारी विवश रहेगी, गुलाम रहेगी, पुरुष पर आश्रित रहेगी। और सच पूछिए तो हमारे देश की नारी जाति का सारा इतिहास पुरुष पर नारी के आश्रय का, दूसरे शब्दों में पुरुष के आधिपत्य का और अत्याचारों का इतिहास रहा है। लेकिन प्रश्न उठता है कि मनु ने इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था क्यों बनाई?

इस विषय और कुत्सित सामाजिक व्यवस्था का मूल कारण मनु के समय का पूँजीवाद था। किसी भी समाज में, किसी भी समय नारी पुरुष या व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों की धारणा इस बात पर निर्भर करती है कि समाज में उत्पादन का ढंग किस प्रकार है। मनु एक पूँजीवादी व्यवस्था वाले समाज का सदस्य था और जब उसने नारी पुरुषों के लिए आपसी संबंधों का निर्णय किया तब उसके निर्णय का आधार भी पूँजीवादी व्यवस्था थी। पूँजीवाद यह कहता है कि व्यक्ति को अपनी संपत्ति रखने का अधिकार है, और उसे अधिकार है कि वह किसी भी साधन का स्वामी बन कर उस साधन का अपने लाभ के लिए जितना चाहे, जिस प्रकार से उपयोग करे। इस पूँजीवादी समाज में पुरुष ने जिस प्रकार लकड़ी, पत्थर और लोहे को उत्पादन का एक साधन माना, उसी प्रकार नारी को भी एक साधन माना। जिस प्रकार खेत और कारखाने उसकी वैयक्तिक संपत्ति हुई, उसी प्रकार नारी भी उसकी वैयक्तिक संपत्ति हुई। हिंदुओं में पुरुष को नारी का स्वामी कहा जाता है। कारखाने से वह वस्तुओं का उत्पादन करता था रुपए के लिए, नारी से वह संतान का उत्पादन करता था अपने अधिकार और पूँजी को निरंतर बनाए रखने के लिए। फर्क यही है कि खेत और कारखाने पर वह जब भी चाहे कोई अत्याचार नहीं कर सकता था, लेकिन नारी का वह जब जी चाहे अपनी हवस मिटाने के लिए उपयोग कर सकता था। इस प्रकार मनु ने जिस समाज की व्यवस्था की, उसमें नारी पुरुष की वैयक्तिक संपत्ति बन गई। वह पहले पुरुष की है, फिर समाज की, वह भी पुरुष के ही माध्यम से। नारी जीवन भर पुरुष पर आश्रित रहने लगी। जीवन यापन के लिए उसे श्रम नहीं करना पड़ा। वह पुरुष की हवस मिटाती, उसके लिए संतान उत्पन्न करती, उसे खुश रखती और बदले में उससे जीवन भर रोटी-कपड़ा लेती। इसलिए मैं हमेशा यह कहता रहा हूँ कि एक स्त्री, अगर उसके पास जीने का अपना कोई आर्थिक आधार नहीं है तो, विवाह के बाद, वह वेश्या बन जाती है। उसमें और बाजार की वेश्या में फर्क केवल यही है कि बाजार की वेश्या यह सब एक-दो रातों के लिए, कई पुरुषों के साथ करती है गैरकानूनी ढंग से, जबकि घर की स्त्री यह सब पूरे जीवन भर के लिए एक ही पुरुष से करती है, धर्म और संस्कृति

की आड़ में।

ऊपर मैंने जो बातें कही हैं, वह नारी-पुरुष के संबंधों की विकृति और कुंठा का सबसे मूल कारण है जो विभिन्न उदाहरणों के रूप में हमें सब जगह मिलते हैं। अपने कॉलेज के लड़के-लड़कियों के संबंधों की जिस अस्वस्थता और विकृति के मैंने कई उदाहरण दिए, उनके कई कारण हैं लेकिन सबसे मूल कारण अभी ऊपर कही हुई बात ही है।

तो अब सवाल उठता है कि अपने कॉलेज में लड़के-लड़कियों के आपसी संबंधों को किस प्रकार सुंदर बनाया जाए? किस प्रकार उनमें एक दूसरे के प्रति एक स्वस्थ और सहज उन्मुक्त दृष्टिकोण पैदा किया जाए? स्पष्ट है कि जब तक समस्या के मूल कारण को समाप्त नहीं कर दिया जाता, तब तक संबंधों का पुनर्गठन नहीं किया जा सकता। मूल समस्या यह है कि कैसे नारी को भी पुरुष की तरह समाज की स्वतंत्र इकाई के रूप में प्रतिष्ठित किया जाए? इसका समाधान समाज के आर्थिक ढाँचे पर निर्भर करता है, जबतक उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व नहीं होता और जबतक प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, श्रम नहीं करता और उन्हें उनके श्रम के बदले में उतना ही नहीं मिलता जितना कि उन्हें चाहिए, तब तक नारी पर पुरुष का आधिपत्य बना रहेगा और कोई भी व्यक्ति समाज में पूरी तरह सुखी नहीं हो सकता है।

लेकिन सवाल है कि जबतक समाज में यह व्यवस्था नहीं आएगी तबतक कुछ और किया जा सकता है या नहीं? मेरे कॉलेज के लड़के-लड़कियों में एक सुंदर संबंध भाव पैदा हो इसके लिए मैं चार-पाँच मोटी-मोटी बातें सोचता हूँ। पहली बात यह कि लड़के-लड़कियों की नैतिक चेतना उन्मुक्त हो, अकुंठित हो और उसका विस्तार हो। इसके लिए उनमें एक नई चेतना जागृत की जाए, एक दूसरे के प्रति एक नया भाव पैदा किया जाए। यह नई चेतना किस प्रकार जागृत हो? यह नया भाव किस प्रकार पैदा किया जाए? इसके लिए कुछ तरीके हैं। पहला तरीका यह है कि डिबेटिंग सोसाइटी की तरफ से इस प्रकार के विषय पर डिबेट हो जिनका सीधा संबंध लड़के-लड़कियों और उनकी नैतिक चेतना से हो। अभी थोड़े ही दिन पहले मैं डिबेटिंग सोसाइटी की तरफ से डिबेट कराने के लिए एक विषय लेकर गया, प्रिंसिपल के पास, हस्ताक्षर करवाने के लिए। विषय था 'सदन की राय में लड़के-लड़कियों को अपना विवाह स्वयं अपने चुनाव द्वारा करना चाहिए न कि अपने माता-पिता द्वारा।' अब चूँकि हमारा प्रिंसिपल हमारे कॉलेज के बारे में कुछ नहीं जानता, इसका कैसे विकास हो नहीं समझता है, और अयोग्य है, तो साफ है कि वह मेरे विषय से सहमत नहीं हो सका। मैं मन मसोसकर रह गया। पर मैं आपको यह कहना चाहता हूँ कि आप इन्हीं सब विषयों पर डिबेट कराइए जो कि हमारे वास्तविक जीवन से संबंधित हो। जो कि हमारी पुरानी नैतिक मान्यताओं को झकझोर दे। साथ ही सेक्स के विषयों पर भी डिबेट होना चाहिए। इससे लड़के-लड़कियों की आपसी झिझक टूटेगी और उनमें एक नई नैतिक चेतना जागृत होगी।

दूसरा सबसे महत्वपूर्ण तरीका यह है कि लड़के और लड़कियों के लिए एक कॉमनरूम हो। वास्तव में हम लड़के-लड़कियों को काफी बेवकूफ बनाया जाता है। हमें दो कॉमनरूम दे दिए गए हैं और कहा गया है कि यह लड़कियों का कॉमनरूम है और यह लड़कों का कॉमनरूम है। अरे, जब रूम अलग-अलग है तो वह कॉमन कैसे हुआ? वास्तव में यह तो बॉयज़रूम और गर्ल्सरूम हुआ। तब कॉमनरूम कहाँ है? स्पष्ट है कि लड़के और लड़कियों का एक कॉमनरूम हो। मैं सोचता हूँ कि कॉमनरूम के नाम पर अभी जो दो-दो रूम हैं - उन्हें अब इस रूप में इस्तेमाल किया जाए। लड़कियों के रूम में पड़ी टेबल टेनिस की टेबल लड़कों के रूम में रखवा दी जाए। इस प्रकार वहाँ दो टेबल टेनिस हो जाएगी। अब उसी रूम में दो-चार कैरम बोर्ड, शतरंज और ताश वगैरह जो कुछ भी लड़के-लड़कियाँ खेलते हैं रख दिया जाए। उस रूम के दो इंचार्ज हों - एक लड़की, एक लड़का। अब जितने भी लड़के-लड़कियाँ खेलने वाले हैं, सब एक साथ उसी रूम में खेलें। दूसरा लड़कियों वाला रूम बौद्धिकों का रूम बना दिया जाए। मतलब इस रूम में एक छोटी टेबल और उसके इर्द-गिर्द दो-चार कुर्सियाँ, फिर एक छोटी टेबल और उसके इर्द-गिर्द दो-चार कुर्सियाँ, इसी तरह रखवा दी जाएँ। यहाँ जब रिसेस हो या पीरियड खाली हो तब लड़के-लड़कियाँ आएँ, बैठे और आपस में एक-दूसरे से बातें करें, बहस करें। इस

रूम में यह दो-दो, चार-चार का ग्रुप बनाकर लड़के-लड़कियाँ कालेज के बारे में, पढ़ाई के बारे में, शहर, समाज, अपने देश या नंदाजी, देव आनंद या वियतनाम, किसी पर भी बातचीत किया करेंगे। इस प्रकार उस रूम में लड़के-लड़कियाँ खेलें और इस रूम में बातें करें, बहस करें।

और भी कुछ उपाय हैं। लड़कियों के पास जो नौकरानी है, उसे छुट्टी दे दी जाए। एक तो उसे ऐसे ही पैसे इतने कम मिलते हैं कि वह हमेशा दूसरों से पैसे माँगती रहती है, दूसरे वह कुछ चिट्ठियों को लेकर लड़कियों को ब्लैकमेल करती है। लेकिन वास्तव में उसे छुट्टी देने का मुख्य उद्देश्य है कि लड़कियाँ खाने-पीने के लिए खुद कैटीन तक जाएँ। लड़कियाँ न तो लंगड़ी हैं, न ही उन्हें कैटीन जाने से कोई खा जाएगा। सवाल है कुछ 'हीरो' लड़कों का। तो पहली बात यह है कि यदि सब लड़कियाँ साहस करके कैटीन जाना शुरू कर देंगी, तो धीरे-धीरे कैटीन सुधरने लगेगी और वहाँ बैठे लड़के अपनी कुछ जिम्मेदारी अनुभव करके शिष्ट होना सीखेंगे। और यदि वहाँ सब लड़कियाँ जाना शुरू कर दें और लगातार जाएँ तो मैं समझता हूँ कि कैटीन का वातावरण भी उतना ही सामान्य बन जाएगा जितना कि किसी और जगह का है। दूसरी बात यह है कि जो एकदम 'हीरो' लोग हैं उन्हें कॉलेज से निकाल दिया जाए। मैं समझता हूँ ऐसे एक दो 'हीरो' लोग अभी भी कॉलेज में हैं और वह सिर्फ प्रिंसिपल की अयोग्यता के चलते कॉलेज में हैं। तीसरी बात यह है कि यदि इसके बाद भी कैटीन में कोई लड़कियों को छेड़े (जो कि अब संभव नहीं है) तो इसे सह लेना चाहिए क्योंकि इतनी हल्की और मीठी छेड़छाड़ तो होती ही है।

एक तरीका यह भी है कि लड़कियाँ भी लड़कों की तरह बाहर से लाइन लगाकर 'फीस' दिया करें। इससे एक सामाजिक समानता का भाव उत्पन्न होगा तथा हमारी लड़कियाँ आत्मनिर्भर, आत्मविश्वासी और कुछ निडर बनेंगी। क्लास में लड़कियों को चाहिए कि वे अलग बेंचों पर न बैठें, बल्कि लड़के-लड़कियाँ सब एक साथ बैठें। लड़कियों को यह समझ लेना चाहिए कि यदि उनके लिए कुछ अलग बेंचें छोड़ दी जाती हैं तो इसका मतलब यह नहीं है कि लड़के उनका आदर करते हैं; आदर करते तो उन्हें इस तरह से छेड़ते नहीं। अलग सीटें पाने का मतलब है, दूसरे की दया पर जीना और दूसरे की दया पर जीना भिखारीपन है। इससे अपमान का बोध होना चाहिए। लड़के-लड़कियों को आपस में प्यार भी करना चाहिए। जो जिसे पसंद आ जाए उन्हें दूसरे से खूब उन्मुक्त होकर प्यार करना चाहिए। तथा अन्य लड़के-लड़कियों को इस पर 'टोन' नहीं करना चाहिए, बल्कि उन्हें सहयोग देना चाहिए। प्यार करने वाले लड़के-लड़कियों को आगे चलकर अपना विवाह भी कर लेना चाहिए- इससे तीन बातें होंगी। उनका दांपत्य जीवन सुखी होगा, माँ-बाप की पसंद द्वारा शादी करने की गंदी प्रथा टूटेगी तथा दहेज लेने-देने की बात भी खत्म होगी। आशा करता हूँ, बच्चे भी इस तरह कम पैदा होंगे।

बी.ए.ऑनर्स, तृतीय वर्ष, जनवरी, 1967



यह लेख 1969 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में एम.ए. का छात्र रहते हुए लिखा गया था। उसी वक्त प्रकाशन के लिए इसे कल्पना (हैदराबाद) में भेजा गया था। कल्पना ने इसे नहीं छपा।

प्रतिष्ठान का रक्षक मसीहा

धर्मयुग के 26 जनवरी के अंक में हिंदी के प्रसिद्ध मानवतावादी लेखक और काशी हिंदू विश्वविद्यालय के रेक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी का लेख प्रकाशित हुआ है- अध्यापक ही विद्यार्थियों की समस्याओं का समाधान कर सकते हैं लेकिन जब राजनीतिक दल बीच में आ जाते हैं तो वह निरुपाय हो जाते हैं। छात्र अशांति की समस्या पर विशेष रूप से किया गया यह 'प्रखर विश्लेषण' दो कारणों से विशेष विचारणीय हो जाता है। एक तो यह कि डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी अपनी 'मानवतावादी दृष्टि' और 'प्रखर विश्लेषण' क्षमता के लिए प्रसिद्ध हैं। और जिस छात्र अशांति पर यह लेख लिखा गया है उसका उस विश्वविद्यालय से घनिष्ठ संबंध है जिसके कि वे रेक्टर हैं। इस प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में उनकी मानवतावादी दृष्टि की वास्तविकता के धरातल पर परीक्षा हो जाती है। लेख के विशेष विचारणीय हो उठने का दूसरा कारण यह भी है कि लेख ठीक उसी समय प्रकाशित हुआ है जबकि काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हाल में घटित घटनाओं की जाँच के लिए बैठाया गया जाँच कमीशन अपना काम शुरू करने वाला है।

आइए हम देखें कि यह 'प्रखर विश्लेषण' वास्तव में क्या है और यह किस उद्देश्य के लिए किया गया है? लेख के पहले ही पैराग्राफ से जो बात स्पष्ट होती है वह यह कि आखिर यह आदमी भी आँकड़ों की भाषा बोलने लग गया है। जब कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' भागलपुर विश्वविद्यालय में वाइस चांसलर बनाए गए थे तो उन्होंने भी वाइस चांसलर बनने के बाद जो पहला लेख लिखा था (वह भी धर्मयुग में ही छपा था) वह भी आँकड़ों की ही भाषा में था। इससे और कुछ नहीं तो एक बात तो निश्चित रूप से स्पष्ट हो जाती है कि चाहे कवि हो या साहित्यकार-सत्ता और प्रतिष्ठान का अधिकारी हो जाने के बाद वह भी आँकड़ों की भाषा में बोलने लगता है। द्विवेदीजी के लेख में यह आँकड़े भी ठीक उसी ढंग से दिए गए हैं जिस ढंग से योजना मंत्री या परिवहन मंत्री बजट अधिवेशन में अपने लिखित भाषणों में देते हैं। लेख में आँकड़े देकर यह बतलाया गया है कि स्थिति व्यवस्था के अनुकूल नहीं है। इसलिए 'हमें' अर्थात् अधिकारी वर्ग को 'विद्यार्थियों' के अधिकाधिक असंतोष के लिए तैयार रहना चाहिए।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी यह स्वीकार करते हैं कि देश में 'छात्र समस्या' है। अब देखिए कि समस्या का समाधान 'किस प्रकार' सामने रखते हैं।

पहले उन्होंने समस्या को 'परीक्षा पद्धति' के रूप में रखा है। अधिकारी वर्ग ने कई तरह परीक्षा पद्धतियाँ चलाने का प्रयत्न किया, किंतु वे सब असफल हो गईं। क्यों असफल हो गईं? क्योंकि "वस्तुतः परीक्षा पद्धति यांत्रिक और प्राणहीन हो गई है।"

तो एक बात साफ हो गई कि विश्वविद्यालयों की परीक्षा पद्धति यांत्रिक और प्राणहीन हो गई है। आगे

वे क्या कहते हैं –गौर कीजिएगा कि उनका तर्क किस प्रकार आगे बढ़ता है और आखिर वह हमें कहाँ पहुँचाता है? आगे वे कहते हैं कि इसमें प्राणसंचार के लिए “अध्यापकों को अधिक संयम, अध्यवसाय, स्वाधीनता और सूझ बूझ से काम लेना चाहिए।” इस प्रकार वे यह कहना चाहते हैं कि परीक्षा पद्धति जो ‘यांत्रिक और प्राणहीन’ हो गई है, उसका समाधान तभी संभव है जब अध्यापक और मेहनत से काम करेंगे, उनमें संयम और अध्यवसाय अधिक होगा तथा वे स्वतंत्र ढंग से सोच-विचार कर अपना काम करेंगे। अध्यापकों द्वारा ऐसा करने पर परीक्षा पद्धति जो यांत्रिक और प्राणहीन हो गई है फिर से प्राणवान और गतिशील हो उठेगी। यह तो बहुत अच्छी बात है! व्यावहारिक भी है और संभव भी है। सभी अध्यापकों से ऐसा कह दिया जा सकता है कि वे अपना काम और अधिक मेहनत, स्वतंत्रता और सूझ-बूझ से करें। अध्यापक भी, जो जरा भी अपनी जिम्मेदारी समझते होंगे और समाज का हित सोचते होंगे बिना किसी बाधा के ऐसा करने के लिए तैयार हो जाएंगे। पर प्रश्न है कि अब तक अध्यापकों ने ऐसा क्यों नहीं किया? असल में वे फिलहाल ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि “सारे देश में फैले हुए जड़ संगठन के रहते हुए यह कार्य संभव नहीं लगता।”

देखा आपने यह है डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का तर्क चक्र। तर्क कहाँ से शुरू करके कहाँ पहुँचा कर खत्म कर दिया गया है? छात्र अशांति है क्योंकि परीक्षा पद्धति यांत्रिक और प्राणहीन है। परीक्षा पद्धति प्राणवान तब होगी जब अध्यापक परिश्रम और स्वतंत्रता से अपना काम करेंगे। लेकिन अध्यापक ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि देश में जड़ संगठन फैला हुआ है और जड़ संगठन को अकेला अध्यापक तो हटा नहीं सकता! इसलिए फिलहाल वह अभी कुछ नहीं कर सकता। इस प्रकार यह सारा तर्कचक्र अपने ही धुरी पर घूमकर इस सलाह और चेतावनी भरे उपसंहार के साथ खत्म हो जाता है कि “इस प्रश्न को राष्ट्रीय स्तर पर सुलझाना होगा। टालते जाने से काम नहीं चलेगा।”

आज डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी रेक्टर हैं– काशी हिंदू विश्वविद्यालय में वाइस चांसलर के बाद सबसे बड़े अधिकारी। आज वे समस्या के समाधान की जिम्मेदारी अध्यापक पर डाल रहे हैं– यद्यपि यह कोई समाधान नहीं है। लेकिन दावे के साथ कहा जा सकता है यदि डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी आज अध्यापक होते (एक वर्ष पहले तक वे अध्यापक ही थे) तो आज वे समस्या के समाधान की जिम्मेदारी अध्यापक पर नहीं थोपते, वे इसी बात को अधिकारी वर्ग के लिए कहते या किसी अन्य वर्ग के लिए।

“हाल ही में कई विद्या मंदिरों में हिंसा, आगजनी और लूटपाट से राष्ट्रीय हित की हत्या हुई है।”

विद्या मंदिरों में? कौन से विद्या मंदिर? काशी हिंदू विश्वविद्यालय और ऐसे ही दूसरे विश्वविद्यालय? यह व्यक्ति इन्हें विद्या मंदिर कहता है? क्या यह व्यक्ति नहीं जानता है कि इन विद्या मंदिरों में क्या कुछ होता है? क्या यह व्यक्ति नहीं जानता है कि इन्हीं विश्वविद्यालयों में एक क्लर्क और अध्यापक से लेकर रेक्टर और वाइस चांसलर तक की नियुक्ति के पीछे कैसी घृणित राजनीति खेली जाती है? क्या यह व्यक्ति नहीं जानता है कि इन्हीं विश्वविद्यालयों में, विश्वविद्यालय के उप-संगठनों और ‘कोर्ट’ में ठाकुरों और ब्राह्मणों, भूमिहारों और कायस्थों की गुटबाजी कौन से खेल खेलती है? क्या यह व्यक्ति नहीं जानता है कि शोध छात्र लेक्चरर बनने के लिए, लेक्चरर रीडर बनने के लिए और रीडर अध्यक्ष बनने के लिए क्या-क्या करते हैं और अपने स्वार्थों के लिए छात्रों का किस प्रकार इस्तेमाल करते हैं? क्या यह व्यक्ति नहीं जानता है कि विश्वविद्यालय का हर अधिकारी जहाँ जिस प्रकार संभव हो, रुपए लूटता है और अपनी जाति और रिश्तेदारों को नौकरियों पर लगाता है? और इन पैसे बनाने वालों में से वह व्यक्ति, जिसकी मृत्यु से “देश की महान क्षति” हो गई– डॉक्टर संपूर्णानंद तक बरी नहीं थे जिन्होंने ‘विद्यापीठ’ खोल रखा था? और फिर भी यह व्यक्ति भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता, सार्वजनिक धन की लूट और घृणित जातिवाद के ऐसे केंद्रों को विद्या मंदिर कहता है? और ऐसा कह कर यह व्यक्ति हम सभी लोगों से कितना ऊँचा उठ जाता है! हम सभी बौने और ‘लघु मानव’ हो जाते हैं जो हमेशा घृणा, भ्रष्टाचार, विकृतियों और कटुता की ही चर्चा करते रहते हैं और यह ‘मसीहा’ बन जाता है, महामानव बन जाता है जो हर चीज को कितनी ऊँचाई से देखता है, कितना ऊँचा नाम देता है और गिरी से गिरी चीज को भी एक सुंदर मूल्य बना देता है!

सिर्फ झूठ और मक्कारी से भरी ऐसी लफ्फाजी यह व्यक्ति आज सबसे अधिक कर रहा है- लेकिन आज ही कर रहा हो -ऐसी बात नहीं है। 1940 से, और उससे भी पहले से इस व्यक्ति ने इसी तरह मसीहे की मुद्रा बना रखी है और बड़े-बड़े शब्दों का कवच पहन रखा है। सैकड़ों अवसर आए हैं जब बड़े-बड़े शब्दों के उस कवच में छेद हो गए और उसके भीतर से हिंदुस्तानी समाज के मध्यवर्गीय आदमी का वह चेहरा झाँका है जो अपनी हर छोटी से छोटी सुविधा के लिए अवसरवादी रहा है और इस दुनिया की हर बेईमानी की जिम्मेदारी “दुनिया के मालिक” पर थोपता रहा है। लेकिन लगता है जैसे कि आज शब्दों का वह सारा का सारा कवच ही उतर गया है और व्यवस्था के साथ चिपके हुए आदमी का चेहरा इतना नंगा हो गया है कि जब भी वह किसी बड़े शब्द को बोलने के लिए अपने होंठ हिलाता है -उसका पोपला मुँह कितना लिजलिजा, दयनीय और घृणास्पद हो जाता है।

“राष्ट्रहित की हत्या हुई है।”- किस राष्ट्रीय हित की हत्या हुई है? सुनें तो! डीन ऑफिस में पड़े स्कॉलरशिप के लिए भरे गए कागजों में आग लगा दी गई जो कि फिर से भरे जा सकते हैं। ऐसे ही अन्य कागज जो फिर से तैयार किए जा सकते हैं- तो इसमें ‘राष्ट्रहित’ कौन सा था जिसकी हत्या हो गई?

डीन ऑफिस में कुछ किताबें थीं जो जल गईं। डीन ऑफिस न तो अलेक्जेंड्रिया की लाइब्रेरी थी और न ही वहाँ वेदों की हस्तलिखित प्रतियाँ पड़ी हुई थीं जिसकी क्षतिपूर्ति ना हो सके। (और जहाँ सचमुच हस्तलिखित प्रतियाँ हैं, उस वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी को दीमक खा रहे हैं- वहाँ राष्ट्रीय हित की हत्या कौन कर रहा है?) ऐसी किताबें जिनका मूल्य कुछ एक हजार रुपए ठहरता है और जो बाजार से फिर से खरीदी जा सकती हैं- (यदि राष्ट्रीय हित का मतलब इन रुपयों से है तो अधिकारियों के पास इस बात का क्या जवाब है कि डीन ऑफिस का पक्का फर्श तुड़वाकर हजारों रुपए खर्चकर जो नया मोजाक का फर्श बनवाया गया- वह किस राष्ट्रीय हित की रक्षा के लिए था?)-ये किताबें अगर जल भी गईं, जो यद्यपि एक दुखद बात है तो भी, इसमें ‘राष्ट्रीय हित’ क्या है जिसकी ‘हत्या’ हो गई?

अगर कुछ नहीं है तो इतने बड़े शब्दों का इस प्रकार शोर क्यों मचाया जा रहा है?

लेकिन समस्या का वास्तविक समाधान, गौर कीजिएगा “वास्तविक समाधान”- “परिश्रम और ईमानदारी के साथ देश की संभावित संपत्ति को और समृद्धिशाली बनाकर शिक्षण संस्थाओं को अधिकाधिक शक्तिशाली बनाना और राष्ट्र निर्माण के महान आदर्शों को मूर्तिमान करने में ही है।”

संभावित संपत्ति को और समृद्धिशाली बनाकर शिक्षण संस्थानों को अधिकाधिक शक्तिशाली बनाना तथा राष्ट्र निर्माण के आदर्श को मूर्तिमान करना तो देश की आर्थिक और सामाजिक नीतियों का उद्देश्य है, विकास का एक कार्यक्रम है -यह छात्र समस्या का समाधान नहीं है; वास्तविक समाधान तो बिल्कुल नहीं। और यह वाणी भी प्रखर विश्लेषण करने वाली वाणी नहीं है, प्रधानमंत्री या वित्तमंत्री से लेकर नगर पालिका के अध्यक्ष तक -हर सत्ताधारी की वाणी है जो हर प्रश्न का एक ही उत्तर जानते हैं -कि हमें राष्ट्र को और शक्तिशाली बनाना है, अपने आदर्शों को मूर्तिमान करना है। लेकिन छात्र समस्या का यह समाधान नहीं है।

अंत में वे इसी निराधार समाधान को और भी बल देकर दोहराते हैं कि “अध्यापक ही विद्यार्थियों की समस्याओं का समाधान कर सकता है पर जब अध्यापक और विद्यार्थी के बीच राजनीतिक दल आ जाते हैं तो वह निरूपाय हो जाता है।”

किस अध्यापक की बात की जा रही है? वह अध्यापक कहाँ है? विश्वविद्यालय में पढ़ाने वाले जिन लोगों का अध्यापक कहा जा रहा है वह क्या स्वयं किसी राजनीतिक से कम हैं? क्या स्वयं अध्यापक वर्ग भी राजनीतिक नहीं है? क्या यही अध्यापक स्वयं ठाकुरों और ब्राह्मणों, कायस्थों और भूमिहारों के गुट बनाए हुए नहीं हैं? क्या यही अध्यापक लेक्चरर से रीडर और रीडर से अध्यक्ष बनने के लिए घृणित राजनीति नहीं चलाते और अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए छात्रों का इस्तेमाल नहीं करते? क्या डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी इस अध्यापक को नहीं जानते? यदि जानते हैं तो फिर वे किस अध्यापक की बात कर रहे हैं?

रही राजनीतिक दलों के बीच आ जाने से अध्यापकों के निरुपाय हो जाने की बात, तो इन राजनीतिक दलों के नेताओं को कौन विश्वविद्यालय के अंदर बुलाता है? और कौन वर्ग है जो इसका विरोध करता है? सच्चाई यह है कि अधिकारी वर्ग स्वयं ही राजनीतिक नेताओं को खासकर सरकारी पार्टी के नेताओं को -सरकारी पार्टी भी राजनीतिक दल ही हैं - विश्वविद्यालय के अंदर बुलाता है और छात्रों ने इसका कई बार विरोध किया है। मुझे अच्छी तरह याद है कि 15 अगस्त, सन 68 को राजनारायण काशी हिंदू विश्वविद्यालय में दोपहर को आए थे और कई लड़कों ने उनका विरोध किया था। ठीक उसी समय डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आकर लड़कों को शांत किया, राजनारायण के साथ मंच पर बैठकर भाषण दिया और लड़कों को राजनारायण की बातें शांत होकर सुनने के लिए कहा था।

एक बार नहीं सैकड़ों बार अधिकारियों ने छात्रों के विरोध के बावजूद राजनीतिक दलों के नेताओं को विश्वविद्यालय में बुलाया है और उन्हें आने दिया है। अध्यापकों के निरुपाय हो जाने की बात करना झूठ और मक्कारी का काम है।

और बार-बार डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी अध्यापक को ही इस समस्या का समाधान करने वाला व्यक्ति बताते हैं तो क्यों नहीं वे खुद रेक्टरगिरी छोड़ कर स्वयं अध्यापक बन जाते हैं -आखिर एक वर्ष पहले तक भी तो अध्यापक ही थे!

इस बार विश्वविद्यालय में की गई नियुक्तियों के समय जब डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी को रेक्टर पद और हिंदी विभाग के अध्यक्ष पद, दो में से एक को चुन लेने के लिए कहा गया तो क्यों नहीं वे अध्यापक बन गए? हो जाते वे अध्यापक, हो जाता कुछ समस्या का समाधान और कुछ “राष्ट्रीय हितों” की रक्षा भी हो जाती। क्यों नहीं उन्होंने ऐसा किया?

असल में उनका सारा लेख झूठ, मक्कारी, खूबसूरत लफ्फाजी और आधारहीन तर्क-चक्र से भरा है। वह लेख एक विशेष उद्देश्य से लिखा गया है। वह लेख ठीक उसी समय प्रकाशित किया गया है जबकि काशी हिंदू विश्वविद्यालय में घटित घटनाओं के लिए जाँच-कमीशन अपना काम शुरू करने वाला है। मौके पर लिखे गए इस लेख का एकमात्र उद्देश्य भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय को वाइस चांसलर डॉ. अमरचंद जोशी के द्वारा दिए गए उस बयान का समर्थन करना है जिसमें उन्होंने कहा था कि “पोलिटिकल पार्टीज इंटरफेयर द यूनिवर्सिटी।” ऐसा चकित कर देने वाला और वास्तविकता पर पर्दा डालने वाला बयान देने में डॉ. अमरचंद जोशी का कोई सानी नहीं है। काशी हिंदू विश्वविद्यालय में घटित घटनाओं से आंतरिक रूप से परिचित सभी लोग जानते हैं कि सारे कांड में डॉ. जोशी स्वयं एक पक्ष के साथ “इन्वाल्व” रहे हैं और विद्यार्थियों के संगठनों द्वारा उन पर कई आरोप लगाए गए हैं। अपनी करतूतों पर पर्दा डालने के लिए ही उन्होंने शिक्षा मंत्रालय को यह बयान दिया कि विश्वविद्यालय में घटित घटनाओं के लिए राजनीतिक दल जिम्मेदार हैं। सरकार भी राष्ट्रपति के जरिए नियुक्त किए गए अपने वफादार अफसर से ऐसे ही बयान की आशा करती थी जो उसके विरोधी दलों को बदनाम करने में सहायक हो। अपने कृपालु दोस्त वाइस चांसलर जोशी के उसी बयान को सही ठहराने के लिए इस मानवतावादी मसीहे ने अपनी कलम मुखरित कर दी।



अप्रकाशित कहानी

17.9.1968

नोक पर टंगी आस

“ये सब जो आती हैं... सब आपकी बहन हैं?”

“सब बहन नहीं हैं। वो जो छोटी वाली थी इधर स्टूल पर बैठी हुई, वह बहन थी। बाकी दो फ्रेंड्स थीं।”

“छोटीवाली आपकी अपनी बहन थी?”

“अपनी नहीं, कजिन सिस्टर थी।”

“आपकी अपनी बहन नहीं है?”

“अपनी भी है। जो रात को आई थी... नीली साड़ी ब्लाउज पहने थी, वह अपनी बहन थी।”

“आप लोग कितने भाई-बहन हैं?”

“तीन भाई हैं और तीन बहन।”

“सब यहीं है?”

“नहीं, सब यहाँ नहीं है। हमारे जो बड़े भाई हैं, वो तो बर्मा में ही रह गए। हमलोगों का वहाँ बिजनेस था। वहाँ की सरकार ने सब नेशनलाइज कर लिया। हम और पिताजी तो यहाँ आ गए लेकिन भाई साहब को वहीं सरकारी दफ्तर में एक हाई पोस्ट मिल गई। उनके बीबी-बच्चे भी हैं। सब वहीं हैं। एक मुझसे छोटा भाई है। वह कलकत्ते में पढ़ता है। जो हमलोगों की सबसे बड़ी बहन है, उसकी शादी बर्मा में हो गई थी। वह अपने हस्बैंड के साथ वहीं रहती है। उसके हस्बैंड वहाँ यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर हैं। यहाँ दो बहने हैं। एक तो कल रात को आई थी, और दूसरी हमारी कजिन सिस्टर। वह बचपन से हमलोगों के ही पास रही है। उसको हमलोग बिल्कुल अपनी ही बहन समझते हैं।”

सिस्टर लीला उसके बेड के पास खड़ी सब चुपचाप सुनती रही। बेड नंबर 156 का मरीज शिवानंद गौड़ हालाँकि स्वस्थ हो चुका था, फिर भी इतना बोलने के बाद वह थक गया। खाना खाए उसे एक घंटा हो गया था। उसने धीरे से करवट बदलकर लॉकर से लेडरलेक्स का विटामिन बी कांप्लेक्स लेकर एक चम्मच निकालकर पी लिया। चम्मच में लगे हुए भाग में पानी की कुछ बूंदें मिलाकर उसे भी जीभ से चाट लिया। करवट बदलकर तकिए के ऊपर सिर ऊँचाकर फिर से लेट गया तो सिस्टर लीला ने थोड़ी देर रुककर कहा – “अच्छा, अब आप आराम कीजिए। शाम को आपका बहन लोग आएगा तो हम फिर आएगा। अभी जाता है।”

शिवानंद गौड़ आँखों पर काला चश्मा लगाकर, चादर को सीने तक खींचकर सो गया। सिस्टर लीला ने दूसरे बेड पर जाकर मरीज से कहा – दवा लीजिए। यह पुड़िया टू टीडीएस यानी दो-दो गोली करके दिन में तीन बार लेना है और बाकी दोनों वन बीडीएस। यानी एक-एक गोली दिन में दो बार लेना है।

इसके बाद तीसरा बेड, फिर चौथा, पाँचवाँ, इसी तरह बाकी बेडों पर भी दवा देकर सिस्टर लौट आई और वार्ड के बाहर स्टोर रूम से सटे बरामदे में टेबल के सामने कुर्सी पर बैठ गई।

मुंशीजी रजिस्टर पर ग्लूकोज का हिसाब चढ़ा रहे थे। 160 नंबर बेड पर पाँच दिन के अनशन से बेहोश एक छात्रनेता पिछली रात आया था। तीन बोलत ग्लूकोज सोल्यूशन चढ़ाने के बाद अब वह स्वस्थ था।

“मुंशीजी, बड़ी सिस्टर कहाँ हैं?”

“बड़ी सिस्टर खाना खाने गई।” मुंशीजी बिना सिर उठाये बोले “आपको कार्मोनेटिव मिक्सचर तैयार करने को बोल गई हैं।”

“और तीन बजे टेंपरेचर कौन नोट करेगा?”

“टेंपरेचर चलम्मा सिस्टर नोट करेगी। आपको और अम्माकुट्टी सिस्टर को फिमेल वार्ड में जाने के लिए कह गई हैं।”

“हम फीमेल वार्ड में नहीं जाएंगी।” सिस्टर लीला मुंशीजी की बात को उड़ाते हुए बोली “फिमेल वार्ड में अम्मा कुट्टी को भेज दीजिए। हम मिक्सचर तैयार कर लेता है। फिर हम और चलम्मा सिस्टर स्टूडेंट वार्ड में टेंपरेचर नोट कर लेंगे। फिमेल वार्ड में अम्माकुट्टी जाएगी।”

“हमको नहीं मालूम,” मुंशीजी हिसाब चढ़ाने में व्यस्त रहे—“बड़ी सिस्टर जो बोल गई थी हमने आपको कह दिया।”

“ओह! ठीक है।” लीला सिस्टर मुँह से हवा फूँकते हुए दूसरी ओर घूमकर बैठ गई।

वार्ड का स्वीपर हनीफ यूरिन टेस्ट के लिए हाथ में छोटी-छोटी शीशियाँ लिए आया और बारजे पर झुका कि ‘अरे .रेरे’ कहता हुआ बाकी शीशियाँ फर्श पर रख सिर थामकर खड़ा हो गया।

“क्या हुआ?” मुंशीजी ने रजिस्टर पर से सिर उठाकर पूछा।

“एक शीशी नीचे लुढ़क गई।”—पछतावे के साथ बोलता हुआ हनीफ वाक्य के खत्म होते-होते थोड़ा मुस्कुरा भी पड़ा।

“अच्छा किया!” मुंशीजी बोले “अब तुम उसमे मूतकर उसको भर कर रख दो।”

सिस्टर हँस पड़ी और घूमकर मुंशीजी की ओर हनीफ की ओर देखने लगी। वह कुछ कहना चाहती थी कि बारजे के पास वार्ड का एक मरीज आकर खड़ा हो गया और बाहर लॉन की ओर देखने लगा। सिस्टर कुछ न बोलकर सिर्फ हँसती रही।

“जाओ, खड़े क्या हो?” मुंशीजी ने फिर चुटकी ली, “निकालकर चार बूँद मूत दो और टेस्ट के लिए रख दो। यह लीला ही तो टेस्ट करेगी।” कहकर मुंशीजी ने लीला की ओर देखा। लीला फिर हँसने लगी।

“चार बूँद क्या, अभी मूतने से मेरा एक बूँद पेशाब भी नहीं होगा। कहाँ से करें?”

“तो फिर मोहन को बुला लाओ। उसको तो जब कहो, तभी वह चार बूँद मूत देगा।”

“ऐ मोहन” पुकारता हुआ हनीफ किचन की ओर चला। उसको मोहन को लेने जाते देखकर सिस्टर फिर हँसने लगी।

हनीफ मोहन को लेकर लौटा तो मुंशीजी ने पूछा “ए मोहन, तुम इस समय कितना बूँद मूत सकते हो?”

“हम?” मोहन खड़ा होकर सोचने लगा। थोड़ी देर तक होठों पर उँगलियाँ रखकर सोचता रहा, फिर बोला “हम इस समय तीन सौ बाइस बूँद मूत सकते हैं।” सभी हँस पड़े। हँसी शांत हो जाने पर भी सिस्टर की बची हुई चार बूँद हँसी खनकती रही।

मुंशीजी फिर बोले “तो तीन सौ बाइस में से चार बूँद तुम इसमें कर दो।”

“लाइए” मोहन हनीफ के हाथ से शीशी लेकर गौर से देखने लगा। “लेकिन इसमें मेरा घुसेगा कैसे?”

सभी जोर से हँस पड़े।

वार्ड का मरीज भी इधर ही देख रहा था। सिस्टर मुँह पर हाथ रखकर अपनी बेतहाशा हँसी को रोकती हुई स्टोर रूम में घुस गई। थोड़ी देर बाद स्टोर रूम से लौटकर बरामदे में आ गई और कार्मेनेटिव मिक्सचर तैयार करने के लिए बोतल निकाल ली। सोचने लगी, मिक्सचर तैयार कर लूँ, तीन बजे तक अम्माकुट्टी भी आ जाएगी। वह फिमेल वार्ड नहीं जाएगी। मुंशी को किसी तरह पटा लेगी। वैसे साला है बड़ा पाजी। खाली डिसिप्लिन छाँटता है। उसके ढोल का पोल वह जानती है। तीन चार बजे के करीब बेड नंबर 156 को देखने के लिए उसके घर वाले आएँगे। वह अम्माकुट्टी को लेकर उनके पास जाएगी। 156 की बड़ी बहन और माँ से दोस्ती गँठयानी है। खूब शालीनता के साथ पेश आएगी— बिल्कुल कुलीन घर की कन्याओं जैसी। पिछले कई दिनों से वह उन्हें प्रभावित करने की कोशिश कर रही थी। वे लोग उससे, उसकी वाणी और व्यवहार की मधुरता से कुछ प्रभावित हुए भी हैं। इस बार और अच्छी तरह पेश आएगी। नौजवान मरीज वार्ड में और भी हैं। वे लोग भी अच्छे हैं, उनमें से कई उसकी प्रशंसा भी करते हैं। लेकिन उनके घरवाले उन्हें देखने नहीं आते। कई तो ऐसे लड़के हैं जिनके मुँह से अभी भी बचपना टपकता है – दब्बू और निरीह। वे उससे बात करने में भी झिझकते हैं। जिनके घर वाले आते हैं, उन्हीं के पास जाना अच्छा है। परिवार में सुरक्षा निवास करती है। अकेले आदमी का भरोसा नहीं होता। क्या पता, एकदम बदमाश ही निकले। हाँ, एक और है –दाढ़ी वाला— बेड नंबर 161 पर। यहाँ यूनिवर्सिटी में फिलासफी पढ़ता है। उसके भी घरवाले उसको देखने आते हैं। घरवाले ही नहीं, उसकी कई लड़कियाँ दोस्त भी उसे देखने आती हैं। वह चलम्मा को लेकर उसके पास जाएगी और वे दोनों उसे अपना हाथ दिखाएँगी। पता नहीं उसे देखना आता भी है या नहीं। इंकार करेगा तो जोर देकर कहेंगे – “नहीं आपको हाथ देखना आता है। देखिए ना!” उसके हाथ में हाथ देने से उसे क्या जरा सी भी झुनझुनाहट नहीं होगी? फील तो कुछ करेगा ना!

ऐसा ही मधुर-मधुर सोचते हुए उसने मिक्सचर तैयार कर लिया। चलम्मा भी आ गई। उसने धीरे से उसे सारी योजना बता दी। वह खुशी-खुशी सहमत हो गई। अब मुंशी को पटियाना बाकी था। चलम्मा को एक शुगर टेस्ट करना था। उसने शीशी का पेशाब लेकर टेस्ट ट्यूब में डाल दिया और लैम्प जला लिया। लीला उसे छोड़ मुंशी के पास आई।

“मुंशीजी” वह थोड़ा मुस्कराई। मुंशी ने सिर उठाया। “मुंशीजी अम्माकुट्टी को फिमेल वार्ड में भेज दीजिए। हम लोग स्टूडेंट वार्ड में टेपरेचर नोट कर लेंगी।”

“मैं कुछ नहीं जानता।” मुंशी ने झल्लाकर कहा “बड़ी सिस्टर ने जो कहा था वह मैंने तुम्हें बता दिया। चलम्मा जाए चाहे ना जाए, उसकी मर्जी। उसके बारे में बड़ी सिस्टर कुछ बोल कर नहीं गई। पर तुमको तो फिमेल वार्ड में जाना ही होगा।” बोलकर मुंशी फिर रजिस्टर में हिसाब चढ़ाने में व्यस्त हो गया

“मुंशीजी” लीला ने एक बार फिर उसे बहकाना चाहा पर मुंशी कठोरतापूर्वक रजिस्टर पर झुका रहा। सिर नहीं उठाया।

“साला मुंशी का बच्चा!” मन-ही-मन सिस्टर लीला पर बड़बड़ाई। “बड़ा डिसिप्लिन वाला बनता है, जैसे मैं कुछ भी नहीं जानती हूँ। मुंशी के बच्चे का हिसाब उतना बड़ा नहीं है जितना बड़ा वह रजिस्टर में चढ़ाता है। साला दुनिया भर की तो बेईमानी करता है। इसीसे उसका हिसाब इतना बड़ा हो जाता है। बेड नंबर 160 और 154 जॉडिस के मरीज हैं। दोनों जिस दिन भर्ती हुए, उसी दिन से डॉक्टर ने उन्हें रोज एक पैकेट ग्लूकोज देने के लिए रजिस्टर में लिखा। यह मुंशी उन्हें तीन दिन के बाद एक पैकेट देता है, वह भी तब जब वे बिस्तर से उठकर पचास बार उसके पास दौड़कर आते और माँगते हैं। लेकिन रजिस्टर में ग्लूकोज पर रोज टिक मार्क लगाता है। और तो और, साला विटामिन सी तक उन्हें नहीं देता। और हमको डिसिप्लिन बतलाता है! नहीं जाउँगी तो ये क्या कर लेगा?

यही ना कि बड़ी सिस्टर से शिकायत कर देगा। बड़ी सिस्टर खुद क्या करती है? इस मुंशी के साथ मिलकर खुद बड़ी सिस्टर अस्पताल की सभी जरूरी और महँगी दवाइयाँ लोकल मार्केट के केमिस्ट को बेंचती है। मरीजों को ग्लूकोज के लिए रजिस्टर पर रोज टिक लगता है और मिलता है तीन दिन बाद। दो पैकेट लोकल केमिस्ट के यहाँ बिक्री। यही सब तो बड़ी सिस्टर करती है। साले नौकर-चाकर तक मरीजों की चीनी और बिस्कुट खुद खा जाते हैं। दूध आता है तो सबसे पहले अपने लिए आधा-आधा सेर दूध निकाल लेते हैं- और बाकी बचे दूध में उतना ही पानी मिला देते हैं। और तो और, उनकी मुसम्मी और संतरे का रस निकालकर किचन में छुपकर पहले खुद दो घूंट पीते हैं और अपना जूठा मरीजों को देते हैं। बड़ी सिस्टर खुद बेईमानी करती है और दूसरों को बेईमानी करने देती है- इसपर भी साली आते ही डिसिप्लिन दिखलाएगी- क्यों नहीं गई फिमेल वार्ड? और बदला लेना होगा तो वार्ड में मरीजों के साथ हँसने-बोलने नहीं देगी, देर तक बातें करने नहीं देगी। बेड नंबर 156 या 161 के साथ अगर जरा-सा भी कुछ हँसी-मजाक कर रही होंऊँगी तो खटाक से पीछे पहुँच जाएगी और झाड़ेंगी - जाओ अपना काम करो। दिन भर वार्ड में क्या करती हो?

साली खुद तो बुढ़िया हो गई है और दूसरों को भी नहीं देख सकती। झक मारकर सिस्टर लीला को फिमेल वार्ड जाना पड़ा।



अप्रकाशित कहानी

8.12.1968

वी.सी. अमरचन्द जोशी के खिलाफ बी.एच.यू. में 1968 में हुए छात्र आन्दोलन और उसके हिंसक दमन के माहौल में लिखी गई कहानी

पीला शरीर

वह आँखों को नीचे झुकाए रहा... खाने पर।

“मैं तो कहता हूँ... उन लोगों को शूट कर देना चाहिए। अंदर तीन सौ लड़के थे... लड़कियाँ रो रही थीं।... अगर वे सब के सब आग में जल जाते, तो? तुम पुस्तकालय के बहुमूल्य ग्रंथों को जलाना चाहते हो?... अभी तो इन पर कोई मार नहीं पड़ी। बस, पीएसी हट जाए बीच से। उसी के कारण दूसरे लोग भी सामने नहीं आ रहे हैं। पीएसी हट जाए तो दूसरे लोग खुद ही इन सबों को ठीक कर दें। कोई मामला ही नहीं रह जाएगा।... और मैं शर्त लगा कर कहता हूँ, दूसरे लोगों के सामने यह कुछ कर ही नहीं सकते। यह आंदोलन चल रहा है? जो इसे आंदोलन कहता है मैं उसे चूतिया समझता हूँ”

होटल में बैठे सभी चुप थे। वह भी आँखों को नीचे झुकाए चुपचाप सुन रहा था। बीच-बीच में वह कोशिश करता सिर को ऊपर उठाने की। कमरे के दरवाजे की ओर थोड़ा सा देखता तो इसी बहाने कुछ उसे भी देख लेता। घबराहट में केवल उसका चश्मा और हिलते हुए होठ ही देख पाता। वह उसे जानता है -हड़ताल के पहले दिन दूसरे लोगों ने मालवीय मूर्ति के नीचे डेरा डाला था। वे हड़ताल का विरोध कर रहे थे। ये जो सामने बैठा है, ये हड़ताल विरोधियों का नेता था। अब भी है।

दूसरे लोग...आरएसएस वाले? वे राष्ट्रवादी हैं। हिंदू राष्ट्रवादी।

सुबह मजुमदार को उन लोगों ने एक हॉस्टल में पकड़ लिया था। वे बहुत थे। मजुमदार के हाथ-पाँव तोड़कर लहू-लुहान कर के उसे पीएसी को सौंप दिया था। वे हड़ताली छात्रों को नक्सलाइट और कम्युनिस्ट कहते हैं। पता नहीं वे कम्युनिस्ट हैं या नहीं। शायद हों। शायद बिल्कुल नहीं।

“जो इसे आंदोलन कहता है मैं उसे चूतिया समझता हूँ”

उसने धीरे से सिर ऊपर उठाया। टेबल के दोनों ओर बैठे खा रहे लोगों को देखा। वह पहचान रहा था।... उनमें से कम से कम तीन तो हड़तालियों के साथ के हैं। सबसे कोने में बैठा लड़का तो निश्चित रूप से उनका समर्थक है। वे सिर झुका कर चुपचाप खाना खा रहे थे। एक बार उनसे आँखें मिलीं। उनकी आँखों में जो चमक थी.. . वह बुझने लगी थी। उसने झट अपनी आँखें झुका लीं।... और खाना खाने लगा।

ऐसे क्षणों में जैसे उसके शरीर में भार नहीं रह जाता।... वह बिल्कुल शून्य हो जाता है। जैसे शरीर के विभिन्न अंगों के बीच परस्पर कोई संबंध नहीं रह गया। इच्छा होने पर भी वह अपने पांव को हिला नहीं पाता। सिर उठा नहीं पाता। वह बर्फ की तरह ठंडा हो जाता है... और उसका शरीर पीला पड़ने लगता है।

सामने वाले व्यक्ति से उसकी आँखें मिली। चश्मे के पीछे से मुस्कुराती दो आँखें। होठों पर भी मुस्कान है। नहीं, वे कुछ टटोल रही हैं। वे क्या टटोल रही हैं?

मामला चुनाव वाले दिन शुरू हुआ था। वे लोग जीत गए थे जिन्हें कम्युनिस्ट समझा जाता है। रात के एक बजे छात्रसंघ भवन से चुनाव अधिकारियों ने माइक पर सिन्हा को नया अध्यक्ष घोषित किया तो लॉन में खड़े हजारों छात्रों की तालियों से छात्रसंघ भवन गूँज उठा। उसी दिन रात के तीन बजे डे हॉस्टल के सामने सिन्हा और उसके साथियों पर पहला वार किया गया। हमला करने वाले अंधेरे में भाग निकले थे। एक महीने बाद सिन्हा और उसके राजनीतिक गुरु भूतपूर्व अध्यक्ष मजुमदार को भी विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिया गया। उन पर वीसी के साथ दुर्व्यवहार करने का आरोप था।

पहली बार तीन छात्रों का निष्कासन हुआ दूसरी बार पाँच और छात्रों का। पाँच छात्र और हैं जिनका नाम 'सूची' में आ चुका था। उन लोगों को चुन-चुन कर निकाला जा रहा था जो आरएसएस और वीसी की खुलकर आलोचना करते थे।

...क्या यह शुद्धिकरण है?... वह फुसफुसाया। मुँह में भात चबाते-चबाते वह रुक गया। उसे आश्चर्य हुआ, वह फुसफुसाया कैसे?

चश्मे वाला व्यक्ति अब भी बैठा था। खाना छोड़कर अखबार में खबरें देख रहा था।

बल्ब की पीली रोशनी से भरा कमरा कुछ गर्म था। पास के बरामदे में दो बड़े चूल्हे चल रहे थे। बाहर अंधेरा था और जाड़ा था।... वह रात के नौ बजे लेडीज कॉलोनी से पढ़ा कर निकला और जाड़े से बचने के लिए कान और सिर पर खूब अच्छी तरह से मफलर ओढ़ लिया था। विश्वविद्यालय के गेट पर उसे जाँच के लिए रोक लिया गया। प्रॉक्टर के दफ्तर में जाकर उसने अपना आई कार्ड दिखाया। खाने के लिए जब वह 'भोजनालय' में पहुँचा तो स्टैंड पर साइकिल खड़ी करते हुए उसने देख लिया था।... चश्मे वाला आदमी भीतर बैठा है। एक बार वह हताश हो गया- इच्छा हुई लौट पड़े। पिछले दो दिनों से रोज रात के खाने में वह उनकी आँखों के सामने पड़ रहा था। मुस्कुराते हुए होंठ और टटोलती हुई आँखें। वह घबरा जाता। बर्फ की तरह ठंडा पड़ जाता। इसी भोजनालय में दो व्यक्ति और आते हैं। वह उन्हें अपने कमरे में ले गया था। उन्होंने पढ़ने के लिए तुरंगनेव का एक उपन्यास लिया और उसकी किताबों वाली अलमारी देखी। परसों हड़तालियों ने पहले एक डाकगाड़ी जला दी, फिर एक बस, सड़क समतल करने वाला इंजन, कैटिन, जीप और अंत में पुस्तकालय का काउंटर। शाम को वह चौराहे के रेस्तरां में आया तो अपने बारे में सुना -वह नक्सलाइट है। उसके घर में कम्युनिस्ट लिटरेचर है। वह कम्युनिस्ट लिटरेचर बौंटता है।

वह बर्फ की तरह ठंडा पड़ जाता है। वे एक-एककर उन सबों को निष्कासित कर देंगे। क्या सचमुच। सचमुच उन्होंने 'शुद्धिकरण' करना शुरू कर दिया है?

सीढ़ी पर चप्पलों की आवाज हुई। केंद्रीय कार्यालय में काम करने वाला एक क्लर्क भोजनालय में घुसा। "पीएसी आज फिर हॉस्टल के कमरों में घुस आई। वे लोग छात्रों को पीट रहे हैं।"

सभी खाते हुए रुक गए। महाराज भी खाना परोसना छोड़कर एक मिनट के लिए खड़े हो गए। सब स्तब्ध! कुछ देर बाद उनके सामने और ठंडे पड़ गए चेहरे ढीले पड़ गए और उन्होंने सिर झुकाकर उँगलियाँ भात में डाल दीं। पीएसी कमरे में घुस आई है और छात्रों को पीट रही है।...दस बजे... इतनी रात? कई लड़के तो सो गए होंगे। वे सोए लड़कों को उठाकर मारेंगे। वे किसी का लिहाज नहीं करते। कल भी पीएसी इसी तरह कमरों में घुस आई थी। पथराव करके कुछ छात्र छात्रावासों में घुस आए थे। उनका पीछा करते हुए पीएसी भी छात्रावास के अंदर चली आई। वे लड़कों को बंदूक के कुन्डों से पीटते रहे। भय से बाथरूम में घुस गए लड़कों को दरवाजे तोड़कर

बाहर निकाला। गिरफ्तार कर उन्हें ट्रक में भरकर थाने भेज दिया। शहर के लोगों ने उन्हें ले जाते हुए देखा- कोई पायजामों में था, कोई बनियान पहने, कोई अंडर वियर में और कोई लुंगी में।

थाने में इंस्पेक्टर के कमरे के दरवाजे तक रास्ते के दोनों ओर वर्दीधारी सिपाही बेंत लिए खड़े थे। लड़के ट्रक से उतरते और इंस्पेक्टर के कमरे की ओर जाते तो दोनों ओर खड़ी पुलिस की बेंतों से उनकी चमड़ी उधड़ जाती। तहकीकात के बाद उनमें से इकहत्तर लड़कों को शाम को छोड़ दिया गया। वे लौट आए थे अपने घुटनों और पीठ पर उधड़ी खाल और नीली लकीरों के निशान लेकर।

शारीरिक यातना...! वह काँप उठता है। वह बेंतों की मार से, शारीरिक यातना से डरता है। लोग कहते हैं -मानसिक यातना सबसे भयंकर होती है, शारीरिक यातना से कुछ नहीं होता। उससे आत्मा पर खरोंच नहीं लगती। पर वह नहीं मानता। उसका यह शरीर, ये हाथ-पाँव घुटने और पीठ! उसका यह जीता-जागता शरीर! इसकी त्वचा पर कहीं भी, जरा-सा भी स्पर्श होता है तो वह सजग हो उठता है। इस शरीर पर बेंतों की मार पड़ेगी तो चिल्ला उठेगा। उसकी आत्मा भी, अगर कहीं है तो, रो देगी। यदि उसकी आत्मा कुछ नहीं जानती, किसी चीज को नहीं जानती, तो शायद वह नहीं रोता। उसकी आत्मा पर भी खरोंच नहीं आती। लेकिन वह जानता है, उसकी आत्मा भी जानती है... अन्याय को, अत्याचार को। इसलिए वह रोता भी है!

निष्कासित किए गए छात्रों में दो उसकी क्लास के भी थे। वह उन्हें जानता है। उन पर पुस्तकालय की व्यवस्था भंग करने और पुस्तकालयाध्यक्ष के साथ दुर्व्यवहार करने का आरोप था। वह उस दिन उनके साथ ही था। वह साक्षी है -उन पर लगाए गए आरोप झूठे थे। उनका दोष केवल इतना था कि उनमें से एक ने एक परचा छपवाकर बाँटा था जिसमें बताया गया था कि किस प्रकार पुस्तकालयाध्यक्ष ने पुस्तकालय को मिले पाँच लाख रुपये, जो किताब खरीदने के लिए थे, 'लैप्स' कर दिए थे। दूसरे छात्र ने पुस्तकालय के वाचनालय कक्ष में घुसकर वहाँ बैठे लड़के-लड़कियों से कहा था कि इस पुस्तकालय में किताबों की कोई व्यवस्था नहीं है। सब जानते हैं कि वे दोनों वीसी, अधिकारियों और आरएसएस की खुली आलोचना करते हैं।

उसने अपनी क्लास के लड़के-लड़कियों के बीच एक... केवल एक भाषण दिया था -उनके निष्कासन के विरोध में। भाषण में उसने एक बार वीसी और रेक्टर का भी नाम लिया था।...

(अधूरी कहानी)



अप्रकाशित कहानी

1969

बड़े घराने के दो खत

सिंह एंड मारोदिया मेसर्स
के विक्रम बिल्डिंग
परेड बाजार, कानपुर

हमारी रानी प्रमिला,
तुम जिओ हजारों साल, साल के दिन हों...

मैं नैनीताल से परसों लौट आई। सच, कितनी अच्छी जगह है। तुमने जो-जो जगहें देखने के लिए कही थीं, वह सब देखीं। उस पोस्टर को भी देखा। सच, कितना फनी है! ठीक वैसा ही, जैसा तुमने बताया था। एक ही हफ्ते में हम लोग इतना घूमी, इतना घूमी... कि बस, कुछ मत पूछो। वहाँ एक दुकान में वेलवेट के नए डिजाइन के कई कट पीस देखे। ऐसे डिजाइन के जो यहाँ शहरों में मिलते ही नहीं, हम लोगों ने भी खरीदे। तीन तुम्हारे लिए भी मैंने लिए हैं। इस बार लेती आऊँगी। सच में इतनी सुंदर है न, कि बस तुम देखोगी तो फिदा हो जाओगी। नैनीताल की यात्रा का वर्णन इस खत में नहीं करूँगी। मैं एक लंबा खत लिख रही हूँ - उसमें सब लिखूँगी-क्या-क्या देखा, क्या-क्या खाया और क्या-क्या खरीदा। सब!

और सुनो एक खुशखबरी! बाबूजी ने इस बार नैनीताल में जमीन खरीदी है, कोठी बनवाएँगे - रहने के लिए नहीं, अपने व्यापार के किसी काम से। लेकिन उससे क्या - कोठी बनेगी तो अपने रहने के लिए भी एक-दो कमरे बनाएँगे ही। अब बड़ा मजा आएगा - अब तो हर साल वहाँ जाना तय है। अगले साल हमारी-तुम्हारी ट्रिप तय रही, क्यों? मिलाओ हाथ!

तुम्हें शीला की कोई चिट्ठी आई? यहाँ लौटने पर देखा- शीला की एक चिट्ठी आई हुई थी। चाचाजी ने जो मोरपंखी-सैंडल भेजा था, उसे फिट आ गए हैं। सुनो, मैंने जो रजनी को अपने 'टाप्स' दिए थे- वह रजनी से यह कहकर ले गई कि वो कानपुर जा रही है और वहाँ जाकर मुझे दे देगी!... और उसने खत में लिखा है कि उसके 'पतिदेवजी' का कहना है कि वे 'टाप्स' उसके कानों में खूब 'फबते' हैं! इसलिए वह उन्हें रख ले रही है! शीला की बच्ची! आने दो उसे! यहाँ वह सर्दियों में अपनी ननद की शादी में आएगी ही - मैं सबके सामने ही उससे 'टाप्स' न उतरवाऊँ - तो कहना! अरे सुनो, शीला ने लिखा है कि प्रमोद अब भी हम लोगों से नाराज है। भला बताओ, राजेश भैया ने जर्किन का जो कपड़ा मफतलाल गुप्स से लिया था - अब वह उसके पास नहीं है, तो हम लोगों का क्या कुसूर? और फिर हम लोगों ने तो उसे कहा ही था कि तुम वही टेरीकॉटन की पैट सिलवा लो, खुद उसीने पहले कहा था कि मैं टेरीकॉटन की पैट सिलवाऊँगा। बाद में राजेश भैया की जर्किन देख ली तो फिर कहने लगा कि नहीं, मैं जर्किन सिलवाऊँगा।

देखो, अब तुम्हीं मनाओ - कुछ करो। इस प्रॉब्लम को तुम्ही सॉल्व कर सकती हो। मैं जल्दी ही रुरकेला आऊँगी।

इस घर का वातावरण इधर काफी बोझिल और विषादमय होता जा रहा है। भैया को तो तुम जानती हो! पिताजी उनसे कभी खुश नहीं रहे। भैया भी बेचारे क्या करें, और बाबूजी भी क्या करें? बाबूजी उनके लिए जर्मन ईयर मशीन ले आए थे, पर दिमाग के लिए तो कोई मशीन नहीं बनी है! सुना है, अमेरिका में इस तरह की कोई मशीन बन रही है। जैसे ही बन जाएगी, बाबूजी कह रहे थे, हम लोग उसे भैया के लिए मँगा लेंगे। इधर, नैनीताल जाने से पहले भइया ने स्टेशन वाली रोड के चौराहे पर एक्सीडेंट कर दिया। दहेज में मिली इतनी सुंदर कार – आगे का सारा हिस्सा एकदम मुड़कर चिपटा हो गया – उसका आगे का उभरा हुआ हिस्सा तुमने देखा था, कितना लवली लगता था – और अब जानती हो कैसा लगता है – जैसे किसी आदमी के मुँह पर बड़े-बड़े फोड़े आ गए हों! छीः! कार अभी भी गैरेज में पड़ी हुई है।

उस एक्सीडेंट के बाद भाभी और भी घर वालों से खींची-खींची रहने लगीं। पहले से ही घर में अपना अलग-थलग रहती थी और अब तो उनकी चुप्पी और उनका रोब और भी बढ़ गया है। जानती हो, हर समय घर का सारा वातावरण भारी-भारी और विषाद से भरा हुआ लगता था। मैं तो तब भी कहती थी और अब भी कहती हूँ – भाभी को अपने रूप और अपने बाप के रूपों का घमंड है। माना वे खूब रूपवती हैं और भैया के कान खराब हैं। दिमाग भी हमेशा ठीक नहीं रहता और देखने में भी वे उतने सुंदर नहीं हैं पर मैं कहती हूँ, यही सब तो सब कुछ नहीं होता। पुरुष में और भी तो कई चीजें होती हैं, नारी के आकर्षण के लिए। क्यों? तुम्हारा क्या विचार है? और फिर हर सुंदर नारी को वैसा ही सुंदर पति भी मिले यह तो कोई जरूरी नहीं है? भगवान ने हर तरह के लोग बनाए हैं। आखिर हैं तो वह भी भगवान के ही बनाए हुए, इसमें भैया का क्या दोष है?

और एक सच्ची बात कह दूँ? मैं तो कहती हूँ कि जाने दिया जाए भाभीजी को, जहाँ जाना चाहती हैं। रूपवान पुरुष दुनिया में और भी बहुत से मिल जाएँगे – लेकिन आखिर रुपया भी तो कोई चीज होती है। उसे कहाँ से ले आएँगी? केवल रूप से तो रुपया नहीं पैदा होता है? बना लें किसी रूपवान को अपना मरद। जब रानीजी को अपने हाथों से चूल्हा जलाना और फूँकना पड़ेगा और ये शान-शौकत नहीं रहेगी तो सारे होश ठिकाने आ जाएँगे! क्यों? तुम्हारा क्या विचार है? सीरियसली लिखना।

कल भाभी के पिताजी अचानक आए थे, भाभी ने जरूर उन्हें लिखा होगा। शाम की ट्रेन से भाभी को साथ ले गए। भैया घर पर नहीं थे। उन्होंने आजकल एक मोटरसाइकिल रिपेयरिंग की दुकान खोली है – दिन-रात उसी में लगे रहते हैं। बाबूजी के ही कमरे में दोनों में काफी देर तक पता नहीं क्या बातचीत होती रही, मैं तो सुन नहीं सकी। हालाँकि कान लगाया था – दरवाजा बंद था। छोड़ो जाने दो इन बातों को, शायद मैंने तुम्हें बोर कर दिया।

अच्छा, अब पत्र समाप्त करती हूँ। तुम इसका जवाब देना – जरूर से। मैं आ रही हूँ अगले महीने – मम्मी से बता देना। और हाँ, मम्मी से जरा पूछ कर बताना कि उन्हें क्या मँगाना है। नहीं तो फिर पिछली बार की तरह मैं अपने अंदाज से चीजें खरीद कर ले आऊँगी और मम्मी को जरूरत कुछ और होगी! डैडी ने तुम लोगों के लिए क्या कुछ खरीदा है यह भी जरूर लिखना। डैडी को मेरी नमस्ते लिख देना। डैडी कब आ रहे हैं? तुम क्या कर रही हो? जरूर मजे कर रही होगी! प्रमोद वाला प्रॉब्लम ध्यान में रखना। खत का जवाब जरूर से देना।

तुम्हारी और अभी
केवल तुम्हारी
रेनू

जे.के.गुप्ता
रुरकेला, स्टील प्लांट

हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड
मैनेजर, प्लेटमिल
रुरकेला, ओडिसा

माय स्वीट रेनू,
हेल्लो!

तुम्हारा लेटर शायद 6 या 7 दिन पहले मिला था। पता है, मैंने उत्तर क्यों नहीं दिया? जब मैं लिखती हूँ तो महाशयाजी को दो महीने के बाद उत्तर देने की होश आती है। पता चला, पत्र देर से मिलने पर कितना गुस्सा आता है। क्या पता भई, तुम्हें न आता हो, पर हमें तो आता है। जैसी तुम लेजी वैसी ही तुम्हारी फ्रेंड्स भी हैं। एक से बढ़कर एक हैं, बस। उमा से पूछना कि वह पत्र का आंसर आलसवश नहीं देती, या देना ही नहीं चाहती। पता नहीं किससे पाला पड़ा है। और एक बात है, जिस दिन तुम मुझे पत्र लिखने बैठो, उस दिन तुम और कहीं मत लिखा करना। नहीं तो तुम इतना छोटा सा पत्र लिखती हो! चलो छोड़ो गिले-शिकवे, हुआ है चाँद भी मद्धम!

तुमको नैनीताल पसंद आया, शुक्र है! नहीं तुम्हें तो कोई जगह ही पसंद नहीं आती। पिछली बार तुम्हें राँची देखने के लिए भेजा था, तो वह भी तुम्हें पसंद नहीं आया था। लेकिन इसमें क्या शक है कि नैनीताल राँची से फॉर बेटर है।

यहाँ लाइफ काफी फास्ट हो गई है। पिछले महीने डैडी का प्रमोशन हुआ था। अब डैडी मैनेजर है प्लेटमिल के। उनपर कितनी ही जिम्मेदारियाँ आ गई हैं। चौबीसों घंटे प्लांट में ही रहना पड़ता है। पुरानी एंबेसडर बेच दी है। डैडी के दोस्तों ने कहा- मिल मैनेजर को छोटी गाड़ी शोभा नहीं देती। एक लंबी कार खरीदी है-प्लार्ड माउथ। नई पोस्ट पर आने के बाद डैडी ने एक पार्टी दी थी। उसी में लायंस क्लब के सेक्रेटरी ने एनाउंस कर दिया कि क्लब डैडी को 'लामैन' बना लिया है। डैडी तो क्लब कम ही जा पाते हैं, हमीं लोग अधिक जाते हैं। वहाँ हमेशा कोई न कोई प्रोग्राम होता ही रहता है। क्लब देश के बड़े-बड़े लोगों को एड्रेस करने के लिए 'इनवाइट' करता रहता है पिछले महीने जय प्रकाश नारायण आए थे। इस लास्ट संडे को महेश जोगी भी आए थे। तुमने महेश जोगी की स्पीच सुनी है? ओह! वंडरफुल! महेश योगी बता रहे थे कि उन्हें कानपुर में भी लायंस ने 'इनवाइट' किया है। तुम जरूर सुना। मैं तुमको हमेशा से करती रही हूँ कि तुम थोड़ा 'प्रोग्रेसिव' बनो। समझी ना, सिर्फ उसी पुराने ढर्रे से नहीं चलेगा। क्लब की मीटिंग्स में रेगुलर रहा करो! तुम तो रेगुलर क्लब ज्वाइन नहीं करती होओगी? इस बार क्लब में हम लोग कुछ लड़के-लड़कियों ने मिलकर क्लब के ही अंदर एक म्यूजिक-क्लब खोला है। सौ रुपए मंथली पे करते हैं और नए-नए रेकॉर्ड्स मँगाते हैं। अरे रेनू, एक से एक रेकॉर्ड्स - तुम आना, तुम्हें सुनाऊँगी तो तुम खुश हो जाओगी। इस बार हम लोगों ने बीटल्स के कुछ रेकॉर्ड्स मँगाए हैं - सीधे इंग्लैंड से - क्लब के जरिये। एक लड़का है -शैलेश- प्लांट में ही नया-नया इलेक्ट्रिकल इंजीनियर की पोस्ट पर आया है। वही हम लोगों में सबसे अधिक प्रोग्रेसिव है। उसी ने इस म्यूजिक-क्लब का भी प्लान बनाया था। वेरी इंटरेस्टिंग एंड हैंडसम! तुम आना, तुम्हें मिलाऊँगी। इतना स्मार्ट है और इतना स्वीटली बोलता है - दुहाई है!

तुमने प्रमोद के नाराज होने की बात लिखी थी -वह मैंने मम्मी को बता दिया। तुम तो जानती ही हो मम्मी प्रमोद को कितना चाहती है -उन्हें काफी वरी हुई। मम्मी ने कहा है कि सतीश भैया इस महीने के एंड में मोहारी से आएँगे। सतीश भैया को कुछ खर्चा तो लगेगा नहीं। जहाज सरकारी, पास तो उन्हें मिलना ही है, सो एक दिन के लिए कलकत्ते भी चले जाएँगे और वहीं से कपड़ा मिल भी हो आएँगे। वैसे भी मम्मी को कुछ अपने पुराने नेकलेस गलवाकर नए डिजाइन के बनवाने हैं, यहाँ रुकनेला में तो ऐसे बारीक काम करने वाले सुनार मिलते नहीं हैं। सतीश भैया के कलकत्ते जाने से वह काम भी हो जाएगा।

अब मम्मी की बात लिख दूँ। मम्मी ने तुमको चिट्ठी लिखी थी और परसों एक मनीआर्डर भी किया है। लिखना, मिला या नहीं। मैंने पहले पत्र में सब सामानों की लिस्ट लिखी थी- क्या मालूम तुम भूल गई हो। एक तो मंजू की घड़ी की चेन, एक कटलरी सेट, दो टीसेट (लकड़ी के) और एक पेयर ब्लैक पर व्हाइट नगा। और मेरे लिए वही जार्जेट की साड़ी- जो कांता भाभी सतीश भैया की मैरिज पार्टी में पहन कर आई थीं - जरूर से जरूर ले आना, आया समझ में!

तुमने यह तो बताया नहीं कि मम्मी की साड़ी कढ़ाई करवा ली या नहीं और शालें रंगवाई या नहीं। जल्दी से इन बातों का आंसर देना। मैडमजी चिट्ठी में पूरी बात लिखा करो। आधा तो तुम लिखती हो, आधा खा जाती हो! देखा, लिखते-लिखते ही एक बात मैं भी भूल गई कि तुम अपने आने की डेट एक हफ्ते पहले से लिखना क्योंकि फिर मम्मी किसी को स्टेशन लेने भेजेंगी कि प्यारी-सी बेटो आ रही है। बस, मम्मी की बात खत्म! इन सब का आंसर जरूर दे देना, वरना मम्मी नाराज हो जाएँगी। अब मैं यह बताती हूँ कि डैडी ने हमारे लिए बेंगलुरु में क्या-क्या खरीदा। डैडी की चिट्ठी आई थी। डैडी ने सतीश भैया के लिए एक सूट, एक गाउन, हम लोगों के लिए कमीजें और सलवार। साठ रुपए मीटर है कमीज का कपड़ा। डैडी की भेजी हुई मिक्स्ड ऊन तथा पप्पू के लिए शर्ट, टाई और शॉक्स आए। रेनू ने बेंगलुरु से मुझे पत्र क्यों नहीं लिखा, डैडी पूछ रहे थे। रेनू मुझसे नाराज है जो पत्र नहीं लिखती। और यह भी डैडी ने कहा है कि रेनू को अपने लिए क्या मँगाना है लिख दे। अबकी बार तुम उन्हें पत्र जरूर लिख देना। मैंने अपना कार्डिगन बुन लिया है मिक्स्ड ऊन का, बहुत ही प्यारा है।

बस, अब पत्र बंद करती हूँ, तुम जल्दी से इसका आंसर देना और अपने आने की डेट लिखना। अरे रेनू, तू यहाँ आ जा, फिर देख, हम कैसे सैर-सपाटे करते हैं! तुम्हें रोज क्लब ले जाया करूँगी और वहाँ लड़कों के साथ स्विमिंग पूल में घंटों तैरेंगे। तुम्हें तैरना आता है या नहीं? कोई बात नहीं, सीख जाओगी- शैलेश सिखा देगा। तैरने के बाद हम लोग ठंडी-ठंडी बियर पीया करेंगे। अरे, बोलना मत किसी को- मम्मी नहीं जानती हैं, काउंटर पर रजिस्टर में 'कोका कोला' लिखवाती हूँ, मैंनेजर को थोड़े-बहुत पैसे देती रहती हूँ - वह चुप रहता है। शैलेश ने ही एक दिन शुरू करवाई थी, समझी! अच्छा डार्लिंग, अब बस! लाइट ऑफ करके बेड पर जाऊँगी -मम्मी दूध पीने के लिए बुला रही हैं।

किस टू यू!

तुम्हारी
प्रमिला



अप्रकाशित कहानी

19.11.1976

लेखक की लिखी सबसे अंतिम कहानी

अंग्रेजी स्कूल में

सेन्ट्रल माइनिंग रिसर्च स्टेशन धनबाद कोयला अंचल का एक भव्य प्रतिष्ठान है। देशभर के कोयला-उद्योग के लिए महत्वपूर्ण अनुसंधान कार्य करने का जिम्मेदार यह प्रतिष्ठान धनबाद शहर के एक किनारे पर बसा है। लगभग तीस एकड़ तक फैले हुए इसके अहाते में प्रतिष्ठान की मुख्य इमारत और अनुसंधान कार्य में जुटे विभिन्न पदों वाले व्यक्तियों के रहने की कॉलोनी के अलावा काफी भूमि बंजर मैदान की तरह पड़ी हुई है जो भविष्य में विकास और विस्तार के लिए सुरक्षित है। इस प्रतिष्ठान में कार्य करने वालों का बाहरी दुनिया के लोगों से जो सम्पर्क है, वह सरकारी निगाह में गंभीर है, यही कारण है इसके अहाते के मुख्य द्वार पर लोहे के बने विशाल फाटक पर हमेशा कुछ संतरी मौजूद रहते हैं जो समय आने पर अन्दर जाने वालों की तलाशी भी ले सकते हैं या पूछताछ कर सकते हैं। अनधिकार प्रवेश दंडनीय - इस आशय की एक तख्ती भी फाटक के बाहर टंगी हुई है। अहाते के अन्दर जो कॉलोनी बनी हुई है उसमें एकमंजिले और दुमंजिले फ्लैट हैं जिनकी भव्यता और बाहरी सज-धज उसमें रहने वाले के पद के अनुरूप है। उनमें से कइयों के पास अपनी खूबसूरत कारें हैं। उनके बच्चे सड़क पर धूल या मैदान में खेलते हुए कभी दिखाई नहीं पड़ते। वे ज्यादातर अपने घरों के अन्दर या अपने सजे हुए बरामदे में अंग्रेजी कॉमिक पढ़ते हैं अथवा चाइनीज मेकर या खिलौनों का मैकेनिक खेल खेलते हैं।

बच्चों की चर्चा इसलिए उठी कि कॉलोनी में बच्चों का एक स्कूल भी है जो इस शहर के सबसे अधिक प्रतिष्ठित दो स्कूलों में एक है। एक स्कूल है माउंट कॉर्मल जहाँ लड़कियाँ पढ़ती हैं और दूसरा, जो इस कॉलोनी में है - डी.नोबिली स्कूल। डी.नोबिली स्कूल की शाखाएँ देश के कई अन्य बड़े नगरों में भी हैं और यह एक अमरीकी कैथोलिक मिशन के द्वारा संचालित और स्थापित शिक्षा संस्थान है। अमरीकी पादरी फादर जैक्सन, जो शहर के बीचोबीच बने एक कैथोलिक गिरजा के अहाते में अपने बँगले में रहते हैं, इस स्कूल के प्रिंसिपल हैं। जैक्सन महोदय शहर के अन्य बहुत सी सामाजिक गतिविधियों के नेतृत्व में भी हैं, लेकिन शिक्षा के क्षेत्र में वे एक विशेषज्ञ माने जाते हैं। कुछ ही वर्षों पहले वे अमरीका के सॉन फ्रांसिस्को विश्वविद्यालय से आधुनिक शिक्षा के विषय पर पी एच.डी. की उपाधि लेकर अमरीका से धनबाद लौटे हैं। वे स्कूल प्रतिदिन नहीं जाते, वर्ष में कभी-कभार विशेष अवसर पर ही जाते हैं। स्कूल की प्रतिदिन की कार्रवाही चलाती हैं स्कूल की हेडमिस्ट्रेस मिसेज कपूर। मिसेज कपूर इस स्कूल की सबसे वरिष्ठ अध्यापिका तो रही ही हैं, इसके साथ ही वह स्वयं भी आधुनिक शिक्षा तकनीक की विशेष जानकार हैं। आधुनिक शिक्षा की नई तकनीकों की जानकारी के लिए अमेरिका स्थित संस्थानों से संपर्क के अलावा वे स्वयं कुछ दिन पहले इस विषय पर अध्ययन करने के लिए बंगलोर गई थीं जहाँ डॉ. नोबिली शिक्षा संस्थान का एक उच्च केन्द्र है।

धनबाद शहर में जो प्रतिष्ठित और संपन्न परिवार हैं उनके बच्चे इसी स्कूल में पढ़ते हैं। धनबाद में संपन्न परिवार और प्रतिष्ठित परिवार तीन प्रकार के समुदायों में हैं – पहला समुदाय है भारतीय रेल उद्योग के उच्चपदीय अफसरों का। चूँकि धनबाद पूर्वी रेलवे का डिवाजनल मुख्यालय है, इसलिए यहाँ रेल-कर्मचारियों और अधिकारियों की आबादी काफी है। इनमें से सिर्फ एक -डिवाजनल सुपरिटेण्डेंट श्री सेनगुप्ता - को छोड़कर बाकी सभी उच्चपदीय अफसरों के बच्चे इसी स्कूल में पढ़ते हैं। लोगों से सुना है, श्री सेनगुप्ता का एक ही लड़का है जो दिल्ली में पढ़ता है। दूसरा समुदाय कोयला अंचल के भारत कोकिंग कोल लिमिटेड कम्पनी के उच्च अफसरों और मैनेजर्स का है। तीसरा समुदाय धनबाद झरिया के गुजराती - कच्छी - मारवाड़ी धनी व्यापारियों और व्यवसायियों का है। कुछ मध्यवर्ग के साधारण अफसर भी जो इतनी शान और खर्च किसी तरह बर्दाश्त कर सकते हैं, अपने बच्चों को इस स्कूल में भेजते हैं - हालाँकि उनकी संख्या बहुत कम है। यहाँ पढ़ने वाले बच्चों के घरों की सम्पन्नता आप उस समय देख सकते हैं जब वे दोपहर से पहले अपनी टिफिन खाते हैं। दिन में ग्यारह बजे टिफिन के लिए दस मिनट की छुट्टी होती है। उस समय छोटे-छोटे बच्चे और सातवीं-आठवीं के कुछ बड़े हो चले लड़के भी अपनी भूख मिटाने के लिए अपने-अपने टिफिन-बॉक्स खोलकर यहाँ-वहाँ बैठ जाते हैं। बहुत से बच्चे खड़े-खड़े या खेलते-दौड़ते हुए ही अपनी टिफिन खाते हैं। उनकी टिफिन कोई एक ढंग की नहीं होती। जितने बच्चे, उतनी तरह की टिफिन। सच बात तो यह है कि उनकी टिफिन देखकर आपको यह पता चलेगा कि नाश्ता भी कितने तरह का हो सकता है। कोई घी लगे हुए बड़े मुलायम नरम पराँठे लाया है, कोई चिप्स लाया है, कोई कलाकन्द और चनाचूर लाया है, कोई बिस्किट लाया है, कोई नमकीन काजू लाया है, कोई अंडा लाया है, कोई मट्रियाँ लाया है, कोई कुछ दूसरी मिठाइयाँ। सबों की माँ ने अपने-अपने बच्चों की भूख का अनुमान और चिंता कर कुछ न कुछ, जितना अच्छा हो सका, उसकी टिफिन में रख दिया। ये बच्चे अपनी माँ के द्वारा डिब्बे में रख दिये गए इस नाश्ते को बैठकर, उछलते-कूदते हुए अपने ही जैसे दूसरे बच्चों के साथ खाते हैं। उनकी माँ होती तो वह कितने प्यार के साथ इन्हें खिलाती!

मैं इतनी सारी बातें इसलिए जान पाया हूँ क्योंकि अभी कुछ ही दिनों पहले मेरी भी नियुक्ति इसी स्कूल में हुई है। कुछ दिनों से मेरा मतलब अढ़ाई महीने से है। यहाँ मेरी नियुक्ति की वजह यह नहीं थी कि स्कूल के अन्य अध्यापकों के साथ मेरी कोई वर्गीय समता थी। मैं एम.ए. पास हूँ, पी-एच.डी. कर रहा हूँ। स्कूल को एक हिन्दी शिक्षक की जरूरत थी और मुझे कहीं पाँव टिकाने के लिए जगह की जरूरत थी। सो, मैं नियुक्त हो गया। वैसे भी, मैं शहर का व्यक्ति हूँ, कोई गँवार तो हूँ नहीं। स्कूल के वातावरण में मैं किसी तरह खप गया, कम से कम इन अढ़ाई महीनों में सलीके को लेकर मेरे साथ अभी तक कोई अप्रिय घटना नहीं घटी है।

जिस दिन मैं पहली बार स्कूल में आया, उसी दिन से मैं स्कूल की हेडमिस्ट्रेस के संचालन-कौशल से और उन्होंने जिन परम्पराओं को वहाँ कायम कर रखा है उनसे बहुत प्रभावित हुआ। मैंने देखा कि स्कूल शुरू होने से पहले अंग्रेजी में ईश्वर की प्रार्थना के लिए जब बच्चों की 'एसेम्बली' होती है, तब हेडमिस्ट्रेस मिसेज कपूर प्रायः रोज ही अपना एक संक्षिप्त सा भाषण देतीं, जिसमें हर बार एक नया संदेश बच्चों को सुनने के लिए मिलता, साथ ही स्कूल के अनुशासन की पाबंदी पर भी वे हमेशा जोर देती हैं।

उनकी एक विशेषता, जिससे मैं बहुत अधिक प्रभावित हुआ, वह है उनकी समदर्शिता। वे सभी बच्चों को समान दृष्टि से देखती हैं। समानता सिर्फ इसी बात में नहीं कि सभी बच्चे एक ही जैसी यूनिफॉर्म पहनते हैं, बल्कि सबके साथ समान व्यवहार का विधान भी हेडमिस्ट्रेस का है। यह बात महत्वपूर्ण इसलिए है कि स्कूल के ही बहुत से अध्यापक और अध्यापिकाओं के बच्चे भी इसी स्कूल में पढ़ते हैं। स्वयं हेडमिस्ट्रेस का लड़का भी स्कूल में पढ़ता है। लेकिन क्या मजाल कि कोई यह कह सके कि हेडमिस्ट्रेस अपने बच्चे को या किसी अध्यापिका के बच्चे को एक दृष्टि से देखती है और शेष बच्चों को दूसरी दृष्टि से। सबके साथ एक ही जैसा व्यवहार किया जाता है। जैसे सब बच्चे एसेम्बली में खड़े होते हैं वैसे ही हेडमिस्ट्रेस या किसी अन्य अध्यापिका के बच्चे भी

खड़े होते हैं। छुट्टी के बाद उनके बच्चे भी उसी तरह कतार में शामिल होकर स्कूल से निकलते हैं जैसे अन्य बच्चे। इस समानता के संबंध को इस हद तक रखा गया है कि बच्चे अपनी अध्यापिका माँ को स्कूल में माँ कहकर भी संबोधित नहीं कर सकते, वे अपनी माँ को स्कूल में 'मिस' ही कहते हैं। वाकई, यह एक प्रभावशाली बात है।

अंग्रेजी स्कूल के इन बच्चों की कई विशेषताएँ हैं। पहली बात तो यह है कि बड़ी उमर के पढ़े-लिखे आदमियों की ही तरह ही ये बच्चे अभी से आपसे धड़ल्ले से अंग्रेजी में बातचीत कर सकते हैं। फिर उनकी बातचीत का तौर-तरीका है। उसमें एक खास सलीका है जो वे यहाँ स्कूल में और अपने घर में भी सीखते हैं। आप उन्हें कुछ दीजिए या कोई अच्छी बात कहिए, वे आपको 'थैंक्स' देना कभी नहीं भूलेंगे। उनके किसी काम से आपको यदि जरा भी असुविधा हुई हो अथवा वे ऐसा समझें कि इससे आपको असुविधा हो सकती है, तो आपसे 'सॉरी' अवश्य कहेंगे; यहाँ तक कि अगर वे आपके सामने छींक भी दें तो छींकने के तुरन्त बाद 'एक्सक्यूज मी' या 'सॉरी' कह देंगे।

ये सुन्दर हैं, खूबसूरत और गोरे रंग के हैं। लेकिन उनकी सबसे बड़ी विशेषता तो उनकी व्यक्तित्व सम्पन्नता है। उनका अभी से एक व्यक्तित्व है जिसे वे सहजता के साथ और बड़े ही आत्मविश्वास के साथ आप पर प्रकट करते हैं। वे छुई-मुई जरा भी नहीं हैं। वे आपसे बातचीत कर सकते हैं। वे सम्मानप्रद ढंग से आपका नाम लेकर आपको संबोधित कर सकते हैं। वे अपने शिक्षकों को भी उनके नाम या उपाधि से ही संबोधित करते हैं - जैसे मिस्टर एलेन, या सर मुखर्जी या मिस अस्थाना।

उनके व्यक्तित्व की इन विशेषताओं को बनाने और उनका विकास करने के लिए स्कूल में एक वातावरण है। इस वातावरण को बनाने में बहुत ही महत्वपूर्ण सहायक तत्व है स्कूल के अध्यापक और अध्यापिकाएँ स्कूल में अधिकतर अध्यापिकाएँ ही हैं जिन्हें बच्चे 'मिस' कहते हैं, चाहे वे विवाहित हों अथवा अविवाहित। अध्यापिकाओं की एक विशेषता यह है कि वे उन्हीं परिवारों के अफसरों की पत्नियाँ हैं। कुछ उनके घरों की पढ़ाई समाप्त कर चुकी विवाह की प्रतीक्षा में रुकी हुई अविवाहित लड़कियाँ हैं। स्कूल के 23 सदस्यों के स्टॉफ में छः सात अध्यापिकाएँ हैं तो उक्त कॉलोनी में ही रहने वाले अफसरों की पत्नियाँ हैं। उनके अपने बच्चे भी इसी स्कूल में पढ़ते हैं। यद्यपि बच्चों के लिए स्कूल की एक सामान्य यूनिफॉर्म है, लेकिन अध्यापक-अध्यापिकाओं पर ऐसा कोई बंधन नहीं है। अधिकतर अध्यापिकाएँ प्रतिदिन अच्छे से अच्छी, महँगे से महँगी, नए से नई पोशाक पहन कर आती हैं। जिन परिवारों से बच्चे आए हैं, उन्हीं परिवारों से अध्यापिकाओं के भी आने के कारण स्कूल में एक सामान्य संस्कृति का वातावरण बनता है जिसमें बच्चों के व्यक्तित्व की विशेषताओं के विकास में कोई बाधा नहीं रह जाती। बच्चों की आदतें, रुचियाँ और मूल्यबोध वैसे ही बनते हैं जैसी आदतें, रुचियाँ और मूल्यबोध उनके परिवारों की हैं या उस वर्ग की हैं जिनके अंतर्गत उनके परिवार आते हैं।

सो, मैंने खुद को स्कूल के वातावरण में, जिसका मैं कभी अभ्यस्त नहीं था, खपा लिया। मुझे बच्चों को बहुत प्यार करने की आदत रही है। बच्चों को देखकर ही मुझे उन्हें अपने पास बुलाने, उनसे तरह-तरह की बातें करने और उन्हें प्यार करने की इच्छा होती है। लेकिन मैंने देखा कि स्कूल के अध्यापक-अध्यापिकाएँ ऐसा नहीं करते। वे इस बारे में अनुशासन बनाकर रखते हैं। मैंने भी यह अनुशासन कुछ-कुछ सीख लिया। मुझे लोगों के साथ साहित्यिक बहस करने का शौक रहा है। मैंने सोचा था कि स्कूल में अपने सहकर्मियों के साथ फुर्सत के समय स्टॉफ रूप में काफी साहित्यिक बहसें हुआ करेंगी। स्कूल अंग्रेजी का है, तो हिन्दी साहित्य पर न सही, शेक्सपियर के साहित्य पर भी बहस हो सकती है। लेकिन मैंने देखा कि स्कूल में इस तरह की साहित्यिक बहस कोई नहीं करता। वे सभी या तो अपने-अपने काम में लगे रहते हैं या फिर अपने-अपने व्यक्तित्व को पूरी तरह से सुरक्षित रखते हुए दूसरों से कुछ हल्की-फुल्की बातें ही करते हैं। शुरू-शुरू में कुछ दिनों तक तो मैं इस स्थिति से बोर हुआ, फिर बाद में मुझे भी व्यस्त रहने के लिए बहुत से काम मिल गए। धीरे-धीरे मैं बच्चों से भी परिचित

हो गया, खासकर उन बच्चों से जिनकी क्लास मैं लेता हूँ। बच्चों के झगड़ों को जो बहुत तुच्छ बातों पर होते रहते हैं – जैसे किसी ने किसी की पेंसिल छुपा दी या किसी ने किसी को थोड़ा धकेल दिया – मैंने निपटाना सीख लिया। झगड़ा निपटाने की शैली, जो स्कूल में प्रचलित थी...घटना घट गई जिससे मैं बड़ी असुविधा में पड़ गया और अभी भी पड़ा हुआ हूँ।

बात कल दोपहर से कुछ पहले की है। रोज की ही तरह ग्यारह बजे के करीब दस मिनट की टिफिन हुई। मैं अपने कुछ सहकर्मियों के साथ स्टॉफ रूम में बैठा चाय पी रहा था। तभी दो लड़के एक तीसरे लड़के को पकड़ लाए और उन्होंने मिस अस्थाना से शिकायत की कि इस लड़के ने हम लोगों को मारा है। मिस अस्थाना ने तीसरे लड़के की ओर देखा, फिर उसकी कुछ आलोचना की। उसके बाद उसे आदेश दे दिया कि वह एक कोने में जाकर सीधा खड़ा रहे। लड़का कोने में जाकर खड़ा हो गया। हम लोग फिर अपनी चाय पीने में लग गए। जो दो लड़के शिकायत लेकर आए थे, उन्होंने कहा कि एक और भी लड़का है जो हमें मार रहा था। मिस अस्थाना ने चाय पीते हुए यह आदेश दिया कि उसे कहो मिस अस्थाना बुला रही हैं। लड़के चले गए और थोड़ी देर बाद फिर लौट आए – ‘मिस वह नहीं आ रहा है’ उन्होंने कहा।

मेरी चाय खत्म हो चुकी थी। इसलिए मैं कुर्सी से उठा और मैंने कहा – ‘मैं देखता हूँ।’

यह कहकर मैं उन लड़कों की क्लास में गया। जो लड़का नहीं आ रहा था, उसे पकड़ा और पहले दो-तीन तमाचे उसे लगा दिये। फिर मैंने उसकी आलोचना की कि मिस के बुलाने पर भी वह क्यों नहीं आया? उसके बाद मैंने सोचा कि यह झगड़ा अब फिर स्टॉफ रूम में जाएगा और स्टॉफ की दस मिनट की छोटी-सी टिफिन का और समय नष्ट होगा, इसलिए इसे यहीं निपटा दिया जाए। इसलिए मैंने झगड़े को निपटाने के लिए आदेश दिया कि वह क्लास के एक कोने में खड़ा हो जाए। लड़का खड़ा हो गया और मैं बाहर निकल आया। एक झगड़ा समाप्त हुआ।

लेकिन मुझे क्या पता था कि बाहर दूसरा झगड़ा मेरा इंतजार कर रहा है। बाहर निकलकर ज्योंही मैं थोड़ी दूर बाथरूम की ओर चला कि कुछ लड़के दौड़ते हुए आए और एक लड़के को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने मुझसे चिल्ला-चिल्लाकर कहना शुरू किया – सर, उत्पल ने इसके टिफिन के डिब्बे को लात मारकर इसका नाश्ता जमीन पर गिरा दिया है।

यह वाकई एक गंभीर शिकायत थी। मुझे भी सुनकर गुस्सा आया। मैंने उस लड़के को आश्वासन देने के लिए पूछा – तुम्हारी टिफिन को गिरा दिया?

–जी हाँ, सर!

– किसने गिरा दिया?

– सर, उत्पल ने।

– कौन उत्पल?

– सर, उत्पल सिन्हा।

– किस स्टैंडर्ड का लड़का है?

– सर, स्टैंडर्ड फोर।

‘हूँ’ मैंने मन ही मन कहा – तो यह लड़का है। मैं उत्पल सिन्हा को जानता हूँ। वह स्टैंडर्ड फोर्थ का लड़का मेरी हिन्दी की क्लास में आता है। उसका पिता एक रेलवे कर्मचारी है जिसे मैं एक बार मिला था। वह साधारण आदमी है। लेकिन यह लड़का तो बुरे स्वभाव का नहीं है। अच्छा लड़का है, पढ़ने-लिखने में तेज है। यूनिफॉर्म भी हमेशा ठीक से पहनता है। इसने ऐसी बदमाशी क्यों की? उत्पल सिन्हा के तमाम अच्छे गुणों के बावजूद मुझे

उसपर काफी गुस्सा आया। मैंने और अच्छी तरह से पता लगाने के लिए फिर पूछा :

– उसने तुम्हारी टिफिन क्यों गिराई?

– सर, जानबूझ कर गिराया।

– तुमने उसे कुछ कहा या मारा था?

– नहीं, सर।

मैंने बाकी लड़कों से पूछा – इसने उत्पल को कुछ किया था

– ‘नहीं सर!’ वे सब समवेत स्वर में बोले

– उत्पल आया और लात मारकर इसकी टिफिन गिरा दिया? – मैंने फिर पूछा।

–जी हाँ, सर!

नहीं, नहीं, उत्पल को इसका दंड जरूर मिलना चाहिए – मैंने निश्चय कर लिया।

चलो मेरे साथ – मैंने लड़कों से कहा और उनको साथ लेकर चल पड़ा। बच्चे फर्श पर खेल रहे थे, इधर-उधर दौड़ रहे थे। मैं एक जगह रुक गया और लड़कों से बोला – जाओ उत्पल को यहाँ लेकर आओ।

वे सब एक साथ दौड़ पड़े और थोड़ी ही देर में उत्पल को अपने हाथों में गिरफ्तार कर मेरे सामने लाए। मैंने थोड़ी देर उत्पल को गौर से, अपनी निगाहों को उसके चेहरे पर नत्थी करके देखा। यह तेज लड़का है। लेकिन तेज होने से क्या हुआ? इसने ऐसा अपराध किया है जिसकी सजा अगर इसे नहीं मिलती तो बहुत अनुचित होता है! मेरा गुस्सा उभर आया।

– तुमने इसकी टिफिन गिराई है?

वह चुप रहा। अर्थात आरोप सच है। मैंने उसकी टुंडी पकड़कर उसका मुँह अपनी ओर किया।

– तुमने जानबूझकर इसकी टिफिन क्यों गिराई? बोलो?

– सर, इसने मुझे क्लास में मारा था!

यह जवाब सुनकर मैं गुस्से से तमतमा उठा – ‘तो तुम लात मारकर उसकी टिफिन जमीन पर गिरा दोगे? बोलो? बेहूदे कहीं के? उसने तुमको मारा था तो तुमने किसी अध्यापक से रिपोर्ट क्यों नहीं किया? तुम उसका खाना जमीन पर गिरा दोगे? अब वह खाएगा क्या? इडियट!’

मेरे गुस्से के आगे वह निरुपाय खड़ा रहा। इससे मेरा क्रोध कम नहीं हुआ क्योंकि उसका अपराध अपनी जगह पर कायम था। मैंने दंड का विधान किया।

– इधर सुनो, तुम अपनी टिफिन से आधा इसको अब दो! मैंने आदेश दिया – जाओ।

लेकिन वह सिर झुकाए खड़ा रहा। मुझे उसकी यह धृष्टता अच्छी न लगी।

मैंने पूछा – तुम टिफिन लाए हो या नहीं?

‘नहीं’ वह बहुत धीरे से बोला।

‘तो जाओ’ – मैंने आदेश दिया – ‘जाकर अपनी टिफिन लाओ और अपनी आधी टिफिन इसे दो।’

वह फिर भी खड़ा रहा, सिर झुकाए। उसकी इस धृष्टता से मैं एकदम झुंझला उठा। मैंने थोड़े धैर्य के साथ काम लेना शुरू किया।

‘तुम क्यों नहीं जा रहे हो? क्या तुम टिफिन नहीं लाए हो?’

‘नहीं’ उसने सिर हिलाकर बताया कि वह टिफिन नहीं लाया है।

मेरा धैर्य समाप्त हो गया और फिर गुस्से से भर उठा – पकड़कर अभी तुमको दो तमाचे लगाऊँगा, बदमाश कहीं को! ठीक-ठीक बतलाओ – मैंने एक-एक शब्द पर जोर देते हुए स्पष्ट रूप से पूछा – तुम टिफिन लाए हो या नहीं।’

वह सिर झुकाए मेरे सामने खड़ा था। वह मेरे प्रश्नों से प्रभावित नहीं हो रहा था। वह अपनी ही किसी चिन्ताधारा में डूबा हुआ था। सिर्फ मेरे गुस्से से बार-बार और सहम जा रहा था, लेकिन जिस जड़ता ने उसे जकड़ रखा था, वह मेरे गुस्से से भी टूट नहीं रही थी और इसी बात पर मुझे और अधिक गुस्सा आ रहा था। कुछ देर तक वैसा ही सहमा खड़े रहने के बाद उसने म्लान ढंग से मेरे दो टूक प्रश्न का धीरे से उत्तर दिया – ‘लाया हूँ’

‘तो चलो’ – मैंने इस बार उसका हाथ पकड़ा और उसे उसकी क्लास तक ले गया। क्लास के दरवाजे पर पहुँचकर मैं रुक गया। मैंने उसे क्लास के अन्दर धकेल दिया और दरवाजे पर ही खड़े होकर कहा – ‘लाओ अपनी टिफिन’।

वह बहुत धीरे-धीरे चला और मेरी नजरों से बचने के लिए ब्लैकबोर्ड के पास जाकर खड़ा हो गया ताकि मैं उसे न देख सकूँ। जब वह थोड़ी देर तक उसी तरह खड़ा रहा तो मुझे से न रहा गया। मेरे आदेशों की इस तरह अवहेलना करने का यह व्यवहार मुझे बहुत विचित्र लगा। मैंने गर्दन को थोड़ा अन्दर करके तेज नजरों से उसकी ओर देखा। मुझे इस तरह घूरता पाकर वह सचमुच डर गया और आगे बढ़कर अपने डेस्क तक गया। अपना बस्ता खोलकर टिफिन निकाला और दोनों हाथों से टिफिन को अपने पीछे पकड़ा हुआ धीरे-धीरे चलकर दरवाजे पर आया। मुझे उसका यह जड़पन बहुत उत्तेजना दिला रहा था लेकिन मैंने अपने क्रोध पर नियंत्रण रखने की चेष्टा की।

‘इसको अपनी आधी टिफिन दे दो।’ मैंने अपने चारों ओर जमी लड़कों की भीड़ में से उस लड़के की ओर संकेत करके कहा जिसकी टिफिन उसने लात मारकर गिरा दी थी।

मेरे प्रश्न के उत्तर में उसने अपने पीछे पकड़ रखी टिफिन को दोनों हाथों से थामकर मेरे आगे कर दी। मुझे एक-एक बात के लिए आदेश देना पड़ रहा था। मैंने कड़ककर कहा ‘आधी टिफिन इसे दो!’

लेकिन वह वैसा ही खड़ा रहा सिर झुकाए। मैं जानता था कि अपनी टिफिन दंडस्वरूप दूसरे के साथ बाँटकर खाने में उसे कष्ट हो रहा है। बच्चों को अपनी निजी चीजों के प्रति, चाहे वह कितनी भी छोटी क्यों न हों, बहुत मोह होता है। मेरे दंड के फलस्वरूप संपूर्ण टिफिन खाने के उसके स्वार्थ पर आघात हो रहा था जिसे वह सहन नहीं कर पा रहा था। लेकिन उसे यह दंड देना जरूरी था क्योंकि उसका अपराध गंभीर था। मैं उसे यह सबक सिखाना चाहता था कि दूसरे की टिफिन जमीन पर गिरा देने से दूसरे को कैसे भूखा रहना पड़ सकता है। इसलिए मैंने उसपर दबाव देते हुए फिर आदेश दिया – ‘इसे खोलो’

लेकिन वह धृष्टता के साथ अपना डब्बा मेरे आगे हाथ से पकड़ उसी तरह खड़ा रहा। मुझे बहुत गुस्सा आया। मैंने झुंझलाकर कहा – इसे तुरन्त अभी खोलो, नहीं तो लगाऊँगा तुम्हें चार तमाचे!’ – मैंने अपनी हथेली को उसके मुँह पर मारने के लिए तान लिया।

अब वह बिल्कुल असहाय हो गया। मेरे धधकते हुए क्रोध के आगे, जिसे मैंने इतने सारे लड़कों के सामने ही खुलेआम प्रकट किया, वह बिल्कुल हताश हो गया। जैसे पानी में डूबता हुआ आदमी हाथ-पाँव मारते-मारते अंत में थककर निराश हो जाता है और अपने को पानी की गहराई में सौंप देना चाहता है। उसी तरह उस सहमे हुए लड़के ने भी अपनी चरम असहायता और निराशा में पहुँचकर आत्मसमर्पण कर दिया और अपना टिफिन बॉक्स खोल दिया।

उसमें सरसों के तेल में सनी हुई सिर्फ दो मुट्ठी मूही थी।

सब लड़के ठठाकर हँस पड़े और उत्पल मेरी ओर असहाय दृष्टि से ताकने लगा।

मेरा मन ग्लानि से भर गया।

‘ठीक है, जाओ, जाओ यहाँ से।’ मैंने आदेश देकर चारों ओर हँसते हुए लड़कों को भगा दिया और मानवीय अंतर्दृष्टि के अपने दिवालियापन के लिए स्वयं को धिक्कारता हुआ वापस लौट आया। लेकिन जिस दृष्टि से उत्पल ने मेरी ओर ताका था, वह दृष्टि मुझे अब भी छोड़ नहीं रही है।



प्रारंभिक प्रकाशित कहानी

विक्षिप्त

वह छः से दो ड्यूटी करके आया था। थका हुआ। पसीने से तर। वह लगभग दो मिनट तक कुर्सी पर बैठ चुका था और रूमाल से माथे से बहते हुए पसीने को पीछे गर्दन तक पोछ चुका था। बूट खोले बिना वह कुर्सी से उठकर खड़ा हो गया।

“लाओ, मुझे थैले दो।” उसने कहा और राशनकार्ड की खोज में अन्दर वाले कमरे में चला गया, जहाँ राशन-कार्ड, दीवार पर बने एक तख्ते पर पड़े काँच के बरतनों में किसी मग या प्लेट के नीचे पड़ा हुआ था।

वह जब तक राशन-कार्ड खोजकर, लौटकर आया, पत्नी ने तब तक थैले निकालकर उसे देने के लिए नहीं रखे थे। वह अब भी अपने आठ महीनों वाले बच्चे को अपनी गोद में कसकर बैठी थी और जबरदस्ती एक बड़े चम्मच के साथ उसे गोपाल-संजीवनी-घुट्टी पिलाने में व्यस्त थी। “मैंने तुम्हें थैले देने के लिए कहा न?” उसकी आवाज इस बार कुछ तीखी और ऊँची हो गई थी। उसके इस प्रकार ओर इतनी जल्दी दुबारा टोकने पर पत्नी ने रोते हुए बच्चे को जोर से झिड़का, “ले भी मुए” और “तंग करता रहता है कुत्ता!” कहकर काफी झल्लाकर स्टील का वह बड़ा चम्मच बलपूर्वक उसके मुँह में घुसा दिया! बच्चा और जोरों से चिल्लाने लगा और अपने पैरों को जोर-जोर से उसकी छातियों पर पटकने लगा। लेकिन, चम्मच उसके मुँह के अन्दर जा चुका था और घुट्टी के मुँह में उतर जाने से उसकी चिल्लाहट अजीब तरह से भोथरी हो गई थी। जब बच्चे ने घबराकर घुट्टी निगल ली तब पत्नी ने उसे जल्दी से बिस्तरे पर पटक दिया और चौके के दरवाजे के पीछे टँगे थैले उतारने के लिए चली गई।

थैले उसके हाथ में देते समय पत्नी जरा-सा झिझकी और चेहरे पर अजीब-से संकोच के भाव लाकर बोली, “जी... मैं कहती... लड़का ले आएगा।” पूछकर पत्नी कुछ सहम-सी गई। किन्तु, उसने अत्यन्त संयत स्वर में उत्तर दिया, “नहीं।”

वास्तव में बात यह थी कि बिल्कुल यही बात, इन्हीं भावों के साथ वह सुबह भी कह चुकी थी। ड्यूटी जाने से पहले उसने पत्नी से कहा था कि वह ड्यूटी से लौटते ही राशन लेने जाएगा। तब पत्नी बोली थी, “जी, मैं कहती... लड़का ले आएगा।”

“क्यों?... उसका स्कूल नहीं है?”

“स्कूल तो है...”

“तो फिर?” उसने समझाते हुए कहा था, “... उसकी पढ़ाई में बाधा मत डाला करो। उसे स्कूल जाने दो। मैं ले आऊँगा”

“तो फिर शरबत ही पीते जाओ।” पत्नी ने थैले हाथ में देकर कहा।

“लाओ... जल्दी करो। वह फिर कुर्सी पर बैठ गया।

वह नहीं चाहता था कि उसे देर हो। परसों... सोम की ड्यूटी से लौटकर उसने अच्छा-खासा आराम किया था। शरबत वगैरह पी चुकने के बाद वह राशन लेने पहुँचा तो शाम तक कतार में खड़े रहने के बाद भी उसकी

बारी नहीं आई और उसे थैले उसी तरह लिये हुए, मुँह लटकाकर घर लौटना पड़ा था। कल मंगल के दिन स्टोर बन्द था और उसे यह सोचकर बहुत राहत मिलती है कि ये स्टोरवाले कम-से-कम इतने क्रूर ढंग से नियम मानने वाले नहीं हैं कि सोम का राशन बुध को नहीं दें। शनिवार तक से पहले, वे कभी भी राशन दे देते हैं।

पत्नी ने घड़े के ठण्डे पानी में चीनी और नींबू डालकर शरबत बनाया था। गिलास जल्दी से खाली कर, थैलों को हाथ में लेकर वह बाहर की ओर चला गया। किन्तु कुछ ही देर बाद वह फिर लौटकर आया और पत्नी को बुलाकर बोला, “मुझे शाम को डॉक्टर के पास जाना है। अगर सात बजे तक नहीं पहुँच सका, तो आज मैं फिर रह जाऊँगा। लड़का स्कूल से लौटे तो, उसे नाश्ता वगैरह कराकर स्टोर पर भेज देना। कहना, स्टोर पर नहीं मिला तो चक्की पर चला आए।”

कहकर वह किसी प्रकार की प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा किये बगैर फिर जल्दी से बाहर की ओर चल दिया। थैले उसने साइकिल पर टाँग लिये जो कि ड्यूटी से लौटकर उसने बाहर बगान में रख दी थी। वह ड्यूटी वाले बूट और कपड़ों में उसी प्रकार बाजार को चल पड़ा, राशन लाने के लिए।

स्टोर पर थैलों की एक लम्बी कतार लगी हुई थी। तीखी धूप की चुभन और गर्मी से बचने के लिए लोगों ने कतार में अपने-अपने थैले रख दिए थे और खुद स्टोर के छज्जे और दूसरी बन्द दुकानों के छज्जों के नीचे एक दूसरे से गुँथे-से खड़े थे। स्टोर खुलने में अभी कुछ देर थी। पहले तो वह अपने थैलों को लेकर कतार में खड़ा रहा। उसे आते के साथ ही थैलों को कतार में रखकर खुल छज्जे के नीचे चले आने में कुछ झिझक और संकोच अनुभव हो रहा था। लेकिन, थोड़ी ही देर बाद सारे थैलों की कतार में केवल स्वयं को खड़ा देख वह कुछ खिसिया-सा गया और स्वयं को मूर्ख-सा अनुभव करने लगा। उसने हिम्मत करके झिझक तोड़ दी और झंप को मिटाता हुआ छज्जे के नीचे चला गया।

जब स्टोर खुला और लोग अपने-अपने थैलों की जगह खड़े हो गए तो वह आश्चर्य और खीज से झल्ला उठा।

जब तक थैले कतार में पड़े हुए थे...उसे कतार की लम्बाई का एहसास नहीं हुआ था। झुँलाहट से उसने देखा- लगभग सत्तर-अस्सी लोगों के पीछे खड़ा था।

“हम लोगों को राशन मिल जाएगा?” उसने स्वयं को आश्वस्त करने के लिए अपने आगे वाले से पूछा।

“क्या पता!” कहते हुए उस व्यक्ति ने बाँहें फैला दीं।

उसकी बारी आते-आते यदि आज स्टोर फिर बन्द हो गया, तो...? यह खुद पर खीजा-खीजा सोच रहा था। उसने अपनी जगह से बाहर निकलकर एक बार फिर कतार की लम्बाई देख ली और सोचने लगा कि क्या उसे राशन मिल जाएगा?

“...अच्छा, गेहूँ वगैरह है तो?” उसने अपने आगे वाले से पूछा।

“...क्या पता!” कहते हुए उस व्यक्ति ने फिर बाँहें फैला दीं।

वह खीज गया और इच्छा हुई कि साले को कॉलर से पकड़कर पूछे, “पता नहीं तो यहाँ क्यों खड़े हो?” पर खीज को अन्दर ही अन्दर पीता हुआ वह स्टोर की खिड़की की तरफ चल पड़ा। पुरुषों वाली खिड़की लोगों से ठसाठस घिरी हुई थी। वह खिड़की के साथ वाले छोटे-से बरामदे की तरफ आ गया जहाँ स्त्रियों की कतार लगी हुई थी। स्त्रियों से बचते हुए उसने सीढ़ी पर खड़े होकर अपने दोनों पंजों के बल ऊँचे होकर अन्दर के कर्मचारियों से पूछा कि क्या सबको राशन मिल जाएगा।

“चावल नहीं है भाई, चावल नहीं है।” बड़े बाबू ने उसे जवाब देते हुए ऊँची आवाज में सबको सुनाकर कहा। लोगों की कतार में कानाफूसी फैल गई।

“...और गेहूँ?” उसने फिर पंजे के बल स्वयं को ऊँचा उठाया।

“देखिए भई, अभी नहीं बोल सकते।” बड़े बाबू ने इस बार झल्लाकर कहा, “जाइए, लाइन में जाइये। मिल भी सकता है, नहीं भी।”

वह थोड़ी देर तक यों ही, बिना किसी उद्देश्य के, वहाँ खड़ा रहा। फिर होंठों को चबाता हुआ आकर अपनी जगह पर खड़ा हो गया।

“क्यों? राशन मिलेगा?” उसके आगे वाले व्यक्ति ने पूछा।

“क्या पता...साले लोग ठीक से बताते नहीं कि मिलेगा या नहीं।” उसकी टाँगें दुखने को आ गई।

“मिलेगा क्यों नहीं भाई? सबरे तो पूरा एक ट्रक राशन आया था” कतार में खड़ा एक तीसरा व्यक्ति बोल रहा था, “मैं सुबह आकर वापस लौटा हूँ। पूरा एक ट्रक राशन आया था। गेहूँ, चावल...दोनों।”

“वो तो कहते हैं, चावल नहीं है?” एक और व्यक्ति ने पूछा।

“अरे...साले लोग खुद मार लेते हैं!” दो-तीन व्यक्ति लगभग एक ही साथ आवाज को बहुत ही विकृत और भद्दी बनाकर बोले थे। कतार में फिर कानाफूसी फैल गई थी।

उसने सबके साथ अपने सम्बन्ध मन-ही-मन काट लिए और फिर से कतार में अच्छी तरह खड़े होकर, नए सिरे से अपनी बारी की प्रतीक्षा करने लगा।

अब उसकी बारी आई, तब शाम के छः बज चुके थे। खड़े-खड़े उसकी टाँगें बिलकुल थक गई थीं और वह बिलकुल आलसी-सा हो आया था। अभी उसकी टाँगें पिंडलियों के नीचे धीरे-धीरे काँप रही थीं और चारों तरफ घिरते हुए अन्धकार को देखकर उसे अजीब तरह से उबकाई आ रही थी। उसकी बारी आने तक चावल बिलकुल खत्म हो चुका था। शिथिल और टूटे हुए भाव से वह पूरे सप्ताह का राशन चौदह किलो गेहूँ और सवा किलो चीनी लेकर पहली बार भीड़ से बाहर आया। खुली जगह में आकर वह कुछ थिर हुआ तो उसे बड़े जोरों से प्यास लगी। दोपहर को पीया हुआ नींबू का शरबत कहाँ चला गया था कुछ पता नहीं। पर उसने प्यास थोड़ी देर तक के लिए रोक ली। सड़क के बिलकुल साथ ही लगी चक्की में वह थैलों को उठाए चला आया और गेहूँ रेजा को साफ करने के लिए दे दी। पास के होटल से वह गटगट दो गिलास पानी पी आया। सवा छः हो रहे थे और लड़का अभी तक नहीं आया था। वह झुँझला रहा था कि आज वह फिर रह जाएगा और डॉक्टर से नहीं मिल सकेगा। पिछले चार दिनों से उसकी दाढ़ें बुरी तरह दुख रही थीं। इतवार को उसने बचपन के दिनों को याद करते हुए पत्नी के साथ मौज में आकर दो पूरे गन्ने चबा डाले। पत्नी को तो कुछ नहीं हुआ लेकिन उसके दाँत और दाढ़ें बुरी तरह दुखने लग गई। शुरू में उसने कोई खास परवाह नहीं की। सोचा, अपने से ठीक हो जाएगा। लेकिन आज चौथा दिन है और मर्ज उसी तरह बढ़ता ही गया है। रोज सोचता है कि आज दाँतों को दिखा देगा। उस दिन गया था तो डॉक्टर जा चुका था। आज जाना है, तो अभी तक लड़का नहीं आया था। आते वक्त वह पत्नी को अच्छी तरह समझाकर आया था कि वह लड़के को भेज दे ताकि वह डॉक्टर के यहाँ जा सके। अब पता नहीं, उसने उसे कहा भी होगा या नहीं। वह मन-ही-मन झल्ला रहा था- यह पत्नी भी अजीब है।

साफ किये हुए गेहूँ जब वह वजन कराकर कतार में रखने लगा तो वह फिर अनिश्चित और शिथिल-सा हो आया। गेहूँ से भरे थैलों की एक लम्बी कतार-स्टोर की कतार से छोटी थी, लेकिन उसके थैले कम-से-कम चालीस-पचास थैलों के बाद आते थे। थैलों को कतार में रखकर वह अन्दर गलियारे में ही खड़ा हो गया....ताकि कोई थैलों को इधर-उधर न कर दे। चक्की की घर्-घर् और घूँ-घूँ की कटकटाती हुई आवाज अनवरत गति से सारे वातावरण में खीज और पागलपन पैदा कर रही थी। घर्-घर् और घूँ-घूँ के उस तीखे कोलाहल से सोचने की सारी इन्द्रियाँ भन्ना रही थीं और दिमाग अपने आपसे उलझता-सा जा रहा था। चक्की के मुँह से गर्म आटे के भभके पंखे की तेज हवा के साथ उड़-उड़कर सारे गलियारे में फैल जाते और मुँह, कान, आँख, गर्दन, कपड़ों तथा बालों पर पड़कर एक कैसी तो लिपलिप-सी चिपचिपाहट पैदा कर रहे थे। वह घुटन और ऊब से घबराकर

थैलों को कतार में ही छोड़कर तंग गलियारे में घुसी हुई भीड़ में से अपने शरीर को खींचता हुआ बाहर आ गया। सड़क के किनारे खड़े होकर उसने रूमाल निकालकर बदन और बालों पर पड़े आटे को झाड़ा और हथेलियों की चिपचिपाहट को पैत के साथ पोंछने लगा। उसकी इच्छा हुई कि वह एक प्याली चाय पीए। चाय पीने के लिए वह होटल की तरफ मुड़ा और उसने पाया कि उसका लड़का आ गया है।

“इतनी देर क्यों कर दी? उसने लड़के को करीब बुलाकर पूछा।

“आज स्कूल में देर से छुट्टी हुई,” लड़के ने झिझकते हुए स्वर में बताया, “एन.सी.सी. की परेड हो रही थी।”

“अच्छा सुनो,” वह लड़के को समझा रहा था, “मैंने गेहूँ साफ करवाकर लाइन में रख दिया है। पता है कहाँ?...आओ, तुम्हें दिखा दूँ।” कहता हुआ वह लड़के को कन्धों से पकड़कर चक्की के अन्दर ले गया। एक बार फिर वह कटकटाती हुई आवाज उसे पागल करने लगी और गर्म आटे के भभके उड़-उड़कर उसके कपड़ों और बालों पर पड़ने लगे। चक्की से लौटकर उसने लड़के को सख्त हिदायत दी कि वह थैलों को ठीक से देखता रहे। किसी की ठोकर से गेहूँ गिर न जाए और थैलों की अदला बदली न होने पाए।

“घर जाकर माँ से कह देना कि पिता डॉक्टर के यहाँ गए हैं।” लड़के को समझाकर वह डॉक्टर के पास जाने के लिए एक दूसरी गली की तरफ मुड़ गया। पर थोड़ी ही देर बाद वह लौट आया और गलियारे में घुसते हुए लड़के को उसने बाँह से पकड़कर बाहर बुलाया, “नाश्ता कर आए हो न?”

“हाँ जी,” लड़के ने उत्तर में सिर हिला दिया।

वह थोड़ी देर तक चुप खड़ा सोचता रहा।

“पैसे चाहिए?”

पर लड़का संकोच के मारे चुपचाप आँखें नीची किए खड़ा रहा।

“.....इसे रख लो,” कहते हुए उसने दो आने लड़के की हथेली पर रख दिए, “कुछ खा लेना। आइसक्रीम मत खाना, गला खराब हो जाएगा। समझे?...और देखो, थैले देखते रहना।”

वह चाय पीए बिना ही डॉक्टर से मिलने के लिए चल पड़ा। डॉक्टर की दुकान जाने से पहले उसने बाजार के नल पर रुककर अच्छी तरह मुँह-हाथ धो लिया, बालों पर पड़े आटे को साफ कर लिया और पानी पीकर ताजा हो आया। वह कुछ खुशी महसूस करता हुआ फिर नए सिरे से तैयार हो गया और आस-पास की चीजों को गौर से देखता हुआ चलने लगा।

डॉक्टर की दुकान में जाकर वह बाहरवाले बारमदे में प्रतीक्षा करते हुए मरीजों की कतार में, अपनी जगह पर बैठ गया। उसके आगे लगभग आठ या नौ मरीज थे और उसके बैठने के साथ ही दो मरीज और आए जोकि उसके पीछे बैठ गए। उसे यह सोचकर कुछ राहत मिली कि वह कतार में सबसे अन्त में नहीं हैं अभी उसे बैठे हुए कुछ ही देर हुई थी कि दवाईखाने से स्पिरिट-सी दवाइयों वाली वाष्प जैसी गन्ध उसकी नाक में घुसने लगी। उसने एक बार जोरों से नथुनों को ऊपर चढ़ा दिया और साँस को कण्ठ में ही रोक लिया पर ऐसा वह अधिक देर तक नहीं कर सका। वह फिर सामान्य हो आया और गन्ध को एक-एक घूँट, रुक-रुककर पीता हुआ धीरे-धीरे साँस लेने लगा।

वहाँ एक अजीब तरह की चुप्पी छाई हुई थी। केवल बीच-बीच में रुक-रुककर खरखराती हुई एक युवा आवाज उठती थी और थोड़ी ही देर बाद जोरों की साँस लेने तथा खाँसी की आवाज में डूब जाती थी। उसने ऊब से निस्तार पाने के लिए उस ओर अपना सिर मोड़ लिया। अजीब तरह से पड़े हुए, बिल्कुल आलसी और विकृत-सी मुद्राओं में बैठे तरह-तरह के मरीजों के बीच एक दुबला-सा युवक-मरीज बैठा हुआ था। वह जोर-जोर से साँस ले रहा था और कुछ बोलता भी जा रहा था। बीच-बीच में उसे खाँसी का दौरा आता तो उसका स्वर खाँसी की

खरखराहट में डूब जाता और वह दोनों हाथों से छाती को पकड़कर हाँफने लगता था। कतार में बैठा हर मरीज अजीब तरह से ऊबा हुआ लगता था और उनमें से हर कोई अपने से आगे वाले के कन्धे पर झुकता हुआ ऊँघ रहा था। लूले, बीमार और हाँफते हुए मरीजों के बीच बैठकर उसे एक अजीब-सी घबराहट होने लगी। वह उस हाँफते हुए मरीज से जल्दी ही ऊब गया और अपनी बारी के लिए उत्तेजित हो उठा। एक मनहूस बेचैनी उसके भीतर तक उतरती गई। वह क्यों इन बीमारों के बीच बैठा है?

...जब तक उसकी बारी आई, वह काफी ऊँघ चुका था और शिथिल पड़ चुका था। डॉक्टर ने एक छोटी सी टॉर्च जलाकर उसके मुँह के अन्दर देखा और कुछ देर तक उसकी दाढ़ों पर अपनी उंगलियाँ फेरता रहा। थोड़ी देर तक डॉक्टर अपने परीक्षण में व्यस्त रहा फिर सिर उठाकर अपना निर्णय दे लिए “दाँत उखड़वाने होंगे।”

“जी...?” वह अचकचाया।

“दाँत उखड़वाने होंगे।” डॉक्टर फिर एक अनुभवी-अन्दाज में बाले “जड़ें बिलकुल कमजोर पड़ गई हैं। बिना दाँत उखड़वाए काम नहीं चलेगा।

वह थोड़ी देर तक अचकचाया हुआ उसी तरह खड़ा रहा, चुपचाप उसने जेब से डॉक्टर की फीस निकाली। ...दो रुपये। फीस मेज पर रखकर चुपचाप बाहर आ गया।

“साला, ...मादरचो...” वह खूब विकृत स्वर में बड़बड़ाया, उखड़वाने होंगे...हूँह!” वह डॉक्टर के प्रति एक अजीब प्रकार की घृणा से भर उठा और उसके होंठ आपस में सिकुड़ आए।

“...दाँत उखड़वाने होंगे,” भुनभुनाते हुए उसने मुँह को बिदका लिया और आक्रोश और झल्लाहट से भरकर तेजी से घर की ओर चल पड़ा।

...बच्चे की चीखें उसे गेट तक सुनाई पड़ रही थीं। उसने गेट खोलकर साइकिल अन्दर बरामदे में रख दी। उसका आठ महीने का बच्चा-एक रस्सियों वाली खाट पर पड़ा-पड़ा जोरों से चीख रहा था। उसके पास ही दूध की भरी बोतल पड़ी हुई थी और अपनी टाँगें पटक-पटककर सारी खाट को हिला रहा था। उसने भीतरवाले दरवाजे का पर्दा हटाकर देखा-पत्नी चौंके में आटा गूंध रही थी। बच्चे के हाथों से दूध की बोतल गिर गई है और अब वह टाँगें पटक-पटक कर चीख रहा है- इसकी जानकारी पत्नी को जानकर भी नहीं थी। उसकी तेरह साल की लड़की चौंके के बाहर वाले बरामदे में बैठी-बैठी काफी पर ड्राईंग बना रही थी। बच्चा गला फाड़-फाड़कर रो रहा है...किसी को इसकी चिन्ता नहीं है। एकबार उसकी इच्छा हुई कि वह चीख-चीखकर सारा घर सिर पर उठा ले!...वह बड़ी देर तक होंठों को भींचे खड़ा रहा। फिर वह धीरे-धीरे चलकर कमरे में वापस लौट आया। वह बच्चे के सामने आकर खड़ा हो गया। बच्चा एक क्षण के लिए रुका। उसे देखा और फिर उसी तरह टाँगें पटक-पटक गला फाड़ने लगा। उसने बच्चे को उठाकर कन्धे से लगा लिया और दूध की बोतल हाथ में पकड़ ली। बच्चे को थपकी देता हुआ वह बाहर बरामदे में आ गया और धीरे-धीरे उसे सहलाता हुआ दूध पिलाने लगा। थोड़ी देर बाद पत्नी धोए हुए हाथों को साड़ी से पोंछते हुए आई और बोली, “लाओ, मुझे दे दो। तुमसे नहीं पीएगा।” उसने बच्चे को पत्नी की गोद में दे दिया।

“लड़का नहीं आया?”

“नहीं तो।” पत्नी ने उत्तर दिया तो उसे हल्का-सा आश्चर्य हुआ। उसने उसी वक्त घड़ी को देखा...पौने नौ बज रहे थे। “अब तक उसे आ जाना चाहिये था।”

...वह आश्चर्य और झुँझलाहट से कुछ बेचैन हो उठा। “नो बजे तो चक्की बन्द हो जाती है?” और उसके थैले भी सबसे अन्त में नहीं थे?” वह झुँझलाता हुआ कमरे में वापस आ गया। खाट पर बैठकर नीचे को झुक गया और बूट के तस्मे खोलने लगा। दोनों बूटों को उतारकर उसने फिर उन्हें पहन लिया और बाहर बरामदे में आ गया।

“मैं आता हूँ, अभी।” कहकर वह साईकिल लेकर बाजार की तरफ चल पड़ा।

जब वह चक्की पर पहुँचा, वहाँ बहुत कम लोग बचे हुए थे। उसने भीतर जाकर देखा—गर्म आटे के भभकों से भरे गलियारे में कई थैलों के साथ उसके थैले भी पड़े हुए थे। “लेकिन उसका लड़का वहाँ नहीं था। उसने किसी से कुछ नहीं पूछा। केवल होंठो को भींचते हुए थैलों को ले जाने की बात सोची।” लेकिन, उसके पास रसीद नहीं थी। रसीद उसने जाते वक्त लड़के के हाथों में दी दी थी। वह नहीं सोच पा रहा था कि वह इस वक्त क्या करे। थोड़ी देर तक वह अपने-आप में खोया-खोया निरुद्देश्य-सा सड़क पर खड़ा रहा। फिर साईकिल उठाकर घर चला आया।

गेट“, जिसे वह खुला छोड़ गया था, अब भी खुला पड़ा था। पत्नी को इतना तक नहीं सूझा कि वह कम-से-कम गेट तो बन्द कर दे। अन्दर कमरे में आकर वह खाट पर बैठ गया। पत्नी चौके में चूल्हे के पास एक मौढ़ पर बैठी बच्चे को दूधा पिला रही थी और उसकी तेरह साल की लड़की बारमदे में बैठकर ‘जय माँ जय माँ भारती’ कविता जोरों से गा-गाकर याद कर रही थी। उसने बूट उतार दिये—जुराबें भी उतार दीं। जुराबों को बूट में घुसाकर बूट मेज के नीचे ठेल दिए। कुछ देर तक अन्यमनस्क-सा बैठा रहा...फिर उठ कर चौके में चला गया।

“लड़का नहीं आया न?” उसने पत्नी से पूछा।

“नहीं।”

वह लौटकर फिर कमरे में आया गया। वह गौर कर रहा था कि पत्नी किस कदर इस बात से लापरवाह है कि लड़का अभी तक नहीं आया है। उसे इस बात की जरा भी चिन्ता नहीं है कि रात के नौ बज चुके हैं और लड़का अभी तक आटा लेकर नहीं लौटा है। ‘अच्छा’—वह बड़बड़ाता हुआ ड्यूटी वाले कपड़े बदलने के लिए अन्दर कमरे में चला गया। अन्दर दरवाजे बन्द कर कपड़े बदलने की जगह वह काफी देर तक पत्नी और लड़के के बारे में सोचता रहा। सोचते-सोचते वह उत्तेजित हो उठा। आक्रोश और झल्लाहट से भरकर उसने जोरों से अपने दोनों होंठो को भींच लिया। वह सारी स्थिति के बीच अपने-आपकी निरन्तर अकेला पा रहा था। जितना ही वह स्वयं को निस्सहाय अनुभव करता था, उसका आक्रोश और उसकी झल्लाहट उतनी ही बढ़ती जा रही थी। वह लगभग हाँफता हुआ कपड़े बदलने लगा। कपड़े बदलकर वह तेजी से बाहर आ गया। तभी गेट खुलने की आवाज लारी। उसने दरवाजे पर सिमटे परदे के किनारे से देखा—“उसका लड़का दोनों हाथों में आटे के थैले उठाए चला आ रहा था। वह एकटक उसकी तरफ देखता हुआ कमरे में उसके आने की प्रतीक्षा करने लगा।

“कहाँ गए थे?” उसने खुद को बिलकुल जब्त कर पूछा।

“जीSSS...” लड़के ने थैले झुककर फर्श पर रख दिए और थकी हुई बाँहों को बिना सुस्ताए काँपती हुई टाँगों से खड़ा हो गया। लड़के ने सिर नीचे झुका रखा था।

“मैं चक्की से जाकर वापस लौट रहा हूँ।” वह एक-एक शब्द अत्यन्त संयत स्वर में कहने की कोशिश कर रहा था, “तुम वहाँ नहीं थे। कहाँ गए थे?”

“जीSSS...” लड़के ने अपनी आँखें आधी ऊपर उठाई। “श्रमकल्याण केन्द्र में फिल्म दिखाई जा रही थी। मैंSSS...”

वह रुककर फिर चुप हो गया। उसकी टाँगें अब भी काँप रही थीं। थोड़ी देर तक एक सन्नाटा छाया रहा। दोनों चुप थे। बिलकुल चुप। लड़के ने एक बार फिर से आँखें ऊपर उठाई। पिता को बिलकुल चुप खड़ा देख उसने आँखें झुका लीं। काँपती टाँगों से चलने का उपक्रम किया तो वह लगभग लड़खड़ा गई...और इसे पिता ने गौर किया। लड़के ने धीरे-धीरे हाथ झुकाकर थैलों के पट्टे पकड़े और थैले उठाकर चौके में चला गया। वह अब भी चुपचाप वैसी ही स्थिर और तेज निगाहों से उसे जाते हुए देख रहा था।

“रोटी दो”...उसने मुड़कर पत्नी को जोरों से आवाज दी और आकर खाट पर बैठ गया,...रोटी को प्रतीक्षा करने लगा। वह देर तक बैठा रहा और चौके में होती खटपट की आवाज सुनता रहा। रोटी अभी तक नहीं आई थी। उसने एक बार वहीं से खाट के चौड़े हिस्से पर लेटकर गर्दन को तिरछी कर चौके में देखने की कोशिश की। “लेकिन उसे कुछ नहीं दिखा। वह फिर थोड़ी देर तक बैठा रहा।

“मैंने कहा रोटी दो,” वह चीखता हुआ उठा और चौके में जा पहुँचा। पत्नी कटोरी लेकर थैलों का आटा टीन के डब्बे में डाल रही थी।

“क्या हुआ रोटी को?” उसने झल्लाकर तेज निगाहों से पत्नी को घूरते हुए पूछा।

“आटा डब्बे में डालूँ या न डालूँ?” पत्नी ने खीजे हुए स्वर में पूछा।

“मैंने तुम्हे पहले रोटी देने को कहा था।” उसने अपनी सारी दृष्टि पत्नी के चेहरे पर नत्थी कर दी थी। पत्नी ने धीरे से कटोरी आटे के थैले में पटक दी और चौके में आकर रोटी डालने लगी।

“सब्जी नहीं बनाई?”

“नहीं।” पत्नी ने भरसक संयत स्वर में कहा।

“क्यों? क्या तुम्हें पता नहीं है, मुझे सब्जी के बिना रोटी अच्छी नहीं लगती?”

“और दाल भी तुम्हें सिर्फ चने की ही मिली बनाने को?”

“सब्जी कौन लेकर आता?” पत्नी ने सीधे उसकी तरफ देखते हुए पूछा।

उसकी इच्छा हुई कि वह चीख कर कहे कि क्या वह मर गया था? आज तक सब्जी कौन लाता रहा है जो कि वह आज पूछ रही है कि सब्जी कौन लेकर आता? पर वह लगातार अपने क्रोध और झुंझलाहट को दबा रहा था। उसने उत्तेजना के सारे थूक को घूँट-घूँटकर वापस निगल लिया। थोड़ी देर तक वह चुपचाप खड़ा रहा “अजीब से चकराते क्षणों को महसूस करता रहा। फिर वह लौटकर अन्दर कमरे में आ गया। कमरे में आकर वह मेज के सामने आकर खड़ा हो गया। मेज पर ताजा अखबार, बच्चे की चड़्डी और एक दो चाबियाँ पड़ी हुई थीं। कुछ देर तक, वह इन्हीं सबको घूरता रहा। “फिर उसने कमरे की बत्ती बुझा दी। एक बार कमरे की ओर मुड़कर देखा “सब कुछ धुँधला-धुँधला-सा दिख रहा था। वह चुपचाप बरामदे में सो गया। बरामदे में आकर वह बगान में उतर आया और गेट के पास खड़ा हो गया और आँखें जमीन पर गड़ा दीं। उसकी साँसें अब बिलकुल हल्के और सहज ढंग से चल रही थीं। उसकी धँसी हुई आँखें धीरे-धीरे उभर आईं। बाहर हवा कुछ ठण्डी थी और उसे लग रहा था कि उसका शरीर कोई निरन्तर सहला रहा है। “पर अन्दर कहीं कुछ था “कहीं कुछ जरूर था, जो अब भी गाँठ की तरह अपने में उलझा हुआ था। दिमाग के तन्तु बुरी तरह आपस में फँसे हुए थे और आँखें बिलकुल शून्यवत जमीन को छेद रही थीं। काफी देर तक वह खड़ा रहा। फिर लौट आया, अन्दर कमरे में। कमरे में अन्धकार था। सारा घर अन्धकार में था। शायद उसका लड़का और उसकी लड़की दोनों सो चुके थे। शायद वह आठ महीने वाला बच्चा सो चुका था। वह धीरे-धीरे चलकर बची कमरे में आ गया। खाट पर वह बैठने के लिए झुका ...तो देखा, पत्नी पड़ी हुई है। वह घूमकर खाट के दूसरी तरफ आ गया और बची हुई जगह पर लेट गया। थोड़ी देर तक लेटा रहा। उसके अन्दर धीरे-धीरे कुछ करवट लेने लगा। अन्दर, जो गाँठ बच गई थी... अपने-आप में उलझी हुई, शायद उसे ही कोई खींच रहा था। उसने करवट बदली और हाथ पत्नी की छातियों पर रख दिया। पत्नी चौंक उठी “धीरे से, एक पल के लिए। फिर साँस रोककर पड़ी रही। उसका शरीर धीरे-धीरे तनता रहा एक अजीब-सी लक्ष्यहीन उत्तेजना से भरी कसमसाहट ने उसे पत्नी पर झुका दिया। वह पत्नी की छातियाँ दबा रहा था। दबा नहीं, नोच रहा था। उसकी टाँगें अजीब तरह से काँप रही थीं और सारा शरीर तना हुआ था। बदहवासी में उसके मुँह से थूक निकल-निकलकर होठों के कोरों पर झाग बनकर जमता जा रहा था। उसने हाँफते हुए ब्लाउज के बटन खोल डाले और ब्रेसरी हाथों से खींच कर छातियों से नीचे उतार दी। पत्नी

का सहमा हुआ सुनसान चेहरा और डरी हुई आँखें उसे अन्धेरे में बिलकुल नहीं दिख रहीं थी। ढली और झूलती हुई छातियों पर उसके नाखूनों की खरोंच पड़ी तो पत्नी धीरे से चीख उठी। “न करूँ” “वह बड़बड़ता हुआ रुक गया। अपनी हाँफती हुई साँसों को वह भरसक जब्त कर रहा था। उसने खुद जोरों से अपने दिमाग को झकझोरा “वह कहाँ है” “उसने पहली बार खुद को पत्नी के भारी शरीर पर पड़ा पाया और हाथों में एक लिजलिजी-सी चिप-चिपाहट का अनुभव किया। ““वह क्या करे?” उसने बिलकुल निस्सहाय होकर बहुत भीतर की गहराइयों में सोचा। उसकी सारी चेतना केवल दो शरीरों के बीच केन्द्रित हो गई जो कि एक जुगुप्सा से भरी चिपचिपाहट के साथ एक-दूसरे से सटे हुए थे। उसने धीरे से खुद को पत्नी से अलग कर लिया। “कोई भावुकता नहीं, कोई आदर्श नहीं” “केवल एक चीज थी” “बुद्धि, “जिसके सहारे वह सारी स्थिति के बीच खुद को देख रहा था। ““ना’ घोर अस्वीकृति से जुड़ा भाव उसकी आँखों में उभर आया और वह धीरे-धीरे उठ-कर अन्धेरे कमरे को पार करता हुआ बाहर बरामदे में चला आया। जिस होश को लेकर वह खाट से उठा था, उसी होश में चलता हुआ वह बाहर गेट तक चला आया।

बाहर सब कुछ शांत था। “एक सुनसान अंधेरे में चुपचाप खड़ा-खड़ा वह अपनी निर्निमेष आँखों से अंधेरे की परतें चीरता रहा और उसकी सारी चेतना अब भी एक जुगुप्सा से भरी चिपचिपाहट से सटे दो शरीरों को अलग कर रही थी। “रात्रि के उस अन्धकार में खड़े होकर उसने पहली बार महसूस किया कि जिन्दगी जहाँ तक आ चुकी है, वहाँ से पीछे नहीं लौटा जा सकता। “और पहली बार महसूस किया कि थकान और खीज की दीवारों से सिर पटक-पटककर “विक्षिप्त होकर मर नहीं जाना है। “फिर-फिर नए सिरे से खुद को सन्तुलित करना है।

“सोचते-सोचते उसने अपना सिर लोहे के ठण्डे गेट पर टिका दिया। गेट की ठंडक उसके माथे पर पसरती गई और कनपटियों तक फैल गई। ठंडी हवा में उसे लगा, कोई उसके शरीर को निरन्तर सहाला रहा है। उस सन्नाटे में, ठंडी जमीन से सटे पाँवों में गुदगुदी की हरकत लिए वह देर तक वहीं खड़ा रहा। उसने हल्के से एक बार सिर ऊपर उठाया, “एक दबी-सी इच्छा धीरे-धीरे उसके मन में उभरी “कि वह लौटे, ओर लौटकर पत्नी का ब्लाउज बन्द कर आए। “पर, वह चाहकर भी लौट नहीं सका। वैसा का वैसा का ही गेट पर खड़ा रहा। उसने सिर फिर गेट पर टिका दिया। “गेट की ठंडक उसके माथे पर पसरती गई और कनपटियों तक फैल गई।

[‘नई कहानियाँ’, मई, 1967, पृ.सं.- 90-101 तक, लेखक का पता- 17, के.एफ. 4 फ्लैट, जमशेदपुर-1].



साहित्यिक डायरी

26.9.1969

कहानी में कंट्रास्ट, परिवेश और एक्शन

शिव प्रसाद सिंह ने 'बड़े घराने के दो खत' कहानी पढ़ने के बाद कहा- "कहानी ठीक है। लेकिन कहानी लिखने से पहले तुमने अपनी जो कहानी सुनाई, अगर उसी के साथ इस कहानी को शुरू करते तो यह कहानी पूरी बन जाती और तब अधिक अच्छी बनती। मेरा मतलब है कि जैसा तुमने अपनी स्थिति के बारे में बताया कि तुम रोज दोपहर को उस बुढ़िया की झोपड़ी में खाने के लिए जाते हो। तुम्हारी जो स्थिति है कि किसी और अच्छी जगह नहीं खा सकते। वहाँ कचरे के पास तुम्हें एक फटा हुआ पत्र मिला। उसका दूसरा हिस्सा भी तुमने खोज निकाला। और इस पत्र से तुम्हें धनी वर्ग के आंतरिक जीवन का एक परिचय मिला। इस प्रकार तुम्हारी जो अपनी कहानी है उसे इस धनी वर्ग के आंतरिक जीवन की कहानी के साथ जोड़कर यदि यह कहानी लिखी जाती, तो अधिक अच्छा होता। क्योंकि इससे कहानी में एक कंट्रास्ट, एक द्वंद्व पैदा होता। तुम्हारी स्थिति और धनी वर्ग की स्थिति के बीच का कंट्रास्ट। कहानी में यह कंट्रास्ट होना जरूरी है। सिर्फ धनी वर्ग के जीवन का चित्रण करने से वह कंट्रास्ट पैदा नहीं होता है। तुमने भी इसे अनुभव किया होगा।"

मैं उनकी बात का कोई उत्तर नहीं दे सका। लेकिन उनकी कंट्रास्ट वाली बात मुझे पसंद नहीं आई। मुझे लगा कि वे एक बहुत ही पुराने ढंग की बात कर रहे हैं जो आजकल सिर्फ स्कूल-कॉलेजों में ही पढ़ाई जाती है। रचनात्मक स्तर पर वह कहानी की अनिवार्य शर्त है ऐसा मुझे नहीं लग रहा था। वह केवल आलोचना के शास्त्र का एक सिद्धांत भर है। और जहाँ तक मेरे अनुभव करने का प्रश्न है सच बात तो यह है कि यह बात मेरे दिमाग में एक बार भी नहीं आई कि मैं कहानी को अपनी स्थिति और धनी वर्ग की स्थिति के तुलनात्मक अध्ययन का रूप दूँ। मेरे दिमाग में यह अवश्य था कि मैं कहानी इस प्रकार शुरू करूँ कि एक दिन दोपहर को मैं खाने गया और कचरे के पास मुझे एक फटा हुआ पत्र मिला- उसे मैं आप पाठकों के सामने रख रहा हूँ। किंतु इस प्रकार कहानी शुरू करने का एकमात्र नतीजा यही निकलता कि इससे कहानी के शुरू के हिस्से में एक 'जिज्ञासा' की स्थिति उत्पन्न हो जाती। किंतु कहानी कहने का यह ढंग मुझे बहुत पुराना, खासकर 19वीं सदी की रूसी कहानियों का ढर्रा लगा। मैंने ऐसा नहीं किया। लेकिन अपनी स्थिति से उनकी स्थिति की तुलना और कंट्रास्ट की बात एक बार भी मेरे दिमाग में नहीं आई। अपना दुख मुझे कभी भी बड़ा नहीं लगा। मेरी स्थिति तो केवल इतनी ही है कि अगली 15 तारीख तक घर से मनीआर्डर आने तक, इन 20 दिनों के लिए मेरे हाथ में 5-10 रुपए खर्च के लिए होने चाहिए थे जो कि नहीं हैं। इतना भर मेरा दुख है। लेकिन यह कोई विचारणीय दुख की स्थिति है- ऐसा मुझे कभी नहीं लगा। क्योंकि फिर उस रिक्शे वाले के दुख को क्या कहिएगा जो सुबह चार बजे से रात के दस बजे तक घोड़े की तरह लोगों

को ढोता रहता है और दस बजे के बाद भी उसके हाथ में क्या आता है? कभी तीन रुपये, कभी चार रुपए और कभी-कभी पाँच रुपए। खैर, प्रश्न यह नहीं है कि मैं अपने दुख को दूसरों के दुख से बड़ा मानता हूँ या नहीं। मुख्य प्रश्न तो यह है कि क्या कहानी में कंट्रास्ट का होना कहानी के लिए एक अनिवार्य शर्त है?

मुझे यह प्रश्न परेशान करता रहा और मैं अपने मन में इसके प्रति एक विरोध भाव लिए रहा। शाम के चार बज गए थे। आज दोपहर को कुछ बारिश हुई थी। मैं सोया भी था। अब नींद खुलने पर आसमान का सलेटी रंग और सुहावने मौसम की ठंडी हवा मुझे खूब अच्छी लगी। मैं प्रसन्न था। साइकिल लेकर बाहर निकला। बुढ़िया की झोपड़ी में गया और उसने इलाइची डालकर खुशबूदार चाय पिलाई। चाय बहुत अच्छी लगी। विश्वविद्यालय की ओर उस दुकान में गया जहाँ मेरे पत्र आया करते हैं। वहाँ दो बातें हो गई –उसने बताया कि तीन दिन से मेरा एक मनीऑर्डर आया हुआ है। पोस्टमैन बोल गया है कि कल सुबह डाकघर में आकर उसे ले जाऊँ। मैं अनुमान नहीं लगा पाया कि मनीऑर्डर किसने भेजा है। लेकिन ऐसी दरिद्रता की स्थिति में कि मुझे सिगरेट छोड़ बीड़ी पीनी पड़ रही है, मनीऑर्डर का आना मेरे लिए वरदान सिद्ध हुआ।

दूसरी बात यह हो गई कि दुकानदार ने अपना खूबसूरत ट्रांजिस्टर खोल रखा था और सुगम संगीत में मुकेश की आवाज में मेरा अत्यंत प्रिय गाना बज रहा था –दो जुल्मी नैना हम पर जुल्म करें। गीत पूरा सुनकर वहाँ से घर की ओर लौटा तो रास्ते में एक चाय की दुकान में बजते हुए रेडियो से सहगल की आवाज सुनाई दी। मैं तत्काल रुक गया। चाय की दुकान पर आया तो सहगल की बहुत बहुत मधुर और मस्त कर देने वाली ठुमरी हो रही थी–

झूलना झुलाओ री

अमवा की डार-डार कोयल बोले!

मन बड़ा प्रसन्न हो गया और तभी मेरे मन में वह कहानी याद आई जो बहुत दिनों से मन में ही पड़ी हुई थी। सोच रहा था कि कभी फुर्सत से उसे लिख डालूँगा। अचानक यह इच्छा जगी कि चलकर तत्काल एक बीड़ी पी जाए और वह कहानी लिखना शुरू कर दूँ।

मैंने घर जाकर कमरा खोला। खिड़की और दरवाजे खोल दिए, खिड़की-दरवाजे पर लटके परदे हटा दिए और बाहर चबूतरे पर बैठकर बीड़ी पीने लगा। बीड़ी पीता रहा और उस कहानी के इधर-उधर के, कटे-कटे से, बिखरे हुए दृश्यों को याद करता रहा। बीड़ी फेंककर भीतर कुर्सी पर आकर बैठ गया और कहानी की रूपरेखा मन ही मन तैयार करने लगा। हमेशा कहानी की रूपरेखा पहले से मन में तैयार नहीं करता हूँ। किंतु जब कहानी लंबी होती है तो मन में उस की रूपरेखा भी सोचनी पड़ती है। और यह कहानी लंबी थी। रूपरेखा इस प्रकार सोची –

रात का समय है। ईंट भट्टे की आदिवासी बस्ती के घरों और आसमान का कुछ वर्णन। इसी समय अमल मास्टर साइकिल से उतरता है और बस्ती में प्रवेश करता है। बस्ती में घूम-घूमकर लोगों की आँखों में दवा डालता है। हर एक घर में थोड़ी-थोड़ी बातचीत। एक स्त्री के साथ थोड़ा सा सेक्स का वर्णन। फिर पास की दूसरी बस्ती में जाता है। मैदान के बीच में नाचने-गानेवालों से उसकी भेंट। इस बस्ती में बच्चों के साथ उसके वात्सल्य पूर्ण व्यवहार का चित्रण। सुरू द्वारा गाए गए एक आदिवासी गीत का वर्णन। टोकरी बुनने वाले माहली लोगों से कुछ बातचीत। बीच-बीच में भादर के घर से ऊँची-ऊँची आवाजें आ रही हैं। अंत में भादर के घर जाता है। वहाँ खाने को लेकर झगड़ा चल रहा है। उस दृश्य के पूरे द्वंद का पूरे प्रभाव सहित मार्मिक वर्णन।

पढ़ाने के बाद भादर को अलग ले जाता है समझाने के लिए, लेकिन कुछ समझा नहीं पाता। उसे वापस भेज देता है। इस प्रकार उनकी गरीबी का उसके पास कोई जवाब नहीं है- इसे दिखलाना।

रूपरेखा तय करके हटा तो तत्काल मन में यह प्रश्न उठा-इस कहानी में कंट्रास्ट कहाँ है? यह सारी कहानी एक आदिवासी बस्ती के परिवेश और उनके जीवन से हमें थोड़ा परिचित कराती है। इस कहानी से उनकी विवशताएँ, उनकी सांस्कृतिक गतिविधियाँ, उनके यौन जीवन का खुलापन और उनकी गरीबी का परिचय मिलता है। इसमें केवल एक विशेष समाज का परिवेश उभरता है जिसमें उनकी सांस्कृतिक संभावनाएँ हैं जो उनकी दरिद्रतापूर्ण स्थिति और उनके जीवन में निहित आदिम स्वच्छंदता के बीच प्रकट होती हैं। बस, इससे अधिक और कुछ नहीं।

तालस्ताय की एक प्रसिद्ध कहानी क्रूजर सोनाटा के साथ भी ठीक ऐसा ही है। उस लंबी कहानी में जीवन के यौन पक्ष से संबंधित कितनी ही बातों का वर्णन है तथा कितने ही पारिवारिक और सामाजिक यौन दृश्यों का चित्रण किया गया है। इससे तालस्ताय केवल एक ही चीज दिखलाना चाहता है -रूस के तत्कालीन समाज का नैतिक पतन। क्रूजर सोनाटा में कंट्रास्ट कहीं नहीं है- उसमें केवल रूस के तत्कालीन सामाजिक परिवेश को उभारा गया है जिसमें मनुष्यों का इतना नैतिक पतन हो चुका था कि वह, तालस्ताय के ही मुहावरे में 'पशु के स्तर पर' पहुँच गया था।

इसके विरोध में यह कहा जा सकता है कि क्रूजर सोनाटा में कंट्रास्ट है। उस कहानी में एक ओर तालस्ताय की नैतिक दृष्टि, उसके सिद्धांत हैं और दूसरी ओर तत्कालीन रूसी समाज का यौन जीवन। इनके बीच कंट्रास्ट है। लेकिन ऐसा सोचना भ्रामक होगा क्योंकि एक तो कंट्रास्ट दो गतिशील वस्तुओं के बीच ही होता है। रूस की तत्कालीन पारिवारिक और सामाजिक स्थिति एक गतिशील वस्तु है जबकि तालस्ताय का आत्मसंयम और निग्रह का नैतिक सिद्धांत एक जड़ और गतिहीन वस्तु है। वह एक ऐसी चीज है जो मनुष्य के शाश्वत जीवन को ध्यान में रखकर उसके शाश्वत हित की परिकल्पना के आधार पर स्थिर की गई है। एक ऐसी जड़ और शाश्वत वस्तु के साथ कंट्रास्ट की बात ही निरर्थक है। उसमें कंट्रास्ट नहीं, केवल रूस के पतनशील सामाजिक स्थिति का चित्रण भर है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि इस कहानी में परिवार और क्लब में दिन छोटे-छोटे यौन संबंधों की घटनाओं और दृश्यों का चित्रण किया गया है, उसमें तनाव और कंट्रास्ट निहित है।

यह बात सच है कि उस कहानी में चित्रित विभिन्न घटनाओं के अंदर यौन संबंधों का कंट्रास्ट भी निहित है। लेकिन मैं पूछता हूँ, तालस्ताय का उद्देश्य क्या था? वास्तव में तालस्ताय का उद्देश्य घटनाओं में निहित कंट्रास्ट को व्यक्त करना नहीं बल्कि उन जैसी सभी घटनाओं को मिलाकर रूस की उस वक्त की पतनशील सामाजिक स्थिति को व्यक्त करना था। कुल मिलाकर वह कहानी रूसी समाज के एक ऐतिहासिक काल के परिवेश को उभारती है जिसमें समाज का नैतिक दृष्टि से दिवाला निकल चुका था।

असल में कंट्रास्ट कहानी की बुनियादी शर्त नहीं है। कई श्रेष्ठ कहानियों में कंट्रास्ट नहीं है, केवल परिवेश का चित्रण है। जैसे प्रेमचंद की 'शतरंज के खिलाड़ी', रांधेय राघव की 'गदल', देवेन गुप्त की 'उसका पहला प्यार'। हो सकता है कि इनमें कंट्रास्ट भी हो, पर मुख्यतः ये कहानियाँ आदमी के परिवेश की कहानियाँ हैं। शतरंज के खिलाड़ी कहानी उन्नीसवीं सदी के उत्तर भारत के उस राजनीतिक जीवन को हमारे सामने प्रकट करती हैं जिसमें वीरता और शौर्य का लोप हो गया था और उसकी जगह क्रीड़ा-विलास ने ले ली थी। निर्मल वर्मा की 'लंदन की एक रात' आज की पश्चिमी दुनिया के राजनीतिक और सामाजिक परिवेश को हमारे सामने रखती है जिसमें हम फासिज्म की स्थिति और

अपने एशियाई देशवासियों की स्थिति को देखते हैं।

यह परिवेश ही मुख्य वस्तु है। कला की दृष्टि से वह कहानी श्रेष्ठ समझी जाएगी जिसे पढ़ते हुए हमें यह एहसास हो सके कि कहानी के पात्र और स्थितियाँ किस युग की हैं और ये सब किस दौर से होकर गुजर रहे हैं। परिवेश की अभिव्यक्ति भी कहानी की उपलब्धि बन सकती है क्योंकि परिवेश का महत्व ऐतिहासिक होता है। वह काल का दर्पण और इतिहास का गवाह होता है। वह अपने आप में इतनी चीजें समेटे रहता है कि उसका होना ही एक महत्वपूर्ण उपलब्धि बन जाती है। परिवेश के चित्रण की सार्थकता यह है कि वह इतिहास चेतना का बोध कराता है और यह ऐसी चेतना है जो मन के भीतर से नहीं बनती बल्कि भौतिक जगत की घटनाओं और वस्तुओं के संपर्क से बनती है।

मैं यह नहीं कहता कि परिवेश कहानी का बुनियादी तत्व है। यदि कंट्रास्ट नहीं है तो यह तो बिल्कुल नहीं है। लेकिन मैं यह सोचता हूँ कि असल में कहानी का बुनियादी तत्व कंट्रास्ट नहीं बल्कि एक्शन है। कहानी एक्शन में कही जानी चाहिए। मनुष्य के कार्य-व्यापार के रूप में कही जानी चाहिए। रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य में जिस 'कार्य-व्यापार' पर इतना बल दिया और इलियट जिसे 'ऑब्जेक्टिव को-रिलेटिविटी' कहता है, वह यही एक्शन है। मेरी कहानी में मैंने आदिवासी समाज के जिस परिवेश की बात कही है और क्रूजर सोनाटा में तालस्ताय रूसी समाज के जिस परिवेश को उभारता है, उसकी भी विशेषता यही है कि यह परिवेश केवल वर्णन से नहीं, बल्कि एक्शन के जरिए उभारा गया है। कंट्रास्ट कहानी की अनिवार्य शर्त नहीं है, केवल परिवेश का चित्रण भी कहानी में हो सकता है। बुनियादी शर्त केवल यही है कि कहानी में चाहे कंट्रास्ट का चित्रण हो, चाहे परिवेश का- उसे हमेशा एक्शन (कार्य-व्यापार) के जरिए ही व्यक्त किया जाना चाहिए। इसी एक्शन के अभाव के कारण इलियट ने हेमलेट की आलोचना की थी।

तो फिर शिवप्रसाद सिंह ने यह क्यों कहा कि कंट्रास्ट कहानी की अनिवार्य शर्त है?

29.6.1969

क्या सचमुच मेरी कहानी में कंट्रास्ट नहीं है? क्रूजर सोनाटा में चित्रित रूसी समाज को हम 'पतनशील स्थिति' क्यों कहते हैं?

मैं सोचता रहा हूँ कि मेरी कहानी में आदिवासी समाज के परिवेश को उभारा गया है। एक ऐसा समुदाय जिसके जीवन में अपार सांस्कृतिक संभावनाएँ निहित हैं और जिसमें मनुष्य की आदिम स्वच्छंदता के बीज वर्तमान हैं, लेकिन गरीबी ने जिस की सारी संभावनाओं को ग्रस लिया है।

क्या यही कंट्रास्ट नहीं है? क्या उनके जीवन में निहित संभावनाओं और उनकी वास्तविक स्थिति -इन दोनों के बीच कंट्रास्ट नहीं है?... और क्या कहानी इस कंट्रास्ट के कारण ही मार्मिक और महत्वपूर्ण है या किसी और चीज के कारण। क्या कहानी की सारी मार्मिकता (चाहे वह जो भी हो) आदिवासियों के जीवन की संभावनाओं और उनकी वास्तविक स्थिति के बीच जो कंट्रास्ट है, उसी में निहित नहीं है? और...क्रूजर सोनाटा में भी व्यक्त रूसी समाज के चित्रण को हम एक पतनशील सामाजिक अवस्था के नाम से क्यों पुकारते हैं? यदि तालस्ताय का नैतिक सिद्धांत एक जड़ सिद्धांत है और मनुष्य के शाश्वत जीवन को ध्यान में रखकर स्थिर किया गया है (और चाहे ऐसा सचमुच ही क्यों न हो) तो फिर हम आखिर किस सिद्धांत या दृष्टि के आधार पर तत्कालीन रूसी समाज को 'पतनशील' कहते हैं? मान लिया जाए कि तालस्ताय का नैतिक सिद्धांत मनोगत और अवैज्ञानिक है। हमारे दिमाग में उस

सिद्धांत के बनिस्बत एक अधिक तर्कसंगत और वैज्ञानिक सिद्धांत है और इस सिद्धांत के कारण ही हम तत्कालीन रूसी समाज को 'पतनशील' कहते हैं। लेकिन ऐसा होने पर भी आखिर तय तो यही हुआ कि तत्कालीन रूसी समाज पतनशील इसलिए है कि हमारे पास एक ऐसा सिद्धांत है जिसके कंट्रास्ट में तत्कालीन रूसी समाज 'पतनशील' प्रतीत होता है। क्योंकि यदि ऐसा कोई सिद्धांत नहीं होगा और उसका रूसी समाज की स्थिति से कंट्रास्ट नहीं होगा तो हम रूसी समाज को, वैसी स्थिति में, पतनशील कहकर कैसे पुकार सकते हैं?...

और मैंने परिवेश के चित्रण की सार्थकता इसमें मानी है कि वह इतिहास चेतना का निर्माण करता है। लेकिन यह इतिहास चेतना आखिर निर्मित कैसे होती है? मैंने सोचा कि यह चेतना भौतिक जगत की घटनाओं और वस्तुओं के संपर्क से निर्मित होती है। इस 'भौतिक जगत की घटनाओं और वस्तुओं के संपर्क' का क्या तात्पर्य है? इसे यदि और सही शब्दों में कहना पड़े तो कैसे कहेंगे? क्या इसे और सही शब्दों में कहना इस प्रकार नहीं होगा कि यह चेतना भौतिक जगत की वस्तुओं और घटनाओं की प्रतिक्रिया से निर्मित होती है? हाँ, यही ठीक है। 'संपर्क' की जगह 'प्रतिक्रिया' शब्द होना चाहिए। दूसरे शब्दों में मनुष्य की चेतना उसके परिवेश के प्रति उसकी प्रतिक्रिया से निर्मित होती है। और यह प्रतिक्रिया कंट्रास्ट की स्थिति में ही होती है। मनुष्य और उसके परिवेश के बीच कंट्रास्ट से, मनुष्य और उसके समाज के बीच कंट्रास्ट से, मनुष्य और प्रकृति के बीच कंट्रास्ट से।

अर्थात् कहानी में परिवेश का चित्रण उपलब्धि नहीं है, बल्कि चेतना का निर्माण उपलब्धि है। और चेतना तभी व्यक्त होती है जब मनुष्य अपने परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया करता है। यह प्रतिक्रिया कंट्रास्ट की स्थिति में ही होती है। अर्थात् कंट्रास्ट कहानी का बुनियादी तत्व है। वह स्थूल या सूक्ष्म हो सकता है। उसका सूक्ष्म होना कहानी की कलात्मकता का प्रमाण होगा; किंतु वह होता जरूर है।

पूँजीवादी समाज में मनुष्य और उसके परिवेश के बीच यह कंट्रास्ट, यह विरोध-भाव अपने तीव्रतम और नग्न रूप में होता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर रॉल्फ फॉक्स ने लिखा था कि पूँजीवाद के समाप्त हो जाने के बाद उपन्यास भी (जो इस कंट्रास्ट को सबसे सशक्त ढंग से व्यक्त करता है) समाप्त हो जाएगा। क्योंकि रॉल्फ फॉक्स की उम्मीद में साम्यवाद में आदमी और उसके परिवेश के बीच यह कंट्रास्ट नहीं होगा।



आलोचना

1968

‘मालविका याद आती है।’

बारह वर्षों के लंबे अंतराल के बाद कमल जोशी का कहानी-संग्रह ‘बादलों के बीच धूप’ 1968 ई. में प्रकाशित हुआ। इससे पहले 1957 ई. में इनका ‘ब्रह्म और माया’ संग्रह प्रकाशित हुआ था। ‘बादलों के बीच धूप’ की सभी कहानियां इन बारह वर्षों के बीच की ही लिखी हुई नहीं हैं। उनमें से कई कहानियाँ बहुत पहले की लिखी हुई भी हैं, उदाहरण के लिए ‘डबलरोटी’ 1953 ई. में और ‘उपन्यास’ 1949 ई. में लिखी गई थी। सबसे ताजी कहानी ‘मृत्यु का रूपक’ है जो 1968 ई. में लिखी गई।

प्रस्तुत कहानी-संग्रह की तीन लघु समीक्षाएं भी पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं। इनमें दो तो ‘ज्ञानपीठ पत्रिका’ के ही दो अंकों में क्रमशः डा. बच्चन सिंह और मधुरेश की लिखी हुई हैं। तीसरी समीक्षा ‘सचेतना’ में डा. विनय द्वारा की गई। एक और भी छोटी सी टिप्पणी ‘धर्मयुग’ में आई थी किसी समीक्षक की जिसकी चर्चा करना भी व्यर्थ है। उपरोक्त तीन समीक्षाएं भी संतोषप्रद नहीं हैं। इसलिए मैं नए सिरे से इस संग्रह पर यहां विचार कर रहा हूँ।

‘मृत्यु का रूपक’ इस संग्रह में लेखक की नवीनतम कहानी है। इस कहानी पर किसी ने भी सहानुभूतिपूर्वक विचार नहीं किया है। डॉ. विनय की दृष्टि में वह ‘स्थिति का चित्रण’ हैं, ‘क्रिएशन’ नहीं। बच्चन सिंह के अनुसार लेखक इसमें ‘संत्रास-रोमांच’ नहीं उभार पाया। मधुरेश साहब ने इस कहानी की चर्चा करनी भी आवश्यक नहीं समझा। हिन्दी के नवलेखन में तल्लीन रहने वाले इन तीनों व्यक्तियों की इस कहानी के प्रति यह उपेक्षा विचारणीय है, क्योंकि वास्तव में यह कहानी ऐसी नहीं है, जैसा कि इनके स्तर से प्रगट होता है। आधुनिक भावबोध वाले समीक्षकों को यह कहानी पसंद नहीं आई, इसका क्या कारण है?

मैं इसका कारण इस प्रकार समझता हूँ। वास्तव में आधुनिक भावबोध भी एक गतिशील चेतना नहीं रह गई जो जीवन के विविध रूपों में रमती हो और जीवन को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने में रुचि रखती हो। आधुनिक भावबोध रूढ़ि में परिवर्तित हो गया है। उसकी दृष्टि रूढ़ि बन गई है। उसकी भाषा रूढ़ि बन गई है, उसकी शब्दावली रूढ़ि बन गई है। ‘क्रिएशन’, ‘संत्रास’ इत्यादि आधुनिक भावबोध की रूढ़ शब्दावली है।

और फिर मृत्यु पर लिखी गई कहानी? उसे तो अवश्य ही किसी न किसी दर्शन से जुड़ा होना ही चाहिए। फ्रांस, अमेरिका और ब्रिटेन जैसे पूँजीवादी और उपनिवेशवादी देशों में मृत्यु के संबंध में कुछ दार्शनिक विचारधारा तैयार हुई और हिन्दी के कुछ ख्यातिप्राप्त लेखकों ने मृत्यु पर दार्शनिक दृष्टिकोण से कुछ रचनाएं लिखीं तो, आधुनिक भावबोध वाले लेखकों ने भी मृत्यु के साथ किसी दर्शन का जुड़ा होना ही चाहिए-यह आवश्यक मान लिया, अन्यथा मृत्यु की स्थिति में भी एक ‘क्रिएशन’ होना ही चाहिए अथवा उससे संत्रास की सर्जना (बच्चन सिंह) होनी ही चाहिए-- इत्यादि बातें ये समीक्षक नहीं करते। ‘मृत्यु का रूपक’ कहानी की उपेक्षा हिन्दी नवलेखन का एकरसता का सूचक है। आधुनिक भावबोध का एक रस बना हुआ है, जो कुछ भी इस ‘रस’ के बाहर पड़ता है, हिन्दी के नए समीक्षक को वह रस नहीं आता है।

वास्तव में एक दर्शनविहीन दृष्टि से, एक सरल और प्राकृतिक दृष्टि से एक मरणासन्न व्यक्ति की दशा का वर्णन करना ही इस कहानी की सबसे बड़ी विशेषता है। इसमें किसी एक भाव के विकास को शुरू से अंत

तक नहीं दिखाया गया है, न ही इसमें कोई किस्सा कहा गया है। मृत्यु की अवस्था का चित्रण कर किसी विशेष दर्शन की प्रतिष्ठा करना भी इसका उद्देश्य नहीं है और न ही आधुनिक जीवन 'संक्रास' की सर्जना करना इसका उद्देश्य है। इन सबके विपरीत, इस कहानी में, मृत्यु-शय्या पर पड़े एक व्यक्ति के मन में कैसे-कैसे भाव आते हैं, मृत्यु के सम्मुख वह कितनी विवशता का अनुभव करता है, सब कुछ समझता हुआ भी वह मरना नहीं चाहता, मरने से डरता है, आसपास लोगों को मरते देख और अपनी मृत्यु को समीप देख उद्भ्रांत होने के कारण उसके सोचने का ढंग कितना विसंगतिपूर्ण हो जाता है, उसके मनोभाव कितने विद्रूप हो जाते हैं, कैसे-कैसी फेंटास्टिक बातों की वह कल्पना करता है जो ऊपर से देखने पर अत्यन्त निरर्थक प्रतीत होती है किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो उनमें बहुत अर्थपूर्ण व्यंजना मिलेगी-- इत्यादि बातों का ही इस कहानी में चित्रण किया गया है तथा इन सबके अतिरिक्त मृत्यु के संबंध में एक प्राकृतिक दार्शनिक वृत्ति, दर्शन नहीं बल्कि दार्शनिक वृत्ति, और ऐसी प्राकृतिक दार्शनिक वृत्ति जो आदमी के पांडित्य और प्रतिभा का नहीं बल्कि उसकी आदिम वृत्ति का द्योतक है-- भी इसमें अभिव्यक्त हुई है जिसे 'समय के पथ' के रूपक में व्यक्त किया गया है।

इस कहानी की एक और विशेषता यह है कि इसमें बहुत सी चीजें अत्यन्त विद्रूप होकर हमारे सामने आती हैं। भोला बाबू की मृत्यु रात के समय हुई जबकि वार्ड के सभी दरवाजे और खिड़कियाँ बंद थी। दरवाजे खिड़कियाँ सुबह खुलीं। कहानी का नायक सोचता है, सुबह होने के पहले, खिड़कियाँ खुलने के पूर्व क्या आत्मा दीवार से, छत से या छत में लगी हुई लोहे की पातों से टकराती रही है।''

दरवाजे खिड़कियाँ खुल जाने के बाद भी आत्मा अनंत में जाकर लीन नहीं हो सकी। 'अब शायद भोला बाबू की आत्मा की मुक्ति नहीं हुई वह बहुत उदास हो गया। इस दुनियाँ की समस्त आत्माओं को आकाश की दीवार ने निरवधि काल से रोक रखा है। इस सत्य का आविष्कार कर उसने एक बार आँखें बन्द कर फिर खोलीं। फिर आकाश पर टकटकी लगाए रहा।''

कहानी का नायक आखिर इस प्रकार के विद्रूप सत्यों का आविष्कार क्यों करता है? इसका कारण है, वस्तुओं को सीधे सीधे लेना। किसी भी वस्तु की सांसारिक दृष्टि से तर्क-संगत कल्पना को छोड़, उसकी जितनी भी सीधी, सरल और प्राकृतिक कल्पना हो सकती है, वह करता है, फिर चाहे वह कितनी भी अतर्क्य और विसंगतिपूर्ण क्यों न हो। इसी वजह से कहानी में आई वस्तुएँ और स्थितियाँ विद्रूप हो जाती हैं, क्योंकि वस्तुएँ और स्थितियाँ, यदि तर्क का संगतिपूर्ण आवरण उन पर से हटा दिया जाए, तो वे वास्तव में काफी विद्रूप होती हैं।

यदि कमल जोशी की कहानियों की निजी परंपरा को देखा जाए तो वस्तुओं और स्थितियों का यह विसंगतिपूर्ण रूप उभारना इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि कमल जोशी की अब तक की कहानियों में यह दृष्टिकोण, यथार्थ को देखने की यह शैली, पहली बार इसी कहानी में मिलती है।

शेष कहानियों में 'बादलों के बीच धूप' 'अस्तित्व' और 'पत्नी' लेखक की उपलब्धियाँ हैं। इनमें भी 'पत्नी' कहानी को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। 'नई कहानियाँ' में आज से दस वर्ष पहले यह कहानी कमलेश्वर की 'नीली झील' के साथ ही प्रकाशित हुई थी और उस समय भी काफी प्रशंसित हुई थी। लेकिन अपनी समीक्षा में बच्चन सिंह ने जहाँ इसे 'अविवेचनीय' कहानियों में रखकर इससे छुट्टी पा ली है, डॉ. विनय ने इसे उन कहानियों में डालकर छुट्टी पा ली जिनमें लेखक की कमजोरियों के अलावा और कुछ नहीं मिलता है। मधुरेश ने इसे उनकी आजतक की सर्वश्रेष्ठ कहानी कहकर छुट्टी पा ली।

'पत्नी' कहानी की चर्चा 'अस्तित्व' कहानी को शामिल किये बिना नहीं की जा सकती। कम से कम इस संग्रह के संदर्भ में जो 'पत्नी' की नायिका विधि पर विचार करेगा, वह विधि को 'अस्तित्व' की नायिका मालविका से अलग करके नहीं देख सकता। मध्यम वर्ग में-निम्नमध्यम वर्ग और उच्चमध्य वर्ग में, नारी की स्थिति, पुरुष के साथ उसके संबंध और उसके व्यक्तित्व एवं चेतना को ही इन दोनों कहानियों का विषय बनाया गया है।

इसमें संदेह नहीं कि 'पत्नी' सचमुच एक शानदार कहानी है। शिल्प की दृष्टि से केवल 'बादलों के बीच धूप' ही 'पत्नी' के शिल्प के सम्मुख ठहर पाती है। दोनों कहानियों का शिल्प संश्लिष्ट है। दोनों कहानियाँ 'एक

पूरे टुकड़े' (वन परफेक्ट पीस) के समान है। इस संश्लिष्टता और एक पूरे टुकड़े का तात्पर्य यह है कि जीवन की एक स्थिति को, उसमें निहित अंतर्द्वन्द्व तथा मनोभावों को कहानी में केवल 'एक प्रक्रिया' के रूप में परिणत कर दिया गया है। एक प्रक्रिया किसे कहते हैं? दो मोड़दार बिन्दुओं (टर्निंग पाइन्ट्स) के बीच में वस्तु जिस स्थिति में विकास करती है, उसे ही 'एक प्रक्रिया' कहते हैं। शेष कहानियों में एक से अधिक प्रक्रियाएँ हैं, एक से अधिक मोड़ हैं, एक से अधिक टुकड़े हैं, फलतः वे पूर्णतः संश्लिष्ट नहीं हो सकतीं। इस संश्लिष्टता को इतना महत्व इसलिए दिया जाता है क्योंकि केवल इसी में प्रभावान्विति की संभावना सबसे अधिक रहती है, कहानी के समग्र प्रभाव के घनीभूत होकर पड़ने की संभावना सबसे अधिक रहती है।

इस कहानी की वर्णन शैली भी पूरे संग्रह की कहानियों में अप्रतिम है। एक उदाहरण देखिए 'जाड़े की सुबह। शायद ग्यारह बज चुके हैं। लेकिन ऐसा लगता है जैसे दोपहर हो गयी है। कमरे की खिड़की से सारे कमरे में धूप फैल रही है। खाट, बिस्तरा, किताबें और मेज पर रखा हुआ फूलदान भी इस समय कैसा चमक रहा है। और दिन होता तो विधि इस धूप को यूँही व्यर्थ न जाने देती, कपड़े धोकर फैला देती और पीठ पर धूप सेंकते हुए कंधी करती या निशि के शरीर में तेल की मालिश करती। निशि बहुत चंचल है, 'धूप में बहुत खेलती है।'

'अस्तित्व' शिल्प की दृष्टि से इतनी अच्छी कहानी नहीं है। विषय की दृष्टि से दोनों समान हैं। किन्तु, फिर भी दोनों कहानियों में व्यक्त नारी की चेतना में जो अंतर है और यही अंतर 'अस्तित्व' को 'पत्नी' की अपेक्षा अधिक ऊपर उठा देता है। विद्रोह की जो शक्ति मालविका की पराजय में निहित है, वह शक्ति विधि के समर्पण में नहीं है। 'पत्नी' कहानी में लेखक की सोचने और समझने की सीमा वही है जो कि मध्यवर्ग की है। लेखक मध्यवर्ग के वास्तविक जीवन की सीमा से आगे जाकर नहीं सोचता है, जबकि 'अस्तित्व' में वह मध्यवर्ग की सीमाओं का अतिक्रमण करके भी सोचता है। विद्रोह की शक्ति उसे इस अतिक्रमण के बाद ही प्राप्त होती है।

'पत्नी' का पहला पैराग्राफ देखिए :-

'सात वर्ष के विवाहित जीवन में यह प्रथम ऐसी चोट है। दुःख और अपमान से विधि का मन तिक्त हो गया है। वेदना की जलन से आंखों का पानी भी सूख गया है। गलग्रह होकर जीवित रहने से क्या लाभ! दो रोटियों के लिए पुरुष पर निर्भर रहना पड़ता है, इसके लिए समय-असमय लांछन और अपमान सहना पड़ता है। पिता ने यदि अच्छी शिक्षा दी होती तो आज यह दिन क्यों देखना पड़ता! दो-चार रुपये वह यूँही खर्च कर सकती थी, घर में भी कुछ लाती।'

कमल जोशी ने सभ्यता के बहुत से आवरणों को हटाकर आदिम सत्य को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। हमलोग सभ्य हो गए हैं, हमलोगों ने अपने राग-द्वेष, हंसी-खुशी और दुःख-सबको सभ्यता और शिष्टता के आवरण में लपेट रखा है। लेखक इस आवरण को हटाकर आदमी की दुखती हुई रगों पर अपना हाथ रख देता है। वह सभ्यता के आवरणों को हटाकर सच्चाई के आदिम रूप को व्यक्त करता है। दो-तीन रुपयों को लेकर विधि की पति से जो कटु बातचीत हो गई है उसे सभ्यता के आवरण में गृह-कलह का नाम दिया जाता है जिसमें थोड़ा-सा मनमुटाव और फिर थोड़ी सी दोस्ती का मिश्रण होता है। इसी के मुरब्बे का नाम दाम्पत्य जीवन है। लेकिन, लेखक इन आवरणों को हटाकर उसके भीतर नारी पुरुष के वास्तविक संबंधों को देखता है तो वर्तमान समाज में प्रचलित दाम्पत्य जीवन का असली स्वरूप आंखों के सामने आ जाता है "दो रोटियों के लिए पुरुष पर निर्भर रहना पड़ता है, इसके लिए समय-असमय लांछन और अपमान सहना पड़ता है।" बेशक, लांछन और अपमान के साथ-साथ समय-असमय पर चुम्बन-आलिंगन और शारीरिक लाड़-प्यार भी। लेकिन पूँजीवादी समाज में दाम्पत्य जीवन की वास्तविक बुनियाद यही है कि दो रोटियों के लिए पुरुष पर निर्भर रहना पड़ता है।"

यह सच्चाई है, जिसका विधि को अपने दाम्पत्य-जीवन में अनुभव होता है। लेकिन क्या इस अनुभव से विधि में वह विद्रोह-चेतना जगती है जो कि मालविका में जगी थी? लेखक विधि को उसके सत्य से परिचित तो कराता है, लेकिन फिर घुमाकर उसे उसी 'परिवार' में ले जाता है जो कि कलह और विनोद का एक मिश्रित रूप समझा जाता है। निस्संदेह यहाँ लेखक की भी वही सीमा प्रतीत होती है जो कि उस वर्ग की सीमा है, जिस

वर्ग के पात्रों का लेखक चित्रण कर रहा है। बुर्जुआ लेखक उस लेखक को नहीं कहते जो बुर्जुआ समाज में जन्म लेता है, बल्कि उसको कहते हैं जो बुर्जुआ समाज से आगे जाकर नहीं सोचता। और यहीं मालविका विधि से अलग हो जाती है।

पुरुष की तुलना में नारी की हीन स्थिति और पराधीनता को मालविका दाम्पत्य-कलह का एक पक्ष नहीं समझती है। वह इसे एक सामाजिक और आर्थिक सच्चाई के रूप में उपलब्ध करती है। नवलेखन में भावुकता का विरोध करने की जिस प्रवृत्ति का बार-बार जिक्र किया जाता है, उसका सच्चा रूप मालविका में ही मिलता है। मालविका वैवाहिक-जीवन को कलह और प्रेम का मिश्रण नहीं समझती है। वह वैवाहिक-जीवन के अनुभवों के बीच से नारी की स्वतंत्रता, अधिकार और उसके व्यक्तित्व के सवाल को उठाती है और नारी के ऊपर पुरुष के अनैतिक (प्रेमविहीन) प्रभुत्व-संपन्नता का निषेध करती है। वह वर्तमान समाज में प्रचलित वैवाहिक जीवन की निस्सारता का अनुभव करती है जिसमें उसकी 'व्यर्थता और दुःखों की याद' भर बची रहती है।'

'सिर्फ मेरी सुरीली आवाज के लिए ही पाण्डुरंग ने मुझसे शादी की थी- मेरी आवाज पर अपना पूरा-पूरा कब्जा रखने के लिए, क्योंकि लड़की की किसी भी सम्पत्ति को अपने कब्जे में करने के लिए शादी की सीलमोहर जैसे अन्य कोई प्रभावशाली उपाय नहीं है। लेकिन जब उस गले पर ही कब्जा नहीं रहा तो मेरा प्रयोजन भी खत्म हो गया।''

और सबसे बढ़कर बात तो यह है कि मालविका अपनी इस स्थिति को पूरे पूंजीवादी समाज की सामाजिक और आर्थिक सच्चाई के साथ जोड़कर देखती है। पाण्डुरंग की मृत्यु के बाद 'फिल्म कंपनी और ग्रामोफोन वाले आते तो थे सांत्वना देने पर उसके साथ ही आगामी काण्ट्रेक्टों की याद दिलाते थे। मेरे पति और उनमें कोई फर्क नहीं था। पति यश चाहते थे और ये लोग गले के नीचे हृदय नाम की भी कोई चीज है, ये लोग इस बात को नहीं जानते।''

मालविका को पूंजीवादी समाज की हृदयहीनता की मार्मिक अनुभूति हुई थी। मालविका मुझे बार-बार याद आती है। लेकिन, इस हृदयहीनता का, जिस समाज ने मुनाफे और प्रतिष्ठा को ही अपना सबसे बड़ा धर्म बनाया- उसकी इस हृदयहीनता का जवाब क्या है? क्या मालविका उस हृदयहीनता का विकल्प समझ सकती?

राजनीतिक या सामाजिक स्तर पर मालविका समाज की इस हृदयहीनता का विकल्प नहीं खोज सकती। वह पराजित हो गई, इन 'हृदयहीनों' के समाज से पलायन कर वह मध्यप्रदेश के एक छोटे से कस्बे में भाग गई जहां उसे कोई नहीं जानता। उसने केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही अपना समाधान ढूंढा, यद्यपि वह भी कोई समाधान नहीं है। किन्तु फिर भी, मालविका की इस पराजय में भी उसके विद्रोह की शक्ति निहित है। हृदयहीन समाज के प्रति उसकी घृणा (जो जैनेन्द्र की बुआ कभी नहीं प्राप्त कर सकी, उसने प्रयत्नपूर्वक उससे खुद को बचाया) और पुरुष की गुलामी से मुक्त अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व की उसकी अदम्य अभिलाषा-यह दो उसकी उपलब्धियाँ हैं। विद्रोह की जो शक्ति मालविका की पराजय में है, वह विधि के समर्पण में भी नहीं है। मालविका अंत में कहती है,

'पर तुम्हारे प्रति मैं कृतज्ञ हूँ। तुम्हीं ने मुझे यह स्मरण करा दिया कि पाण्डुरंग की पत्नी होने के पहले भी मेरा एक अस्तित्व था। अपनी समस्त-ग्लानि और दुःखों के बादलों के बीच में फिर आकाश देख सकी हूँ। अब फिर यदि तुम आओ, अवश्य आना, तो मुझमें तुम फिर उसी मालविका को देख सकोगे। वे गाने जिनमें पाण्डुरंग के सुरों की छाप नहीं है, तुम्हें फिर सुनाऊंगी।''

इस संग्रह की अंतिम उपलब्धि है, 'बादलों के बीच धूप।' यह कमल जोशी की एक खास रचना है। इसकी खासियत है इसमें प्राकृतिक उपमानों का निर्बाध प्रयोग, जिसने भाषा के स्तर पर इस कहानी

में कविता का सौन्दर्य तो भर दिया ही है, महत्वपूर्ण बात यह है कि इन प्राकृतिक उपमानों के चलते कहानी का कथ्य और वातावरण ये दोनों आश्चर्यजनक रूप से एक-दूसरे के साथ घुलमिल गए हैं। एक बात कहते-कहते आस-पास के पेड़-पौधों, फूल-पत्तियों तथा प्रकृति के अन्य उपादानों तक भी उसी एक बात का प्रसार दिखाना-यह मध्यकालीन सूफी-कवियों की विशेषता थी। जिस प्रकार मालिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावती के दांतों की चमक का वर्णन करते-करते सूर्य, चंद्रमा, नक्षत्रों, आदि में भी उसी चमक का प्रसार कर दिया है अथवा इसके कटाक्षों का वर्णन करते करते सारी सृष्टि को उन्हीं कटाक्षों से बिंधा हुआ दिखाया है, पृथ्वी पर खड़े वृक्ष, आदमी के शरीर पर खड़े रोंए तथा पक्षियों के पंख, सब उन्हीं कटाक्षों से बिंधने का प्रमाण देते जान पड़ते हैं। ठीक उसी प्रकार कमल जोशी ने अपनी कहानी में लड़के-लड़की के प्रेम को वसंत, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओं के साथ जोड़ा है, यशवंत की अप्रसन्नता के लिए 'मौलसिरी की घटा कम हो गई, "गुलमोहर के सिर की लाली फीकी पड़ गई, गर्मी झुलसाती है" इत्यादि वर्णन किए हैं। इसी प्रकार प्रसन्नता और नूतनता के भावों की व्यंजना के लिए फूलों की सुगंधा, उनकी छटा और उनकी रंगीनी का वर्णन किया है। बेशक, ऐसे वर्णनों के पीछे कमल जोशी का वही उद्देश्य नहीं है जोकि सूफियों का था। किन्तु, वर्णन की कला वही है जो बहुत वर्षों बाद प्रयुक्त होने पर आधुनिक मन को मुग्ध करती है। आधुनिकों को बहुत सी पुरानी चीजें, पुरानी मूर्तियां और पुरानी कला खास तौर पसंद आती हैं।

इस कहानी में पुरानी और नयी पीढ़ी की टकराहट के साथ-साथ पुरानी और नयी चेतना की टकराहट भी व्यक्त की गई है। दो पुराने दोस्त हैं जिनमें से एक का लड़का दूसरे की लड़की को अपने साथ लेकर भाग गया है। एक दोस्त (लड़के का पिता) इस पर नाराज है और वही पुरानी चेतना का प्रतिनिधित्व करता है- और दूसरा दोस्त जो नाराज नहीं है, इसे स्वाभाविक घटना कह रहा है, नयी चेतना को व्यक्त करता है। धीरे धीरे यशवंत में भी नयी चेतना आ आती है और वह अपनी अप्रसन्नता का त्याग कर देता है। लेकिन, हमें यह देखना चाहिए कि उनकी इस नयी चेतना का स्रोत क्या है? क्या वह जीवनगत संघर्षों के अनुभवों और सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न नयी चेतना है? बात ऐसी प्रतीत नहीं होती। लड़के-लड़कियाँ को अपने माता-पिता से स्वतंत्र होकर अपने चुनाव से प्रेम या विवाह करना चाहिए यह नयी चेतना उस दोस्त को अपने जीवनगत संघर्षों के अनुभवों से या नवीन सामाजिक परिस्थितियों के संपर्क में आने से नहीं प्राप्त हो रही है, बल्कि यह चेतना उसे वसंत की ऋतु से मिल रही है, यह नये भाव उसे ग्रीष्म के बाद होने वाली सुहावनी वर्षा से मिल रहे हैं, मौलश्री और गुलमोहर के सौन्दर्य से मिल रहे हैं। इसी क्रम में लेखक नयी चेतना को 'बादलों के बीच धूप' कहता है। वास्तव में यदि यह सब है कि नयी चेतना उसे प्रकृति से प्राप्त हो रही है, फूल-पत्तियों से प्राप्त हो रही, प्राकृतिक उपमानों के निरंतर प्रयोग से ऐसा ही लगता भी है, तो यह निश्चय ही एक आभिजात्य रुचि है और तब यह नयी चेतना एक 'विचारधारा' न कहलाकर अच्छे मौसम की वहज से आयी 'उदारता' कहलाएगी।

संग्रह की शेष कहानियाँ इन चार कहानियों के स्तर की नहीं हैं। उदाहरण के लिए 'फिसलन' को लिया जाए। इस कहानी में नवलकिशोर नामक ऐसे व्यक्ति की कथा है जिसके कान चमगादड़ जैसे हैं, यह बात उसे बहुत बार कही गई, इस बात को लेकर बचपन में कई बार उसका अपमान किया गया, फलतः इस बात से उसमें एक हीनता ग्रंथि उत्पन्न हो गई। भले ही वह जज बन गया हो, उसे अन्य सफलताएं मिलीं, लेकिन उसके मन के अंदर हीनता की जो ग्रंथि बचपन से घर कर गई, वह बनी रही। इसी के फलस्वरूप वह विवाह भी नहीं कर सका, नारी के संसर्ग से वंचित रहा। कहानी के अंत में वह एक नग्न स्वस्थ युवती को अंधाकार में छुपकर देखता है और देखकर भागना चाहता है, क्योंकि हीनता-ग्रंथि के कारण उसका सेक्स मर चुका है, और यहीं उसे अपने कानों के चलते उस

नग्न युवती द्वारा एक बार फिर वही फटकार मिलती है, 'गंदा चामचिड़क, चमगादड़ जैसे कान।' कहानी के अंत में यह बात अच्छी तरह स्पष्ट नहीं हो पाती कि हीनता-ग्रंथि के कारण ही वह कुछ नहीं कर पा रहा था। साथ ही उस सामान्य स्थिति में भी एक अल्प परिचित लड़की द्वारा ठीक वही बात, कानों वाली बात, लेकर उसे फटकारना स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। कहानी के पूर्वाद्ध में नवल किशोर में हीनता-ग्रंथि किस प्रकार आई और उसके फलस्वरूप उसमें प्रतिकार-भावना कैसे आई-इसका मनोवैज्ञानिक वर्णन अच्छे ढंग से हुआ है, किन्तु उत्तरार्द्ध अंत में एक संयोग-विशेष घटाने के लिए कल्पित किया गया है- ऐसा जान पड़ता है। इसलिए अंत की घटना नाटकीय ढंग से चौंकाती अवश्य है, मर्मस्पर्श नहीं कर पाती।

इसी प्रकार की कहानी 'आधार' भी हैं। इसमें दो महिला चरित्रों को बहुत ही मनोरंजक और नाटकीय ढंग से उभारा गया है। मनोविज्ञान और नाटकीयता ये दो गुण 'फिसनल' की तरह इस कहानी में भी हैं लेकिन संवेदना का केन्द्र कमजोर होने के कारण यह कहानी भी अपने दोनों गुणों के बावजूद प्रभाव नहीं डाल पाती।

शेष कहानियों में 'विगत का आग्रह' और 'प्रत्याकाक्षित-- ये दोनों कहानियां साधारण जीवन की साधारण स्थितियों का वर्णन करती है, फिर भी इन कहानियों में अनुभूति की सहजता बनी रहती है और इसलिए ये थोड़ी दूर तक पाठक को छूती भी हैं। 'डबलरोटी' कहानी में जो रोटी प्रो. अजीत फेंक देते हैं वही रोटी दूसरे की जरूरत पूरी करने में सहायक सिद्ध होती है। एक और प्रो. अजीत से स्वयं रोटी मांगने में लज्जा और संकोच तथा दूसरी ओर वही रोटी पगले भिखारी से छीन लेना- इसी विडंबना को लेखक ने चित्रित करना चाहा है, यद्यपि कहानी की द्रुतगति एवं नाटकीयता ने इसकी मार्मिकता को ढंक सा दिया है। 'उपन्यास' कहानी असल में एक प्रतीकात्मक कहानी है। द्वितीय महायुद्ध के चलते अनेक लोग काला बाजारी के द्वारा धनी और प्रतिष्ठित हो गए। ऐसे ही एक व्यक्ति की कहानी रघुनाथ लिखता है। वह रूपक के माध्यम से आज का चित्रण करना चाहता है। फल यह होता है कि उसकी कहानी पत्र के मालिक के उत्थान से बिलकुल मिलती है। हालांकि रघुनाथ यह नहीं जानता, लेकिन पत्र का संपादक जानता है। इसलिए वह छापने से इनकार कर देता है। लेकिन रघुनाथ अपने उपन्यास की भूमिका में जिस रूपक की रचना करता है, वह असल में इतना अस्पष्ट और साम्य-हीन है कि पाठक प्रयत्नपूर्वक भी उसे पत्र के मालिक के साथ पूरी-पूरी तरह घटा नहीं पाता है।

इस प्रकार इस कहानी-संग्रह में वस्तुतः 'मृत्यु का रूपक', 'अस्तित्व', 'पत्नी' तथा 'बादलों के बीच धूप' यही चार कहानियां लेखक की उपलब्धि हैं। शेष कहानियों में 'विगत का आग्रह' और 'प्रत्याकाक्षित' अपनी अनुभूति की सहजता के कारण पठनीय है, 'फिसलन' और 'आधार' मनोवैज्ञानिकता और नाटकीयता इन दो गुणों से मुक्त होने पर भी कमजोर आधारों पर टिकी होने के कारण मनोरंजक अवश्य है, मर्मस्पर्शी नहीं बन सकीं। शेष कहानियां साधारण हैं।

[वीर भारत, पंजाब ड्राइंग इम्पोरियम, विश्वविद्यालय रोड, वाराणसी-5,]



आलोचना

1966

फिल्म तीसरी कसम

हिन्दी कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी 'तीसरी कसम' अर्थात् मारे गए गुलफाम' को लेकर गीतकार शैलेन्द्र द्वारा फिल्म बनाए जाने की सबसे पहली सूचना ने ही हिन्दी के सुरुचि संपन्न दर्शकों और साहित्यिकों के बीच एक स्वाभाविक शंका को जन्म दिया था। वास्तव में कहानी जिस प्रकार बैलगाड़ी के चलने और नौटंकी के रुकने में ही समाप्त हो जाती है - उस पर बनी फिल्म निश्चित रूप से नीरस सिद्ध होगी - एक आशंका यह थी। दूसरी आशंका यह थी कि फिल्म को नितान्त व्यावसायिक रूप दे दिया जाएगा जिसमें मूल कहानी की आत्मा निश्चय ही कहीं नहीं दृष्टिगोचर होगी। किन्तु, जिन दिनों फिल्म का निर्माण हो रहा था - उन दिनों रेणु ने बनती हुई फिल्म से संबंधित कई लेख लिखकर इस बात को स्पष्ट किया था कि उन्हें फिल्म से कोई असंतोष नहीं है। यद्यपि इस आश्वासन ने भी फिल्म के प्रति उत्पन्न आशंका को बिल्कुल निर्मूल नहीं कर दिया था। किन्तु जब फिल्म बनकर तैयार हुई और रिलीज हो गई तो सभी प्रकार की आशंकाएँ निर्मूल सिद्ध हुईं।

रेणु की कहानी 'तीसरी कसम' स्वयं हिंदी के नई कहानी आंदोलन की उपलब्धियों में से एक मानी जाती है। पूर्णिया जिले के आंचलिक परिवेश में लिखी गई यह कहानी एक गाड़ीवान तथा नौटंकी में काम करने वाली एक नर्तकी हीराबाई के पारस्परिक संबंधों की कहानी है। हीरामन पहली कसम खाता है कि वह गाड़ी में चोरी का माल कभी नहीं लादेगा। दूसरी कसम यह कि बाँस कभी नहीं लादेगा। तीसरी बार वह नौटंकी की एक बाई को 30 घंटे का सफर तय कर एक गाँव में हो रही नौटंकी में पहुँचाता है। नौटंकी की बाई हीराबाई उसे नौटंकी देखने के लिए पास देती है। अंत में हीराबाई को नौटंकी छोड़ कर अपने देश लौट जाना पड़ता है और ठगा-सा निश्छल हीरामन फिर कसम खाता है कि नौटंकी की औरत को गाड़ी में कभी नहीं लादेगा।

उनकी इस मूल कहानी में जमींदार का समावेश कहीं नहीं है। किन्तु फिल्म 'तीसरी कसम' में इस अतिरिक्त पात्र का भी समावेश हुआ है और इससे कहानी के मूल कथ्य को और स्पष्टतापूर्वक कहने में सहायता मिली है। शैलेन्द्र ने निर्माता के रूप में यह पहली फिल्म बनाई है। बासु भट्टाचार्य ने भी हिंदी फिल्मों में शायद पहली बार ही निर्देशन दिया है। रेणु, शैलेन्द्र और बासु भट्टाचार्य यह तीनों ही व्यक्ति साहित्यिक तथा बुद्धिजीवी वर्ग के हैं, अतः इनसे एक अच्छी फिल्म की आशा सर्वथा उचित ही थी।

काव्यात्मकता का स्पर्श पाई हुई तथा सामान्य बंबईया फिल्मों की परंपरा से बिल्कुल अलग यह फिल्म अपनी सूक्ष्मता के कारण कई सामान्य दर्शकों के ठीक-ठीक पकड़ में नहीं आ पाती है। मुझसे प्रायः मित्रों ने पूछा है कि इस फिल्म में क्या कहने की कोशिश की गई है?

वस्तुतः यह फिल्म व्यक्ति के सामाजिक संबंधों की विषमता और उससे उत्पन्न ट्रेजेडी को चित्रित करती है। सामाजिक संबंधों की इसी विषमता को व्यक्त करते हैं हीरामन, हीराबाई तथा जमींदार- जोकि नितान्त भिन्न-भिन्न वर्गीय एवं सामाजिक स्थितियों वाले पात्र हैं। हीराबाई द्वारा दिया गया पास लेकर हीरामन नौटंकी देखने आता है। हीराबाई का नाच देखकर जब एक दूसरा दर्शक हीराबाई को 'रंडी' कहता है- तो हीरामन उस पर झपट पड़ता है और वहाँ एक अच्छा खासा कांड हो जाता है। हीराबाई हीरामन को अपने तंबू में बुलाती है और उससे

क्रोधित स्वर में मारपीट करने का कारण पूछती है। हीरामन कहता है “वो आपको गंदी-गंदी बातें.. ‘रंडी’ कह रहे थे।” इसपर हीराबाई चीख पड़ती है ‘तो तुम्हें इससे क्या और फिर चाहे जो भी कहें, तुम कौन होते हो मेरे लिए मारपीट करने वाले। क्या हक है तुम्हें?’

हीरामन हक्का-बक्का सा रह जाता है। ठीक ही तो है- एक गाड़ीवान को क्या हक है कि वह नौटंकी की बाई के लिए मारपीट करे? नौटंकी की बाई और गाड़ीवान -इनमें ऐसा कोई भी सामाजिक संबंध नहीं है कि एक गाड़ीवान एक नौटंकी की बाई के लिए मारपीट करे। बल्कि गाड़ीवान कहीं ऊँचे स्तर का ही व्यक्ति है, बाई की अपेक्षा। किंतु क्या यही अंतिम सच्चाई है? हीरामन का मन इस सच्चाई को स्वीकार नहीं करना चाहता। हीरामन केवल एक गाड़ीवान ही नहीं है और हीराबाई केवल नौटंकी की एक बाई ही नहीं है। वे कुछ और भी हैं- व्यक्ति। नारी और पुरुष के बीच एक और भी संबंध होता है, जिसे कोई भी सामाजिक स्थिति झुठला नहीं सकती, कोई भी सामाजिक मर्यादा का बंधन मिटा नहीं सकता। 30 घंटे के लंबे सफर में हीरामन ने हीराबाई को एक ‘देवी’ के रूप में देखा था, एक ‘परी’ के रूप में देखा था, करुणा और स्नेह की उज्ज्वल सजीव प्रतिमा के रूप में देखा था। हीराबाई ने केवल एक गाड़ीवान हीरामन को नहीं देखा था, बल्कि जिंदगी में पहली बार अपने ही नाम से मिलते जुलते नाम वाले ‘मीता’ को देखा था, ग्रामीण परंपराओं और विश्वासों में सरल आस्था रखने वाले निश्छल देहाती को देखा था, खुद को -एक नौटंकी की बाई को -सम्मान और आदर देने वाले पहले पुरुष को देखा था। तो फिर कैसे हीरामन हीराबाई को ‘रंडी’ कहने वाले व्यक्ति के साथ नहीं उलझ पड़ता? सिर्फ इसलिए कि वह एक गाड़ीवान है और हीराबाई एक बाई?

हीरामन 30 घंटे के सफर में प्राप्त अपने अनुभवों को झुठला नहीं सका। वह उस संबंध को झुठला नहीं सका जिसकी अनुभूति उसे स्वयं हुई थी। संबंध की सच्चाई से बड़ी और कोई सच्चाई नहीं मान सका। विश्वास नहीं कर सका कि वह केवल एक गाड़ीवान है और हीराबाई केवल एक बाई!

यही वह अनुभूति और संबंध था कि हीरामन मारपीट के लिए उतारू हो जाता है और जब हीराबाई उससे पूछती है ‘तुम होते कौन हो मेरे लिए मारपीट करने वाले? क्या हक था तुम्हें? तो वह हतप्रभ रह जाता है।

सामाजिक संबंधों की यही विषमता और इस विषमता से उत्पन्न यही ट्रेजिडी कहानी का मूल सूत्र है। जब-जब सामाजिक व्यवस्था और मर्यादा व्यक्तिगत संबंधों की सच्चाई पर प्रहार करती है -हीरामन तिलमिला उठता है। समाज ने संबंधों की जो चहारदिवारियाँ खींच दी हैं, जिन्हें तोड़ना व्यक्ति के हृदय से बाहर कर दिया गया है, हीरामन स्वीकार नहीं कर पाता है उसे। वह अपनी अनुभूतियों को, इस अनुभूति को झुठला नहीं पाता है कि हीराबाई एक बाई नहीं देवी है, परी है।

एक और स्थल देखिए। जमींदार हीराबाई को अपने ऐशबाग में ले जाना चाहता है ताकि हीराबाई उसकी हवस को पूरा कर सके। वह हीराबाई को असंख्य धनराशि देने का वादा करता है, उसे जिंदगी भर अपने साथ रखने का वादा करता है। हीराबाई उसकी उपेक्षा कर देती है तो वह चोट खाए सांप की तरह अपना विष उगलने के लिए तैयार हो जाता है। वह हीराबाई की अनुपस्थिति में उसके तंबू में आकर, अंधेरा कर शराब की बोतल लेकर बैठ जाता है और जब अकेली हीराबाई तंबू में आती है तो वह भय से काँप उठती है। हीराबाई इस बात से इंकार करती है कि उसने जमींदार के साथ जाने का वादा किया था। जमींदार बातों के सिलसिले में कहता है कि ‘सुना है तुम्हारे मन की बात तो आजकल सिर्फ बैलगाड़ी के गाड़ीवान लोग ही समझ पाते हैं।’

तो इसपर हीराबाई नशे में धुत पड़े जमींदार का सारा भय छोड़कर उसके पास ही पलंग पर बैठ जाती है। प्रश्न उसकी सबसे बड़ी आस्था का था। वह बिल्कुल निर्भीक स्वर में बोलती है ‘कहाँ जमींदार साहब, वो भी मुझे कहाँ सही समझते हैं, आप को गलतफहमी है कि हीराबाई सिर्फ एक रंडी है, तो उनको गलतफहमी है कि हीराबाई एक देवी है। लेकिन उनकी गलतफहमी में भी जो एक नशा है, वह आपके ऐशबाग और विलायती शराब में कहाँ?’

इन शब्दों से हीराबाई ने संबंधों की उस सच्चाई को उद्घाटित कर दिया है जिसे कि उसने उस दिन हीरामन के सामने, झुठलाने का प्रयत्न किया था। सामाजिक मान मर्यादा की स्थिति से एक जमींदार एक गाड़ीवान की अपेक्षा कहीं ऊँचा होता है, लेकिन सामाजिक व्यवस्था का अतिक्रमण कर हीराबाई एक गाड़ीवान के प्रति अपनी संवेदना प्रकट कर उसी अनुभूत संबंध की सच्चाई को प्रतिष्ठित करती है, जो किसी भी सामाजिक मान-मर्यादा और समाज द्वारा प्रतिपादित संबंध से ऊँचा है, अधिक सच है। हीराबाई धन और वैभव की चकाचौंध और ऐश्वर्य की अपेक्षा उन मानव मूल्यों में निष्ठा प्रकट करती है जो कि व्यक्ति के परस्पर निश्छल और रागात्मक संबंधों के आधार हैं। वह मनुष्य की भावना, उसकी निश्छलता और उसकी मानवीयता का वरण करती है।

यही कारण है कि जब अंत में हीराबाई देखती है कि वह नाटक और अधिक नहीं कर सकेगी तो वह फैसला करती है कि वह इस नौटंकी की नौकरी को छोड़ अपने देश वापस लौट जाएगी। उसकी सहेली नज्मा उसे उसके जीवन के भविष्य के प्रति सतर्क करना चाहती है कि कहीं ऐसा ना हो कि वह इस कंपनी को तो छोड़ दे और उसके देश की कंपनी उसे वापस लेने से इंकार कर दे। एक नर्तकी के रूप में उसका नाम ही समाप्त हो गया तो?

‘तो क्या होगा?’ हीराबाई कहती है ‘लाखों की भीड़ में एक हीराबाई और खो जाएगी, लेकिन उसके सपनों की हीरादेवी तो बनी रहेगी।’ ‘उस के सपनों की हीरादेवी’ एक व्यक्ति के निश्छल विश्वास की रक्षा करने के लिए हीराबाई अपना सारा भविष्य अंधकारमय कर देने के लिए तैयार हो जाती है।

फिल्म के सबसे मार्मिक दृश्यों में तीन दृश्य अत्यंत उल्लेखनीय हैं। पहला दृश्य वह जहाँ कि हीराबाई हीरामन को सफर का किराया देती है और हीरामन जड़वत खड़ा रहता है। दूसरा दृश्य वह जहाँ हीराबाई हीरामन पर क्रोधित होती है कि क्यों उसने उसके लिए मारपीट की और हीरामन हतप्रभ रह जाता है। और सबसे मार्मिक वह दृश्य है, जब हीराबाई अपने देश वापस जा रही होती है – फिल्म का अंतिम दृश्य। यह तीनों दृश्य सामाजिक संबंधों की विषमता से उत्पन्न व्यथा को ही अभिव्यक्त करते हैं। अंतिम दृश्य की मर्मस्पर्शिता का विश्लेषण करने से पहले एक तथ्य जानना आवश्यक है – वह है हीराबाई का बलिदान।

हीराबाई दो कारणों से नौटंकी छोड़ कर चली जा रही है – पहला कारण तो यह है कि वह कब तक देवी बनने का नाटक करती रहेगी, क्योंकि अंततः जानती है कि वह देवी नहीं है और इस तरह ना तो वह सचमुच देवी बन पाएगी और ना ही वह हीराबाई रह पाएगी। यदि वह वहाँ रहेगी तो उसे स्वयं को कभी न कभी जमींदार के हाथों सौंपना होगा ही। और जिस दिन वह ऐसा करेगी हीरामन के मन में बनी देवी की प्रतिमा उसी दिन बिल्कुल टूट फूट जाएगी। अतः कभी न कभी वह हीरामन के सरल विश्वास को तोड़ ही देगी। दूसरा कारण यह था कि जमींदार हीरामन की हत्या करवा देना चाहता था। हीरामन के जीवन की रक्षा और उसके सरल विश्वास की रक्षा के लिए ही हीराबाई उस नौटंकी को छोड़ अपने देश वापस लौट जाना चाहती है, जहाँ कि उसका कोई निश्चित भविष्य नहीं है। वह हीराबाई जो स्वयं कहा करती थी कि नौटंकी में यदि वह काम नहीं करेगी तो जिएगी कैसे? वही हीराबाई जिसे नाचने-गाने का नशा हो गया था, लैला और गुलबदन करने का नशा हो गया था और इस नशे के सिवाय उसकी जिन्दगी में बचा ही क्या था, वही हीराबाई आज अपने जीवन की हत्या अपने हाथों कर रही है, अपने सारे भविष्य को अंधकार में डाल रही है, सो क्यों?

इसलिए कि ‘उसके सपनों की हीरादेवी तो बनी रहेगी’। नज्मा कहती है ‘तुम अगर उससे बिना मिले और उसे यह सब बिना बताए ही चली जाओगी तो वह तुम्हारे इस बलिदान को कैसे समझ सकेगा।’ हीराबाई हँसने की चेष्टा करते हुए कहती है ‘उससे मिलना जरूर चाहती हूँ। जिसने मुझे देवी के पद पर पहुँचा दिया, भला उसके लिए मैं बलिदान करूँगी; और जब वह मिलेगा तो क्या उससे यह सब कह सकूँगी।’ इस पृष्ठभूमि को याद रखते हुए अंतिम दृश्य की मार्मिकता को समझने का प्रयत्न करना होगा। रेलवे प्लेटफार्म पर हीराबाई बक्से के ऊपर खामोश, खोई हुई बैठी है। हीरामन अभी तक नहीं आया। हीराबाई बिरजू से कहती है ‘बिरजू इस

गाड़ी से नहीं जाएँगे।' बिरजू सचेत करता है कि अगले दिन गाड़ी इसी वक्त मिलेगी। हीराबाई का गहरा स्वर इस खतरे को स्वीकार कर लेता है। बिरजू पूछता है 'बाई, एक बात पूछूँ' 'कुछ मत पूछो बिरजू' हीराबाई डूबे हुए स्वर में बोलती है। बिरजू ने एक बात में कितनी बड़ी बात पूछ लेनी चाही थी और हीराबाई ने कुछ नहीं कह कर भी क्या नहीं कहा। गाड़ी प्लेटफार्म पर बिल्कुल पहुँच चुकी है, तभी अचानक हीरामन हाँफता हुआ, बदहवासी में दौड़ता हुआ इस प्रकार आता है मानो वह हीराबाई को अपने सीने से लगा लेगा और उसे कभी जाने नहीं देगा। लेकिन यह सब होता नहीं है। हीरामन अपनी देवी के आगे चुपचाप खड़ा रहता है। हीराबाई के अंदर भावनाओं का एक तूफान उठता है, जो उसकी आँखों से झाँकता है। लेकिन मुँह से यही शब्द निकलते हैं 'हीरामन तुम आ गए, चलो अच्छा हुआ' क्यों अच्छा हुआ? यदि हीरामन नहीं आता तो आज क्या-क्या बुरा होने वाला था?

हीरामन खामोश है। हीराबाई फिर कहती है 'मैं तो उम्मीद ही खो बैठी थी।' कौन सी उम्मीद? क्या कहना था हीरामन से, जो इतनी बड़ी उम्मीद लगा रखी थी। हीराबाई कहती क्यों नहीं है वह बात? आखिर कौन सी बात है, जो हीराबाई के दिल में समुंदर की तरह लहरा रही है। लेकिन जुबान से एक शब्द नहीं निकलता?

हीरामन अब भी खामोश है। हीराबाई उसे उसके रूप की पोटली लौटाती है, जो उसने उसे रखने दी थी। वह एक दुशाला उसके कंधों पर रख देती है और बोलती है - 'हीरामन, ये लो अपने पैसे और ये मेरी निशानी है।' बदनसीब हीरामन अब भी खामोश है, बिल्कुल खामोश, जैसे पत्थर होता है। बस केवल दो नीली तरल आँखें हैं।

हीराबाई उन आँखों में झाँक लेती है, उस पथराए चेहरे की लिखावट को भाँप लेती है। वह अपने छोटे से 'जी' को न जाने कितना खींचकर कहती है 'हीरामन जी छोटा मत करो, लो न!' दुशाला हीरामन के कंधे पर रख देती है और पोटली हाथों में पकड़ा देती है। हीरामन खामोश है, बिरजू बार-बार याद दिला रहा है 'बाई सिग्नल डौन हो गया, बाई सिग्नल डौन हो गया।'

'हीरामन तुम कहते थे न, महुआ घटवारिन को सौदागर ने खरीद लिया था, मुझे भी...।'

हीरामन अब भी खामोश है। सिग्नल डाउन हो जाता है। हीराबाई डिब्बे में खिड़की के पास चुपचाप बैठ जाती है। ट्रेन चली जाती है। दिल में उमड़ता हुआ भावनाओं का तूफान अब भी हीराबाई की आँखों में चमक रहा है, किंतु जुबान को ताला लगा रहा। उसने नज्मा से कहा था न 'और जब वह मिलेगा, तो क्या यह सब कह सकूँगी!' नहीं कह सकी।

लुटा हुआ हीरामन धीरे-धीरे चलकर रेल लाइन कासकर अपनी गाड़ी पर आता है। रस्सी घुमाकर बैलों को मारने के लिए जो हाथ उठाता है, तो गाड़ी से आवाज आती है 'आह! मारो मत'

झट पीछे मुड़ता है हीरामन; फिर कौन है? गाड़ी में कोई नहीं है। गाड़ी खाली है, शून्य। जैसे हीरामन का मन खाली है, शून्य। गाड़ी के पिछले हिस्से से दिखाई पड़ती है जाती हुई रेलगाड़ी, जिसमें हीराबाई चली जा रही है। 'आह! मारो मत' आज से कुछ दिन पहले यही आवाज हीरामन ने सुनी थी, इसी गाड़ी में। पहली बार जिंदगी में यह आवाज सुनी थी। कई साल हो गए उसे गाड़ी चलाते हुए, लेकिन कभी तो किसी ने भी नहीं कहा कि 'बैलों को मारो मत, धीरे-धीरे चलने दो न, हरजा क्या है?' लेकिन उस दिन आखिर कौन उसकी गाड़ी में आकर बैठ गया था, जिसके दिल में इतनी ममता थी, इतना प्यार था, इतनी करुणा थी और इतनी कोमलता थी कि बैलों को भी मारते हुए नहीं देखा गया! हीरामन ने पीछे मुड़कर देखा था- उसे एक परी दिखी थी, एक देवी दिखी थी। आज भी हुबहू वही आवाज, हीरामन पीछे मुड़ता है किंतु कोई नहीं है। गाड़ी खाली है। यदि गाड़ी खाली है, तो क्यों आती है यह आवाज? नहीं आनी चाहिए। खाली गाड़ी की तरह हीरामन का खालीपन इस आवाज को सुन स्मृति की व्यथा से भर उठता है। वह तिलमिला उठता है, 'खा कसम कि फिर कभी गाड़ी में कंपनी की औरत को नहीं लादेगा।' हीरामन बैलों को कसम खिला रहा था, ईश्वर जानता है कसम हीरामन ने खुद खाई

थी।

फिल्म एक दुखद लोकगीत के समान खत्म हो जाती है— एक गूँज छोड़कर, एक तर्ज छोड़कर।

शुरू से लेकर अंत तक फिल्म सौंदर्य से परिपूर्ण है। एक-एक दृश्य दर्शनीय है। रेखांकित करने योग्य सौंदर्य की कई छोटी-छोटी भंगिमाएँ हैं। उदाहरणार्थ ‘दुनिया बनाने वाले, क्या तेरे मन में समाई; काहे को दुनिया बनाई’ यह गीत उस दृश्य में होता है जहाँ हीरामन हीराबाई को महुआ घटवारिन की कहानी सुनाता है। यह दृश्य संवेदना, काव्यात्मकता, छायांकन, अभिनय, संगीत, सभी दृष्टियों से इतना अद्भुत और अनुपम है कि एक दिव्य वातावरण का आभास मिलता है। लोककला की रहस्यमई वेदना और प्रेम की रोमानियत से उत्पन्न दिव्य वातावरण। समय मानो ठहर जाता है इस दृश्य में। राज कपूर के अभिनय का ऐसा चरमोत्कर्ष केवल अंतिम दृश्य को छोड़ और कहीं नहीं है। वहीदा रहमान की दो-तीन भंगिमाएँ तो इतनी सौंदर्यपूर्ण हैं कि उनकी उपमा नहीं मिलती। जब महुआ नदी के चमकते जल की पृष्ठभूमि में एक बार उसका छोटासा, सजीव और उज्ज्वल चेहरा क्लोज-अप में दिखाया जाता है, और दूसरी बार जब हीरामन गा रहा होता है और वह सिर झुका कर सुन रही होती है, उस समय वहीदा रहमान का सारा सौंदर्य, सारा अभिनय और उसके व्यक्तित्व की गरिमा एक साथ मिलकर उसके जिस रूप को व्यक्त करती है, वह आज तक किसी भी अन्य फिल्म में नहीं दिखा है।

इस दृश्य के अतिरिक्त भी सौंदर्य की कई छोटी-छोटी भंगिमाएँ हैं इस फिल्म में। जिनकी चर्चा विस्तार-भय से नहीं कर रहा हूँ।

इस फिल्म की एक और प्रमुख विशेषता है इसका यथार्थवाद। जीवन और परिवेश का इतना यथार्थ चित्रण, हिंदी में केवल परिणीता, अनुराधा तथा सौतेला भाई में ही थोड़ा बहुत मिलता है। यथार्थ के अंकन के लिए ही पूर्णिया के दृश्यों की शूटिंग पूर्णिया में ही हुई है। लेकिन यह तो स्थान और परिवेश का यथार्थ हुआ। मैं जिस यथार्थ के चित्रण का संकेत करना चाहता हूँ वह है अनुभूतियों और मनोभावों का यथार्थ। व्यक्ति की अनुभूतियों का इतना वास्तविक चित्रण और इतनी सूक्ष्म किंतु वास्तविक भावनाओं की पकड़ रेणु जैसे लेखक से ही संभव थी। लालमोहर को लगता है कि नाचती हुई हीराबाई उसी की तरफ देख रही है तो वह अनुभव करता है कि उसका ‘पावर’ हीरामन के ‘पावर’ से जास्ती है। यह अनुभूति के यथार्थ का चित्रण। व्यवहार के यथार्थ का चित्रण उस स्थल पर देखिए जहाँ लहसनवां अपने मालिक लालमोहर को धत्ता बताकर चला जाता है, क्योंकि उसे दूसरी जगह काम मिल गया है।

फिल्म का छायांकन सत्यजित राय के छायाकार सुब्रतो मुखर्जी ने किया है। स्टूडियो के कृत्रिम अंध कार और प्रकाश की बोझिलता से छायांकन मुक्त है। मुखर्जी साहब ने छायांकन में केवल प्राकृतिक धूप-छाँह का ही प्रयोग किया है। प्रारंभिक दृश्य में रात की चाँदनी में जाती हुई गाड़ियों का छायांकन बहुत ही सुंदर रहा है। वैसा ही दूसरा स्थान है धूप में गाड़ी पर बाँस लेकर आते हुए हीरामन का। छायांकन की स्वाभाविकता और सजीवता की दृष्टि से यह फिल्म हिंदी फिल्मों से बिल्कुल अलग प्रतीत होती है। एक जगह सड़क के अगल-बगल लगे वृक्षों की छाँव तथा उनके पत्तों से छनती धूप, दोनों से मिलकर बनी जाली जो सड़क पर बिछी हुई है – इतनी सुंदर रूप से अंकित की गई है कि आँखों को धोखा हो जाता है।

संगीत ने फिल्म की उत्कृष्टता में बहुत हाथ बटाय है। ऐसा कहीं नहीं हुआ है कि कहानी और उसकी संवेदना कोई और प्रभाव उत्पन्न करे और संगीत कोई और। गीत तो लोकगीतों के संस्कारों

से पूर्ण हैं ही, संगीत में भी लोकगीतों की धुनों और तर्ज का तर्जुमा करने का प्रयास है। विशेषतः ‘चिठिया हो तो हर कोई बाँचे’ तथा ‘सजन रे झूठ मत बोलो’ में। पार्श्व संगीत में फिल्म के अंतिम दृश्य में पार्श्व में विलंबित लय पर बजती वायलिन के स्वर की बारंबार आवृत्ति ने दृश्य को बहुत ही अवसादमय बना दिया है। मेले में पहुँचने से ठीक पहले बजे बाँसुरी का स्वर भी अत्यंत आह्लादित और उत्सव की खुशी को लिए हुए है।

अभिनय की दृष्टि से इस फिल्म के संबंध में कुछ बोलना वाचालता ही होगी। राज कपूर और वहीदा रहमान तथा एक-दो अन्य अभिनेताओं को छोड़ बाकि सब बाहर के लोग प्रतीत होते हैं, शायद पूर्णिया के ही। और इस रूप में उन्होंने यथार्थ को ही अभिनय द्वारा व्यक्त किया है। जहाँ तक राज कपूर के अभिनय का प्रश्न है, निसंदेह ‘जागते रहो’ को छोड़कर इतना उच्चकोटि का अभिनय उसने कहीं नहीं किया। उसका अभिनय इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि अरसे बाद राज कपूर ने अपनी अभिनय शैली में परिवर्तन किया है और उच्चारण को बिल्कुल बदल दिया है। उसके मुँह से निकलता हुआ ‘इस्स’ तो कहीं-कहीं इतना प्रभावशाली है कि वह दर्शक की जीभ से भी सट जाता है। राज कपूर ने रेणु के हीरामन को बिल्कुल सजीव कर दिया है। वहीदा रहमान के अभिनय के बारे में स्वयं कुछ न कहकर सिर्फ ‘दिनमान’ में छपी इन पंक्तियों को उद्धृत करना चाहता हूँ “तीसरी कसम में उन्होंने इस बात का एक और प्रमाण जुटाया है कि सौंदर्य, गरिमा और अभिनय तीनों के मामले में बंबइया इंडस्ट्री में वह बेजोड़ हैं।”

एकमात्र निर्देशन इसे उस ऊँचाई तक नहीं ले जा सका है, जहाँ तक वह इसे ले जा सकता था। यद्यपि बसु भट्टाचार्य की कुशलता का जिक्र बहुत हुआ है और यह फिल्म भी उसे झुठलाती नहीं है, किंतु एक-आध दृश्यों में यदि वे अपनी प्रतिभा का और दृढ़ परिचय दे पाते तो शायद वह फिल्म को काफी ऊँचाई पर पहुँचा देती। उदाहरण के लिए, नौटंकी में जो गाने होते हैं – उनके दृश्यों को संक्षिप्त रूप में, या सांकेतिक रूप में रखा जा सकता था। बार-बार और जल्दी-जल्दी गानों की संख्या कुछ उकताहट पैदा करती है। यदि वे गानों का मात्र संकेत भर देकर दृश्य का निर्वाह कर लेते, तो यह उनकी प्रतिभा का विषय होता। विशेषतः ‘हाय गजब कहीं तारा टूटा’ गीत का दृश्य तो निश्चय ही कटा-छँटा होना चाहिए था। इसके अतिरिक्त वे दृश्य जिनमें कि वहीदा रहमान नौटंकी छोड़कर चले जाने की बात कहती है, कुछ परंपरागत ढंग से फिल्माए गए प्रतीत होते हैं। वे दृश्य कथानक की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं अतः सांकेतिक भी होते तो अधिक प्रभावशाली हो सकते थे।

यदि संपूर्ण फिल्म को एक वाक्य में कहा जाए तो ‘तीसरी कसम हिंदी फिल्म जगत में एक मील स्तंभ है। देखना है, कौन सी अगली फिल्म इसे लाँघती है।



आलोचनात्मक टिप्पणी

1966 (या 1967 ?)

दस्तकों पर जरा और ध्यान दीजिए !

धर्मयुग के 28 मई, 4 जून, 11 जून तथा 2 जुलाई, इन चार अंकों में कमलेश्वर के क्रमशः 4 विचारोत्तेजक लेख प्रकाशित हुए। इन लेखों में कमलेश्वर ने कुछ समकालीन कहानियों का विश्लेषण करते हुए समकालीन हिन्दी कहानी की वास्तविकता का जो उद्घाटन किया, उससे कहानी साहित्य के क्षेत्र में बहुत खलबली मच गई है। वास्तव में इन चार लेखों में कमलेश्वर ने इतनी तीव्रता और स्पष्टता के साथ जो बात कही है वह सभी प्रबुद्ध जनों के मन में उत्पन्न हो चुकी थी। कमलेश्वर ने जिस साहसिकता के साथ आज की कहानियों की अप्रामाणिकता को सिद्ध किया वह कार्य सराहनीय है। इनकी कहानियाँ ही नहीं, इनके बहुत सारे वक्तव्य भी ऐसे हैं जो आज की सामाजिक स्थिति और राष्ट्रीय संदर्भ में बिल्कुल झूठे प्रतीत होते हैं। वास्तव में ये लोग जीवन में जीते कुछ हैं, वक्तव्य कुछ देते हैं और कहानी कुछ लिखते हैं। अच्छा हो यदि कभी कमलेश्वर सभी छोटी-बड़ी पत्रिकाओं में प्रकाशित इन वक्तव्यों का अध्ययन कर, उनका विश्लेषण करते हुए बतलाएँ कि वे समकालीन संदर्भ से कितने संपृक्त हैं?

कमलेश्वर के इन लेखों की एक छोटी सी विशेषता यह भी है कि कमलेश्वर ने प्रथम तीन लेखों में कहीं भी कहानी या कहानीकारों का नाम नहीं लिया है। यद्यपि कहानी के नाम का उल्लेख करना अवश्य चाहिए था, किन्तु रचनाकार का उल्लेख न कर, जहाँ एक ओर यह सिद्ध हुआ कि रचना महत्वपूर्ण है, रचनाकार नहीं, वहीं लेखक स्वयं को व्यर्थ के राग-द्वेष से भी मुक्त रख सका है। चौथे लेख में कमलेश्वर ने कहानीकारों के नाम भी लिए हैं - जो कि व्यर्थ है।

किन्तु मैं आपका ध्यान कमलेश्वर के चौथे लेख की ओर खींचना चाहता हूँ, जिसमें लेखक ने प्रामाणिक लेखन को स्पष्ट किया है। वास्तव में किसी भी आलोचक का दायित्व यह नहीं होता कि वह बताए कि उसके समय में कितनी वाहियात और झूठी कहानियाँ लिखी गई हैं। कृत्रिम लेखक स्वयं समय के साथ धुल जाता है, दस वर्ष बाद उसे याद करने वाला भी कोई नहीं रहता। वास्तव में आलोचक का दायित्व यह होता है कि वह अपने समय में लिखे जाने वाले संपूर्ण साहित्य में से उस अंश को छाँटकर, खोजकर सामने लाए जो प्रामाणिक है। लेकिन कमलेश्वर ने आलोचक-दायित्व के इस पक्ष को इन लेखों में इतना महत्व नहीं दिया है जितना कि पहले पक्ष को जबकि यही पक्ष अधिक महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से सोचिए तो ये लेख एक आलोचक के 'निगेटिव पोज' को अभिव्यक्त करते हैं। कमलेश्वर ने इस पक्ष को अपेक्षाकृत कम महत्व तो दिया ही, उसने कहानियों का चुनाव भी सही ढंग से नहीं किया है। इतना ही नहीं, उसने कहानियों की गलत व्याख्या भी की है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कमलेश्वर लेखन की जिस प्रामाणिकता को स्पष्ट करना चाहते थे, वह पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो सकी। उदाहरण के लिए 'अजनबी समय की गति' कहानी पर टिप्पणी करते हुए कमलेश्वर लिखते हैं "...रिटायर्ड व्यक्ति अपनी चेतना और परिस्थितियों के द्वंद्व में बुरी तरह कैद है और अपने अतीत तथा वर्तमान में अजनबी होता जा रहा है। दारुण मानसिक क्षोभ में छटपटाता हुआ वह रिटायर्ड आदमी सड़क पर रास्ता भूल जाता है।"

अब कमलेश्वर की सूचना के लिए मैं बता दूँ कि

क.) कहानी में कोई रिटायर्ड आदमी नहीं है बल्कि “दास बाबू यहीं एक प्राइवेट फर्म में हेड क्लर्क हैं। तनखाह होगी, यही करीब ढाई सौ।”

ख.) दास बाबू कभी भी रास्ता नहीं भूलते हैं। वास्तव में रास्ता भूलने का तो कहानी में प्रश्न ही नहीं उठता। कहानी की अंतिम पंक्तियाँ देखिए “कुछ देर दासबाबू सामने सड़क पर जाती कार को देखते रहे फिर वापस फुटपाथ पर खड़ी मिनी के पास लौट आए।”

इतना ही नहीं कमलेश्वर ने कहानी पर जो टिप्पणी की है, वह भी कहानी को पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं करती। वह कहानी केवल अतीत और वर्तमान में अजनबी होते जाने की ही कहानी नहीं है, बल्कि उसमें आदमी के प्रति आदमी के लगाव और सच्ची दिलचस्पी के अभाव, तत्काल निर्णय लेने की शक्ति की क्षीणता तथा बड़े शहरों में ट्रैफिक की यात्रिकता के सामने मनुष्य की इच्छा की निरर्थकता को भी बड़ी सूक्ष्मता के साथ चित्रित किया गया है।

कमलेश्वर ने कृत्रिम लेखन की अप्रामाणिकता को दिखाने के लिए जहाँ बममार भाषा तथा कई नए-नए एवं सटीक शब्दों का प्रयोग किया है वहीं प्रामाणिक लेखन की प्रामाणिकता को दिखाने के लिए वह घिसे-पिटे 8-10 शब्दों के घेरे से आगे नहीं बढ़ सके हैं। एक ओर तो शब्बादी, अय्याशी, शोणित स्पृहा, दमित यौनाकांक्षा, वैचारिक कफन तथा आज्ञाकारी विद्रोही जैसे शब्दों और एक सशक्त भाषा का प्रयोग है वहीं दूसरी ओर चेतना और परिस्थितियों का द्वंद, अतीत और वर्तमान, अजनबी, कैद, दारुण, मानसिक क्लेश तथा छटपटाहट जैसे गिने-चुने शब्दों में ही सारा प्रामाणिक लेखन समा गया है। पिछले 5-6 वर्षों में जितनी भी कहानियाँ लिखी गई हैं जो कि सामाजिक और राष्ट्रीय संदर्भ से पूर्णतः संपृक्त हैं, वह केवल इन्हीं गिने-चुने शब्दों के चारों ओर चक्कर नहीं काटती हैं, बल्कि और भी कितनी स्थितियाँ हैं, और भी कितनी प्रवृत्तियाँ हैं- जिन्हें प्रामाणिक लेखन अभिव्यक्त करता है, किंतु कमलेश्वर ने उनकी कोई चर्चा नहीं की। यही नहीं, कमलेश्वर ने केवल 6-7 गिनी-चुनी कहानियाँ जिनका नाम पिछले दिनों बार बार लिया गया है, केवल उन्हीं को फिर से दुहराकर, इन शब्दों के आसपास उन्हें रखकर, प्रामाणिक लेखन को सामने लाने के अपने दायित्व की इति समझ ली। इन गिनी-चुनी कहानियों के अतिरिक्त नई कहानियाँ प्रेम कथा विशेषांक नं. 1, दिसंबर 63 में ‘कौन सा पथ’ धर्मयुग 24, अक्टूबर 65 में ‘प्रतिशोध’ सारिका के किसी अंक में ‘छुट्टी का दिन’ या ‘इतवार नहीं’ (लेखक रविंद्र कालिया) तथा लाल परांदा (अनिता औलक) इत्यादि अन्य कई कहानियाँ हैं जिनका यदि विश्लेषण किया जाए तो वे शायद प्रामाणिक यथार्थ को और भी अच्छे ढंग से व्यक्त करेंगी। सच तो यह है कि कमलेश्वर वाहियात और कृत्रिम लेखन के मुकाबले प्रामाणिक लेखन के रूप को पूरी तरह स्पष्ट नहीं कर पाए जबकि एक आलोचक का इस प्रकार के लेखों को लिखने का उद्देश्य अंततः प्रामाणिक लेखन को स्पष्ट रूप से सामने रखना ही हो सकता है। निवेदन है कि दस्तकों पर जरा और ध्यान दिया जाए! मैं एक और तथ्य की ओर ध्यान खींचना चाहता हूँ। मैंने कहानियों के सही चुनाव की बात कही थी। कमलेश्वर ने एक कहानी ‘?’ की चर्चा की है जिसमें पिता और पुत्र के संबंध को दिखलाया गया है कि कैसे एक पुत्र अपने पिता के साथ-साथ पीता है और पिता की प्रेमिका को पिता को तोहफे के रूप में देने के लिए सोचता है। कमलेश्वर ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि यह एक संगत सत्य है जो जाने अनजाने हमारी जिंदगियों में कमोबेश समाता जा रहा है।”

मेरा कहना है कि कोई भी व्यक्ति जो सामाजिक यथार्थ के प्रति जागरूक है कमलेश्वर की इस मनमानी टिप्पणी को स्वीकार नहीं कर सकता। उस कहानी में जिस जीवन का चित्रण किया गया है, वास्तव में वह जीवन हमारे समाज में कहीं नहीं जिया जा रहा है। एक बार उस कहानी पर टिप्पणी करते हुए किसी आलोचक ने लिखा था कि वह कहानी “अमेरिकी अधिक है”। हो सकता है कि यह कथन व्यंग्य हो, या हो सकता है कि वह अमेरिकी भी न हो, किंतु इतना अवश्य सत्य है कि वह कहानी हमारे परिवेश की नहीं है और न ही इस परिवेश में जीते

हुए किसी भी व्यक्ति में वैसा जीवन जीने के संस्कार हैं। वह जीवन न तो हमारे जीवन का अंग है, न बनता जा रहा है। वह उतना ही अप्रामाणिक है जितना कि तीन लिखो में चित्रित कृत्रिम लेखन। किंतु कमलेश्वर ने इस दिवास्वप्नमय कहानी को प्रामाणिक लेखन के अंतर्गत कैसे स्वीकार किया? इसे कमलेश्वर की सिद्धांतहीनता तो नहीं कहेंगे लेकिन यह उसका अंतर्विरोध अवश्य है।

इन चारों लेखों से यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि कमलेश्वर ने कहीं भी पीढ़ी शब्द का प्रयोग नहीं किया किंतु फिर भी जो कहानियाँ उन्होंने ली हैं वह सब सन् साठ के बाद के कहानीकारों की ही हैं। किंतु शीर्षक में 'हिंदी में इन दिनों लिखी गई' वाक्यांश का प्रयोग हुआ है। वास्तव में यदि वे सभी प्रकार के नए-पुराने लेखकों की कहानियाँ लेकर प्रामाणिक-अप्रामाणिक लेखन की चर्चा करते तो शायद उन्हें स्थिति इतनी भयावह और विश्वोभजनक नहीं प्रतीत होती। किंतु तब शायद उन्हें अपनी भी एक-आध फालतू आदमियों की कहानी भी अप्रामाणिक लेखन के अंतर्गत रखनी पड़ती और प्रामाणिक लेखन का स्वर भी तब शायद कुछ और स्पष्ट तथा व्यापक होता।

अंत में यह प्रश्न उठता है कि इन चार लेखों का आखिर इस साहित्यिक काल-क्रम में क्या स्थान होगा? क्या ये लेख समकालीन कथा साहित्य की दिशा को बदल सकेंगे? वास्तव में यह लेख जिस तीव्रता और स्पष्टता से लिखे गए हैं, उसके अनुसार इनमें इतनी क्षमता अवश्य होनी चाहिए। किंतु मेरा विचार है कि शायद ऐसा नहीं हो सकेगा। शायद कृत्रिम और वाहियात लेखन होता रहेगा और इस तरह के लेखों की भी प्रशंसा होती रहेगी। क्यों? एक कारण स्वयं यह युग हो सकता है- उदासीनता का युग। किंतु एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि प्रभाव लेखन का नहीं, व्यक्तित्व का पड़ता है। साहित्य को लेखन से कहीं अधिक साहित्यिक व्यक्तित्व प्रभावित करता है। अज्ञेय ने कभी किसी संदर्भ में कहा था कि आज का साहित्य प्रेमचंद के साहित्य से बहुत आगे आ गया है, लेकिन आज कोई ऐसा व्यक्तित्व नहीं है, जो प्रेमचंद से आगे हो। कभी महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे व्यक्तित्व थे, जिन्होंने अपने समय के संपूर्ण साहित्य को प्रभावित किया था। आज न तो वह स्थिति है, न हम ऐसी स्थिति को वांछनीय ही समझते हैं। गोष्ठियों, वक्तव्यों तथा लेखन के माध्यम से कमलेश्वर का जो साहित्यिक व्यक्तित्व उभरा है, वह इतना शक्तिशाली नहीं है कि समकालीन कथा साहित्य की दिशा और स्वर को प्रभावित कर सके। कमलेश्वर के चार लेख शायद आज के लेखन की दिशा न बदल सकें, किन्तु इन लेखों ने एक बार समकालीन कथा साहित्य को कोंच दिया है, उसे थोड़ा ठहरकर अपना आत्मालोचन करने के लिए बाध्य कर दिया है -इस उपलब्धि से कौन इंकार कर सकता है?



आलोचना

3 अप्रैल 1968

कहानी में परिवेश और वातावरण

समकालीन कथा साहित्य में 'परिवेश' और 'वातावरण' इन दो शब्दों का बहुत प्रयोग होता है, किंतु बहुत कम लेखक सोचते हैं कि परिवेश और वातावरण से क्या तात्पर्य है और इन दोनों शब्दों के अर्थ में क्या अंतर है। समीक्षकों ने भी इन दोनों शब्दों का अर्थ कभी भी गंभीरता पूर्वक स्पष्ट करने की चेष्टा नहीं की। इसका परिणाम यह है कि लेखक कहानी लिखने बैठता है तो अनावश्यक रूप से ऐसी कितनी वर्णनात्मक पंक्तियाँ लिख जाता है जिसे वह अपनी बुद्धि के अनुसार परिवेश या वातावरण का चित्रण कहता है। वह इतना तक आश्वस्त नहीं है कि उसने जो वर्णन किया है वह परिवेश का है या वातावरण का और समीक्षक भी इस विषय के प्रति चुप है। यह सारी स्थिति ऐसी है कि कहानी के कलात्मक तत्वों का विघटन हो रहा है, उसके संरचनात्मक अनुशासन में अराजकता फैल रही है। इससे कहानी की संक्षिप्तता और उस में प्रयुक्त शब्दों की शक्ति का ह्रास होता है।

परिवेश और वातावरण के सही तात्पर्य को जाने बिना कला की दृष्टि से कहानी को एक ऊँचे स्तर तक पहुँचाया नहीं जा सकता। एक लेखक जब कहानी के पात्र के आसपास की स्थिति और वस्तुओं का वर्णन करता है, ब्योरे देता है— मसलन, धूप का तिकोना टुकड़ा दरवाजे पर उतर आया या सड़क पर का यातायात, ओस से भींगी घास, चौराहे की जलती-बुझती बत्तियाँ, हवा की शीतलता, प्यालों का गिर कर टूट जाना या शीशों के पार दिखता दृश्य। अगर इन सबका वह चित्रण करता है और समझता है कि वह परिवेश का चित्रण कर रहा है, यथार्थ को उसके पूरे परिवेश के साथ व्यक्त कर रहा है तो वह गलत समझता है। यह चित्रण परिवेश का नहीं, उसके वातावरण का है। परिवेश और वातावरण में पर्याप्त अंतर है। वातावरण एक स्थान तक सीमित वस्तुओं, पदार्थों या स्थितियों के वर्णन को कहते हैं, जबकि परिवेश एक बहुत ही व्यापक बोध है। किसी समाज, देश या युग के विभिन्न प्रकार के वातावरण— भौगोलिक वातावरण, राजनीतिक वातावरण, आर्थिक या साहित्यिक वातावरण इत्यादि सब को मिलाकर जो चीज बनती है उसे परिवेश कहते हैं।

परिवेश एक व्यापक बोध है। यह किसी देश या युग की विभिन्न सामाजिक स्थितियों का एक समग्र बोध है। उदाहरण के लिए इवान तुर्गनेव के उपन्यास 'पिता और पुत्र' को लीजिए। उस उपन्यास को जो भी व्यक्ति पढ़ेगा, वह केवल उसके पात्रों और उसके क्रियाकलापों तथा विचारों से ही परिचित नहीं होगा बल्कि उस उपन्यास को पढ़ते हुए वह जानेगा कि उपन्यास रूस के एक विशेष दौर का द्योतक है, जहाँ एक नूतन सामाजिक क्रांति हो रही थी, जबकि लोगों ने ज्ञान-विज्ञान के महत्व को स्वीकारा था तथा आधुनिकता को प्रगति और गौरव का द्योतक माना था। यह सब पाठक को उपन्यास में स्पष्ट रूप से कहीं भी लिखा हुआ नहीं मिलता, बल्कि उपन्यास को पढ़ते हुए उसे इन सबका स्वतः बोध होता है। वस्तुतः जिसका यह बोध है, उसी को परिवेश कहते हैं। यह बोध तत्कालीन रूस के सामाजिक परिवेश का है, वातावरण का नहीं। प्रेमचंद की 'शतरंज के खिलाड़ी' और रांगेय राघव की 'गदल' परिवेश के चित्रण का बहुत अच्छा उदाहरण है। 'शतरंज के खिलाड़ी' 19वीं शताब्दी के उत्तर भारत के उस राजनीतिक परिवेश को हमारे सामने प्रकट करती है जिसमें वीरता और शौर्य की राजनीति का लोप हो गया था और उसकी जगह एक विलासी राजनीतिविहीन क्रीड़ा लिप्सा ने लिया था। आधुनिक कहानियों में परिवेश

के चित्रण की दृष्टि से मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक', देवेन गुप्त की 'उसका पहला प्यार' और निर्मल वर्मा की 'लंदन की एक रात' का नाम लिया जा सकता है। 'लंदन की एक रात' आज की दुनिया के राजनीतिक और सामाजिक परिवेश को हमारे सामने प्रस्तुत करती है, जिसमें हम फासिज्म की स्थिति और उसमें एशियाई देशवासियों की स्थिति को देखते हैं।

यह परिवेश ही मुख्य वस्तु है। कला की दृष्टि से वह कहानी श्रेष्ठ समझी जाएगी जिसे पढ़ते हुए हमें यह एहसास हो सके कि इस कहानी के पात्र और स्थितियाँ किस युग के हैं और ये सब किस दौर से होकर गुजर रहे हैं। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि परिवेश की अभिव्यक्ति वातावरण की तरह केवल वस्तुओं या दृश्यों का वर्णन मात्र करने से नहीं होती। पात्रों के पारस्परिक भाव का निरूपण करने तथा घटनाओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में रखने की भी आवश्यकता पड़ती है। देवेन गुप्त की 'उसका पहला प्यार' एक ऐसी ही कहानी है, जिसमें वस्तुओं और दृश्यों का ही वर्णन नहीं है बल्कि आपस के मानवीय संबंधों का भी निरूपण किया गया है तथा घटनाओं या स्थितियों को एक अत्यंत कोमल और मार्मिक ढंग से उनके संपूर्ण परिप्रेक्ष्य में रखा गया है। पुराने ढंग के बने मकान और बारिश की रात में उसकी टपकती छत का ही वर्णन नहीं है, बल्कि बेटे के भविष्य और सुख की आशा संजोए सूनी दोपहरियों में दरवाजे के पास बोरा बिछा कर बैठी माँ की स्थिति को भी इस प्रकार सामने लाया गया है कि सारी कहानी पढ़ने के बाद स्वतः एक ऐसे युग, एक ऐसे काल का चित्र सामने आता है जिसमें एक मध्यवर्गीय पीढ़ी धीरे-धीरे टूट रही है, बिखर रही है। निश्चय ही यह युग, यह काल हमारा ही है। परिवेश का यह सफल और सार्थक चित्रण आज की कहानी की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। यदि कहानीकार को अपने समाज के यथार्थ से सच्चा लगाव है और तीव्र संवेदनशीलता है तो उसकी कहानी में परिवेश का चित्रण निश्चय ही होगा। सामाजिक यथार्थ के प्रति सच्चे लगाव और संवेदनशीलता के साथ साथ यदि समाज की विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक स्थितियों का ज्ञान भी जुड़ जाए तो फिर क्या कहना।

किंतु समकालीन कहानियों में कई ऐसी कहानियाँ भी हैं जिसमें अपने युगीन सामाजिक परिवेश की जरा भी अभिव्यक्ति नहीं है और न ही किसी प्रकार के वातावरण का चित्रण है। मसलन विकल्प-2 में प्रकाशित भरत की कहानी या कमल जोशी की 'पत्थर की आँख' को लीजिए। इन कहानियों में मनुष्य के स्वभाव और चरित्र का बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है और उसकी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का उद्घाटन किया गया है। इस दृष्टि से ये कहानियाँ उच्च कोटि की मानी जाएँगी। लेकिन परिवेश की दृष्टि से ये कहानियाँ ऐसी हैं कि इनसे यह जरा भी पता नहीं चलता है कि इनके पात्र सन् 1960 के दशक के हैं या 1940 के या 1880 के। इनके पात्र और इनमें वर्णित स्थितियाँ किसी भी युग या काल की हो सकती हैं। इनसे कोई युगीन परिवेश नहीं उभरता। वास्तव में इस प्रकार की कहानियों का महत्व केवल वैचारिक दृष्टि से ही होता है। ये प्रायः रूपक या उदाहरण के रूप में पाठक के सामने जीवन संबंधी कुछ सूत्र, विचार या निष्कर्ष उपस्थित करती हैं। उन्नीसवीं शताब्दी की कई कहानियाँ ऐसी ही थीं। ये कहानियाँ 'परिवेशहीन' हुआ करती थीं।

कहानी में परिवेश की अभिव्यक्ति हो या ना हो, किंतु यदि मात्र परिवेश और वातावरण में किसी एक पर आग्रह का प्रश्न हो, तो निश्चय ही परिवेश की अभिव्यक्ति कहानी की उपलब्धि मानी जा सकती है, वातावरण की नहीं। परिवेश का महत्व ऐतिहासिक होता है। वह काल का दर्पण और इतिहास का गवाह होता है। वह अपने आप में इतनी चीजें समेटे रहता है कि उसका होना ही एक महत्वपूर्ण उपलब्धि बन जाती है। राजेंद्र यादव ने कहीं लिखा है कि 'इतिहास की चेतना को पकड़कर साहित्य चेतना का इतिहास लिखता है'।

यह इतिहास चेतना का समग्र बोध ही परिवेश के चित्रण की सार्थकता है। उपलब्धि की यह असाधारणता वातावरण के चित्रण के साथ नहीं जुड़ी है। वास्तव में सामान्य रूप से कहानी में वातावरण के चित्रण का जो स्थान है, वह कहानी की मूल संवेदना की अभिव्यक्ति के सहायक रूप में है। यही वह चीज है जिसे आज ठीक-ठीक अनुपात में नहीं लिया जा रहा है। बहुत से नए लेखकों में, जिनपर बंगला के कथाकारों या राजकमल अथवा निर्मल वर्मा का कुछ प्रभाव पड़ा है, वातावरण का वाचालतापूर्ण चित्रण करने की प्रवृत्ति सामान्य रूप से मिलती है। पैरा के पैरा मात्र इसी तरह के वर्णन से भरे पड़े होते हैं कि वे कैसे बैठे हुए थे, कब से चुप थे, वह

चुप्पी कैसी थी, कितनी बोझिल थी और धूप कैसे उबा रही थी। उबा देने वाले ऐसे वर्णनों के बाद हिसाब करने पर अंत में कुछ नहीं बचता है। कलात्मक स्तर पर जो हास आया सो अलग है। निर्मल वर्मा की कहानियाँ वातावरण के वाचालतापूर्ण वर्णन का अच्छा उदाहरण हैं, डासिंग-फ्लोर के पीछे जो कुर्सियाँ अभी तक खाली पड़ी थीं, वे धीरे-धीरे भरने लगीं। लगता है बाहर सूरज बादलों में छिप गया है। सामने खिड़की के शीशों पर रोशनी का हल्का सा आभास है। जब दरवाजा खुलता है, तो पहले की तरह धूप का टुकड़ा भीतर नहीं आता। सिर्फ हवा आती है और ... दरवाजा खुलकर एकदम बंद नहीं होता है और हम बाहर देख लेते हैं। बाहर सर्दी का धुंधलका है और सितम्बर का मेघाच्छन्न आकाश ... जो कुछ दूर पहले बिल्कुल नीला था। ('लवर्स', 'जलती झाड़ी')

ऊपर उद्धृत यह सारा का सारा टुकड़ा वातावरण के वाचालतापूर्ण चित्रण का एक उदाहरण है, जिससे कहानी में कुछ भी नहीं प्रकट होता है, सिवाय इसके कि लेखक को अपने कुछ शब्दों और दृश्य-चित्रों से एक लिजलिजा सा मोह है।

सही वर्णन करते-करते किस बिंदु पर हम सहसा वाचाल हो उठते हैं, यह पता नहीं चलता है। उसी कहानी का एक और अंश देखिए 'दो दिन बाद क्रिसमस है। क्वींस-वे की दुकानों पर इन दिनों भीड़ लगी रहती है। कुछ लोग खरीदारी करने के बाद अक्सर यहाँ आते हैं, उनके हाथों में रंग-बिरंगे बास्केट, थैले और लिफाफे हैं। जब वह भीतर आते हैं, वह दरवाजे की ओर देखने लगती है। उसकी आँखें बहुत उदास हैं, मैं उसकी बाहों को देख रहा हूँ। प्लास्टिक की चूड़ी और ज्यादा नीचे खिसक आई है। उसका निचला हिस्सा प्याले की काफी में भीग रहा है, भीग रहा है और चमक रहा है।'

रेखांकित वाचालता, जो कहानी के प्रभाव को बिखेरती है, का क्या कारण है? वास्तव में वातावरण या किसी के भी चित्रण में वाचालता तब आ जाती है जबकि लेखक उन सबको जस का तस उगलने लगता है जो उसने वास्तविक या व्यक्तिगत जीवन में देखा-भोगा है। जस का तस उगलना कलात्मक अनुशासनहीनता का प्रमाण है। जब हम किसी अनुभूति को एक कलात्मक रूप विधान देना चाहते हैं तो हमें उस रूप की सुष्ठुता (कॉम्पैक्टनेस) पर भी ध्यान देना होगा अन्यथा वह ऊँचे दर्जे की कला नहीं हो सकती। अगर इतनी सी शर्त भी गले नहीं उतरती तो फिर प्रश्न है कि अनुभूतियों को आप रूप विधान देना ही क्यों चाहते हैं?

किंतु जिन लोगों पर बंगला की भूखी पीढ़ी वाले कवियों कथाकारों ...का प्रभाव पड़ा है और जिनमें अधिकतर अ-कहानी के दावेदार हैं, उनकी कहानियों में आए वाचालतापूर्ण वर्णन कुछ भिन्न प्रकार के ही हैं। यहाँ वाचालता वातावरण तक सीमित न रहकर पूरी कहानी में फैल गई है। वस्तुतः यहीं आकर यह प्रतीत होने लगता है कि वर्णन की वाचालता या शब्दों का दुष्प्रयोग केवल कलात्मक कौशल से ही संबंधित नहीं है, वह पूरी दृष्टि का एक प्रतिफल है। लेखक के सोचने के ढंग की वह एक स्वाभाविक परिणति है और यह एक ऐसे व्यक्तित्व को उभारती है जिसमें कलात्मक संयम का नितांत अभाव है, ऐसे लेखक को उभारती है जिसमें कथ्य की भयंकर अराजकता है। उदाहरण के लिए राजकमल चौधरी की कहानी शीश महल का यह अंश देखिए "किंतु मैं तीनों काल देखता हूँ। तुम्हारी आँखों में अलगा। तुम्हारे शरीर में अलगा। तुम्हारी आँखों और तुम्हारे शरीर में कहीं कोई एकता नहीं है। समानता नहीं है। तुम आँखों में बारह साल की एक नन्ही-सी लड़की हो, जो नहीं समझती कि प्रौढ़ पोर्चुगीज उसका अंडरवियर उतारकर क्या करना चाहता है। अज्ञान कायम है। अबोधत्व कायम है। आँखों में। शरीर पर नहीं। शरीर पर मालिश के तेल की चिपचिपाहट! आलबेयर कामू के खून के छींटे। मदाम नू, जो अपने देश के राजा और अपने देश की प्रजा के ऊपर जटायु की तरह पंख तान कर सोई रहती थीं। वह राजकन्या, जिसने एक महर्षि की आँखों में बाँस की खपच्चियाँ घुसेड़ दी थीं। अंडरवियर में अपनी ठंडी उँगलियाँ। खिड़कियों पर नीले शीशे। कमरे में घना कोहरा। कागज के नकाब। ब्रॉज की उर्वशी, जिसका सीना और जिसके नितंब तुमसे किसी कदर भारी-भरकम नहीं है। तुम्हारे शरीर पर बनते-बिगड़ते हुए रोशनी के जाबिए।"

यह है कलात्मक संयमहीनता और कथ्य की अराजकता का नमूना, जो एक औरत की जिंदगी के दोहरेपन के पाखंड रूप से शुरू हुआ और फिर अल्बेर कामू और उर्वशी से होता हुआ रोशनी के बनते-बिगड़ते

जाबिए तक पहुँच गया। ऐसी बात नहीं है कि गद्य के इस अतार्किक रूप से मेरा कोई विरोध है। बात केवल इतनी ही है कि गद्य का जो कांतिकारी रूप कदम-ब-कदम सतह की एक-एक परत उघाड़ता हुआ यथार्थ के तल तक हमें पहुँचा सकता था, वह कदम-ब-कदम दिशाहीन होता गया है और अपनी आधुनिकता और 'बौद्धिकता' के भँवर में डूबकर उस केंद्र से भी च्युत हो गया है जहाँ से उसने प्रस्थान किया था। और एक आलोचक की दृष्टि में खेद की बात केवल यह है कि यह दिशाहीनता कलात्मक कौशल की नहीं, बल्कि दृष्टि की है।

ठीक इसके विपरीत इसके मुकाबले में ऐसी कई कहानियाँ मौजूद हैं जिनमें वातावरण का सजीव वर्णन सारी कहानी को एक फड़कता हुआ जीवित यथार्थ बना गया है। इन कहानियों में लेखक यह मानकर चला है कि वातावरण का वर्णन मूल संवेदना को और तीव्र बनाने तथा वातावरण के चित्रण के माध्यम से परिवेश की ऐतिहासिकता को उजागर करने के लिए होता है, किसी देखे सुने हुए दृश्य को सारा का सारा हुबहू उतार देने के लिए नहीं।

इस दृष्टि से मोहन राकेश की कहानियों की चर्चा की जा सकती है। नई कहानी में वातावरण और मनोभावों को प्रायः आपस में मिला देने की या प्रकारांतर से मनोभावों को वातावरण के रूप में प्रतीकीकरण करने की जो परंपरा रही है वह मोहन राकेश की कहानियों में खूब मिलती है। इस प्रकार वर्णित वातावरण, केवल वातावरण ही नहीं, खुद एक मनोभाव बन जाता है और इस तरह एक ही चीज दो जगह नजर आती है, आदमी के भीतर भी और आदमी के बाहर भी! 'एक और जिंदगी' के प्रारंभिक अंश में कोहरे से भरे वातावरण का जो चित्रण कुछ दूर तक निरंतर किया गया है, वह कहानी में काफी दूर जाकर भी छूट नहीं पाता और प्रकाश (कहानी के नायक) के भीतर स्थित स्मृतियों के कोहरे का प्रतीक बन कर वह वातावरण खुद एक मनोभाव बन जाता है जो सारी कहानी के प्रभाव का एक अटूट अंग है।

कई कहानियों में किसी स्थान, गली, मोहल्ले, घर या बाजार के वातावरण का वर्णन कर उसे इतना मूर्त कर दिया गया है कि वह एक सामाजिक वर्ग के यथार्थ का अंग बनकर मानवीय संवेदना को उसी प्रकार स्पर्श करता है जैसे कि अन्य घटनाएँ, स्थितियाँ या पात्र करते हैं और एक अमिट स्मृति बनकर मन में बस जाता है। एक सामाजिक वर्ग के यथार्थ का अंग बनना - मैं इसी को वातावरण के वर्णन के माध्यम से परिवेश को उजागर करना कहता हूँ। रेणु की अधिकतर कहानियाँ, देवेन गुप्त की 'उसका पहला प्यार' या धर्मवीर भारती की 'गुलकी बन्नो' में यह बात देखी जा सकती है। 'गुलकी बन्नो' में वर्णित गुलकी की दुकान, वह गली, गली में खेलते बच्चे, और वह पूरा मोहल्ला तथा 'उसका पहला प्यार' में वर्णित बारिश में ढहता मकान, टपकती छत-यह दोनों मात्र गली-मोहल्ले या ढहते हुए मकान का एक दृश्य मात्र बनकर रह जाते हैं बल्कि इनमें निहित यथार्थ के कारण एक पूरी वर्गीय स्थिति, एक परिवेशगत यथार्थ का रूप धारण कर समाज की, कहानी के संसार की एक ऐतिहासिक स्थिति को रेखांकित करते हैं।

मात्र चौराहे की हरी-पीली बत्तियों के जलने-बुझने तथा सड़क पर रुक गए यातायात के वर्णन से (अजनबी समय की गति, देवेन गुप्त) महानगर में स्थिति व्यक्ति की इच्छा, संकल्प शक्ति या निर्णय की व्यर्थता, उसकी व्यस्तता तथा सड़क पर बहते हुए सैलाब के सामने एक व्यक्ति की विवशता का यथार्थ प्रस्तुत कर देना कहानी में वातावरण के वर्णन की एक सराहनीय उपलब्धि है जिसे कहानी में हर चीज को तूल देकर, आत्यंतिक बनाकर लिखने वाले लेखक प्रायः भूलते जा रहे हैं।

हमारे यहाँ शब्दों को 'ब्रह्म' कहा गया है शास्त्रों ने उसे 'अद्वितीय, पवित्र और अमर' घोषित किया है। फ्रांसीसी साहित्य में शब्दों के अतिमितव्यता का एक आदर्श हमेशा रहा है - सो यह सब मात्र फिजूल की बातें नहीं हैं। शब्दों के दुष्प्रयोग और वर्णन की वाचालता का लोभ निर्ममतापूर्वक त्याग कर ही कहानी को कला के ऊँचे, गंभीर स्तर पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है - हेमिंग्वे की कहानियाँ इसका प्रमाण हैं।



रियोर्ताज

18.12.70

ए.एन.एस. इंस्टीट्यूट के कर्मचारियों की कहानी

पटना में एक ए.एन.एस. इंस्टीट्यूट है। ए.एन.एस. का मतलब है अनुग्रह नारायण सिंह। इस इंस्टीट्यूट में समाज विज्ञान का अध्ययन और शोध कार्य होता है। पटना के लॉन अर्थात् गाँधी-मैदान के उत्तर-पश्चिम छोर पर मैदान के बिल्कुल निकट, गोलघर जाने वाले मार्ग पर यह संस्थान स्थित है। इसके अहाते में एक बड़ा पुस्तकालय, पुस्तकालय के ऊपर रिसर्च-अफसरों के कुछ अध्ययन कक्ष, पास ही इसके डायरेक्टर श्री आर.के. दासगुप्ता का बंगला, रिसर्च अफसरों का होस्टल, संस्थान का दफ्तर तथा कुछ छोटे-मोटे क्वार्टर हैं जिनमें इंस्टीट्यूट के काम करने वाले चौकीदार, जमादार अथवा रसोइए रहते हैं। संस्थान में कुल 8 रिसर्च अफसर हैं जिनमें से 5 मेधावी युवक और 3 मेधावी युवतियाँ हैं। इनका काम विभिन्न-इलाकों में समाज विज्ञान से संबंधित शोध-कार्य करने वाले विद्यार्थियों के लिए आँकड़े, तथ्य तथा अन्य प्रकार की सहायता प्रदान करते रहना है। इन आठ रिसर्च अफसरों के ऊपर चार विद्वान प्रोफेसर हैं। ये सभी प्रोफेसर मार्क्सवाद के बड़े पंडित हैं। इन सबसे ऊपर इंस्टीट्यूट के डायरेक्टर साहब श्री आर. के. दासगुप्ता हमारे देश के उच्च कोटि के विद्वान तथा मार्क्सवाद के अत्यंत पंडित हैं। किसी भी प्रकार की घटना की व्याख्या करते समय अथवा भारत की ग्रामीण या शहरी समस्या पर विचार करते हुए ये लोग प्रायः मार्क्स, लेनिन और माओ त्से-तुंग के विचारों को भी पेश करते हैं। संस्थान के सभी छात्र-छात्राएँ मार्क्सवाद से परिचित हैं किंतु ऊपर से इधर-उधर का काम होते रहने पर भी इस समाज-विज्ञान संस्थान का मूल उद्देश्य वास्तव में न तो भारतीय-समाज की समस्याओं का अध्ययन करना है, और ना ही मेधावी और प्रतिभाशाली छात्र-छात्राओं को मार्क्सवाद की शिक्षा देना है। वस्तुतः जैसा कि भारत के सभी समाज-विज्ञान के संस्थानों में होता है चाहे वह अमेरिकी डॉलर से चल रहे हों, चाहे भारत सरकार के पैसे से और चाहे सर्वोदयी नेताओं के पैसे से - भारत के सभी समाज-विज्ञान संस्थानों में देश के प्रतिभाशाली युवक-युवतियों को पहले मार्क्सवाद की शिक्षा दी जाती है फिर मार्क्सवाद का खंडन किया जाता है और फिर मार्क्सवाद से घृणा करना सिखाया जाता है। इस प्रकार सभी समाज-विज्ञान संस्थानों का मूल उद्देश्य देश के प्रतिभाशाली और मेधावी युवक-युवतियों को कम्युनिज्म से घृणा करना सिखाना होता है। अभी बिल्कुल हाल ही में इसी संस्थान में अर्थशास्त्र के एक प्रोफेसर ने भारत के किसानों की समस्याओं पर एक पुस्तक लिखी है जिसमें पहले तो माओ त्से-तुंग के विचारों के खूब उद्धरण दिए हैं और फिर माओ त्से-तुंग के विचारों का जनाजा निकालने की कोशिश की है।

इस संस्थान में आठ रिसर्च अफसरों तथा चार प्रोफेसरों और एक डायरेक्टर के अलावा जमादार, चौकीदार, क्लर्क, टाइपिस्ट तथा बड़ा बाबू आदि सबको मिलाकर कुल 40 कर्मचारी काम करते हैं। इन्हीं 40 कर्मचारियों के भाग्य की कहानी आपको सुनाना चाहते हैं, जो इस प्रकार शुरू होती है।

1958 ईस्वी में जब अनुग्रह नारायण सिंह नामक बिहार के एक प्रमुख कांग्रेसी नेता के नाम पर यह संस्थान खुला था, तब यह संस्थान बिहार सरकार के शिक्षा विभाग के अंतर्गत था और इसके निरीक्षण का कार्य बिहार सरकार के शिक्षा विभाग के तत्कालीन डीआईपी डॉ. गोरखनाथ सिंह करते थे। गोरखनाथ सिंह एक उदार शिक्षाविद थे। उनके जमाने में इस संस्थान के 40 कर्मचारियों के जीवन से संबंध रखने वाला एक प्रस्ताव संस्थान

की गवर्निंग बॉडी से पास हुआ था जिसमें यह कहा गया था कि संस्थान के कर्मचारियों का वेतनमान वही होगा जो कि ठीक यही काम करने वाले राजपत्रित कर्मचारियों का है। इसके अलावा उस प्रस्ताव में बाजार में वस्तुओं की कीमतों के अनुसार महँगाई भत्ता, मकान के किरायों की दर के अनुसार हाउस रेंट के पैसे देने की भी व्यवस्था की गई थी। अंत में अनुभव और योग्यता के क्रम से कर्मचारियों की पदोन्नति के संबंध में एक धारा थी। यह सब वे बातें थी जो कि उन 40 कर्मचारियों के जीवन को बहुत प्रभावित करने वाली थी, जो कि इस संस्थान की सेवा करके ही अपने-अपने परिवारों का पालन करते थे। लेकिन 1964 ईस्वी में यह संस्थान बिहार सरकार के शिक्षा विभाग से मुक्त करके एक 'स्वायत्त संस्थान' बना दिया गया। डॉ. गोरखनाथ सिंह संस्थान के डायरेक्टर पद से मुक्त कर दिए गए। उनकी जगह प्रोफेसर आर.के. दासगुप्ता यहाँ आए और बिहार सरकार की जगह सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाश नारायण इस संस्थान के चेयरमैन बना दिए गए। इस प्रकार संस्थान एक स्वायत्त संस्था बन गई जिसके अध्यक्ष श्री जयप्रकाश नारायण हुए। सरकार प्रतिवर्ष इसे तीन लाख रुपये का अनुदान देती है।

डायरेक्टर आर.के.दासगुप्ता जो कि समाजशास्त्र और मार्क्सवाद के उच्च कोटि के विद्वान हैं और इस देश के योग्य व्यक्तियों में गिने जाते हैं -का कार्यकाल इस संस्थान के 40 साधारण कर्मचारियों के जीवन के दुखों का काल बन गया। आर.के. दासगुप्ता ने सबसे पहला काम यह किया कि संस्थान के कर्मचारियों का राजपत्रित कर्मचारियों के वेतनमान के अनुसार वेतन देने का जो प्रस्ताव पास किया गया था उस प्रस्ताव को रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। यहाँ मैं आपको यह बात बता दूँ कि डॉ. गोरखनाथ के कार्यकाल में यहाँ जिन कर्मचारियों की नियुक्त हुई थी, उन कर्मचारियों की नियुक्ति के समय उन्हें संस्थान की ओर से जो 'इंटरव्यू लेटर' आया था- उस इंटरव्यू लेटर में यह स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि उन्हें राजपत्रित कर्मचारियों के वेतनमान के अनुसार वेतन दिया जाएगा। यह इंटरव्यू लेटर आज भी उन कर्मचारियों के पास सुरक्षित है जो दूसरी जगहों की नौकरी छोड़कर इस संस्थान में काम करने के लिए आए थे। इसके बावजूद डॉ. आर.के. दासगुप्ता ने उस प्रस्ताव को फाड़कर रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। प्रस्ताव को फाड़कर रद्दी की टोकरी में फेंकने का काम भौतिक रूप से नहीं किया, बल्कि उन्होंने यह नीति अख्तियार कर ली जिसमें यह भाव व्यक्त होता है कि संस्थान के कर्मचारियों को राजपत्रित कर्मचारियों के वेतनमान के अनुसार वेतन देने की कोई 'जरूरत' नहीं है। और यही नीति व्यवहार में लाई भी गई। इस पहले काम के बाद आर.के. दासगुप्ता ने दूसरा काम यह किया कि अपनी नीति से विशुद्ध कर्मचारियों का दमन करना प्रारंभ कर दिया।

संस्थान में सामूहिक रूप से काम करने वाले विशुद्ध कर्मचारियों ने इस नीति के विरोध में सबसे पहला काम जो किया वह यह कि अपनी एक यूनियन बना ली। उनका यह कदम एकदम स्वाभाविक था। संस्थान ने स्वयं अपने कार्य के लिए उन्हें संगठित किया था और उन कर्मचारियों ने अपने इसी संगठन को अपने संघर्ष का मंच बना लिया। लेकिन, संस्थान के डायरेक्टर आर.के. दासगुप्ता ने उनकी यूनियन को 'गैरकानूनी' करार दिया। संस्थान के चेयरमैन जयप्रकाश नारायण ने भी कहा कि 'कर्मचारियों की यूनियन गैर-कानूनी है।

लेकिन, इसके बावजूद संस्थान के 22 कर्मचारी उस यूनियन के सदस्य बन गए। 40 में से 22 कर्मचारी यूनियन के सदस्य बने, बाकी 18 कर्मचारी नहीं बने। इसका कारण क्या था? इसका कारण यह था कि डायरेक्टर ने तत्काल कुछ कर्मचारियों को जोकि पुराने थे और कुछ ऊँचे पदों पर थे, जिन्हें प्रायः 'छोटे बाबू' या 'बड़े बाबू' के नाम से संबोधित किया जाता है, अधिक वेतन 400-500 रुपए दे दिया और कुछ की पदोन्नति करके इस प्रकार उनके वेतन में वृद्धि कर दी। इस प्रकार वे कर्मचारी, जिनके वेतन और पदों में वृद्धि हुई, यूनियन के सदस्य नहीं बने। कुछ इनसे प्रभावित कर्मचारी भी यूनियन के सदस्य नहीं बने। यूनियन ने माँग की कि कर्मचारियों को राजपत्रित कर्मचारियों के वेतनमान के अनुसार वेतन दिया जाए, जो कि कभी संस्थान के गवर्निंग बॉडी ने फ़ैसला किया था।

कुछ दिनों बाद डायरेक्टर ने स्वयं ही अपने कमरे में कर्मचारियों को बातचीत करने के लिए आमंत्रित किया। डायरेक्टर ने बड़े ही नरम शब्दों में कर्मचारियों से कहा - "यह संस्थान एक परिवार या एक कुल के समान

है। मैं इस कुल के पिता के समान हूँ। यदि तुम लोगों को किसी बात से कुछ दिक्कतें हुई हो, तो तुम लोगों को पहले मुझसे कहना चाहिए, ना कि एक 'यूनियन' बना लेनी चाहिए। तुम लोग सोच कर देखो, कि एक कुल पिता के रहते हुए यूनियन बना कर क्या तुम लोगों ने अच्छा काम किया है?

और फिर बोले - “अच्छा बोलो, तुम लोगों को क्या दिक्कत है?”

गोवर्धन राम ने जोकि देहात के युवक थे किंतु बीए पास थे और संस्थान में टाइपिस्ट का कार्य करते थे, कहा “डॉक्टर साहब हम लोग चाहते हैं कि हम लोगों को सरकारी वेतनमान के अनुसार वेतन दिया जाए, जोकि हमारे इंटरव्यू लेटर में कहा भी गया है। इसके अलावा महंगाई भत्ता तथा अन्य सुविधाएँ भी दी जाएँ।”

डायरेक्टर ने तत्काल कहा - “अच्छा ठीक है, जिनके-जिनके इंटरव्यू लेटर में यह बात लिखी हुई है, केवल वही लोग यहाँ रुकें, मैं केवल उन्हीं लोगों से बातचीत करूँगा। बाकी लोग बाहर जाएँ।” कर्मचारियों ने एक-दूसरे का मुँह देखा। कई कर्मचारी सिर झुका कर बाहर चले गए। 5-6 कर्मचारी भीतर रह गए।

डायरेक्टर ने उनसे कहना शुरू किया “देखो, मैं तुम लोगों का कुल पिता हूँ। मैं जब से इस इंस्टिट्यूट में आया हूँ, तबसे मैंने तुम लोगों के लिए क्या-क्या किया, जानते हो? मेरे यहाँ आने से पहले क्या था? और मेरे आने के बाद क्या-क्या हुआ, बताओ तो? मैंने तुम लोगों के वेतन में नौ प्रतिशत की वृद्धि की है। मैंने तुम लोगों का हाउस रेंट 3 से बढ़ाकर 6 रुपए कर दिया है।”

गोवर्धन राम ने कहा “हाँ, यह सच है कि आपने हमारा हाउस रेंट 3 से 6 रुपए कर दिया। यह सच है कि आपने हमारे वेतन में 9 प्रतिशत की वृद्धि की। लेकिन राजपत्रित कर्मचारियों के वेतन के अनुसार हमारे वेतन में 56 प्रतिशत की वृद्धि होनी चाहिए। जो काम हम करते हैं ठीक उसी काम के लिए एक सरकारी कर्मचारी को हम से 56 प्रतिशत वेतन अधिक मिलता है। इसके अलावा हमें महंगाई भत्ता नहीं मिलता, जबकि इस बीच महंगाई कितनी...।”

डायरेक्टर साहब उनसे परेशान हो गए। उनसे कहा गया कि वे लोग बाहर चले जाएँ इस विषय पर फिर कभी बात करेंगे।

कर्मचारी वापस लौट गए।

विद्वान डायरेक्टर के जुल्म ढहने शुरू हुए। आर.के.दासगुप्ता ने अपने अब तक के 6 वर्षों के कार्यकाल में 6 कर्मचारियों को उनकी नौकरी से मुअत्तल कर दिया।

14 वर्षों का एक काला-काला सा भोला-भाला सा लड़का था -बिहारी। वह डायरेक्टर साहब के यहाँ रसोई बनाने का काम करता था। उसका बाप उसी संस्थान में चपरासी है। संस्थान के 22 कर्मचारियों को आपस में मिलाकर जब यूनियन बनाते देखा, जिसमें उसका बाप भी एक था, तो बिहारी ने भी यूनियन की सदस्यता ले ली। ‘बिहारी कर्मचारियों की यूनियन में शामिल हो गया है’- जब डायरेक्टर साहब और उनके कुलीन परिवार ने सुना- तो उन्हें विस्मय और रंज हुए। कुलपिता के रहते हुए...! दूसरे ही दिन, डायरेक्टर साहब ने तो नहीं लेकिन उनकी मिसेज ने रसोई से बिहारी को बुलाकर पूछा - “क्यों रे बिहारी! तू यूनियन में क्यों शामिल हो गया रे! हम से लड़ाई-झगड़ा करना चाहता है?” “नहीं बीबीजी!” बिहारी ने विनम्र स्वर में कहा “वो जिन आदमियों ने यूनियन बनाई है ना, वे हमारे भाई-बंद लोग हैं। बीबीजी, वो लोग गरीब आदमी हैं। भूख लगती है, 5 पैसा माँगते हैं। 5 पैसा माँगने के लिए ही यूनियन बनाई है। सो मैं भी उसमें शामिल हो गया।”

“तो तू उसमें क्यों शामिल हुआ रे।” डायरेक्टर की मिसेज या बिहारी की बीबीजी बोलीं -“तेरे तो 5 रुपए मैं वैसे ही इस महीने से बढ़ाने वाली थी! तुझे उसमें शामिल होने की जरूरत नहीं है। तू यूनियन छोड़ दे।”

बिहारी कुछ देर तक चुप खड़ा रहा फिर बोला “बीबीजी वो लोग हमारे भाई-बंद लोग हैं। इसीलिए उनके साथ हो गया। भाई-बंद लोगों से अलग होना अच्छा नहीं लगता है।”

“तो सुन बिहारी” बिहारी की बीबीजी बोलीं “अगर तुझे यूनिन में रहना है तो तू रसोइए का काम नहीं कर सकता।”

“आपकी जैसी मर्जी बीबीजी! वे लोग अपने भाई-बंद हैं भाई-बंद लोगों से अलग होना...।”

बिहारी को रसोइए के काम से बर्खास्त कर दिये जाने की नोटिस दे दी गई।

14 साल का लड़का अकेला कहाँ जाएगा? उसका बूढ़ा बाप उसी संस्थान में चपरासी का काम करता है। अकेले से सारे परिवार का खर्च चलता नहीं। बिहारी रसोइए का काम करता था तो महीने में पाँच-दस रुपए भी मिल जाते थे और डायरेक्टर साहब के यहाँ से उसे खाना भी मिल जाता था। पर अब क्या हो?

उसके चपरासी बाप ने यूनिन के लोगों से कहा। यूनिन ने तय किया कि लड़के को नाजायज तरीके से निकाला जा रहा है, यह बात इंस्टिट्यूट के चेयरमैन से कही जाए। जयप्रकाश नारायण देश के बहुत बड़े आदमी हैं, गरीबों के रहनुमा हैं, हमारी बात जरूर सुनेंगे।

यूनिन के सात-आठ कुछ पढ़े-लिखे सदस्य एक दिन धुले हुए साफ कपड़े पहनकर जयप्रकाश नारायण से भेंट करने के लिए गए। जयप्रकाश नारायण भीतर थे। बाहर वाले कमरे में उनके पर्सनल असिस्टेंट बैठे थे। कोई दक्षिण भारतीय व्यक्ति थे, उन्होंने पूछा “बॉट इज द मैटर?”

यूनिन के कर्मचारियों में से गोवर्धन राय आगे बढ़कर बोला “बात ऐसी है कि हम लोग ए.एन.एस इंस्टिट्यूट ऑफ सोशल साइंस से आए हैं। हम लोग वहाँ के कर्मचारी हैं। हममें से एक व्यक्ति को नाजायज ढंग से नौकरी से बर्खास्त किया गया है। जे.पी. वहाँ के चेयरमैन हैं। हम जे.पी. से यह माँग...।”

“आप तो उनसे नहीं मिल सकते” जे.पी. के उस दक्षिण भारतीय पी.ए. ने बहुत तीखे स्वर में कुछ कड़कते हुए कहा “आपको तो बात करने की तमीज नहीं है। आप मुझसे तमीज से बात नहीं कर सकते तो जे.पी. से बात कैसे करेंगे। आप तो जे.पी. से नहीं मिल सकते।”

कर्मचारी दंग रह गए। एक अज्ञात अपराध भावना से उनके मुँह का रंग फीका पड़ गया। पर बहुत सोचने पर भी वे नहीं जान पा रहे थे कि उन्होंने क्या बदतमीजी की है?

गोवर्धनराम मन ही मन सोच रहा था “मैं धुर देहात का आदमी हूँ। बचपन में गाय-बैल चराया करता था। मैदान में गोबर जमा कर-करके गोँएटे पाथा करता था। लेकिन मेहनत और संघर्ष करके मैंने बीए पास कर ली, वह भी सेकंड क्लास से पास की। सोशल साइंस इंस्टिट्यूट में हूँ जहाँ बड़े-बड़े विद्वान प्रोफेसर और दासगुप्ता जैसे ज्ञानी आदमी हैं। उन लोगों के पास रहने के कारण दुनिया की कई नई-नई बातें जानने का मौका मिला है। कोसी योजना, अमेरिकन इन्वेस्टमेंट, इक्विटी कैपिटल, बैंक कैपिटल-यह सब समझता हूँ। शोध छात्रों के पेपर्स को जब टाइप करता हूँ तो उनको पढ़कर भी बहुत सी चीजें समझ लेता हूँ। पटना जैसे शहर में नागरिक जीवन व्यतीत करता हूँ। ये लोग सर्वोदयी हैं, अपने को किसानों का नेता कहते हैं, गाँव का नेता कहते हैं। जब मेरे जैसा पढ़ा लिखा है और विद्वानों के संपर्क में रहने वाला आदमी भी इनसे बातचीत करने लायक नहीं है, तो फिर वह गाँव का किसान जिसके यह नेता हैं इनसे कैसे अपनी बात कह सकेगा? वह किसान इतनी तमीज कहाँ से लाएगा कि अपनी फरियाद इनसे कर सके?”

लेकिन चूँकि इन लोगों को जरूरत थी। जे.पी. से मिलना जरूरी था और वह इस पी.ए. के पंजे में फंस गए थे, इसलिए उन्होंने सोचा कि इस समय कुछ ऐसा किया जाए जिससे अपना काम बन जाए। कर्मचारियों में से एक आगे बढ़ कर बोला-“हुजूर, हमसे गलती हो गई। दरअसल हुजूर हम लोग जानते नहीं थे।” इस प्रकार उसने अपने तीन चार वाक्यों में जब चार-पाँच बार ‘हुजूर-हुजूर’ शब्द कहा तो पी.ए. संतुष्ट होकर बोला “हाँ, अब ठीक है। अब आप लोग जाकर जे.पी. से मिल सकते हैं।”

वो लोग जे.पी. से मिले। जे.पी. ने उनका दुख सुना। जे.पी. न केवल उस इंस्टिट्यूट के चेयरमैन हैं, बल्कि

शायद देश के पचासों इंस्टिट्यूटों के चेयरमैन होंगे। सारी बातें सुनकर जयप्रकाशजी ने कहा –“दास गुप्ता जी बहुत योग्य और विद्वान व्यक्ति हैं। जब वे आपका दुख दूर नहीं कर सके, तो भला मैं क्या कर पाऊँगा। जाइए, आप डायरेक्टर साहब से ही कहिए। वही आपके लिए कुछ कर सकते हैं।”

यह था उस जयप्रकाश नारायण का जवाब। क्या बारीक उलाहना थी। “जब वे आपका दुख नहीं दूर कर सके, तो भला मैं क्या कर पाऊँगा?” मतलब यह कि आप लोग नालायक हैं। आर.के. दासगुप्ता जैसे विद्वान व्यक्ति को आप लोगों ने रुष्ट कर दिया, आप नालायक हैं, इसलिए मैं आप लोगों के लिए कुछ नहीं करूँगा। जाइए उनसे माफी माँगिए – अपना थूका चाटिए।

कुछ दिन पहले की बात है। पटना से निकलने वाले अंग्रेजी अखबार सर्चलाइट के एक सब-एडिटर को नौकरी से चार्जशीट दे दी गई। तब इसी जयप्रकाश नारायण ने पैरवी करके उसको फिर से सब-एडिटर के पद पर नियुक्त करा दिया। सर्चलाइट के एक सब-एडिटर की यह पैरवी इसलिए की गई कि वह अखबार में जे.पी. के सार्वजनिक क्रियाकलापों का विवरण दिया करेगा, जे.पी. का प्रचार और संस्तुति करेगा। जे.पी. के विरुद्ध कुछ छापना तो दूर वह अपने अखबार के जरिए उनकी तारीफों के पुल बाँध देगा। लेकिन ऐसे इंस्टिट्यूट से जिसके चेयरमैन जे.पी. खुद हैं, 14 साल के एक भोले-भाले लड़के को नौकरी से नाजायज ढंग से बर्खास्त कर दिया गया और चेयरमैन जयप्रकाश नारायण ने कुछ नहीं किया।

चौदह ही साल का एक दूसरा रसोइया हरिराम था। वह खाना बनाकर डायरेक्टर साहब को खिलाता। कुछ दूसरे लोगों को भी खिलाता-पिलाता था। उसका बाप संस्थान में चौकीदार का काम करता। उनका एक छोटा-सा क्वार्टर संस्थान के अहाते के साथ बाहर की मेन रोड के साथ सटा हुआ है। एक बार उस लड़के के साथ न जाने क्या बात हुई या पता नहीं उसके मन में क्या आया कि उसने कह दिया कि मैं यह काम नहीं करूँगा। लड़के को समझाया गया पर कम उम्र का लड़का, जिद्दी ठहरा। यही कहता रहा कि मैं यह काम नहीं करूँगा। डायरेक्टर साहब ने हुक्म दिया कि वह काम छोड़ दे और साथ ही इंस्टिट्यूट का आहाता भी छोड़ दे। उस लड़के का साहस देखिए कि जाकर शहर में रिक्शा खींचने लग गया। लेकिन हुक्म था कि वह इंस्टिट्यूट के अहाते में भी नहीं आ सकता। उसका बाप अहाते के क्वार्टर में रहता है। लड़का शहर में रिक्शा खींचता है और दोपहर तथा रात को आकर सड़क के साथ सटे अपने पिता के क्वार्टर की खिड़की के पास आकर खड़ा हो जाता है। जंगले से पिता कटोरे में दाल-रोटी रखकर दे देता है –जंगले के बाहर नीचे बैठकर रोटी खाकर बेटा कटोरा वापस जंगले में रख देता है और वापस रिक्शा खींचने चला जाता है। मेरा दिल करता है मैं चीख-चीखकर कहूँ –अरे ओ टूटते हुए मानव-मूल्यां और मानव-संबंधों की बात करने वालो! जरा देखो तो सही कि एक बाप और उसके बेटे के संबंध को एक इंस्टिट्यूट के डायरेक्टर ने किस हालत तक पहुँचा दिया है?

एक रात गोवर्धनराम से मैंने पूछा “अच्छा गोवर्धन भाई, तुम लोगों का हाउस रेंट तीन रुपए से बढ़ाकर 6 रुपए जो कर दिया गया है –इस बात का क्या मतलब है? क्या अब तुम लोगों से घर का किराया अधिक लिया जाने लगा है? गोवर्धनराम ने बताया “नहीं, ऐसी बात नहीं है। संस्थान के कर्मचारी जिन घरों में रहते हैं, वहाँ उन्हें किराया देना पड़ता है। कर्मचारी यह किराया दे सकें इसलिए संस्थान उन्हें वेतन के साथ हाउस रेंट के रुपये भी देता है। वही हाउस रेंट अभी चार-पाँच वर्ष पहले तक तीन रुपये था, अब बढ़ाकर छ रुपए कर दिया गया है।”

“क्या यह रुपए सरकार तय करती है?”

“हाँ, सरकार तय करती है।”

इस पर मुझे कुछ विस्मय-सा हुआ। मैंने पूछा “अच्छा, क्या वास्तव में सरकार की यह धारणा है कि पटना शहर में मकानों का किराया अभी चार-पाँच वर्ष पहले तक तीन रुपए लगा करता था और अब वह बढ़कर छ रुपए हो गया है? अगर उसकी यह धारणा नहीं है तो वह इस दर को किस प्रकार तय करती है?”

कर्मचारी गोवर्धनराम ने हँसते हुए मुझे बताया “इसकी कहानी भी बड़ी अजीब है। दरअसल, बहुत पहले अंग्रेजों के जमाने में जब शुरू-शुरू में यहाँ नए-नए कारोबार खुले थे, तो गाँव के बहुत से लोग जिनके हाथों से उनकी जमीन निकल गई थी, वे लोग पटना शहर में नौकरी की खोज में आते थे। तब सरकार ने उनके लिए छोटी-छोटी कुछ कोठरियाँ रहने के लिए बना दी थीं। लेकिन उस जमाने में गाँव के लोग बहुत पिछड़े हुए होते थे। वे शहर में रहना पसंद नहीं करते थे। बीवी-बच्चों को लेकर शहर में रहना तो बिल्कुल भी पसंद नहीं करते थे। अब जमाना बहुत बदल गया है, लेकिन आज भी देहात के बहुत से लोग बीवी-बच्चों को लेकर शहर में नहीं रहते। सो उस जमाने में लोग आस-पास के गाँव से ही सुबह काम पर आते थे और शाम को घर वापस लौट जाते थे। यहाँ कोठरी मिलने पर भी रहते नहीं थे। वह सस्ती का जमाना था और कोठरी का किराया दो-तीन रुपये ही लगता था। कोठरी में रहने के बदले वे लोग सरकार से दो-तीन रुपए हाउस रेंट का ले लेते थे। सो, सबसे हाउस रेंट की दर वही तीन रुपये ही चली आ रही है। अभी दो-चार वर्ष पहले उसे बढ़ाकर 6 रुपए कर दिया गया है।”

यह सुनकर मुझे विस्मय भी हुआ, हँसी भी आई और रोना भी आया।

सो, बात जब इस स्थिति तक आ गई कि डायरेक्टर ने उनकी कोई भी बात सुनने से इंकार कर दिया और उलटे उन्हें नौकरी से मुअत्तल करना शुरू कर दिया। कुछ कर्मचारियों को अधिक पैसे दे कर अपनी ओर कर लिया और उनकी यूनियन को गैरकानूनी करार कर दिया। तो इन 22 कर्मचारियों ने अंत में यह फैसला किया कि वे जनवरी में हड़ताल करेंगे। उन्होंने संस्थान के डायरेक्टर, चेयरमैन तथा बिहार सरकार के नाम अपने प्रार्थना-पत्र में यह कहा कि यदि 31 दिसंबर 70 तक संस्थान उन्हें राजपत्रित कर्मचारियों के वेतनमान के अनुसार वेतन नहीं देता है और महँगाई भत्ता नहीं देता है, तो वे जनवरी से हड़ताल करेंगे।

तो, अब सवाल यह आया कि उनका यह संघर्ष कैसे सफल हो? कैसे वे अपनी समस्या से साधारण जनता को परिचित करा सकें और दूसरे लोगों तक पहुँचा सकें और उनकी सहानुभूति और समर्थन प्राप्त कर सकें?

तो, मैंने गोवर्धनराम से कहा “आओ, पटना में हिंदी के बहुत प्रसिद्ध लेखक हैं फणीश्वरनाथ रेणु, मैं उनके पास तुम्हें ले चलूँ। वे एक वक्त बड़े सक्रिय सोशलिस्ट थे। नेपाल की क्रांतिकारी गतिविधियों में हिस्सा लिया था। गाँव के गरीब लोगों को लेकर कई अच्छी कहानियाँ और उपन्यास भी लिखे हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वे दिनमान में राजनीति पर भी लेख लिखते रहें हैं। तुम चलकर उनको अपनी कहानी सुनाओ। जे.पी. ने जो कुछ तुम लोगों से कहा, उन्हें बताओ। इस जे.पी. की वास्तविकता का जरूर लोगों को पता चलना चाहिए। वे शायद तुम लोगों की समस्याओं को लेकर दिनमान में या किसी अन्य पत्रिका में लिखें।”

मैं, गोवर्धनराम और संस्थान के एक वामपंथी रिसर्च अफसर निर्मल सेनगुप्ता तीनों लोग पहले पीपुल्स बुक हाउस गए। वहाँ रजनी पाम दत्त की पुस्तक भारत: भावी और वर्तमान तथा लेनिन की कुछ पुस्तकें खरीदीं। एक-एक कप चाय पी और रात के सात बजे के लगभग रेणु के घर पर गए। रेणु से मुलाकात हुई। गोवर्धनराम ने अपनी सीधी-साधी किंतु दिल को छूने वाली भाषा में रेणु को कर्मचारियों की सारी स्थिति बतलाई, संस्थान का इतिहास बतलाया, आर.के. दासगुप्ता का व्यवहार बतलाया। जंगले के पास रोटी लेकर खाने वाले बेटे की कहानी बतलाई और जेपी के पी.ए. का आचरण तथा जे.पी. का जवाब भी बतला दिया और अंत में कहा कि आप हम लोग की बात को अखबार में छपा दीजिए क्योंकि हम लोगों के भेजने से कोई छापता नहीं है।

सब कुछ सुनकर रेणु ने जवाब दिया “जहाँ तक मानवी कथा का प्रश्न है, आपने इसे सुना कर बहुत अच्छा किया है। मैंने इसे ध्यान से सुना। मैंने और भी ऐसी कई कथाएँ सुनी हैं लेकिन जहाँ तक आप लोगों के संघर्ष का प्रश्न है, मैं क्या कर सकता हूँ? देखिए, आप अपने कर्मचारियों के लिए लड़ना चाहते हैं, लड़िये। आपके कर्मचारियों को जरूर कुछ न कुछ फायदा हो सकता है, लेकिन आपको क्या मिलेगा। आप तो जोखिम में फँस

जाएँगे! इसके साथ ही रेणु ने एक कहानी भी सुनाई कि कैसे कुछ दिन पहले एक और लड़का उनके पास आया था। वह भी अपने मित्रों के लिए लड़ना चाहता था। उसने आमरण अनशन की घोषणा कर दी और अनशन पर बैठ भी गया। इस तरह अपनी जान खतरे में डाल दी। इससे मैनेजमेंट झुक तो गया। उसके साथियों में से किसी के 20-25-30 रुपए वेतन के बढ़ गए लेकिन उसके केवल 5 रुपए बढ़े। अपनी जान को उसने जोखिम में भी डाला लेकिन उसे क्या मिला? इसीलिए मैं तो कहता हूँ कि अब जो होता है उसे...।”

और जेपी के बारे में रेणु ने कहा “अब जे.पी. को मैं क्या कहूँ? मुझे याद है एक जमाना था जब जे.पी. ऐसे थे। लेकिन अब तो वे इस तरह बदल गए कि...। मैंने बहुत उनके बारे में सोचा, मुझे वितृष्णा हुई। लेकिन फिर भी मैंने उनके बारे में कुछ भी कटु नहीं लिखा। और मैं सोचता हूँ कि नहीं लिखकर एक तरह से मैंने अच्छा ही किया। क्योंकि जब बिहार में सन 67 में अकाल पड़ा, तो मैं कहता हूँ, जेपी में लाख बुराइयाँ सही, चाहे उनके जो भी दोष हों, लेकिन उस अकाल में अगर जे.पी.आगे नहीं आते तो बिहार के एक-एक लोग भूख से मर जाते। इतना भ्रष्टाचार फैला हुआ था, सरकार अपनी ही राजनीति में फँसी हुई थी। पार्टियों को भी फुर्सत नहीं, ऐसी स्थिति में जे.पी. ही आगे आए। तब मैंने सोचा कि अच्छा है कि मैंने जे.पी. के विरुद्ध कुछ नहीं लिखा था, अच्छा है कि मैंने उनकी प्रतिमा को नहीं तोड़ा क्योंकि अगर मैंने ऐसा किया होता, तो फिर अकाल के समय जे.पी. का जो रूप सामने आया उसके बारे में मैं क्या लिखता।”

बातचीत करते-करते काफी देर हो गई, जैसा कि अक्सर साहित्यकारों के यहाँ हो जाता है। हम लोग उठ कर वापस आ गए। कर्मचारी गोवर्धनराम ने अपनी टिप्पणी की “तीन बेर खाती सो तीन बेर खाती हैं। शिवाजी के दरबारी कवि भूषण ने लिखा है कि मुगलों की रानियाँ जो पहले दिन में तीन बार खाती थीं और शिवाजी के आक्रमण के बाद जंगलों में भटकती हैं और उन्हें खाने के लिए केवल तीन बेर ही मिल पाते हैं। भूषण ने उनकी अच्छी स्थिति का भी वर्णन किया और बुरी स्थिति का भी वर्णन किया। जे.पी. के बारे में कुछ नहीं लिखेंगे का क्या मतलब? अरे, जे.पी. ने अच्छा काम किया, तो उसकी अच्छाई भी लिखो और कोई बुरा काम किया, तो उसकी बुराई भी लिखो, जैसा कि भूषण ने लिखा। लेकिन न अच्छा लिखेंगे, न बुरा लिखेंगे- का क्या मतलब?”

दूसरे दिन दोपहर को हम लोग ‘गोलघर’ के अहाते में पत्थर की एक बेंच पर बैठ कर बातें कर रहे थे। मैंने गोवर्धनराम से पूछा “गोवर्धनराम! तुम लोग अपना शत्रु किसे मानते हो? और तुम लोग किस चीज के लिए संघर्ष करना चाहते हो? क्या तुम लोग यह मानते हो कि यह डायरेक्टर आर.के. दासगुप्ता ही तुम लोग का शत्रु है? और तुम लोग सरकारी वेतनमान के अनुसार वेतन पाने के लिए ही संघर्ष कर रहे हो? और अगर यही मानते हो तो, क्या समझते हो कि आर.के. दासगुप्ता के डायरेक्टर पद से हट जाने के बाद और वेतनमान के अनुसार वेतन प्राप्त कर लेने के बाद तुम लोगों की सारी समस्याएँ सुलझ जाएँगी?”

शोषण की व्यवस्था का अंत केवल ट्रेड-यूनियनवाद द्वारा नहीं हो सकता। वह एक क्रांतिकारी राजनीतिक संघर्ष द्वारा ही हो सकता है। निःसंदेह क्रांतिकारी राजनीति में भी बोनस की लड़ाई होगी, ट्रेड यूनियन होंगी, हड़ताले होंगी लेकिन उनकी सीमा केवल यही नहीं होगी। ट्रेड-यूनियनवाद और ट्रेड-यूनियन दो अलग-अलग चीजें हैं। क्रांतिकारी राजनीति में ट्रेड-यूनियन तो होगी लेकिन ‘ट्रेड-यूनियनवाद’ नहीं होगा, क्योंकि क्रांतिकारी राजनीति का उद्देश्य कुछ आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करना नहीं बल्कि ‘शोषण की व्यवस्था’ का अंत कर देना होगा। मैंने कलकत्ते में एक रिवोल्यूशनरी जर्नलिस्ट डॉ. प्रमोदसेन गुप्ता से पूछा था कि ‘आपने अपने जीवन के 50 वर्ष वामपंथी राजनीति में बिताए। आप के राजनीतिक अनुभवों का सार क्या है?’ तो उन्होंने कहा ‘मैंने जीवन के 50 वर्षों तक यह देखा कि भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने मजदूरों के आंदोलनों को हमेशा अर्थवादी राजनीति के साथ बाँधकर रखा, उसे शोषण का अंत करने वाली क्रांतिकारी राजनीति नहीं दी।’ इसलिए गोवर्धनराम आज जबकि तुम 31 दिसंबर के बाद से हड़ताल करने जा रहे हो। ट्रेड-यूनियन करने जा रहे हो, मैंने सोचा कि यह बात मैं तुमसे कह दूँ, तुम इन बातों को भी अब ध्यान रखना।”

31 दिसंबर तक अगर कर्मचारियों की माँग डायरेक्टर ने नहीं मानी तो कर्मचारी जनवरी से हड़ताल करेंगे। डायरेक्टर आर.के. दासगुप्ता अवश्य उनकी हड़ताल को गैरकानूनी करार देंगे। चेयरमैन जयप्रकाश नारायण भी हड़ताल को गैरकानूनी करार देंगे। जब 14 साल के लड़के को उसकी नौकरी से नाजायज ढंग से निकाल दिया गया तब कानून नहीं टूटा था; जब इस्टिस्ट्यूट लेटर में सरकारी वेतनमान के अनुसार वेतन देने की बात लिख कर भी उस अनुसार वेतन नहीं दिया गया तब कानून नहीं टूटा था; जब 14 साल के रसोइए को नौकरी छोड़ देने पर संस्थान के अहाते से भी बाहर निकल जाने के लिए हुकुम दिया गया और उसके बाप के घर में भी रहने की छूट नहीं दी गई तब कानून नहीं टूटा था; लेकिन आज जब यह निःसहाय कर्मचारी जिनका कोई कानून सहायक नहीं है, अपनी उचित माँग के लिए, अपने अनैतिक डायरेक्टर और चेयरमैन तक अपनी आवाज को प्रभावशाली ढंग से पहुँचाने के लिए मजदूर-सर्वहारा वर्ग के सबसे पवित्र अधिकार- हड़ताल -का सहारा लेंगे तो वह गैरकानूनी करार दी जाएगी। और तब लेखक अपना सिर बालू में छुपा लेंगे। उनके संघर्ष पर एक पंक्ति भी नहीं लिखेंगे। जयप्रकाश नारायण जैसे जनता को धोखा देने वाले नेताओं की असलियत पर एक पंक्ति भी नहीं लिखेंगे। शाम की ट्रेन से मैं पटना से बनारस वापस आ गया था। चलते समय मैंने गोवर्धनराम से वादा किया था -मैं उनकी कहानी को लिखकर जरूर कहीं छपा दूँगा।



संस्मरण

15/11/66

दिल्ली की अपनी पहली साहित्यिक यात्रा का संस्मरण

साहित्यिकों की नगरी में

यह दिल्ली है। एक बहते हुए सैलाब का शहर। सैलाब -जीवित इंसानों का। एक नैरन्तर्य - जिसमें आप कुछ भी नहीं हैं। इंसान कुछ भी नहीं हैं। है तो केवल बहता हुआ सैलाब, एक भीड़ का नैरन्तर्य। व्यक्ति का अस्तित्व नहीं है, व्यक्ति का निर्णय नहीं है, अस्तित्व है समय का। निर्णय है नियति का। हम उसे केवल भोग सकते हैं, केवल सह सकते हैं। मैंने पहली बार अनुभव किया कि हमारे निर्णय कितने बेमानी होते हैं। दिल्ली में किसी को समय देना, कोई अर्थ नहीं रखता। मैंने डॉक्टर विमल को 'स्लिप' द्वारा पहले ही सूचित कर दिया था- दस बजे! लेकिन मैं पहुँचा डेढ़ घंटे बाद। मेरी 'स्लिप' और मेरा 'निर्णय' अर्थहीन था। वह तो भला कहिए कि विमल एक निहायत ही कम उम्र, शीलवान और घरेलू आदमी है कि साढ़े ग्यारह बजे भी मेरे लिए घर पर ही रहे। बातें हालाँकि 'संज्ञा' पत्रिका में प्रकाशित मेरे 'नोट' से शुरू हुईं, लेकिन सवाल पहला सामने आया पत्रिका का, 'कहानी'। क्यों यह पत्रिका डूब गई? पैसे कम देती है? पैसे नहीं देती है। व्यवहार अच्छा नहीं। दुर्व्यवस्था है। अपने लिखने वालों को प्रकाश में नहीं लाती। संपादक चौपट है। मैं और ऐसी किसी पत्रिका को नहीं जानता जिसके डूबने का लेखकों में इतना गम हो। वाराणसी में एक बार डॉक्टर शिव प्रसाद सिंह भी खेद के स्वर में बोले थे 'उस पत्रिका के साथ दिक्कत यही है कि उसका संपादक लेखक पर अपना नियंत्रण रखना चाहता है, जो कि कोई भी स्वतंत्र लेखक स्वीकार नहीं करेगा।' और नरेंद्र कोहली?...उन्होंने बॉयकाट कर लिया है इस पत्रिका से।

'आज की कहानी में आया सबसे बड़ा अंतर आप क्या देखते हैं?'

'हमारी जिंदगी से भावुकता निकल गई है।' डॉक्टर विमल कह रहे थे 'आप गाँव में भी चले जाइए वो आज भी आपका आतिथ्य करेंगे, आपका आदर सत्कार करेंगे। लेकिन उसके पीछे उनकी कोई इच्छा होगी- आप से कुछ प्राप्त कर लेने की। आज से चालीस साल पहले ऐसी बात नहीं थी। आतिथ्य के बदले वे आपसे कुछ नहीं चाहते थे। पर अब ऐसा नहीं होता।'

और फिर बात भारतीयता की चली तो वे बोले 'आप साहित्य को खानों में नहीं बाँट सकते। भूगोल या अर्थशास्त्र को लेकर साहित्य में विभाजन नहीं किया जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि एशिया और यूरोप का अर्थशास्त्र भिन्न है और इसलिए उनका साहित्य भी भिन्न होगा। व्यक्ति की संवेदना का एक सामान्य धरातल होता है। व्यक्ति -चाहे वह अमेरिकी हो या भारतीय। वियतनाम पर अमेरिकी बमबारी से उत्पन्न अनुभूति हमारी भी वैसी ही हो सकती है जैसी एक वियतनामी की। चीन के परमाणु बम के विस्फोट का समाचार सुनकर स्वीडन के एक व्यक्ति ने आत्महत्या कर ली। किसी भी देश में संवेदना का एक सामान्य धरातल होता है।'

अगली बात अस्तित्व त्रास की थी। जीवन के संकट-बोध की। मैंने पूछा 'क्या आप ऐसी कहानियों के नाम बता सकते हैं, जिनमें यह संकट-बोध अभिव्यक्त हुआ हो?'

'यही मुश्किल है' वह अपनी मुश्किल बता रहे थे 'कहानियाँ बहुत कम हैं। वैसे एक नाम लिया जा सकता

है -नया लेखक है, मेरा बहुत प्रिय लेखक विनोद कुमार शुक्ल। उसकी कहानी है 'भीड़ का फालतू वक्त' उस में कला-तत्व का कोई सुनियोजित विधान नहीं है। फिर उसके बूट, उसका प्रलाप, ड्रम पर चढ़कर उसका बोलना, लोगों की भीड़ -यह सब प्रतीक हैं। वह ऊबे हुए लोगों की कहानी है, विज्ञान और यंत्र की 'एकरसता' से ऊबे हुए लोगों की कहानी।'

मैं सारी बात के खोखलेपन को महसूस कर रहा था। अजीब तमाशा है... संकट-बोध है - उसकी चर्चा है, लेकिन कहानियों में ये नहीं है, इसका क्या मानी? कहानी के नाम पर 'एक भीड़ का फालतू वक्त'। उसके भी बारे में वे जिन प्रतीकों की बात कर रहे थे -उनसे बात न तो पूरी तरह स्पष्ट हो रही थी न ही मूल प्रश्न से उसका कोई खास तालमेल बैठ रहा था। पता नहीं क्यों विज्ञान और यंत्र के पूरी तरह आने से पहले ही हम उससे ऊब कैसे गए हैं? और यदि इनसे ही ऊब होती है तो आधुनिकता का पल्ला किससे बाँधेंगे -पशुपालन से?

'आपकी कहानियों की भाषा कुछ बनावटी सी लगती है। अनुवाद की सी भाषा। फिर उसमें हिंदी के कितने कड़े शब्द रहते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। कई शब्द तो ऐसे होते हैं जिनका वहाँ कोई अर्थ ही नहीं निकलता। इतनी प्रांजल, संस्कृत-गर्भित और शुद्ध हिंदी में आज की जटिल स्थितियों की अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है?'

'हाँ, वह मेरी कमजोरी है।' उन्होंने स्वीकार किया 'मैं मानता हूँ कि मेरी भाषा कुछ बनावटी और अनुवाद की सी है। वास्तव में मैं जैसी थीम लेता हूँ उन्हें किसी दूसरी भाषा में लिखा ही नहीं जा सकता। मैं मानता हूँ कि हर थीम की एक अपनी भाषा होती है। मैं चाह कर भी उन्हें दूसरे ढंग से नहीं लिख सकता, जहाँ दूसरे ढंग से लिखा गया कि कहानी बिगड़ जाती है। ज्ञानरंजन ने अपनी 'संबंध' मेरी भाषा में लिखने की कोशिश की, पर वह सफल नहीं हो सका।'

19/11/67

अब मैं धीरे-धीरे समझ रहा हूँ दिल्ली को। यहाँ लोग बातें करते हैं और बड़े आराम से करते हैं। चाहे वह सफाई कर्मचारी हों या अफसर हों या लेखक। डॉक्टर विमल ने अपने घर पर मुझे सुझाव दिया था कि यदि मैं तमाम बड़े लेखकों और आलोचकों से मिलूँ और एक इंटरव्यू के तौर पर सवाल पूछकर एक पूरी लेखमाला तैयार कर लूँ तो यह अच्छा रहेगा। मेरा यह उद्देश्य पूर्व निश्चित नहीं था अतः मैंने केवल इस शर्त पर यह स्वीकार कर लिया कि प्रश्न वगैरा पूछने का एक कार्यक्रम तैयार कर लिया जाए। क्या क्या प्रश्न पूछे जाएँ यह निश्चय कर लिया जाए और आप भी उसमें सहयोग करें। तय हुआ कि रात को 'टी हाउस' में बैठकर यह सब निश्चित कर लिया जाए। दिल्ली में आवागमन की हर मुसीबत को झेलता हुआ मैं ठीक समय के 10 मिनट बाद 'टी हाउस' पहुँचा। बाहर ही खड़े रहे। लोगों से मिलते रहे, बातें होती रहीं और आराम से होती रहीं। मेरी बस का समय हो गया था। 'टी हाउस' से कई मील दूर जाना था मुझे। कार्यक्रम नहीं निश्चित हो सका। निश्चित यह हुआ कि कल दोपहर तीन बजे डॉक्टर विमल के ही घर कार्यक्रम निश्चित कर लिया जाए। मैं मन ही मन झुंझलाकर रह गया। हम बेकार बाहर खड़े-खड़े बातें करते हुए समय बर्बाद करते रहे। मैंने विमल से कहा कि हमें अपना कार्य कर लेना चाहिए। यदि वह चाहते तो हमारा कार्य हो ही जाता, लेकिन हम बातें करते रहे -आराम से। दूसरे दिन विमल घर पर नहीं मिले, मुझे थोड़ा सा गुस्सा आया। मैंने कार्यक्रम रद्द कर दिया और सोनीपत चला गया। मेरे मन को यह बात खरोँचती रही कि उस दिन 'टी हाउस' में यदि हम चाहते तो अलग बैठकर अपना कार्य खत्म कर सकते थे।

19 तारीख को जब मैं विज्ञान भवन में ज्ञानपीठ के पुरस्कार वितरण का समारोह देखने गया तब भी मेरे मन में वह बात छाई हुई थी- यहाँ बातें की जाती हैं और बड़े आराम से की जाती हैं।

विज्ञान भवन। बाहर चमचमाती कारें और स्कूटर्स। अंदर सूट और टाईयों में सजे साहित्यिक, साहित्य प्रेमी। खूबसूरत आदमी, खूबसूरत स्त्रियाँ और मंच पर बड़े लोगों के बीच बैठा श्रेष्ठ भारतीय कलाकार कवि जी. शंकर कुरूप। एक लाख रुपए का पुरस्कार और पुरस्कार प्रतीक वाग्देवी की कांस्य मूर्ति। कुछ विदेशी लेखक भी आए थे, हालाँकि कईयों ने आना स्वीकार नहीं किया। सुना था, ज्यां पाल सार्त्र को आमंत्रित किया गया था। यदि यह सच है, तो एक सफेद मूर्खता है।

हर टेबल पर हेडफोन लगा हुआ था। बटन को चार नंबर पर करके आप अंग्रेजी में सुन सकते हैं और पाँच पर हिंदी में। मेरे जैसे बहुतों ने पहली बार... सिर से लगाया। पहले तो यही नहीं पता चल रहा था कि... है कहाँ? दूसरों की देखादेखी गर्दन नीचे झुकाई, वह टेबल के नीचे लगा हुआ था, निकालकर सामने रखा। औरों को सिर पर लगाते देखा तो खुद भी सिर पर लगाया। दूसरों को देख-देख कर आधुनिक बनने की प्रक्रिया कितनी हास्यास्पद होती है –उस समय बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो रहा था। मैं, विमल, अनामिका (विमल की पत्नी) और रमेश बक्षी बैठ गए। सामने वाली सीट पर राकेश, कमलेश्वर और शायद कृष्णचंद्र। कार्यक्रम शुरू हो गया था पर लोग अब भी बड़े मजे के साथ चेहरे पर एक ‘सभ्य’ मुस्कान लिए हुए गैलरी और बरामदे पर चहल-कदमी कर रहे थे, मुलाकातें कर रहे थे। बैठने वाले भी समारोह की दुनिया में नहीं, अपनी दुनिया में खोए हुए थे।

डॉ. संपूर्णानंद- अध्यक्षीय भाषण। ‘कवि और विद्वान का समादर करना हमारी प्राचीन परंपरा, हमारी प्राचीन संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। ‘भोजप्रबंध’ के अनुसार राजा भोज जब कभी किसी कवि की रचना से प्रभावित होते थे तो वह ‘प्रत्यक्षर लक्षमुद्राम् ददौ’। एक-एक अक्षर पर एक-एक लाख रुपया पुरस्कार देते थे।’ डॉक्टर साहब सोच रहे होंगे कि उन्होंने इस पुरस्कार को देश की महान प्राचीन परंपरा से जोड़कर इसे भी महान बना दिया। पर क्या वास्तव में यह इस पुरस्कार का अवमूल्यन नहीं हुआ? राजा भोज एक-एक अक्षर पर एक-एक लाख मुद्रा देता था, और ज्ञानपीठ ने श्रेष्ठ भारतीय कलाकार को एक लाख का पुरस्कार देकर सम्मानित किया- क्या दोनों एक ही परंपरा में आते हैं? क्या दोनों के पीछे की भावनाएँ और उद्देश्य एक ही हैं? उस ‘दरबारी युग’ से लेकर इस लोकतंत्र तक क्या कहीं कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है?

यदि नहीं, तो फिर डॉक्टर साहब ने ऐसा कैसे कह दिया? बड़ी हास्यास्पद स्थिति है। बुद्ध जयंती होगी –बताया जाएगा कि बुद्ध एक महान समाजवादी थे। तुलसी जयंती होगी –बताया जाएगा कि तुलसी लोकतंत्र के पहले संस्थापक थे और राकेट की बात होगी –तो कहा जाएगा कि यह वैदिक युग में हमारे देश में भी था। किसी भी चीज को अपने देश की महान परंपरा के साथ जोड़ देने की आवश्यकता उन लोगों के लिए बहुत जरूरी बन गई है, जिन्हें केवल उद्घाटन ही करना है या केवल अध्यक्षीय भाषण ही देने हैं। अन्यथा और इनके पास कहने को बचा ही क्या है? अपनी महान प्राचीन परंपरा से रिश्ता जोड़ते वक्त यह लोग यह देखना भी भूल जाते हैं कि वह किस चीज को उस महान परंपरा से जोड़ रहे हैं, उससे इसकी महत्ता बढ़ती है या घट रही है?

डॉक्टर साहब कह रहे थे “जहाँ तक मैं जानता हूँ देश के किसी कोने से यह आक्षेप सुनने में नहीं आया कि हमने किसी प्रकार का पक्षपात दिखलाया।” मैं कहता हूँ यह कोई ऐसी बात नहीं है जिस पर हम गर्व करें। वास्तव में सच्चाई यह है कि लोग इस तरह की चीजों के प्रति उदासीन हो गए हैं, एक तटस्थ बौद्धिक उदासीनता जो आज सब में व्याप्त हो गई है, उसी कारण आक्षेप करने न करने की बात तो दूर, कोई इन पर गंभीरता से सोचता भी नहीं है। ‘आक्षेप सुनने में नहीं आया’ यह इस बात का सबूत है कि ‘एक लाख रुपये’ का पटाखे जैसा शोर होने पर भी इसकी कोई हार्दिक अनुभूति नहीं हुई, किसी ने इसे गंभीरता से नहीं लिया। लेकिन डॉक्टर साहब ने यह भी कहा कि ‘हमारे चयन की प्रायः प्रशंसा ही सुनने में आई है।’ यह प्रशंसा और कुछ नहीं ‘उदासीन’ लोगों की ‘गंभीरता’ का एक दिखावा मात्र है। गंभीरता से तो कभी सोचा नहीं, लेकिन अब यह कैसे कहें कि सोचा नहीं है, बुरा भी कह सकते हैं, लेकिन बेकार का विरोध क्यों मोल लें, चलो थोड़ी ‘प्रशंसा’ ही कर देते

हैं। अपना कुछ जाता थोड़े है, क्योंकि वास्तव में 'अपना' तो कुछ है ही नहीं। यह सच्चाई है।

कुरूपजी का भाषण अच्छा खासा लंबा रहा। ...ये जो अनुवाद कर रही थी, उसका स्वर मधुर और उसका उच्चारण काबिले-तारीफ तो था ही, भाषा भी बड़ी काव्यात्मक थी। लेकिन कैसी काव्यात्मक? केवल कवियों की समझ में आने वाली।

कुरूपजी महान कवि हैं और इसीलिए महान कवियों की भाषा में ही बोल रहे थे। रवींद्रनाथ की सी रहस्यमयी भाषा। (सुना है उनकी पुरस्कृत काव्य पुस्तक 'गीतांजलि' ऐसी ही है - किसी 'अज्ञात' को संबोधित करके रची गई। रहस्यमयी आध्यात्मिक कविताएँ-प्रकृति-प्रतीकों के माध्यम से, विमल के शब्दों में - 'बड़ी बोर'।)

यह 'पुरस्कार' कुरूपजी के शब्दों में 'भारतीय साहित्य के बोध का पुनर्जागरण एवं भारतीय जनता के हृदय तल में होने वाला संश्लेषण' है। कुरूपजी ने अपने भाषण में प्रश्न भी उठाए और उत्तर भी दिया। 'क्या एक राष्ट्र के रूप में संगठित भारत का कोई अस्तित्व नहीं है?... क्या भारत के हृदय की अपनी विशेष लय ताल नहीं? उसी से अनुप्राणित होने वाला एक भारतीय साहित्य नहीं?... क्यों यह प्रश्न अपने से नहीं पूछा जाता? क्यों इसका असली समाधान नहीं खोजा जाता?'

प्रश्न जितना कुरूपजी को कचोटता है उतना ही हमारी पीढ़ी को भी कचोटता है। लेकिन कुरूपजी जिस भाषा में अपना उत्तर देते हैं- वह भाषा हमारी समझ में नहीं आती है। भाषा उनकी पुरस्कृत काव्यकृति की भी हमारी समझ में नहीं आती।

उन्होंने अपने कार्य का विश्लेषण करते हुए अपनी 'सृजनात्मक भावना' को 'बोध चेतना' का नाम दिया और पुनर्स्थापना की कि 'साहित्य अर्थमय भाषा है'।

इतना बड़ा समारोह हो गया, एक लाख का पुरस्कार वितरित हो गया, भारतीय साहित्य के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना घट गई, लेकिन सच, कुछ भी तो नहीं लगा। कुछ भी तो अनुभव नहीं हुआ। उस महाकवि ने खड़े होकर डॉक्टर संपूर्णानंद से वाग्देवी की प्रतिमा ग्रहण की और एक लाख रुपए की चेक पर हस्ताक्षर किया। हमने मशीन की तरह तालियाँ बजा दीं, बिल्कुल उसी तरह, जिस तरह केक कटने पर बजाया करते हैं।

दिनकर, बच्चन और अल्काजी ने कुरूप की कविताओं का अनुवाद सुनाया। कवि कुरूप की कविता 'शिव तांडव' पर आधारित नृत्य रचना 'अर्धनारीश्वर' प्रारंभ होने से पहले मंच पर पर्दा गिरा दिया गया। पाँच मिनट की फुर्सत मिली। लोग बाहर गलियारे में आ गए, जहाँ ज्ञानपीठ की पुस्तकें बिक्री के लिए सजा कर रखी गई थीं। लोग एक शालीनता से भरी मुस्कुराहट लिए 'आधुनिक जीवन' की हर रस्म अदा कर रहे थे। चाहे विमल हों, चाहे श्रीकांत वर्मा, चाहे कमलेश्वर, चाहे बच्चन, साहित्य में हर प्रकार की परंपरा के प्रति विद्रोह करने वाले ये विद्रोही लेखक अपने जीवन में हर परंपरा का पूरी शालीनता के साथ निर्वाह कर रहे थे। लेखन में अस्वीकार का नारा लगाने वाले ये साहित्यकार अपने जीवन में हर बात पर हाँ-हाँ और सिर हिला हिलाकर स्वीकृति की सूचनाएँ दे रहे थे। हर शब्द को रूढ़ और अयोग्य मानने वाले ये लेखक हर रूढ़ और अयोग्य शब्दों का बार-बार प्रयोग कर रहे थे। महानगर की सभ्यता बिल्कुल जीवित हो उठी सभ्यता के इन आलोचकों के बीच। मैंने देखा दरवाजे पर खड़े सब को आकर्षित करने के लिए सूट-बूट में खड़े राजेंद्र यादव को। अज्ञेय की विचारधारा का विरोध, लेकिन अज्ञेय के बाहरी व्यक्तित्व को पूरा-पूरा अनुगमन करने वाले रमेश बक्षी को जिसने अज्ञेय की तरह दाढ़ी-मुँछ बढ़ाकर सजा रखी थी और वैसी ही एक शांत गंभीर मुद्रा ओढ़ रखी थी चेहरे पर। गर्दन को आगे-पीछे करते हुए चलने वाले पक्के साहित्यिक नेता कमलेश्वर को, हीरो न होने पर भी किसी हीरो से कम नहीं भीष्म साहनी को, और सिगरेट पर सिगरेट पीते सारे सभ्य वातावरण को तोड़कर ठहाके लगाते हुए घुँघराले बालों वाले अपने प्रिय लेखक मोहन राकेश को।

लेकिन मेरी आँखें ढूँढ़ रही थीं नेपथ्य में चले गए अभिनेता नामवर सिंह को, जो वहाँ थे नहीं। नामवरजी मिले दूसरे दिन नेशनल बैंक भवन में।

‘क्या आज राष्ट्रीय आधुनिक भारतीय साहित्य है? यदि नहीं तो उसका विकास कैसे किया जा सकता है’ बिल्कुल यही नहीं, लेकिन लगभग यही विषय था ज्ञानपीठ द्वारा आयोजित सेमिनार का, नेशनल बैंक भवन में। कई भारतीय भाषाओं के प्रतिनिधि (?) साहित्यकार बोलने वालों में से थे। इसका उद्घाटन किया डॉ. निहार रंजन राय ने। उन्होंने बड़ी रहस्यमयी मुस्कान के साथ, एक अहमन्यता सी ओढ़कर विषय का प्रवर्तन करते हुए विषय को कई रूपों में परिभाषित किया और भेदभरी मुस्कान के साथ अन्य वक्ताओं को बोलने के लिए आमंत्रित किया। भारतीय भाषाओं के सभी प्रतिनिधि अपनी परम प्रतिनिधि भाषा अंग्रेजी में बोलते रहे, केवल दिनकर और बालकृष्ण राव को छोड़कर। अज्ञेय भी हिंदी भूल गए यद्यपि यह अब अस्वाभाविक नहीं लगता है। हेम बरुआ ने सीधे बता दिया कि मैंने इस विषय पर कुछ भी नहीं सोचा। बिना सोचे जो उन्होंने कहा वह यही कि जब हमारा समाज ही आधुनिक नहीं है, तो साहित्य आधुनिक कैसे हो सकता है? अखरिये मत, उन्होंने पहले ही कह दिया था कि मैं बिना सोचे बोल रहा हूँ। एक साहब डॉ. गोपाल सिंह पंजाबी भाषा के प्रतिनिधि थे, उन्होंने ऐसा ‘बोर’ किया जिसकी कोई मिसाल नहीं। ये बोलते-बोलते एकदम रहस्यवाद के आंगन में जा घुसे। यह भारत क्या है? क्या भारत कोई देश है, जमीन और भूगोल से बना, सीमाओं से घिरा देश भारत है? नहीं, भारत तो एक भावना का नाम है, यह तो एक आध्यात्मिकता की भावना का नाम है। सिर्फ यही देश भारत नहीं, अमेरिका भी भारत है, यूरोप भी भारत है। जहाँ कहीं यह आध्यात्मिकता है, वहीं भारत है। मुझे तो लगता है, सारी दुनिया भारत है। और मुझे लग रहा था सारी दुनिया डॉ. गोपाल सिंह हैं।

अज्ञेय साहब ने अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की विशेषता को कायम रखते हुए शुरू किया; क्योंकि मैं एक लेखक हूँ इसलिए मैं कुछ भी ‘इरिलिवेंट’ नहीं कहूँगा और चूँकि मैं लेखक हूँ इसलिए मैं अपनी बात संक्षेप में कहूँगा। अज्ञेयजी ने संक्षेप में यही बताया कि (1) ‘साहित्य केवल साहित्य होता है, बाकी विशेषण लेखक के साथ लग सकते हैं।’ (2) ‘आज का साहित्य आधुनिक है पर काफी नहीं, और अच्छा तो बिल्कुल नहीं। इसके बावजूद मैं कह सकता हूँ कि मैं एक आधुनिक लेखक हूँ, आज भी।’

अज्ञेयजी ने अपनी दूसरी शर्त तो निभा दी कि वह संक्षेप में बोलेंगे। लेकिन पहली शर्त! “मैं कुछ भी ‘इरिलिवेंट’ नहीं कहूँगा”! राकेश के शब्दों में इसके बाद उन्होंने जो कुछ कहा सब ‘इरिलिवेंट’ था।

बालकृष्ण राव ने अपना हिंदी भाषण प्रारंभ ही किया अज्ञेय पर आक्रमण करते हुए। उन्होंने कहा कि अज्ञेय ने कहा कि ‘मैं कह सकता हूँ कि मैं आधुनिक लेखक हूँ, आज भी।’ जब वे आज भी कहते हैं, तो ऐसा लगता है कि वह यह मानते हैं कि ऐसे कुछ तत्व होते हैं जिन्हें न गँवाने पर लेखक आज भी आधुनिक रह सकता है। वह तत्व गँवाए जा सकते थे, लेकिन अज्ञेय ने तत्व नहीं गँवाए, इसलिए वे ‘आज भी’ आधुनिक हैं। वे तत्व कौन से हैं? अज्ञेय के शेष भाषण में उन तत्वों पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया। और इसके बाद बालकृष्ण अपने उसी ओजस्वी स्वर में आधुनिकता और राष्ट्रीयता की व्याख्या करते रहे।

बालकृष्ण के अतिरिक्त केवल दिनकर एक ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने विषय को सीधे-सीधे पकड़ा। यह बात दूसरी है कि हम उनकी बातों को भी यथार्थ से कटी हुई मानें। लेकिन इतना तो साफ है कि दिनकर इस विषय पर अपने ढंग से सोचते हैं और अपनी कुछ मान्यताएँ रखते हैं। उनकी दृष्टि में आधुनिकता बदले हुए धार्मिक मूल्यों का नाम है। इन बदले हुए धार्मिक मूल्यों की पहचान यह है कि हमारी नई पीढ़ी अब तुलसी से ज्यादा कबीर में दिलचस्पी लेती है, वह अपनी प्रेरणा दयानंद की जगह राजा राममोहन राय से ग्रहण करती है।

दो घंटे की लंबी भाषण माला के बाद भी विषय अपनी जगह कायम था, वक्ता अपनी जगह। किसी ने भी प्रश्न का उत्तर नहीं दिया— अपने-अपने करतब दिखाए और चले गए। वक्ता गंभीरतापूर्वक अपने शब्दों की छटा

दिखाते रहे और श्रोता विषय के पूर्व लगे नवीन विशेषणों (राष्ट्रीय, भारतीय और आधुनिक) की पूँछ पर ही हँसते रहे। ध्यान देने की बात है कि वक्ताओं में जितने भी थे –सब बुजुर्ग थे – गए हुए लोग और हमारे प्रतिनिधिगण। और दो घंटे की बहस ने यह साबित कर दिया कि हमारे ये प्रतिनिधिगण कितने खाली हैं। हमारे इन साहित्यकारों का मानसिक स्तर कितना मोटा और छिछला है –यह अपने बुनियादी प्रश्नों से कितने अनभिज्ञ हैं।

सारा सेमिनार एक मजाक बनकर रह गया, एक बकवास बनकर रह गया। और टी हाउस में सेमिनार और सेमिनार की लंबी पूँछ जैसे विषय पर टिप्पणी करते हुए नामवर जी बोले थे ‘वचने किम् दरिद्रता?’

22/11/66

नामवर सिंह से मिलने की हार्दिक इच्छा थी। ‘विग्रह’ के नवम्बर अंक में उनका जो सनसनीखेज पत्र प्रकाशित हुआ था उसने सिर्फ मुझ जैसे पाठक को ही उत्तेजित नहीं किया था, साहित्य के सभी क्षेत्रों में उस पत्र ने एक हलचल मचा दी है। भारत में फासिज्म के लिए इस समय बहुत ऊर्वर भूमि है, और फासिज्म आने से पहला प्रहार किसकी कलम पर होता है, यह कहने की जरूरत नहीं है। ‘फासिज्म का खतरा और शब्द शक्ति’ यह है डॉ. नामवर सिंह के अगले सनसनीखेज किन्तु गंभीर लेख का शीर्षक जो कि ‘विग्रह’ के किसी अगले अंक में प्रकाशित हो रहा है।

सेमिनार की समाप्ति पर शाम की चाय के लिए आँगन में खड़ी भीड़ में मैंने उनसे पहली मुलाकात की और समय निश्चित कर लिया।

‘दूसरे महायुद्ध से पहले और सन् तीस के बाद जर्मनी पर भी भयंकर अराजकता छाई हुई थी।’ डॉ. नामवर सिंह कह रहे थे; ‘तब सत्ता सोशलिस्टों के हाथ में थी और सबसे प्रबल विरोधी पार्टी कम्युनिस्ट पार्टी थी। उन दिनों नात्सी पार्टी का जर्मनी में उतना ही स्थान था जितना कि भारत के पहले चुनाव में जनसंघ का। वह एक उपेक्षित और संकीर्ण विचारों वाली पार्टी थी। लेकिन शासन में स्थिरता नहीं थी, भयंकर बेरोजगारी फैली हुई थी। आर्थिक दबावों से आम आदमी बिल्कुल चुका हुआ था। हर रोज मिनिस्ट्री में परिवर्तन होता था। जनता इस अव्यवस्था से ऊब गई थी। हालाँकि सबसे मजबूत विरोधी पार्टी कम्युनिस्ट थी, लेकिन अब व्यवस्था और अराजकता से भरे माहौल के शोरगुल में राजनीतिक गुंडों (जैसे पाटिल या अतुल्य घोष?) के बल पर हिटलर ने सत्ता हथिया ली और जर्मनी में फासिज्म कायम हो गया।

बातों का यह सिलसिला टी हाउस तक जाकर टूट गया। दूसरे दिन मैं राजकमल प्रकाशन में उनके कार्यालय में उनसे मिला। उन्होंने मुझसे कल रात हुई बातों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने को कहा। ‘मैं जिनके यहाँ ठहरा हुआ हूँ मैंने बताया ‘उनको मैंने आपके विचार कहे, तो वे मुझसे बोले कि जिस व्यक्ति ने तुमसे जर्मन में फासिज्म के स्थापित होने की बात बताई, उसने तुम्हें शायद यह नहीं बताया होगा हिटलर ने वहाँ फासिज्म की आवश्यकता क्यों अनुभव की थी। वास्तव में यदि वहाँ फासिज्म नहीं आया होता तो वहाँ कम्युनिज्म आ गया होता – और कम्युनिज्म, फासिज्म से एक रती भी कम बुरा नहीं है। वास्तव में फासिज्म और कम्युनिज्म ये दोनों एक ही व्यक्ति – हीगेल के दर्शन से निकले हैं। ये दोनों मूलतः एक ही चीज हैं।’ ‘हूँ’ डॉ. नामवर ने मुस्कुराकर कहा। ‘ठीक, बिल्कुल ठीक! काम क्या करते हैं जिनके यहाँ आप ठहरे हैं?’ ‘वह भारत सरकार के सीनियर रिसर्च ऑफिसर हैं।’

‘हूँ, बाबू वर्ग के हैं।’ नामवरजी ने सर्जरी करनी शुरू की। ‘हर एक देश में एक बाबू वर्ग होता है। फाइलों वाला बाबू वर्ग या क्लर्क वर्ग। नौकरशाही का सबसे आवश्यक अंग। इसकी मूल प्रकृति यह है यह एक स्थायित्व चाहता है, समाज में हर प्रकार का स्थायित्व हो। इनके जीवन को भी लीजिए –यह बिल्कुल ठीक समय पर उठेंगे, टी लेंगे, नहाएँगे, कपड़े पहनेंगे, सूट-बूट, टाई –सिर से पैर तक बिल्कुल ठीक-ठाक, टिप-टॉप। सूट या टाई में

कहीं जरा भी शिकन नहीं। बस पकड़कर ऑफिस। बॉस को सलाम और फिर फाइल पर झुक गए। बॉस के आगे बिल्कुल तरीके से, सीधे खड़े होकर बातें करेंगे। इनका बॉस भी इन्हें हमेशा बिल्कुल इसी तरह एकदम ठीक-ठाक टिप-टॉप देखना चाहता है। हर काम बिल्कुल 'स्टैंडर्डिजेशन'(प्रमाणीकरण) होना चाहिए। कहीं कोई क्रमभंग नहीं।

यह वर्ग है जो बिल्कुल यांत्रिक और सुरक्षित जीवन जीना चाहता है। सुरक्षा और स्थायित्व से अधिक इसे कोई दूसरी चीज अच्छी नहीं लगती। बस के आने में यदि जरा सी देर हो जाए, तो इनका मूड बिगड़ने लगता है। कहीं कुछ अस्त-व्यस्त हो जाए तो ये अपने पर आपत्ति आई समझते हैं। यह नहीं चाहते कि कहीं कोई परिवर्तन हो। इन का बॉस या मिनिस्टर बदलने से इन्हें बहुत असुरक्षा और अस्थायित्व का बोध होता है। चाहे उस बॉस या मिनिस्टर को बदलना कितना भी जरूरी क्यों न हो।

यह बाबू वर्ग चाहता है कि कोई उनका बॉस हो अर्थात् उनके सिर पर हमेशा किसी का अंकुश बना रहना चाहिए- हर चीज बिना किसी क्रमभंग के मशीन की तरह चलती रहनी चाहिए -जीवन में कहीं भी जोखिम की बात नहीं होनी चाहिए।

जब देश या समाज में अराजकता फैल जाती है, लोगों का सत्तारूढ़ सरकार से विश्वास उठ जाता है और वे किसी परिवर्तन की माँग करने लगते हैं- तो यही बाबू वर्ग फासिज्म की कामना सबसे पहले करता है। क्योंकि अस्त-व्यस्तता और निरंतर परिवर्तन इसे पसंद नहीं। इसे अपने ऊपर एक अंकुश चाहिए ही।

और इस अस्त-व्यस्तता में फासिज्म के आने की राह भी बड़ी आसान होती है। सत्तारूढ़ सरकार पहले तो बहुत तरीकों से अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए उचित से लगने वाले उपाय ही करती है फिर धीरे-धीरे वह पुलिस, गोली और सेना की मदद से स्थितियों का सामना करने लगती है। राजनीति में छुपे गुंडे सारी स्थितियों पर अपना ध्यान रखे रहते हैं, जब स्थिति निरंतर बिगड़ती ही जाती है, तब सत्ताधारी का असली चेहरा सामने आ जाता है। वह फासिज्म ही होता है।' लेकिन डॉ. नामवर ने बातचीत को मोड़ देते हुए कहा 'जर्मनी में जब फासिज्म आया था, तब वहाँ हर बुद्धिजीवी हिटलर का समर्थन कर रहा था। आश्चर्य की बात तो यह कि हेडगर जैसा प्रख्यात विचारक और दार्शनिक भी हिटलर का प्रबल समर्थक था। और यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि बिल्कुल कठोर और क्रूर शासक हिटलर और जिसके दिमाग से बड़े बड़े विचार निकले हैं, जिसने कि सबसे पहले अस्तित्ववाद का प्रवर्तन किया था- हेडगर में भला क्या समानता थी कि दोनों एक दूसरे की तरफ खिंचे?

नामवरजी चुप होकर मेरी ओर देख रहे थे कि शायद मैं कुछ कहूँ, लेकिन भला मैं क्या कहता! वे फिर धीरे-धीरे बोले 'अभी थोड़े ही दिन पहले यहाँ एक जर्मन साहित्यकार आए हुए थे। उनसे भी इस विषय पर बातें हुई थीं कि भला हेडगर और हिटलर में क्या समानता थी? मैंने उनका ध्यान हेडगर की भाषा की ओर खींचा। मैंने उनको कहा कि आप हेडगर की भाषा पर जरा गौर कीजिए। उसकी भाषा इतनी ठोस, पूर्ण और मुकम्मिल है -उसका हर शब्द अपनी जगह पर इतना दुरुस्त है और कायदे के साथ है कि लगता है वाक्यों में यह शब्द नहीं हैं, मिलिटरी के जवान विद आर्म खड़े हैं। उसकी हर पंक्ति दैनिक परेड की कतार जैसी लगती है। उसकी भाषा की इस कठोरता और सुबद्धता ने निश्चय ही हिटलर को आकर्षित किया होगा।

इसपर उस जर्मन विद्वान ने मुझे एक जर्मनी पत्रिका दिखाई और उसका एक लेख सामने करते हुए कहा - 'यह आपने पढ़ा है?' मैंने सिर हिला दिया कि 'मैं तो जर्मन जानता भी नहीं हूँ।' उन्होंने बताया कि हेडगर की भाषा का बिल्कुल यही विश्लेषण इस लेख में एक जर्मन आलोचक ने किया है। नामवरजी चुप थे और मैं चुपचाप।

नामवरजी ने आखिरी बात कही 'जो लोग समझते हैं कि फासिज्म और कम्युनिज्म मूलतः एक ही चीज है। वे लोग कम्युनिज्म की सिर्फ ऊपरी और कुछ अस्थायी बातों को देखते हैं। कम्युनिज्म अनिवार्य रूप से जिस आर्थिक व्यवस्था के दर्शन से जुड़ा हुआ है, उसे ये लोग नहीं देखते। ऐसे ही लोग कम्युनिज्म और फासिज्म को एक समझते

हैं। आन्द्रे मालरो एक ऐसा ही व्यक्ति था जो अस्त-व्यस्तता से घबराकर कम्युनिज्म की ओर आकर्षित हुआ था कि कम्युनिज्म सबकी स्वतंत्रता का दमनकर व्यवस्था की स्थापना कर देगा। लेकिन जब उसने देखा कि कम्युनिज्म यह नहीं है, बल्कि उसके साथ समाज में बुनियादी परिवर्तन करने के लिए ठोस आर्थिक ढाँचे का सवाल भी जुड़ा हुआ है, तो वह घबरा कर सीधा फासिस्ट बन गया।'

समय काफी हो चुका था और नामवरजी ने अभी तक भोजन भी नहीं किया था। मैंने उनसे विदा ली और बस स्टैंड पर आकर खड़ा हो गया। अब! - मोहन राकेश।'

काबा न सही, बुतखाना ही सही / तुम्हें ढूँढ़ ही लेंगे कहीं न कहीं

बसों और गलियों और मकानों की भूल-भुलैया पार करता हुआ मैं उस प्लेट में पहुँचा जहाँ राकेश रहते हैं।

पहली टक्कर इसी बात पर हो गई कि साहब हम तो इतना भटकते हुए यहाँ पहुँचे और यहाँ से भी भटक कर लौट जाने वाले थे -और आपने एक नेम प्लेट तक नहीं रखी है!

लेकिन मैंने अपनी गलती महसूस की। जिस चीज को मैं मजाक के रूप में पूछ रहा था, राकेश उसे मजाक में नहीं ले रहे थे।

नेम प्लेट क्यों? राकेश मुझी से पूछ रहे थे और मुझे लगा नेम प्लेट रखना न रखना राकेश के लिए सिर्फ किसी जिद या मजाक तक सीमित नहीं है- जीवन जीने के एक तरीके से जुड़ी हुई बात है।

‘आपने आजकल लेख लिखना बंद कर दिया?’

‘हाँ’ राकेश धीरे-धीरे अपने चिर-परिचित स्वर में बोले। ‘मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि आजकल बातें बहुत होने लगी हैं। कहानियाँ उतनी नहीं आ रहीं जितने लेख आ रहे हैं।’ ‘लेकिन इससे नाराजगी क्यों?’ मैंने पूछा ‘यह परंपरा तो आप ही लोगों ने शुरू की थी। आप लोगों ने अपने से पुरानों का विरोध करने के लिए भी तो कई लेख लिखे थे, गोष्ठियाँ करवाई थीं, बातें की थीं। लेकिन तब आप यह सब अपने से नए वालों के लिए भी कर कर रहे थे। और अब जब नयों ने आप लोगों के भी विरोध में बातें करनी शुरू कीं, तब आप नाराज हो गए हैं कि आज बातें बहुत होने लगी हैं।’ राकेश थोड़ा सा मुस्कराए-लेकिन विषय की गंभीरता खत्म नहीं की। ‘यह ठीक है कि यह सब हम लोगों ने भी किया था। लेकिन मैं एक दूसरी बात कह रहा हूँ। बातों की कहानियों के साथ कुछ समता होनी चाहिए। लेकिन पिछले कुछ वर्षों से हिंदी में जितने लेख और वक्तव्य निकले हैं, उनकी तुलना में आप कोई भी अच्छी कहानी दिखा दीजिए! पिछले तीन-चार वर्षों से क्या एक भी अच्छी कहानी लिखी गई है?’ ‘अच्छा राकेशजी’ मैंने प्रश्न किया ‘कुछ लोगों का कहना है कि समकालीन साहित्य का मूल्य बोध अस्तित्व-त्रास है। जीवन के संकट का बोध है। आप इससे कहाँ तक सहमत हैं?’

‘देखिए मैं कहानी और जीवन को अलग-अलग नहीं मानता। कहानी या साहित्य में जो कुछ हम लिखते हैं, वह हमारी मानसिकता का अंग है। वह मानसिकता हमारे जीवन के अनुभवों और योग की है। अनुभूति चाहे अस्तित्व-त्रास हो, चाहे जीवन का संकट-बोध, चाहे कोई और चीज हो। जब तक यह अनुभूति और मानसिकता हमारी रचना में नहीं नजर आते हैं, तब तक बातें करना सिर्फ बातें करना ही है। एक और बात है। अनुभूति किसी खंड-विशेष की भी हो सकती है, किसी एक वार्ड की भी हो सकती है, लेकिन उसे ही सारे समाज की अनुभूति मान लेना गलत है। अगर कोई व्यक्ति खास वार्ड का अनुभव करे, चाहे वह टीबी वार्ड ही क्यों न हो और यह कहे कि सारे समाज को टीबी हो गई है -तो मेरे लिए यह बात बेमानी है। इतना ही नहीं, वह व्यक्ति और उसी की तरह बीस-पचास व्यक्ति और जुड़ जाएँ और उन पचासों को टीबी की अनुभूति हो, तो इसका मतलब भी यह हरगिज नहीं है कि सारे समाज को टीबी हो गई है। टीबी सिर्फ उस वार्ड के मरीजों को हुई है।

जो लोग निराशा और कुंठा की बात करते हैं, निष्क्रियता की बात करते हैं –वे सिर्फ अपनी बात करते हैं। समाज के आम आदमी की बात नहीं करते। निराशा, कुंठा और निष्क्रियता उनमें व्याप्त होगी, लेकिन वास्तव में आज समाज और देश क्या चाहता है? क्या आज देश का आम आदमी निराशा, कुंठा और निष्क्रियता में रस ले रहा है?’ बोलते-बोलते राकेश आवेश में आए और मुट्ठी को भींचकर बाँह धीरे-धीरे हिलाते हुए बोले ‘सच्चाई यह है कि आज हर आदमी यह सोचता है कि कुछ हो... कुछ भी हो... वह कुछ कर दे... पत्थर फेंके या शीशा तोड़ दे... या इस साली सरकार को थप्पड़ मारकर बदल दे... इस वर्तमान को बदल कर रख दे...’ बोलते-बोलते राकेश कुछ देर रुके और फिर बोले ‘कुछ लोग कभी-कभी कहते हैं कि हम मूल्यों के प्रति विद्रोह कर रहे हैं। इस व्यवस्था के प्रति विद्रोह कर रहे हैं- एक बुनियादी परिवर्तन चाहते हैं। वास्तव में मैं कहता हूँ हम शब्दों का सही प्रयोग नहीं कर पाते। गलतफहमी यहीं से शुरू होती है। विद्रोह हमारा मूल्यों और व्यवस्था से नहीं है। क्योंकि मूल्य और व्यवस्था यह है ही नहीं। विद्रोह हमारा अमूल्यों से है, इस अव्यवस्था से है। मान लीजिए यह सरकार है। सरकार एक मूल्य होती है। लेकिन आज हमारी सरकार एक मूल्य नहीं रह गई है; यह इतनी भ्रष्ट हो गई है कि यह सिर्फ अमूल्य है, जबकि हम मूल्य चाहते हैं। इसके प्रति विद्रोह मूल्य और व्यवस्था के प्रति विद्रोह नहीं है बल्कि अमूल्य और अव्यवस्था के प्रति विद्रोह है।

कोई भी चीज कभी मूल्य होती है, लेकिन वह हमेशा उसी रूप में नहीं रहती है। इसका मतलब यह भी नहीं है कि अब वह मूल्य नहीं है, हाँ, वह हमारे लिए मूल्य नहीं है। गाँधी का उदाहरण लीजिए, गाँधी अपने समय में अपने समाज का एक मूल्य था, लेकिन गाँधी हमारे लिए मूल्य नहीं है। आज वह मूल्य अव्यावहारिक और कुछ हद तक भ्रष्ट हो गया है। इसका मतलब यह नहीं यह जो अव्यवहारिक और भ्रष्ट चीज है वही गाँधी मूल्य है। नहीं, उसका अपना मूल रूप वही है जो उसके समय में था। आज उसका वह रूप नहीं रह गया और न ही वह आज हमारा मूल्य है।

इसलिए मैं कहता हूँ कि विद्रोह मूल्यों के प्रति नहीं हो सकता, विद्रोह मूल्यों के भ्रष्ट रूपों के प्रति हो सकता है, अमूल्यों के प्रति हो सकता है। और जब भी हम अमूल्यों के प्रति विद्रोह करते हैं, तो इसका मतलब होता है कि हम मूल्य चाहते हैं, व्यवस्था चाहते हैं। जब लोग एक बुनियादी परिवर्तन की बात करते हैं तो इसका भी यही माने है कि हम किसी ‘निगेटिव’ नहीं बल्कि ‘पॉजिटिव सेंस’ में बातें कर रहे हैं।

लेकिन अमूल्य और अव्यवस्था की जगह, जब हम ‘मूल्य और व्यवस्था’ का भ्रामक प्रयोग करने लगते हैं तो बात यहीं से विकृत हो जाती है। यहीं से निराशा और निष्क्रियता का दर्शन पनपता है –जिसका कारण सिर्फ शब्दों का भ्रामक प्रयोग है।’

‘अच्छा अभी आपने साहित्य और मानसिकता की बात कही। मैं वास्तव में यही प्रश्न उठाना चाहता था। मैं जो कहना चाहता हूँ, उसकी स्पष्टता के लिए मैं अपनी बातें इस तरह रखता हूँ। ‘अणिमा’ के शुरू के अंकों में आपने डॉ. देवीशंकर अवस्थी की समीक्षाएँ देखी होंगी – ‘समीक्षक की मेज से’। उसमें एक बार उन्होंने दुनिया के कई अखबारों और पत्रिकाओं से कुछ उद्धरण प्रस्तुत किए थे, संपादकीय टिप्पणी की कटिंग्स प्रस्तुत की थीं- जिन सबों का मूल तात्पर्य –विश्व में व्याप्त आतंक और भयावह संदर्भों से था। फिर उन उद्धरणों और टिप्पणी के आशय को पुष्ट करने वाली कई कहानियों की उन्होंने चर्चा की- विश्लेषण किया और इस प्रकार समाचार पत्रों और राजनीतिक पत्रिकाओं तथा कहानियों- इन दोनों के सहारे उन्होंने एक तरफ साहित्य में यथार्थ की अभिव्यक्ति की चर्चा की, दूसरी तरफ विश्व की वास्तविक स्थिति का अंदाजा लगाने की कोशिश की। मैं कहता हूँ इसी तरह से लेखक की जागरूकता और चेतनाशीलता की व्याख्या भी की जा सकती है और उसकी मानसिकता की चर्चा भी की जा सकती है। क्या आज हिंदी में बिल्कुल नई पीढ़ी में जो कि स्वयं को काफी जागरूक बताती है, हम यह चीज पा सकते हैं? मेरा मतलब देश और समाज के यथार्थ की...इन रोज-रोज के आंदोलनों, प्रदर्शनों,

गोलीकांड तथा तोड़फोड़ की मानसिकता की अभिव्यक्ति उनके साहित्य मिल सकती है?

मैं एक लेखक की चर्चा करना चाहता हूँ। रेणु। अभी मैंने रेणु की एक कहानी पढ़ी थी, 'विघटन के क्षण'। यह कमलेश्वर द्वारा संपादित 'नई धारा' के विशेषांक में है। लेकिन इस कहानी को पढ़ने के ठीक पाँच दिन पहले मैंने अक्टूबर के दस्तावेज में लोकसभा में राम मनोहर लोहिया की बहस पढ़ी 'संसद में लघुमानव'। उस बहस में डॉ. लोहिया ने गाँव से नई पीढ़ी के शहर में भाग कर चले आने तथा शहर में आकर रिक्शा खींचने की बात करते हुए बहुत मार्मिक ढंग से, बढ़ते हुए शहरीकरण और आर्थिक दबाव के बीच होते हुए मूल्यों के विघटन की चर्चा की। देश की लोकसभा में हो रही समाज के बदलते हुए यथार्थ की यह चर्चा उतने ही मार्मिक रूप में रेणु के साहित्य में भी प्रकट हुई है, लेकिन क्या और लेखकों के बारे में भी यही बात कही जा सकती है?

राकेश ने उत्तर दिया 'रेणु एक लेखक हैं जो कहानी में अभिव्यक्त मानसिकता को जीवन में भी जीता है। उसका समाज की आम जिंदगी से बड़ा घना संपर्क है। बहुत दिलचस्पी है। लेकिन मैं जब मानसिकता की बात करता हूँ तब मैं 'पूर्ण मानसिकता' की बात करता हूँ, खंडित मानसिकता की नहीं। पूरे समाज, पूरे देश के यथार्थ का एक अखंडित बोध। रेणु के साहित्य में अभिव्यक्त यह मानसिकता या बोध खंडित है, एक वर्ग-विशेष या खास इलाके तक सीमित है। हालाँकि, उसका साहित्य समाज के आधार से बिल्कुल जुड़ा हुआ है।

'दिल्ली के इस असाहित्यिक माहौल में रहकर आप कैसे लिख लेते हैं? रेणु अच्छा लिख लेते हैं, क्या इसका कारण यह भी नहीं है कि वह दिल्ली में नहीं, पटना में हैं?' राकेश थोड़ी देर तक हँसते रहे, फिर धीरे-धीरे बोले 'दिल्ली का माहौल लिखने का माहौल नहीं है। वास्तव में लेखक यहाँ आते हैं और खुद ही अपने चारों तरफ 'एटिकेट' और 'संबंधों' की झाड़ियाँ उगा लेते हैं। यह अपने पुराने रिश्तेदारों नाना-नवासियों और चाचा-चाचियों से संबंध तोड़ कर आते हैं, लेकिन यहाँ आकर फिर दूसरे संबंधों का सिलसिला शुरू कर देते हैं। आज उन प्रोफेसर साहब के घर जाना है, तो कल फलां के यहाँ जाना है। नहीं जाएँगे, तो बुरा मान जाएगा और फिर मित्रों का जमघट और शिष्टाचार। मुझे जब लिखना होता है तो मैं मुलाकातें कम कर देता हूँ। लोग कुछ नाराज होते हैं। या फिर मैं कुछ दिनों के लिए बाहर चला जाता हूँ। सच बात यह है कि दिल्ली में जीवन अनुभव किया जा सकता है, उसे लिखा नहीं जा सकता। दिल्ली में जिंदगी देखिए और लिखिए बाहर जाकर।'

शाम हो गई थी और अंधेरा भी घिर आया था। मेरे मन में कितनी बातें अभी भी थीं, पर मैं बड़ी जल्दी में था। रात की गाड़ी से मुझे लौट जाना था और अभी राजेंद्र नगर से वापस दिल्ली के दूसरे छोर रामकृष्णपुरम जाना था, फिर वहाँ से तीसरे छोर - स्टेशन। राकेश ने मुझे बताया कि साढ़े सात बजे तक धर्मवीर भारती भी आएँगे। मैं अपना दुर्भाग्य अनुभव कर रहा था। मैंने राकेश का घर देखा, किताबें देखीं। इतनी अनौपचारिकता और आत्मीयता- कि मन वहाँ से जाने का नहीं हो रहा था। लेकिन लौटना तो था ही।

और अब लौट चुका हूँ वापस अपने शहर जमशेदपुर ! अब दिल्ली से 900 मील से भी अधिक दूर हूँ। दूर से दिल्ली कैसी लगती है? बची हुई यादों का शहर। यादें, ढेर सारी यादें बच गई हैं। दिल्ली के खुशनुमा लोग, दिल्ली की खूबसूरत लड़कियाँ। खाकी पैकेटों में सामान लेकर उन्हें सीने से लगाए सड़क पर चलते लोग। ऑफिस टाइम पर बस स्टैंड पर लगी लंबी-लंबी कतारें। परंपराओं और शिष्टताओं के बोझ से दबे साहित्यकार, मिंटो ब्रिज के पास बसी दिल्ली में एक और दिल्ली और साउथ एवेन्यु और राजपथ में बसे मंत्री- बहुत कुछ याद आता है - और इन सब को चीरकर याद आता है राकेश का व्यक्तित्व -उसके उन्मुक्त ठहाके, गहरी आवाज और घुँघराले बाल- और उसका सूत्र वाक्य-'दिल्ली में जिंदगी देखिए और लिखिए बाहर जाकर'।



कविताएँ

गंगा-I

ठंड भरी रात में
बैठा हूँ घाट पर
गंगा के अंदर (या उस पार?)
चमक रहे हैं तीन चांद!
अंधेरी रात का समय
छाया सन्नाटा!
घाट पर सोए महल
मानो इतिहास के खंडहर हों!
सामने तीन अधूरे चाँद
कैसे समझाऊँ उन्हें?
मणिकर्णिका घाट पर जल रहा मुर्दा
दशाश्वमेध की नीली रौशनियाँ
टूबी हैं गंगा के पानी में
दूर रामनगर का किला
किस चम्पा ने आकाशदीप चढ़ा रखा है?
सामने तीन अधकटे चाँद हिल रहे हैं
समझा सकते हो इन्हें?
ऊपर आकाश में कितने तारों के दीप
पानी की हिलती लहरों के भीतर
कोई कठपुतलियों सा उन्हें नचा रहा
घाट पर कीचड़ सने पानी में
कितनी नावें सटी खड़ी हैं
शी...
मछुआरे सो रहे हैं
गंगा के अंदर
तीन चांद चमक रहे हैं -
छोड़ों, व्याख्या की जरूरत नहीं।
तुम देखो, निहारो, पीओ उन्हें।

दिसम्बर, 1968



गंगा-II

मैंने सुन रखा था
गंगा महानद है इस देश का।
बड़ी पवित्र है यह नदी
क्या कहना है इसके स्वरूप का।
भगीरथी खींच लाया था उसे स्वर्ग से।
उसके पुण्य की, प्रताप की महिमा
पुराणों से लेकर पद्माकर तक ने गाई है।
लेकिन मैंने जाना कि झूठ है उसका पुण्य
झूठी है उसकी विराटता!
कल गया था चुनार के गढ़
पहाड़ी के ऊपर किले से झाँकर देखा
नीचे बहुत, गंगा निर्वस्त्र पड़ी थी।
दो पाटों के बीच सिमटी-सकुचाई
दुबली-पतली तन्वंगी गंगा!
निश्चेष्ट पड़ी थी।
आगे उसको बल खाकर
देखा मुड़ते
मानो देख लिया हो
युवती को वस्त्र बदलते!
न तेज था, न पुण्य था
न कोई वृहदाकार था,
सामने उघड़ा हुआ तन
शीशे की तरह आर-पार था।

दिसम्बर, 1968



छब्बीस जनवरी

आदमी के वीर्यपात से शुरू होता है
छब्बीस जनवरी,
केवल आदमी के नहीं
सारे देश के वीर्यपात से।
पहले वीर्यपात होता है
और तब छब्बीस जनवरी होता है।
फिर चाय शुरू होती है,
फिर सिगरेट।
फिर चाय
फिर सिगरेट।
फिर खाना
सोना
फिर भटकना।
फिर खाना
और फिर सो जाना।
...इसी तरह एक दिन खत्म हो जाता है
जिसका नाम होता है छब्बीस जनवरी।
बाहर मैदानों में
एक आदमी खड़ा हो जाता है
देश के मॉनीटर की तरह
और पहाड़ों की तरह
दोहराता है सबों से
मातृभूमि की सुरक्षा का संकल्प।
एक आदमी का पूरा दिन
इसी तरह गुजर जाता है
कि आदमी को अपना लंगोट
और देश को अपनी चादर
धोने का वक्त नहीं मिलता।
अब हमें
किसी और राष्ट्रीय पर्व का इंतजार करना होगा
वीर्यपात से मैले हुए

अपने कपड़ों को धोने के लिए।

मैंने देखा है
हजारों प्रसादों द्विवेदियों को
जो अपने घर
और अपनी मोटर पर झंडा
खुद नहीं फहराते।
उनके घर पर झंडा
उनका नौकर बाँधता है
उनकी मोटर पर
उनका शोफर बाँधता है
और हजारों प्रसादों द्विवेदी जाते हैं
किसी सार्वजनिक स्थल पर
झंडा फहराने।
इनमें से कौन मुख्य है?
झंडा फहराना
या सार्वजनिक स्थल पर जाना?

मैंने देखा है
एक आदमी दूसरे आदमी को बुर्जुआ बताता है
उसके खिलाफ चुनाव लड़ता है,
क्रांति करवाता है,
उसकी जगह जम जाता है
और खुद सबसे बड़ा बुर्जुआ बन जाता है!

26 जनवरी, 1969



और अंत में,

डॉ. तलवार को पढ़ने का अर्थ...

अज्ञेय ने लिखा है,

“मैं लिखता हूँ।

मेरे पास एक सांस्कृतिक परंपरा है। और मेरे पास संवेदना है। और बाकी तो शिल्प है।”

क्या हम डॉ. वीर भारत तलवार के लेखन को इस संदर्भ में देख सकते हैं ? क्या वे भी इसलिए लिखते हैं कि उनके पास एक सांस्कृतिक परंपरा है, संवेदना है? और क्या उनका लेखन भी शिल्पकारी का एक नमूना है ? मुझे लगता है कि डॉ. तलवार शिल्पकारी के आग्रह में केवल सांस्कृतिक परंपरा और संवेदना का प्रभाव नहीं रचते। उनका लेखन उद्देश्यपूर्ण है। सांस्कृतिक परंपरा और संवेदना से अलगाव नहीं है, बल्कि उसके गहरे तल में जाकर उसके अर्थ और शक्ति की नूतन तलाश है। वे सांस्कृतिक परंपरा के वाहक नहीं हैं, उसके शोधक हैं। उनकी संवेदना शिल्प की जंजीरों में बँधकर प्रभाव नहीं रचती, खुले आकाश में स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ती है। इसलिए जब हम डॉ. तलवार को पढ़ने व समझने की कोशिश करते हैं तो एक खास प्रकार की सावधानी की आवश्यकता पड़ती है; क्योंकि तलवार जी को पढ़ने का अर्थ अलग है। उनके शब्दों के मायने साहित्यिक दायरे का अतिक्रमण करते हैं। उन्हें साहित्यालोचक या संस्कृतिकर्मी के रूप में नहीं पढ़ा जा सकता। उन्हें पढ़ने का अर्थ क्षेत्रीय संस्कृति और भाषायी दायरे से बाहर निकलकर भारतीयता की भव्य दीवार पर खड़ा होना भी नहीं है। गौर से देखिए तो पता चलेगा कि तलवार जी का समस्त लेखन सांस्कृतिक लड़ाई में घायल मनुष्यता को पुनर्स्थापित करने का यथाशक्य प्रयास है। इसलिए तलवार जी के लेखन का सामाजिक सरोकार किसान, मजदूर, स्त्री, दलित और आदिवासियों की समस्या से जुड़ा हुआ है। बात चाहे हिंदी नवजागरण की हो, राष्ट्रीय आंदोलन की हो या किसान आंदोलन की, डॉ. तलवार अपनी प्रतिबद्धता के अनुकूल हाशिए पर पड़े समाज के पक्ष में तर्क की तलाश जारी रखते हैं।

तलवार जी को पढ़ने का महत्वपूर्ण अर्थ यह भी है कि भविष्य के लिए हम समाजवाद का आदर्श निश्चित कर सकें। आदिवासी समाज की संरचना में भविष्य के समाजवाद का आदर्श छिपा हुआ है। वहाँ मनुष्यता के लिए बड़ा आकाश है। नारी स्वतंत्रता की विस्तृत जमीन है। समानता, जातिविहीनता, भाई-चारा, प्रेम और विकास की पर्याप्त संभावनाएँ हैं। अतः भारतीयता के मूल तत्त्वों का विकास आदिवासी समाज के तर्ज पर करना एक सही कदम होगा। इसके लिए जरूरी है कि आदिवासियों के विकास को उनके सांस्कृतिक विकास के साथ देखा जाए। झारखंड अलग राज्य की माँग तलवार जी के उसी प्रयास का नाम है जिसमें आदिवासियों के विकास को उनके सांस्कृतिक विकास के साथ जोड़कर देखने की संकल्पना निहित है। डॉ. तलवार के विकास का मॉडल बहुत स्पष्ट है। उस मॉडल में संकीर्णता, धार्मिक पाखंड और राष्ट्रवाद के लिए जगह नहीं है। नारी स्वतंत्रता, उसकी

शिक्षा और उसके व्यक्तित्व विकास को उन्होंने सामाजिक विकास के लिए जरूरी माना है। अतः एक तरफ सांस्कृतिक परंपरा के शोधन में प्रवृत्त होकर तलवार जी इस क्षेत्र में हो रहे प्रयास और आंदोलनों की वास्तविकता को उजागर करते हैं तथा इतिहास के खलनायकों का पर्दाफाश करते हैं, तो दूसरी तरफ ब्राह्मणवाद की वास्तविक प्रकृति का विश्लेषण करते हैं। और, इसतरह डॉ. तलवार भारतीय समाज में मानवधर्मी विकास की राह प्रशस्त करने का प्रयास करते हैं। उनके लेखन में भारतीय समाज के विकास प्रक्रिया को पहचानने एवं उसके इस्तेमाल की कश्मकश को निकट से देखा जा सकता है। रामविलास शर्मा से टकराते हुए, और प्रेमचंद के प्रेमाश्रम पर लिखते हुए उनका ये प्रयास गंभीर रूप लेता हुआ दिखाई पड़ता है। प्रेमचंद रामविलास शर्मा के पसंदीदा लेखक हैं। सबसे पहली किताब उन्होंने उन्हीं पर लिखी। उन्होंने प्रेमचंद को अपने अध्ययन का विषय इसीलिए बनाया था, प्रेमचंद के साहित्य में भारतीय समाज की विकास प्रक्रिया को स्पष्ट अभिव्यक्ति मिली है। ऐसे में तलवार जी का प्रेमचंद और रामविलास शर्मा पर विचार करना स्वाभाविक है। तलवार जी प्रेमचंद और रामविलास शर्मा पर जब विचार करते हैं तो इसका सीधा अर्थ है कि वे भारतीय समाज के विकास की प्रक्रिया को समझने का प्रयास कर रहे हैं। इसी प्रयास में वे 'रस्साकशी' भी लिखते हैं। कुल मिलाकर डॉ. तलवार साहित्य को समझने का टूल्स नहीं तलाशते, समाज को समझने का टूल्स तलाशते हैं और उसी से साहित्य को भी समझने का प्रयास करते हैं। अतः जो लोग डॉ. तलवार का मूल्यांकन एक साहित्यालोचक के रूप में करना चाहते हैं, उन्हें निराश होना पड़ेगा। तलवार जी एक ऐसे सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ता हैं, जिनकी संवेदना सदैव ताजी रहती है। उनकी बौद्धिकता उनके हृदय का साथ नहीं छोड़ती, बल्कि हाथ पकड़कर उन्हें ऐसी वैचारिक संलिप्तता से दूर रखती है जो समाज विकास के नाम पर उन्हें मनुष्यता-विरोधी बना सकती थी।

मुख़ासर ये कि डॉ. तलवार को पढ़ने का अर्थ भारतीय समाज को समझना है, गैर ब्राह्मणवादी सांस्कृतिक परंपरा में निहित मानवतावादी मूल्यों के महत्त्व को समझना है, ब्राह्मणवादी सांस्कृतिक परंपरा के शोधन को समझना है, और सबसे बड़ी बात मानव-स्वतंत्रता एवं विकास के सांस्कृतिक आधार को समझना है। 'सत्राची' का यह अंक इन बातों को किस हद तक समझा सका है, कह नहीं सकता। हमने सिर्फ एक प्रयास किया है, सफलता की कोई दावेदारी नहीं है। इस अंक के सभी लेखकों ने इसी दिशा में प्रयास किया है। उनके प्रयास से डॉ. तलवार के लेखकीय व्यक्तित्व को समझने में अगर 'सत्राची' के पाठकों को किंचित मात्र भी मदद मिलती है तो हम अपने प्रयास को सार्थक समझेंगे। इस अंक के संपादन में डॉ. कमलेश वर्मा और डॉ. सुचिता वर्मा ने अथक परिश्रम और धैर्य के साथ काम लिया है। उनके प्रति आभार !

30 अगस्त, 2017
पटना

- आनन्द बिहारी
(संपादक, सत्राची)



लेखक परिचय :

- **प्रेम कुमार मणि** : साहित्य के लिए अनेक पुरस्कारों से सम्मानित श्री मणि बिहार विधान परिषद् के सदस्य भी रह चुके हैं। वे जाने माने कथाकार हैं, उनके चार कथा संकलन प्रकाशित हैं। समसामयिक विषयों पर वे निरंतर अखबारी लेखन भी करते रहते हैं। फिलहाल पटना में रहते हैं।
- **रामविनय शर्मा** : जन्म तिथि- 10 मार्च, 1965; एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, महाराज सिंह कॉलेज, सहारनपुर। अबतक पाँच आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं लेख व समीक्षाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। संपर्क : 09411038585
- **बजरंग बिहारी तिवारी** : जन्म तिथि - 1 मार्च, 1972; उच्च शिक्षा इलाहाबाद और दिल्ली से। भारतीय दलित आंदोलन और साहित्य के गंभीर अध्येता के रूप में चर्चित। 2004 से 'कथादेश' में 'दलित प्रश्न' शीर्षक से स्तंभ लेखन। आधे दर्जन से ज्यादा पुस्तकें प्रकाशित। फिलहाल बेगमपुर नई दिल्ली में रहते हैं।
- **राजीव रंजन गिरि** : जन्म तिथि-19 दिसम्बर, 1978; हिंदी विभाग, राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्यापन। संपर्क : 09868175601.
- **शाहिद परवेज़** : डॉ. शाहिद परवेज़ रमाबाई राजकीय गवर्नमेंट वीमेन्स पीजी कॉलेज में मध्यकालीन इतिहास के अध्यापक हैं। इनकी नियुक्ति 2001 में हुई। 'सत्राची' के अतिरिक्त अनेक प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में इनके आलेख प्रकाशित हो चुके हैं।
- **अलका तिवारी** : जन्म तिथि- 03 जून, 1988; शोधप्रज्ञ, हिंदी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ। लगभग एक दर्जन शोधपत्र प्रकाशित। संपर्क : 8765550178.
- **जगमोहन सिंह** : सहायक प्रवक्ता, हिंदी, रानीगंज महिला महाविद्यालय, पश्चिम बंगाल। संपर्क : 8967477761
- **निरंजन सहाय** : प्रोफेसर, हिंदी विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, उत्तर प्रदेश। आधे दर्जन से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में शोध पत्र, आलेख एवं पुस्तक समीक्षाएँ प्रकाशित। 18 वर्षों से अध्यापन एवं शोध निर्देशन। संपर्क : 09451777960
- **अनिरुद्ध कुमार** : जन्म तिथि- 24 जनवरी, 1985; जे.एन.यू. से उच्च शिक्षा। 'इस्पातिका' का सह-संपादन एवं कई पुस्तकों का लेखन। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर आलेख प्रकाशन। संपर्क :
- **एस. एन. वर्मा** : जन्म तिथि- 9 नवम्बर, 1967; एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास,

राजकीय महाविद्यालय, सेवापुरी। 'अवध किसान आंदोलन' नामक पुस्तक प्रकाशित। संपर्क : 8115705206

• **सूर्य सिंह बेसरा**

: झारखंड आंदोलन के सेनानी, पूर्व विधायक, राँची, झारखंड।
संपर्क : 9771338988

• **रणेन्द्र**

: झारखंड एनसाइक्लोपीडिया (चार खंडों) का संपादन। कथादेश 2006 कहानी प्रतियोगिता के प्रथम पुरस्कार से सम्मानित। 'ग्लोबल गाँव का देवता' और 'गायब होता देश' नामक दो उपन्यासों के प्रकाशन से चर्चा में। कहानी संग्रह 'रात बाकी' एवं कविता संग्रह (शीघ्र प्रकाश्य)। आदिवासी समुदायों की सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताओं, अंतःसंबंधों, वैश्वीकरण-विकास के प्रभावों का जिज्ञासु विद्यार्थी की तरह अध्ययन। संपर्क : डी-8, ए.टी.आई, मेयर्स रोड, राँची (झारखंड)-834008 (राजस्थान), मो. 09431391171.

• **वंदना टेटे**

: झारखंड में सुप्रतिष्ठित सामाजिक कार्यकर्ता एवं लेखिका।

• **तेलानी मीना होरो**

: जन्म तिथि- 18 नवम्बर, 1959; एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, मगध महिला कॉलेज। 'शोध संविद' नामक जर्नल के प्रधान संपादक। 'सत्राची', 'जिज्ञासा' एवं 'शोध संविद' आदि पत्रिकाओं में अनेक लेख प्रकाशित। संपर्क : 9955950162

• **अरविन्द कुमार**

: जन्म तिथि- 7 जून, 1964; अध्यक्ष, संगीत विभाग, मगध महिला कॉलेज, पटना। लगभग आधे दर्जन पुस्तकों का लेखन व संपादन। संगीत के क्षेत्र में आधे दर्जन से ज्यादा पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : 9835681230

• **अंकिता कुमारी**

: जन्म तिथि- 30 मई, 1989, असिस्टेंट एडिटर, 'सत्राची'। संगीत विभाग, मगध महिला कॉलेज में अध्यापन। लगभग आधे दर्जन शोध-पत्र प्रकाशित। संपर्क : ठाकुरबाड़ी रोड, कदमकुआँ, पटना 3.

• **पीयूष राज**

: जे.एन.यू. से उच्च शिक्षा। संप्रति पत्रकारिता के क्षेत्र में लेखन व संपादन। संपर्क : 09910589691

• **आशुतोष**

: एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

• **सुभाष चंद्र मौर्य**

: जन्म तिथि- 15 मई, 1979; असिस्टेंट एडिटर, सी.एन.बी.सी.-आवाज़, मुंबई, नाटक, सिनेमा, चित्रकारी पर कई लेख एवं लेखकों के साक्षात्कार प्रकाशित। संपर्क : 7506661023.

• **कवितेन्द्र इंदु**

: जन्म तिथि- 19 मई, 1977; भारती कॉलेज, जनकपुरी (दिल्ली विश्वविद्यालय) में अध्यापन। विविध पत्र-पत्रिकाओं में अनेक आलेख प्रकाशित।

• **सूरज बहादुर थापा**

: जन्म तिथि- 15 दिसम्बर, 1969; प्राध्यापक, हिंदी विभाग, लखनऊ

विश्वविद्यालय, लखनऊ। छः पुस्तकें एवं अनेक लेख प्रकाशित।
संपर्क : 9450656030

- **पल्लवी प्रकाश** : जन्म तिथि- 18 जनवरी, 1978; जे.एन.यू से उच्च शिक्षा। 'बदलता सामाजिक परिदृश्य और कृष्णा सोबती' नामक पुस्तक प्रकाशित। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आलेख एवं कविताएँ प्रकाशित। संपर्क : 09867158023
- **अंजय कुमार** : जन्म तिथि- 2 जनवरी, 1972; प्रशिक्षित स्नातक शिक्षक, हिंदी, राज्य संपोषित +2 विद्यालय, पतरातू, रामगढ़ झारखंड। 'नागार्जुन की कविताओं में व्यंग्य' नामक पुस्तक प्रकाशित। संपर्क : 8877034820
- **अरविंद दास** : जन्म तिथि- 1978; पत्रकार-शोधार्थी, 'हिंदी में समाचार' के लेखक, दो जर्मन प्रोफेसर के साथ मिलकर रिलिजन, पॉलिटिक्स और मीडिया के ऊपर एक पुस्तक का संपादन। संपर्क : 9990306477.
- **धर्मनारायण यादव** : जन्म तिथि- 10 दिसम्बर, 1979; जे.एन.यू से उच्च शिक्षा। मेरठ में वरिष्ठ प्रवक्ता। अनेक संगोष्ठियों का आयोजन एवं हंस, बूधन, वर्तमान साहित्य आदि पत्रिकाओं में उन आयोजनों की विस्तृत रिपोर्टिंग। संपर्क : 09412834040
- **नीलांबुज सिंह** : जन्म तिथि- 7 जुलाई, 1983; प्रवक्ता, हिंदी, केन्द्रीय विद्यालय, क्रमांक 2, जालंधर, पंजाब। संपर्क : 7044178071.
- **संजीव चंदन** : जन्म तिथि- कार्तिक पूर्णिमा, 1977; संपादक : स्त्रीकाल। 'चौखट पर स्त्री और दलित स्त्रीवाद' नामक पुस्तक का संपादन। संपर्क :
- **अभिषेक कु. यादव** : जन्म तिथि- 22 अक्टूबर, 1987; सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश। 'झारखंड : अंधेरे से साक्षात्कार' नामक पुस्तक प्रकाशित। 'समकालीन चुनौती' और 'अरुण प्रभा' में लेख प्रकाशित। संपर्क : 9436682837.
- **अमिष वर्मा** : जन्म तिथि- 7 नवम्बर, 1984; असिस्टेंट प्रोफेसर, मिज़ोरम विश्वविद्यालय, आइज़ॉल (मिज़ोरम)। पक्षधर, सम्मुखचय, इस्पातिका, नया पथ, सत्राची, आरोह आदि पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित।
- **बृजेश यादव** : जे.एन.यू के पूर्व छात्र। संप्रति हिंदी अध्यापन एवं लेखन।



Membership Form

Dear Editor,

I wish to be a Five year Member / Life Member of "Satraachee."

*Name (In Block letters):**

Date of Birth:

*Mailing Address:**

.....

.....

.....

*Pin :**

*Mob :**

Institution / Address:

.....

*Email :**

Academic Qualification :*

Profession :

Field of Research :

Nature of Membership (Five Year / Life time) :*

Fee for membership : Rs. -

Place / Date :


satraachee

Signature

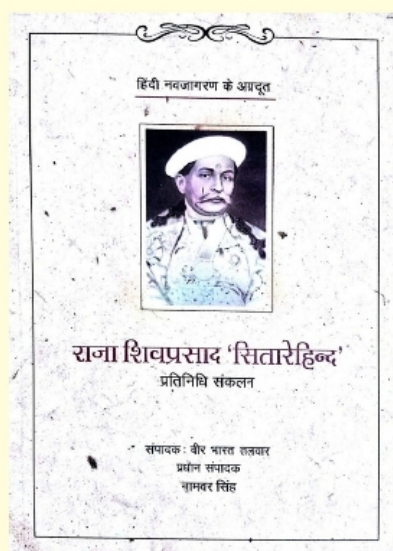
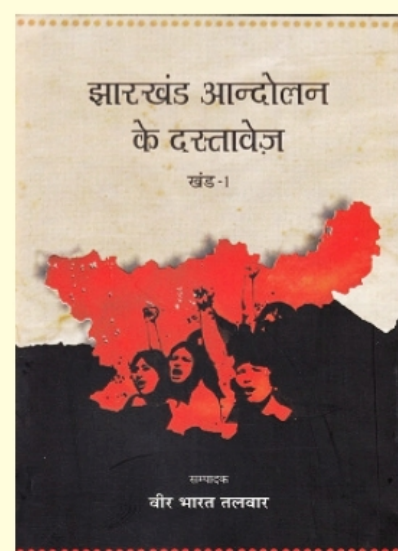
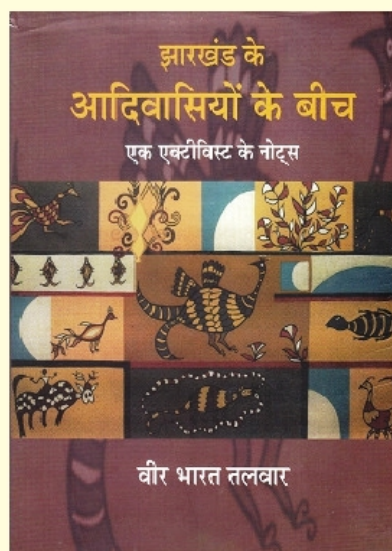
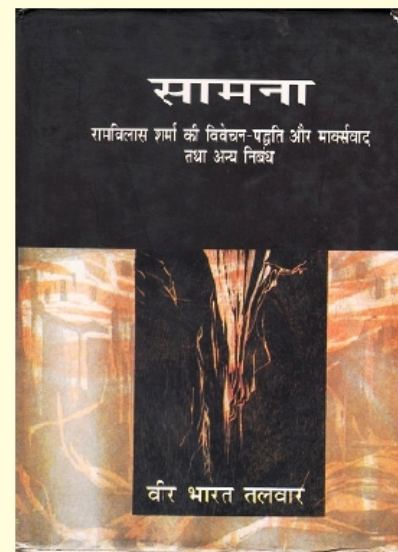
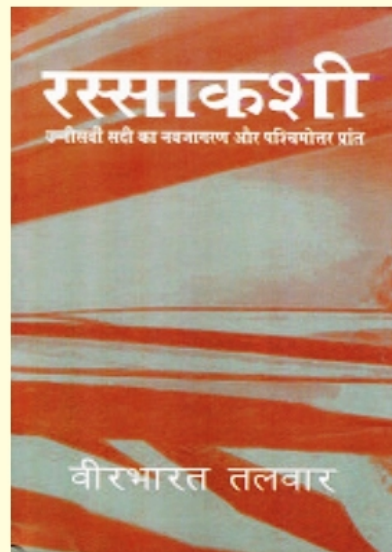
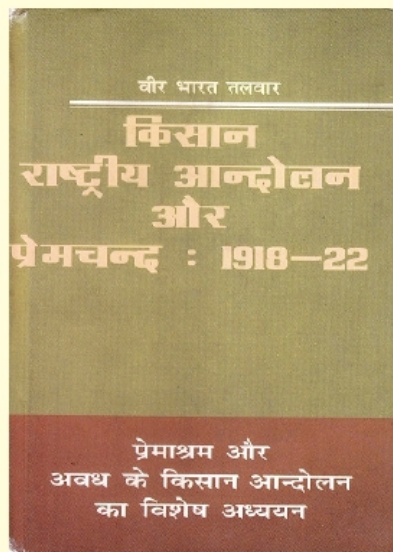
“द्विवेदी जी के लोकधर्म की तुलना नामवर जी ने ग्राम्शी की सबाल्टर्न संबंधी दृष्टि से की है जिसमें उत्पीड़ित वर्गों का लोकधर्म जनविद्रोह की विचारधारा के रूप में दिखाई देता है। (पृ. 80, दूसरी परंपरा की खोज) वास्तव में द्विवेदी जी की लोकमत की धारणा को बहुत सावधानी से समझने की जरूरत है। द्विवेदीजी लोकमत को आलोचनात्मक दृष्टि से देखते थे और लोकधर्म को ज्यों का त्यों शास्त्र का विकल्प नहीं समझते थे, जैसा कि नामवर जी ने मान लिया है। गलत कहा हो या सही, पर लोकधर्म को उन्होंने कभी-कभी जो निकृष्ट कहा है, वह सिर्फ संस्कारवश नहीं कहा। लोकधर्म में निहित कुछ तत्वों को वे साफ तौर पर निकृष्ट समझते थे और उनकी यह धारणा लगातार बनी रही। उन्होंने लोकमत में निहित ‘निकृष्ट कोटि के जादू-टोना, टोटका आदि’ की चर्चा तो की ही है, शुक्ल जी की ही तरह योगियों को अद्भुत और आश्चर्यजनक करामातों की कहानियों को साधारण लोगों पर धाक जमाने के दाँवपेंच भी कहा है। उन्होंने खुद निर्गुण संतों का हवाला देकर कहा कि ये भक्त भी योग और तंत्र के कृच्छाचारों को व्यर्थ समझते थे। अपनी आलोचना को आगे बढ़ाते हुए द्विवेदीजी ने लिखा है कि हठयोग और तंत्रवाद ने इस देश में गुरुवाद का जो विकृत रूप प्रचारित किया है, उसका बंधन अब भी भारतवर्ष काट नहीं सका है।”

– वीर भारत तलवार (पृ. 15, ‘सामना’, प्रथम संस्करण, 2005)



“यह सच है कि द्विवेदी जी ने भारतीय समाज और हिंदी साहित्य में दूसरी (ब्राह्मणवाद विरोधी) परंपरा की खोज की और कई गैर-ब्राह्मण स्थानीय परंपराओं को पहली बार सामने ले आए। लेकिन इन परंपराओं को उन्होंने एक सीमा से ज्यादा महत्त्व कभी नहीं दिया और इसके मुकाबले ब्राह्मण धर्म की महान परंपरा के प्रभुत्व को हमेशा बरकरार रखा। इतिहास में भारतीय चिंताधारा के स्वाभाविक विकास का विवेचन करते हुए उन्होंने कई भिन्न-भिन्न स्थानीय सांस्कृतिक और धार्मिक समुदायों को दिखलाया। लेकिन उनकी दृष्टि में ‘मूल भारतीय जीवन’ वेदों और ब्राह्मण ग्रंथों पर आधारित जीवनदर्शन और आचार परंपरा का ही नाम है जिसमें भिन्न और विरोधी समुदायों के कारण समय-समय पर कुछ ‘विकार’ तो आते रहे हैं, लेकिन फिर भी ‘मूल भारतीय जीवन’ ज्यादा नहीं बदला।”

– वीर भारत तलवार (पृ. 19, ‘सामना’, प्रथम संस्करण, 2005)



वीर भारत तलवार की चर्चित पुस्तकें

